सुरस ज्ञानेश्वरी

मधुकर रामराव यार्दी (हिंदी)

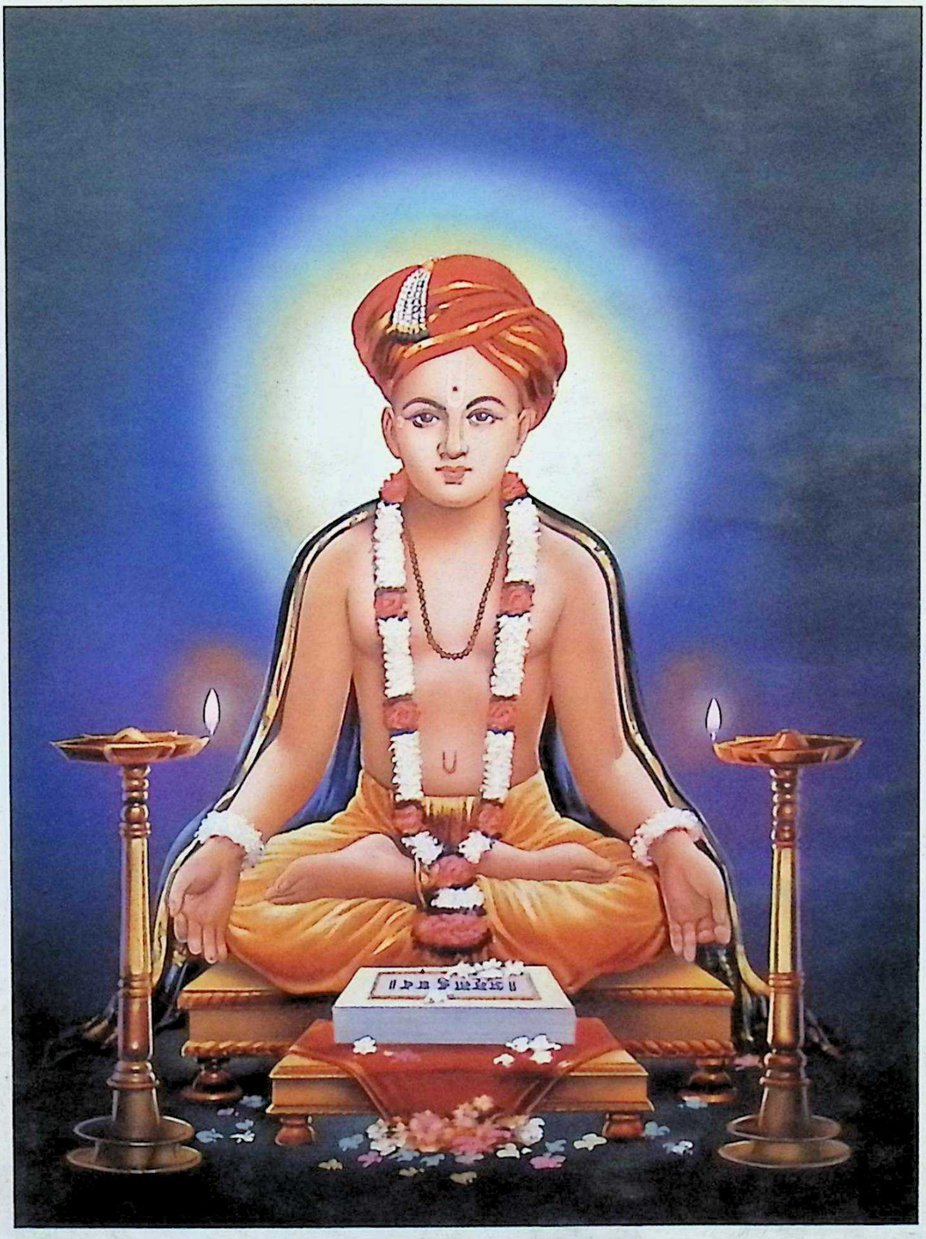

★ लेखक का परिचय ★

१९१६ साल में लेखक का कर्नाटक के एक देहात में जन्म हुआ। हिंदु स्कूल, कारवार, गरुड हायस्कूल, धुळे, फर्ग्युसन कॉलेज, पुणे और सर परशुराम भाऊ कॉलेज में पढ़ाई। विद्यार्थी दशा में मुंबई विद्यापीठ के मॅट्रिक परीक्षा में संस्कृतभाषा में सर्वप्रथम (१९३३) बी.ए. में सर्वप्रथम (१९३७), एम्.ए. में सर्वप्रथम (१९३७ कुलगुरू सुवर्णपदक प्राप्त) तथा दिल्ही की आय्.सी.एस्. प्रतियोगिता परीक्षा में सर्वप्रथम (१९४०)

आय.सी.एस्. अफसर के नाते मुंबई प्रांत में कलेक्टर पुणे और नाशिक, आयुक्त मराठवाडा, विकास आयुक्त सचिवालय और महाराष्ट्र राज्य में अर्थसचिव. १९६२ में भारत सरकार के अर्थविभाग में संयुक्त सचिव, योजना कार्यालय में प्रकल्प सलाहगार, गृहविभाग में अतिरिक्त सचिव और अर्थविभाग में सचिव।

१९७४ में सेवानिवृत्त होने के बाद पुणे में स्थायिक। इस काल में ज्ञानेश्वर महाराज संस्थान, आळंदी के आठ विश्वस्त और दो साल प्रमुख विश्वस्त। अब आठ साल से भारतीय विद्याभवन, पुणे केंद्र का अध्यक्ष।

ग्रंथलेखन भांडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा प्रकाशित The Yoga of Patanjali, Mahabharata, its

(शेष लेख आवरण-पत्र के पृष्ठ ३ पर)

सुरस ज्ञानेश्वरी

(हिंदी)

अनुवादक

मधुकर रामराव यार्दी

भारतीय विद्याभवन
पुणे केन्द्र
भारत

सर्व हक्क स्वाधीन

प्रथमावृत्ति १९९२
किंमत रु. १५० रु.

भारत में प्रकाशित

प्रकाशक : **श्री. श्री. रं. रायरीकर,** मानद सचिव
भारतीय विद्याभवन, पुणे केन्द्र
४०७-४०८ शिवाजीनगर,
पुणे ४११ ०१६

मुद्रक : **श्री. विठ्ठल लिखिते**
महाराष्ट्र मुद्रणशाळा छापखाना,
१७८६, सदाशिव पेठ, पुणे - ४११ ०३०

FOREWORD

Shri Jnaneshwar, the well-known saint of Maharashtra, was not only a realised soul but a gifted poet. At a very early age, he wrote his masterpiece, the Jnaneshwari, a commentary on the Gita in Marathi in exiquisite poetry. He has explained the Gita not by recourse to rational arguments but by the profuse use of similes, metaphors and illustrations. Initiated into the Natha Sampradaya by his elder brother Nivrittinatha, disciple of Gahininatha, he assimilated, in his later life, the non-dual jnana of Vedanta and the pure bhakti of the Bhagawat Dharma. In this Jnaneshwari, he calls the Gita the literary image of Lord Krishna. Indeed one can say that his Jnaneshwari is the literary image of his knowledge and experience.

Like Sri Shankaracharya, he was an advaita-vadin, a non-dualist. He explains verse IX 12 of the Gita as follows :

"The Lord says, although I am formless, without limiting conditions, inactive, beyond the qualities, changeless and all pervasive ignorant people ascribe to Me form, limitations, actions, qualities, and a definite place. Although I am unmanifest, desireless and devoid of action and enjoyment, they think of Me as manifest, full of desire, agent and enjoyer. They impute to Me hands and feet, eyes and ears, caste and family, although I do not possess them. Even though I am self-existent, they make idols of Me and instal them with proper rites of consecration, and though I am all-pervading, they invite Me with an invocation and bid farewell to Me with an immersion. They worship the idol as a form of divinity and later throw away the broken idol as worthless. They thus impute to Me human attributes."

Shri Jnaneshwar says that true knowledge consists in knowing God in the non-dual form and that devotion should culminate in Advaita bhakti. The devotee should realise God as all-pervasive; and wherever he casts his eyes, he should see God therein. This shows that Shri. Jnaneshwar had become a Jnani Bhakta of the highest order as described in the Gita (Verse VII. 17)

Although he was born in a village, Alandi, about 20 Kms. from Pune, he is worshipped all over Maharashtra as *Mauli,* Mother, by a large number of devotees. The members of the Warkari Sampradaya have kept the lamp of devotion burning in Maharashtra. Shri. Jnaneshwar says that everyone should perform his duty as a Yajna and offer his or her actions as flowers at the feet of God. This message is as relevant today as seven hundred years ago, and deserves to be known not only in this country but also all over the world. In the meantime, the Marathi Language has undergone changes and even the Marathi speaking people today find the Jnaneshwari unintelligible. So, a translation of Jnaneshwari in modern Marathi was also a need of the time. I am sure that the lucid translations, of Shri. Yardi, in modern Marathi, Hindi, and English will supply this long-felt want. This is a fitting tribute to a saint who regarded the whole world as his home-*he vishvachi majhe ghara.* I congratulate the Bharatiya Vidya Bhawan for bringing out these three books in the seventh centenary year of the Jnaneshwari.

Ramkrishna Math
Hyderabad - 500029
9 February, 1991

Swami Ranganathananda

सुरस ज्ञानेश्वरी
अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

अध्याय

१ अर्जुन का विषाद १
२ सांख्य और योग २१
३ कर्मयोग ४८
४ सांख्ययोग ६७
५ संन्यासयोग ८४
६ ध्यानयोग ९७
७ ज्ञानविज्ञानयोग १२८
८ अक्षरब्रह्मयोग १४४
९ राजविद्याराजगुह्ययोग १६२
१० विभूतिविस्तारयोग १९६
११ विश्वरूपदर्शनयोग २१९
१२ भक्तियोग २६५
१३ क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोग २७९
१४ गुणत्रयविभागयोग ३४३
१५ पुरुषोत्तम योग ३६७
१६ दैवासुरसंपद्विभागयोग ४०२
१७ श्रद्धात्रयविभागयोग ४३०
१८ मोक्षसंन्यासयोग ४५५

परिशिष्ट

१ विशेषनामों का कोश ५५६
२ ज्ञानेश्वरी के पारिभाषिक शब्द और उनके अर्थ ५७४
३ ज्ञानेश्वरी में निर्दिष्ट पौराणिक कथाओं के संदर्भ ५८४
४ विषयसूचि ६०१

ऋणनिर्देश

इस ग्रंथ के लेखनकार्य में और तत्पश्चात् उसके मुद्रण और प्रकाशन में अनेक व्यक्तियों ने हाथ बटाया है । भांडारकर प्राच्यविद्या संशोधन संस्था के ग्रंथपाल श्री. वा. ल. मंजुळ ने मेरे कहने पर ग्रंथालय के ग्रंथ खुले हाथ से दिये । जब मेरी मोतियाबिंद की शस्त्रक्रिया हुई थी तब अध्यापिका विद्याबहन बर्वे ने मेरे कच्चे हस्ताक्षर में लिखित कुछ अध्याय सुपाठय अक्षर में लिख दिये । ग्रंथ का अनुवाद पूर्ण होने के बाद पहले सत्रह अध्यायोंका श्री. व्यास ने पढ़कर संस्करण किया और अठारहवें अध्यायका प्रा. साठे इन्हों ने संस्करण किया । इस ग्रंथ के मुद्रणखर्च के लिये श्री. नवलमल फिरोदिया, डॉ. नीलकंठ कल्याणी, श्री. संजय किर्लोस्कर, श्री. अरविंद मफतलाल और श्री. आर. डी. आगा आदि उद्योगपतियों ने खुले हाथों से चंदा दिया । ज्ञानेश्वरी के जो तीन अनुवाद किये हैं, उनका खर्च अदा करने के लिये ज्ञानेश्वरी के सप्तशताब्दि के निमित्त से एक स्मरणिका लिखवाई । उसके लिये ६२ उद्योजकों ने विज्ञापने (advertisements) दीं । मुझे इस बात पर गर्व है कि भारतीय विद्याभवन, पुणें केंद्र के द्वारा चलाये जानेवाली छाब्रिया पूर्व-प्राथमिक और प्राथमिक शाला के विद्यार्थिओं ने जो चंदा अपने वार्षिक संमेलन के लिये इकट्ठा किया था उसमें बचत कर के पांच हजार रुपये इस खर्च के लिये प्रदान किये । इस ग्रंथ का श्री. विठ्ठल लिखिते इन्होंने अपने महाराष्ट्र मुद्रणशाला प्रेस में बढ़िया मुद्रण किया है । श्री. राजेंद्र पालकर ने ज्ञानेश्वर महाराज का और उनकी समाधि का छायाचित्र तैयार कर के इस ग्रंथ की शोभा बढ़ायी है । वैसे ही उस मुद्रण का संशोधन श्री. फगरे , श्री. य. ए. धायगुडे और श्री. व्यास इन्होंने बड़ी सावधानी से किया ।

इन सभी कामों में भारतीय विद्याभवन पुणें केंद्र के मानद सचिव श्री.रायरीकर इन्होंने स्वयं बड़ी मेहनत और दौड़धूप की । इन सभी को मैं धन्यवाद दूं तो वह पर्याप्त नहीं होगा । इस लिये मैं उनका ऋणनिर्देश कर रहा हूँ ।

◆ ◆ ◆

ज्ञानेश्वरदर्शन

श्रीज्ञानेश्वर महाराज तेरहवी शताब्दी में एक महान् संत-कवि हो गये ।उनका जन्म पुणे के नजदीक आळंदी नामक एक गाँव में इ.स. १२७१ में हुआ और उन्हों ने अपनी अवस्था के बाईसवें वर्ष में संजीवनी समाधि ली । जैसे सूर्योदय होने के पहले ही उसकी प्रभा फैलती है, वैसे उनको युवावस्था में ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और उन्होंने ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, चांगदेव पासष्टी, अभंग ऐसे बढ़िया ग्रंथ लिखे । उनकी लिखी हुई भगवद्गीता की टीका भावार्थदीपिका याने ज्ञानेश्वरी मराठी भाषा में का एक अनमोल ग्रंथ है । वह उनका मराठी भाषा को दिया हुआ आभूषण है । उस में उन्होंने वेदांत जैसा गहन विषय उपमा, उत्प्रेक्षा और दृष्टांत के प्रयोग से मराठीभाषीय लोगों के लिये सुगम किया है । लेकिन ज्ञानेश्वरकाल की मराठी भाषा में अब बदल हुआ है, इस लिये वह ग्रंथ दुर्बोध हुआ है । अत: ज्ञानेश्वरी का सुबोध और संवादात्मक (अनुवाद) अद्यावत मराठी भाषा में किया है ताकि सभी उसको आसानी से समझ सकें । श्रीज्ञानेश्वर का यद्यपि महाराष्ट्र में जन्म हुआ, तथापि उनकी यह धारणा थी कि यह सब विश्व उनका घर है । अत: ज्ञानेश्वरी का हिंदी और अंग्रेजी भाषा में मैंने अनुवाद किया है, इस लिये कि उसका सर्वत्र प्रसार हो सके । मेरी तीव्र इच्छा थी की ये तीनों ग्रंथ ज्ञानेश्वरी के सप्तशतसांवत्सरिक वर्ष में पूर्ण हो जाये । वह श्रीज्ञानेश्वर की कृपा से पूरी हुई, यह मेरी श्रद्धा है ।

ज्ञानेश्वरी की चिकित्सिक आवृत्ति :

महाभारत का चिकित्सित आवृत्ति का अंतिम ग्रंथ १९६८ में प्रकाशित हुआ । लेकिन यह खेद की बात है कि ज्ञानेश्वरी की चिकित्सित आवृत्ति अब भी निकली नहीं है । कै. प्रा. श्री. ना. बनहट्टी ने उसकी चिकित्सित आवृत्ति तैयार करने का संकल्प किया था और उसके लिये बहुत छापे हुए और हस्तलिखित ग्रंथ जमा किये थे ।उसने बारहवें अध्याय की संग्रहित आवृत्ति पाठभेदों के साथ १९६७ में प्रकाशित की थी[१] । लेकिन उनके असमय मृत्यु होने से यह कार्य अधूरा रह गया ।

---

[१] श्री.ना. बनहट्टी : श्री ज्ञानदेवी (अध्याय बारहवाँ) (मराठी में) पुणें १९६७

ज्ञानेश्वरी के चिकित्सित आवृत्ति के विषय में प्रा. बनहट्टी ने अपने विद्वान् मित्रों के अभिप्राय मंगवाये थे । उन सभी ने उसके प्रयत्न का समर्थन किया, किंतु वह आवृत्ति कैसी तैयार की जाये इस के बारे में दो स्पष्ट मत प्रदर्शित किये गये । एक मत यह था कि अत्यंत पुरातन ग्रंथ खोजकर अन्य ग्रंथों के पाठभेद नीचे टिपण्णी में दिये जायें । दूसरा मत यह था कि उपलब्ध पाठों की परस्पर तुलना करके जो प्राचीनतम पाठ समझे जायें उनका स्वीकार करें और चिकित्सित आवृत्ति बनायें । महाभारत के आद्य अन्वेषक वि. स. सुखठणकर ने यह दूसरा मत स्वीकार करके महाभारत के आदिपर्व की चिकित्सित आवृत्ति बनाई और उसको तैयार करने के लिये जो शास्त्र-संमत कसौटियाँ लगानी चाहिये उनकी आदिपर्व के Prolegomena में चर्चा की है ।

पाटंगण परंपरा में की राजवाडे की प्रतिलिपि और एकनाथ परंपरा में की सोनोपंत दांडेकर की प्रतिलिपि ये दोनों प्रतिलिपियाँ प्राचीनतम हैं ऐसा उनका दावा था । लेकिन कौनसी प्रतिलिपि प्राचीनतम है यह ढूँढकर निकालना मुश्किल है । और हम प्राचीनतम ग्रंथ निश्चित भी कर सकें तो भी अगर वह ग्रंथकार या उसके शिष्य का लिखा हुआ न हों, तो उसको मूल ज्ञानेश्वरी कहना गलत होगा ।

इस लिये प्रा. बनहट्टी ने ज्ञानेश्वरी की चिकित्सित आवृत्ति तैयार करने का जो संकल्प किया था वह उचित ही था । यह पाठ-अन्वेषण का उपक्रम पहले ही किया गया ऐसी बात नहीं है । ज्ञानेश्वरी के प्रथम पाठ-अन्वेषक पैठण के एकनाथ महाराज थे । श्रीएकनाथ ने ज्ञानेश्वरी की बहुत पोथियाँ जमा की थीं और वे कहते हैं कि उन्होंने पाठों का अन्वेषण करके शुद्ध पाठ चुने हैं । इस के बाद उनके समकालीन रघुनाथशिष्य भास्कर ने इ.स. १६१४ में ज्ञानेश्वरी का जीर्णोद्धार किया । लेकिन उसकी लिखी हुई पोथी अबतक प्राप्त नहीं हुई । इस पोथी का महत्त्व यह है कि वह एकनाथ महाराज के द्वारा ज्ञानेश्वर का शुद्धीकरण होने के बाद तीस साल के अंदर लिखी गयी थी । इसके बाद सत्रहवें शताब्दी में गोपाळाश्रमस्वामी नामक पाठअन्वेषक हुए । वे बडे भगवद्भक्त थे और उनको एकनाथ महाराज के बारे में बड़ा आदर था । उनका यह कहना है कि उन्होंने चुनकर प्राचीनतम पाठ डाले

हैं ।इस से मालूम पड़ता है कि उन्होंने बहुत ग्रंथ जमा कर के अपने पाठ निश्चित किये थे । लेकिन उन्होंने कितने ग्रंथ इकठ्ठा किये थे और उनमें कौन कौन से पाठभेद थे उसका निर्देश नहीं किया है । इस लिये यह आवृत्ति अन्वेषित होते हुए भी हम नहीं कह सकते कि वह चिकित्सित आवृत्ति है ।

प्रा. बनहट्टी ने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ की चार परंपराएँ मानी हैं, : १ एकनाथ परंपरा, २ पाटंगण परंपरा, ३ सिद्धनाथ परंपरा, ४ बरवे परंपरा । एकनाथी परंपरा की पोथियों में अंतिम तीन, चार, पांच ओवियों में उस का उल्लेख किया है ।पाटंगण परंपरा में कोई भी बाह्य चिन्ह नहीं है । लेकिन चार पोथियों में से तीन पोथियाँ पाटंगण देवस्थान में मिलने की वजह से उनको प्रा. बनहट्टी ने पाटंगण परंपरा नाम दिया है । पोथियों के चरम ओवियों में जो नामनिर्देश है उसके आधारपर उसने सिद्धनाथ और बरवे परंपराएँ निश्चित की हैं । जिन ग्रंथों को इन चार परंपराओं में वह शामील नहीं कर सके, उनका "स्वतंत्र" गुट माना गया है ।

पोथियों के अंत में जो नामनिर्देश हुआ है, उस पर अलग अलग परंपरा मानना उचित नहीं है । क्योंकि प्रा. बनहट्टी मान्य करते हैं कि शालिग्रामवाले और बडवेवाले ग्रंथों में के पाठ एकनाथी पाठों से मिलेजुले हैं । बरवें परंपरा में के अष्टेकर प्रतिलिपि, तंजावरी प्रतिलिपि, और भांडारकर प्रतिलिपि नं. २ इनमें के पाठ भी एकनाथी परंपरा से मिलते हैं । इस लिये इन पोथियों का भी एकनाथी परंपरा में समावेश करना उचित होगा । अब रही सिद्धनाथ परंपरा की विप्र प्रतिलिपि, भा. इ. सं. मं. कुलकर्णी प्रतिलिपि और स्वतंत्र गुट में की भांडारकर प्रतिलिपि नं.१ । इन में कुलकर्णी प्रतिलिपि के बारे में प्रा. बनहट्टी कहते हैं कि इस प्रतिलिपि के बहुत से पाठ भांडारकर नं. १ या पाटंगण परंपरा से मिलते हैं । भांडारकर १ प्रतिलिपि में एकनाथ परंपरा के और अन्य ग्रंथों के पाठों का बहुत मिश्रण है । जाल्गिरी प्रतिलिपि के बहुत से पाठ एकनाथी परंपरा से मिलते हैं । तो भी अनेक स्थल पर पाठ पाटंगण परंपरा से भी मिलेजुले हैं । इसलिये इन चार प्रतिलिपियों का स्वतंत्र गुट मानना उचित नहीं होगा ।

इससे यह स्पष्ट है कि इन ग्रंथों की दोनों परंपराएँ थीं, १. पैठण की एकनाथी परंपरा, २. पाटंगण की परंपरा । संयोग से यह दूसरी परंपरा भी एकनाथी परंपरा

थी । जैसे पैठण मे विख्यात एकनाथ महाराज हो गये, ठीक उसी समय मराठवाडा के बीड जिले में दूसरे एकनाथ स्वामी हो गये । पैठण के एकनाथ महाराज दत्त के उपासक थे, तो बीड के एकनाथ स्वामी गणेश के उपासक थे । दूसरा संयोग यह था कि एकनाथ स्वामी के गुरु का नाम भी जनीजनार्दन था । और इन जनीजनार्दन का बीड में का स्थान पाटंगण नाम से मशहूर था । इन एकनाथ स्वामी ने भी एकाजनार्दन ऐसा उपनाम लेकर विपुल ग्रंथ रचना की थी और भागवत के एकादश स्कंध पर भी टीका लिखी थी [२] । जनीजनार्दन स्वामी नाथ परंपरा में के थे, इसलिये उनके शिष्यों को ज्ञानेश्वरी के बारे में आत्मीयता थी । पाटंगण परंपरा में की चार प्रतिलिपियों में से तीन पाटंगण देवालय में प्राप्त हुई थीं । इन पोथियों में बहुत अंतःसाम्य है और इनकी भाषा पैठण परंपरा की पोथियों की तुलना में प्राचीन अर्थात् ज्ञानेश्वरकालीन प्रतीत होती है ।

इस तरह ज्ञानेश्वरी की पोथियों की दो वंशावलियाँ (recensions) होती हैं । ऐसे ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने में कुछ बदल जान-बूझ के बिना किये जाते हैं । लापरवाही, अनवधान या गलतफ़हमी की वजह से घटित हुए बदलों का इस में समावेश होता है । लेकिन कुछ हेरफेर जान-बूझ कर किये जाते हैं । भाषा में परिवर्तन, सुलभीकरण की प्रवृत्ति, भाषा अलंकारिक या शानदार बनाने की इच्छा, इन कारणों से अदलबदल किये जाते हैं । अगर ये अदलबदल आकस्मिक हो तो वैज्ञानिक कसौटियाँ लगा कर मूलपाठ खोजना मुमकीन होता है । लेकिन पैठण परंपरा के बारे में शुद्धीकरण के साथ सुलभीकरण का भी प्रयत्न हुआ ऐसा मानना गलत नहीं होगा । एकनाथ परंपरा में मूल ग्रंथ कौनसा था इसका निर्णय करना संभव होगा । इसलिये पैठण परंपरा में की प्रतिलिपियाँ, उस परंपरा से साम्य रखनेवाली शालिग्राम प्रतिलिपि, बडवे प्रतिलिपि, अष्टेकर प्रतिलिपि, तंजावरी बरवा प्रतिलिपि और भांडारकर नं-२ प्रतिलिपि, इनके आधारपर मूल एकनाथी ज्ञानेश्वरी हम निश्चित कर सकते हैं । यह एकनाथी मूलग्रंथ सर्वमान्य और सुबोध होने से उसका अन्वेषण होना आवश्यक है ।

---

[२] गं. दे. खानोलकर संपादित, मराठी ज्ञानकोश, खंड १,
मराठी ग्रंथकार (मराठी में) मुंबई, १९७७

लेकिन ज्ञानेश्वरी के मूलग्रंथ का अन्वेषण पाटंगण प्रतिलिपियाँ, भा. इ. सं. मं. कुलकर्णी प्रतिलिपि, भांडारकर प्रतिलिपि नं. १ और जाल्गिरी प्रतिलिपि इनके आधारपर हो सकता है । भास्कर ने यह इच्छा प्रदर्शित की थी कि ज्ञानेश्वरी का मूलग्रंथ खोजने की महाराष्ट्रीयों में प्रवृत्ति हो और सत्य के अन्वेषण में वे प्रयत्नशील रहें । मैं उसको यहाँ दुहराता हूँ । अब पुणे विद्यापीठ में ज्ञानदेव अध्यासन स्थापित हुआ है, मेरी पुणे विद्यापीठ से यह प्रर्थना है कि उसी के द्वारा यह काम हाथ में ले ।

ज्ञानेश्वर चरित्र

जैसे ज्ञानेश्वरी की चिकित्सित आवृत्ति अबतक तैयार नहीं हुई, वैसे ही ज्ञानेश्वरी महाराज का ऐतिहासिक चरित्रभी उपलब्ध नहीं है, यह बडे खेद की बात है । उपलब्ध चरित्र नामदेव के अभंग-संग्रह में के तीन प्रकरणों के आधार पर लिखे गये हैं । नामदेव के अभंग-संग्रह में "आदि", "तीर्थावली" और "समाधि" ये तीन प्रकरण हैं । ये प्रकरण श्रीज्ञानेश्वर की महिमा से प्रभावित हो कर लिखे गये हैं। इसलिये उनका पुराने चरित्रकारों ने आधार लेना स्वाभाविक है । पेशवाई में संतचरित्रकार महिपती बुवा, और ज्ञानेश्वर-विजयकर्ता निरंजन माधव इन्हों ने इन प्रकरणों का आधार लेकर श्रीज्ञानेश्वर के चरित्र लिखे हैं । हरिभक्त पांगारकर ने भी कहाँ है कि उसने श्रीज्ञानेश्वर महाराज के चरित्र और ग्रंथ विवेचन नामक (मराठी) ग्रंथ में इन अभंगों का उपयोग किया है । लेकिन शं. वा. दांडेकर ने भी जो नीतिशास्त्र के प्राध्यापक थे "सार्थ ज्ञानेश्वरी" (मराठी) में अपने चरित्र विभाग में इन प्रकरणों से उद्धरण दिये हैं, यह मुझे अजब लगता है ।

इस नामदेव के अभंग-संग्रह में भावे, पांगारकर, तुळपुळे इत्यादि ज्ञानेश्वरी के कुशल अभ्यासियों ने यह सूचित किया था कि इस नामदेव के अभंग-संग्रह में ज्ञानेश्वरकालीन अभंगों के साथ कई प्रक्षिप्त अभंग हैं । अब इस विषय में विख्यात अन्वेषक रा. चिं. ढेरे ने सबूत जमा किये हैं कि उसमें विष्णुदासनामा और अन्य

नामदेव नामक व्यक्तियों के अभंग हैं ।[३] नामदेव के अभंग-संग्रह में ओवीबद्ध "शुकाख्यान" में ऐसा कालनिर्देश किया गया है कि यह ग्रंथ मन्मथ संवत्सर के महीने में अमावास्या के दिन पूरा हुआ । इस कालनिर्देश में शालिवाहन शक का निर्देश नहीं है, तो भी पांडुरंगशर्मा और अन्य अभ्यासियों ने यह तय किया है कि यह शुकाख्यान पंद्रहवे शतक में लिखा गया होगा । इस अभंग-संग्रह में जो संतचरित्र हैं उनमें इ. स. पंद्रहवे शतक में के कबीर, मीरा, नरसी मेहता और भानुदास जैसे संतों का उल्लेख है । इस अभंग-संग्रह में जो चरित्रात्मक विभाग है, उसमें नामदेव की पत्नी राजाई ने रुक्मिणीदेवी से शिकायत की थी है कि नामदेव बटमार का धंधा करते हैं । ज्ञानेश्वरकालीन संत नामदेव का पेशा दर्जी का था । इससे यह निश्चित होता है कि इन तीन प्रकरणों के कर्ता ज्ञानेश्वरकालीन नामदेव से भिन्न थे ।

इन तीन प्रकरणों में जो अंतर्गत सबूत है, उस से भी इस विधान को पुष्टि मिलती है । "तीर्थावली" में ज्ञानेश्वर ने नामदेव के साथ जो यात्राएँ की उनका वर्णन है । लेकिन उसमें तीर्थयात्रा का ब्योरा नहीं है, बल्कि साधनामार्ग की विस्तृत चर्चा है । यह स्पष्ट है कि यह तीर्थावली उत्तरकालीन नामदेव की लिखी हुई है इस के कारण वह तीर्थयात्रा का ब्योरा नहीं दे सके । "तीर्थावली" "और समाधि" इन दो प्रकरणों में पांडुरंग और रुक्मिणीदेवी शरीक हुए थे ऐसे वर्णन हैं । इन तीनों प्रकरणों में "काव्य, श्रद्धा और चमत्कारों" का इतना मिश्रण है कि उनमें से सत्य ढूंढकर निकालना मुश्किल हो गया है । दंतकथा के बारे में मानववंशशास्त्रज्ञ की जो अटकलें हैं उससे भी ये प्रकरण उत्तरकाल के हैं इस विधान को पुष्टि मिलती है । इन शास्त्रज्ञों की राय है कि लोकोत्तर व्यक्तियों की मृत्यु के बाद उसके ईर्दगीर्द एक अद्भुतता का तेजोमंडल बनता है, जिसमें से दो तीन शताब्दियों के बाद दंतकथाओं का उद्गम होता है । इस प्रकार की दंतकथाएँ सब संतों के चरित्र में दिखाई देती है और उनका स्वरूप भी एक जैसा होता है । उसके बाद जो चरित्र परंपरा निर्माण हुई उनपर इस नामदेव के चरित्र का बहुत प्रभाव हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं । इस लिये मेरे विचार में इन चरित्र परंपराओं का अभ्यास करने से कुछ

---

[३] रा. चिं. ढेरे, नामदेवकृत ज्ञानेश्वर चरित्र, विविधा, (मराठी में) पुणे १९६०, पृ. १०१-१०८

ऐतिहासिक स्वरूप की जानकारी प्राप्त नहीं होगी । लेकिन ज्ञानेश्वर काल के ग्रंथों में या उस के बाद एक दो शताब्दियों में लिखे हुए ग्रंथों में श्रीज्ञानेश्वर की चरित्रसामग्री अगर हासिल हो जाये, तो उसको चुन कर उसका तुलनात्मक अभ्यास करने से श्रीज्ञानेश्वर के चरित्र के लिये निश्चित जानकारी मिल सकती है । इस अन्वेषण के बाद ज्ञानेश्वर चरित्र में जो विवाद्य बातें हैं उन पर प्रकाश पड़े तो पड़ सकता है । मेरी यह विनति है कि पुणें विद्यापीठ ज्ञानदेव अध्यासन के द्वारा यह कार्य भी तज्ज्ञों की सहाय्यता लेकर करे । चिकित्सित आवृत्ति के अभाव में मैंने नानामहाराज साखरे लिखित ज्ञानेश्वरीका अनुवाद किया है ।

श्रीज्ञानेश्वर की जन्मतिथि :

कै. श्री. भिंगारकर और कै. पांगारकर इन्होंने निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपान और मुक्ता के जन्मशक अनुक्रम से ११९५, ११९७, ११९९ और १२०१ निश्चित किये हैं । उस के लिये उन्होंने जना, नामदेव, विसोबा खेचर और ज्ञानेश्वर - विजयकर्ता निरंजन माधव के अभंगों का आधार लिया है । लेकिन ये अभंग इंदिरा प्रेस, चित्रशाला प्रेस, और जगद्धितेच्छु छापखाने में छापे हुए अभंग-संग्रह में मौजूद नहीं हैं । इसलिये यह अनुमान निकलता है कि ये अभंग बाद में किसी ने घुसेड़ दिये हैं । निवृत्तिनाथादि चार बहनों का जन्मशक जनाबाई ने अपने अभंग में इस तरह दिये हुए हैं ।

'शालिवाहन शके अकराशे नव्वद । निवृत्ति आनंद प्रगटले ।
त्र्याण्णवाच्या साली ज्ञानेश्वर प्रगटले । सोपान देखिले शाण्णवात ॥
नव्याण्णवाच्या साली मुक्ताई देखिली । जनी म्हणे त्यांनी मात केली, ॥

'शालिवाहन शक ग्यारह सौ नब्बे में निवृत्ति आनंद प्रकट हुए ।
तिरानवे साल में ज्ञानेश्वर और छियानब्बे में सोपान प्रकट हुए ।
निन्यानब्बे साल में मुक्ताई जनमी । जनी कहती है उन की जीत हुई '।

संत जनाबाई ज्ञानेश्वरकालीन होने से उनका यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है । किंतु यह अभंग उसनेही लिखा है, प्रक्षिप्त नहीं है, यह साबित करना होगा ।

तिरानवे शक श्रीज्ञानेश्वर का जन्मसाल हुआ, तो उन्होंने ज्ञानेश्वरी अपनी अवस्थाके उन्नीसवे सालमें लिखी यह ठीक लगता है ।

ज्ञानदेव और ज्ञानेश्वर क्या दो थे ?

ज्ञानदेव और ज्ञानेश्वर एक थे या भिन्न थे यह वाद बहुत पुराना है । कै. शिवराम एकनाथ भारदे ने भारद्वाज यह उपनाम लेकर सुधारक पत्र में १८९८-९९ साल ईसवीं में प्रबंध लिखे । उसका यह मत था कि योगी ज्ञानेश्वर नाथपंथीय और शिवभक्त थे और उन्होंने ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव ये दो ग्रंथ लिखे । अभंगकर्ता ज्ञानदेव ये विठ्ठलभक्त थे और भागवत धर्म के श्रेष्ठ भक्त थे । उनके अभंगों में उर्दु शब्द हैं, जो ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव में नहीं हैं । अभंगों में विठ्ठल भक्ति है, किंतु इसका उल्लेख ज्ञानेश्वरी में या अमृतानुभव में नहीं है । किंतु यह विवेचन तर्कयुक्त नहीं लगता । अगर योगी ज्ञानेश्वर ने भगवद्गीता पर टीका लिखी होती, तो ज्ञानेश्वर नाम का उल्लेख समय समय पर आना चाहिये था । लेकिन उसमें "ज्ञानदेव कहते हैं" ऐसा उल्लेख बार बार आता है । भावार्थदीपिका के अंत में उसके लेखनिक सच्चिदानंद बाबा ने 'बाराशे बारोत्तर में टीका की है ज्ञानेश्वर ने' इस तरह ज्ञानदेव को ज्ञानेश्वर कहा है । यह तो छंदपूर्ती के लिये कहा है ऐसा लगता है । क्योंकि ओवीछंद में साडेतीन पाद होते हैं और पहले तीन पादों में तुकबंदी करनी पड़ती है । लेकिन ज्ञानदेव के बारे में ज्ञानेश्वर नाम इतना समुचित था कि वही नाम रूढ़ हुआ और भावार्थदीपिका ज्ञानेश्वरी नाम से प्रसिद्ध हुई । फिर ज्ञानेश्वरीकर्ता क्या सिर्फ योगी ही थे ? सातवें अध्याय में भक्तों के चार प्रकार, बारहवें अध्याय में भागवत धर्म की प्रेमस्वरूप भक्ति ओर तेरहवें अध्याय में की गुरुभक्ति इनका ज्ञानेश्वरी में जो वर्णन आया है, उसको पढ़कर कोई भी इन्कार नहीं करेगा कि ज्ञानेश्वरी के कर्ता महान् भगवद्भक्त थे । शं. वा. दांडेकर का कहना है कि ज्ञानदेव के अभंगों में भी योगानुभव पर बहुतसे अभंग हैं और वे इतने दुर्बोध हैं कि उनसे अर्थ निकालना मुश्किल होता है ।[४] शैवागम में जिससे नाथपंथ का उद्गम हुआ था, उसमें शिव-शक्ति की उपासना को प्राधान्य था, इस लिये नाथपंथ में योग और भक्ति में अलगाव नहीं था ।

---

[४] शं.वा. दांडेकर : सार्थ ज्ञानेश्वरी (मराठी में) पुणें, १९५३, पृ. ४९

ज्ञानेश्वर और रामकृष्ण

ज्ञानेश्वरी में यद्यपि श्रीज्ञानेश्वर की चरित्रविषयक जानकारी नहीं मिलती, तथापि उससे उनका तत्त्वज्ञान और उनके आध्यात्मिक अनुभव मालूम होते हैं । भगवान् कृष्ण, गौतम बुद्ध और येशू ख्रिस्त इनके धर्मग्रंथ उनके निर्वाण के उपरांत बहुत साल के बाद लिखे गये । ज्ञानेश्वरी के अंतिम ओवी में यह उल्लेख है कि जब श्रीज्ञानेश्वर ज्ञानेश्वरी कहने लगे उसी समय सच्चिदानंद बाबा लिखते गये । श्रीरामकृष्ण के उनके शिष्य, भक्त और दर्शनिच्छु से इ.स. १८८२ से १८८५ तक जो संवाद हुए उनको एक अंतरंग शिष्य महेंद्रनाथ गुप्त इन्होंने अपने डायरी में दर्ज किया । उन टिप्पणियों के आधार पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण कथामृत यह ग्रंथ "एम्" उपनाम लेकर प्रकाशित किये । यह ग्रंथ बंगाली भाषा में लिखा गया है और उस के चार खंड "एम्"के हयात में प्रकाशित हुए और अंतिम खंड उनकी मृत्यु के पश्चात् १९३२ में प्रकाशित हुआ । ये पांच खंड श्रीरामकृष्ण के महासमाधि के बाद पचास साल के अंदर लिखे जाने से उनमें श्रीरामकृष्ण के संभाषण की असली टिप्प्पणियाँ हमें मिलती हैं । इस लिये श्रीज्ञानेश्वर और रामकृष्ण ने जो आध्यात्मिक अनुभव पाये उनकी निश्चित जानकारी हमें प्राप्त होती है ।

हमें प्रतीत होता है कि उन दोनों के अनुभवों में बहुत साम्य है । श्रीरामकृष्ण ने अपना आध्यात्मिक जीवन कालीमाता के भक्त के नाते शुरू किया । उन्होंने पश्चात् योगिनी भैरवी से तंत्रमार्ग की शिक्षा पाई और तोतापुरी से वेदांत का ज्ञान प्राप्त किया । श्रीज्ञानेश्वर के जीवन में सहजयोग, वेदांतज्ञान और भागवतधर्म में की प्रेमस्वरूप भक्ति इनका मधुर संगम हुआ था । लेकिन यह सब ज्ञान उनको श्रीनिवृत्तिनाथ द्वारा मिला था । भगवान् ने कहा है कि चतुर्विध भक्तों में से ज्ञानी भक्त मुझे अत्यंत प्रिय है, इतना ही नहीं वह मेरी आत्मा है (गीता ७.१७.१८) श्रीज्ञानेश्वर और रामकृष्ण दोनों ज्ञानी-भक्त थे ।

भाष्यकार से राह पूछ कर

एक समय ऐसे माना जाता था कि श्रीज्ञानेश्वर ने श्रीशंकराचार्य का ही तत्त्वज्ञान दुहराया है । कै. जोग महाराज की राय भी यही थी । उनके पश्चात् श्रीज्ञानेश्वर की

तत्त्वप्रणाली स्वतंत्र है ऐसा दावा पं. पांडुरंग शर्मा ने किया ।"भाष्यकारांते" इस शब्द पर अनुस्वार होने से उस को आदरार्थी न मान कर उसने बहुवचनार्थी माना और श्रीज्ञानेश्वर ने अनेक गीता के भाष्यकारों से राह पूछी ऐसा अर्थ किया । नागपूर के डॉ.शं.दा.पेंडसे ज्ञानेश्वरी, शांकरभाष्य और रामानुजभाष्य इन का अध्यायवार तुलनात्मक अभ्यास कर के यह भाष्यकार शंकराचार्य का ही उल्लेख है ऐसा सिद्ध किया [५] ।लेकिन साम्य स्थलों की संख्या, अध्यायसंगति या श्लोकसंगति की तुलना के बदले उनका तत्त्वज्ञान और योगविषयक विचार का तुलनात्मक अभ्यास करना चाहिये ।

अब इसमें संदेह नहीं कि श्रीशंकराचार्य और श्रीज्ञानेश्वर दोनों अद्वैतवादी ही थे । नौवें अध्याय में श्रीज्ञानेश्वर कहते हैं कि परमात्मा निराकार, निरुपाधिक, कर्तव्यरहित, गुणातीत, परिणामातीत, सर्वव्यापक, अव्यक्त, अद्वय है । लेकिन लोग उस निराकार में रूप, निरुपाधिक में उपचार, कर्तव्यरहित में व्यवहार, गुणातीत में गुण, सर्वव्यापक को स्थान की कल्पना करते हैं । वह अव्यक्त हो कर भी उसको व्यक्त, इच्छारहित होकर भी इच्छा करनेवाला, निष्क्रिय होकर भी कर्ता और भोक्ता न होने पर भी उसको भोक्ता मानते हैं । भगवान् कहते हैं कि मैं जातिरहित होकर भी जातवाला, चरणरहित होकर भी चरणवाला, कर्णरहित होकर भी कर्णवाला, नेत्ररहित होकर भी नेत्रवाला, गोत्ररहित होकर भी गोत्रवाला और सर्वव्यापक होते हुए भी एकदेशीय ऐसा मानते हैं। मैं स्वयंसिद्ध होते हुए भी मेरी मूर्ति बना कर उसकी प्राणप्रतिष्ठा करते हैं और मैं विश्व में ओतप्रोत व्याप्त होते हुए भी मेरा आवाहन और विसर्जन करते हैं । मेरी इस तरह मूर्ति बना कर उसकी पूजा करते हैं और जब वह मूर्ति भग्न होती है तब उसमें देवत्व नहीं होने से उसको फेंक देते हैं । सारांश जो जो मानवधर्म है उनका मुझपर अध्यारोप करते हैं । यह उनका विपरीत ज्ञान है और वह सच्चे ज्ञान की आड में आता है (ओवियाँ १५५-१७०) लेकिन परमात्मा सब मांगल्यगुणों का (auspicious attributes) अधिष्ठान है ऐसा विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैतवादी और शुद्धाद्वैतवादी मानते हैं । इसलिये श्रीज्ञानेश्वर का तात्त्विक दृष्टिकोण उनसे अलग हो कर शंकराचार्य के तत्त्वज्ञान से क़रीब है ।

---

[५] इसी ग्रंथ में पृ. १७

श्री शंकराचार्यके 'ब्रम्ह सत्यं' के साथ श्रीज्ञानेश्वर सहमत थे । लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि उनका 'जगन्मिथ्या' यह मायावाद श्रीज्ञानेश्वर को सम्मत नहीं था। क्यों कि वे परमेश्वर का वर्णन विश्वाकार, विश्वात्मा, विश्वेश, विश्वेश्वर, विश्वमूर्ति, सकलविश्वव्यापक, विश्वश्रीका पति इन शब्दों से करते हैं । वे कहते हैं कि उस ईश्वर के संकल्प से इस विश्व का निर्माण होता है (अ. ६ ओवी १०८) । जैसे कमल कि पंखुडियाँ कमल होती हैं, शाखाएँ और फल आदि पेड़ होते हैं, वैसेही यह सब विश्व उस ईश्वर का रूप है (अ.१४१७७)। इस लिये ऐसी बात नहीं है कि विश्व का लोप होने पर ही ईश्वर की प्राप्ति होती है । क्योंकि विश्व के समेत उसको जान लेना चाहिये (अ.१४, ओवी ३८०)। जैसे सूरज से निकले हुए किरण उससे भिन्न नहीं होते, वैसे ईश्वर और विश्व इन दोनों में ऐक्य है । सब एक हैं इस ज्ञान से जो भक्ति की जाती है वही अभेदभक्ति है। श्रीज्ञानेश्वर का मत यह है कि जब स्थितप्रज्ञ को या ज्ञानी-भक्त को पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, तब उसको यह जगत् मिथ्या है ऐसा प्रतीत नहीं होता। बल्कि उनका कहना है कि स्थितप्रज्ञ अहंकार छोड़कर और विषयों को त्याग कर जगदाकार हो जाता है (अ.२, ओवी २६७)। जब ज्ञानीभक्त की भेदभावना मिट जाती है तब वह अनुभंव करता है कि मैं ही विश्व हूँ।

लेकिन विश्व सत्य है यह मानते हुए भी, उनका मत यह था कि विश्व का दृश्य रूप सत्य नहीं है । माला पर जैसी झूठी सर्पबुद्धि होती है अथवा सींपी की चमक से उसपर रौप्य का आभास होता है, वैसे यह विश्वाभास है और वह ज्ञान के आगे दीवार बन जाता है (अ १५,ओवी ४६)। लेकिन वह ज्ञान के सामने टिक नहीं सकता। इसलिये उन्होंने सोलहवें अध्याय के प्रारंभ में गुरु का स्तवन करते समय उनको विश्वाभास को डुबानेवाला ऐसा बताया है। अतः हम नहीं कह सकते कि श्रीज्ञानेश्वर रामानुजाचार्य के समान चिद्विलासवादी थे। क्योंकि समस्त विश्व सत्य है और वह ईश्वर की लीला है ऐसा वे नहीं कहते बल्कि दृश्य विश्व आभास है ऐसा वे मानते हैं।

अब गीता में भगवान ने किस योग को प्राधान्य दिया है इस विषय में

शांकर-भाष्य और ज्ञानेश्वरी में भेद है ऐसा देखने में आता है। शंकराचार्य मानते हैं कि गीता में संन्यासयुक्त ज्ञानयोग यही प्रधान योग है और कर्मयोग और भक्तियोग उसको अनुपूरक है। उन्होंने कर्मयोग से चित्तशुद्धि, संन्यास, ज्ञानयोग, ज्ञानप्राप्ति और अंत में मोक्ष ऐसा क्रम बताया है। श्रीज्ञानेश्वर की राय में सब योग ग्रहण करने योग्य हैं और प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने अधिकार के अनुसार योग स्वीकार करे। छठे अध्याय में ध्यानयोग पर भाष्य करते हुए श्रीज्ञानेश्वर ने कुंडलिनीयोग का वर्णन करके उसको पंथराज कहकर गौरव किया है। इसी कुंडलिनीयोग को अन्य अध्यायों में भी उन्होंने दुहराया है। यह शंकराचार्य को संमत नहीं होता। श्रीज्ञानेश्वर ने कहा है कि स्वधर्म का आचरण यही नित्य यज्ञ है और फलाशा छोडकर ईश्वरार्पणबुद्धी से उसका आचरण करे, तो वह कर्मयोग स्वयं मोक्षदायी होता है। आगे चलकर वे कहते हैं कि मोक्ष के उँचे शिखर पर पहुँचने के लिये भक्ति यही सुगम पगडंड़ी है। उनके मत के अनुसार स्वधर्म याने कर्तव्यकर्म का आचरण, भगवद्भक्ति, ज्ञान और अद्वैतभक्ति इस क्रम से क्रमयोगी यह भगवान् को प्रिय ज्ञानी-भक्त हो कर ईश्वर से एकरूप बनता है। इसके विपरीत अन्य भाष्यकार यह मानते हैं कि सगुणब्रह्म के भक्ति से भक्त मुक्त हो जाते हैं और मोक्षप्राप्ति के बाद भक्त ईश्वर के सान्निध्य में स्वतंत्र जीवन बिताते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीज्ञानेश्वर ने शंकराचार्य से राह पूछकर ज्ञानेश्वरी का लेखन किया, लेकिन उन्होंने शंकराचार्य का अंध अनुकरण नहीं किया है, बल्की अपने मत प्रस्तुत किये हैं।

नाथसंप्रदाय

श्रीज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी के अंत में अपने संप्रदाय का वृत्तांत संक्षेप में दिया है (अ. १८, १७९०-९१)। उनका कहना है कि बहुत पुरातन काल में त्रिपुरारी श्रीशंकर ने क्षीरसमुद्र के किनारे पर पार्वती के कान में उपदेश किया। उसको श्रीविष्णु जो मछली के पेट में था, उसने सुना और वह ज्ञान से संपन्न हुआ। श्रीविष्णु ने मत्स्येंद्रनाथ के रूप में गोरक्षनाथ को उपदेश किया और गोरखनाथ ने गहिनीनाथ को दीक्षा प्रदान की। उसके पश्चात् गहिनीनाथ ने निवृत्तिनाथ को और निवृत्तिनाथ ने ज्ञानेश्वर को उपदेश कर के उनको कृतार्थ किया। नाथपंथ के उद्गमकाल में शाक्त, कापालिक, बौद्ध तंत्र इत्यादि अनेक शैवपंथ थे। इन सब पंथों

के आदिगुरु श्रीशंकर थे और इन सब पंथों का उद्गम शैवागम से हुआ था। मत्स्येंद्रनाथ नाथ संप्रदाय के मानव आद्यगुरु और कौलाचार के सिद्ध पुरुष थे। शैवागम के तत्त्वज्ञान का स्वरूप क्या था, कौलतंत्र ने उसमें क्या परिवर्तन किया और उससे नाथपंथ का उद्गम कैसे हुआ इसकी सविस्तर चर्चा इस प्रस्तावना में करना संभव नहीं है। किंतु उनमें से कौन से संस्कार श्रीज्ञानेश्वर के जीवन में स्थायीभाव से रहे इसका विचार अवश्य होना चाहिये।

शैवागम

शैवागम मानता है कि आदिनाथ शिव यही अंतिम सत्य है। यह शिवतत्त्व स्वयंप्रकाश, स्वसंवेद्य, अनंत और अविनाशी होकर, वह शक्तियुक्त है। सांख्य के प्रकृति के समान यह शक्ति उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण है और वह अखंड़ क्रियमाण होकर कभी व्यक्त, कभी अव्यक्त रूप में रहती है। लेकिन उन दोनों में फ़र्क़ इतना ही है कि यह शक्ति स्वतंत्र न होकर ईश्वराधिष्ठित है और अचेतन न होकर चित्स्वरूपिणी है। इसलिये सरासरी दृष्टि से देखने पर यह शैवतत्त्वज्ञान द्वैतप्रधान लगता है। महाभारत के शांतिपर्व में (अ.३३७-५९) सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद और पाशुपत ये 'नानामतानि' याने भिन्न मत के है ऐसा कहा गया है। "पत्युरसामञ्जस्यात्" इस ब्रह्मसूत्रपर (२-२३७) भाष्य करते समय शंकराचार्य कहते हैं कि माहेश्वरों के मत के अनुसार पाशुपति ईश्वर यह विश्व का निमित्तकारण है। इससे हमको यह मानना पड़ेगा कि पाशुपत या शैवागम का मूलस्वरूप द्वैतप्रधान था। अकुलवीरतंत्र में कौलों के दो गुट माने गये हैं, कृतक और सहज। इन में कृतक ये द्वैतवादी थे और सहज भगवान् और भक्त इन में अद्वैत मानते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि पहले शैव द्वैतवादी थे, और जब कई लोगों ने कौलमत का स्वीकार किया तो उनमें से कोई अद्वैती बने। इस शैवागम का प्रमुख अंग थे गुरु से मंत्रदीक्षा, शिव-शक्ति की उपासना और गुरुभक्ति। यह उपासना किस प्रकार की थी यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते। लेकिन उसमें शिवलिंग की मानस पूजा और शक्ति की यंत्रपूजा का अंतर्भाव था। शैवागम में हठयोग संभवतः नहीं था, क्योंकि स्वात्माराम ने हठयोगप्रदीपिका में मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ का प्रधानरूप से निर्देश किया है। इससे लगता है कि मत्स्येंद्रनाथ ने हठयोग का

कौलतंत्र में समावेश किया होगा । इसलिये ईश्वरभक्ति और गुरुभक्ति ये शैवपंथ के प्रधान अंग थे ।

कौलमत :

पहले ही उल्लेख किया गया है कि महाभारत में शैवागम और वेद को 'नानामतानि' ऐसा कहा है । इससे यह मानना पड़ता है कि ये परस्पर विरुद्ध थे । लेकिन उत्तरकाल में उन में सामञ्जस्य करने का प्रयत्न हुआ । श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव और ब्रह्म एक माने गये और माया यह उसकी देवात्मशक्ति है ऐसा कहा गया । वैसे ही कुलार्णवतंत्र में [६] (२.१०) शिवजी कहते कि उन्होंने ज्ञानरूपी रई से वेदागमरूपी सागर मथ कर कुलधर्म निकाला है । उस तंत्र में शिव को परब्रह्म-स्वरूप कह कर यह बताया गया है कि वह निर्गुण और सच्चिदानंद है और जैसे अग्नि के अग्नि-कण होते हैं वैसे जीव शिव के अंश हैं । आगे शिवजी कहते हैं कि यह अद्वैतशास्त्र है, 'अद्वैतं तु शिवेनोक्तम्' । इसलिये कौल-ज्ञान-निर्णय में [७] कहा गया है कि शिव और शक्ति में अभेद है । 'न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहित: शिव: । (१७.८१९)

यह शक्ति समस्त सृष्टि की प्रवर्तिका है । इसलिये उसको "कुल" संज्ञा मिली है । जो कुल नही है या जिसको कुलगोत्र नहीं है वह शिव अकुल है । अत: तंत्रविशारद भास्कराचार्य कहते हैं कि 'शिव-शक्ति-सामरस्यं कौलम्' । कुलार्णवतंत्र में कहा गया है कि कर्मकांडमें मग्न होकर यज्ञ करनेवालों को अथवा शरीरशोषण कर के तप करनेवालों को मुक्ति मिलना असंभव है और ज्ञानसे ही मुक्ति प्राप्त होती है । इस कौलमार्ग का वेदांत से साम्य है, यह स्पष्ट है ।

कौल और योग

कौल मत में बाह्योपचार की अपेक्षा शारीरिक और मानसिक क्रियाओं पर ज्यादा जोर था । उनमें योगसाधना और ध्यान का समावेश था । यह विषय कौलज्ञान

---

[६] P. C. Bagchi, Kaulajnananirnaya, Calcutta, 1934

[७] Sir John Woodroffe and M.P.Pandit, Kularnavatantra, Madras, 1965

निर्णय के चौदहवे पटल में कहा गया है। लेकिन यह योगसाधना किस प्रकार की थी इसका उसमें निर्देश नहीं किया, बल्की उससे शरीरपर होनेवाले परिणाम और सिद्धियों की प्राप्ति इन दोनों का वर्णन है। मिसाल के तौर पर, इस योगाभ्यास में, हाथ, पाँव और सिर में कंपन, अलग अलग आवाजों का श्रवण ऐसी बातों का अनुभव आना लगता है। पृथ्वी छोड़कर ऊपर जाने की शक्ति, काव्यशक्ति, भूतभविष्य का ज्ञान, काल पर विजय, अनेक रूप धारण करने की शक्ति, शरीरपर झुर्रियों का अभाव और बालों का सफ़ेद न होना, आकाश में भ्रमण करने की शक्ति ऐसी अनेक सिद्धियाँ योगी को प्राप्त होती हैं। योगिनी कौल में अनेक प्रकार की सूक्ष्म शक्तियाँ, दूर की वस्तु देखने की शक्ति, परकायाप्रवेश ऐसी शक्तियों का भी वर्णन है। लेकिन इस योगका अंतिम लक्ष्य उन्मनी अवस्था का अनुभव प्राप्त करना था। आगे कौलज्ञाननिर्णय में चित्त ब्रह्मरंध्र में जा कर वहाँ अमृत का प्राशन करता है ऐसा उल्लेख है। स्वात्माराम की हठयोगप्रदीपिका में यह हठविद्या मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ जानते थे ऐसा कहा गया है। इससे लगता है कि कौलाचार में कुंडलिनी योग का अंतर्भाव हुआ था। लेकिन कौलागम में शैवागम से परंपराप्राप्त भक्ति का भी समावेश था। पत्थर, काष्ठ या मिट्टी से बनाया हुआ लिंग छोड़ देकर अहिंसा, इंद्रियनिग्रह, दया, भक्तिभाव, क्षमा, अक्रोध और ध्यानरूपी फूलों से शिवलिंग की मानस पूजा करना चाहिये ऐसे कौलज्ञाननिर्णय के तीसरे पटल में सुंदर तरीके से बताया गया है। इसलिये जो लोग नाथसंप्रदाय में श्रीज्ञानेश्वर ने भक्ति का अंतर्भाव किया ऐसे कहते हैं वह सही नहीं है।

योग और भोग :

कुलार्णव तंत्र में यह कौलसाधना के बारे में 'भोगयोगात्मकं कौलम्' (२-२३) ऐसा एक उल्लेख है। कामोपभोग न करने से चित्तक्षोभ हो कर साधना में रुकावट आती है। इसलिये कामोपभोग संयमपूर्वक करने से साधना में बाधाएँ न होने से योग सुलभ होता है। कौलज्ञाननिर्णय में तांत्रिकों के पंच मकारों की (मद्य, मच्छली, मांस, मुद्रा, और मैथुन) की चर्चा है। लेकिन इन पंचमकारों का उपभोग मनमाना नहीं करना चाहिये। बल्कि मद्यमांस का नैवेद्य शक्ति को दिखा कर उसका सेवन करना चाहिये। स्त्री समागम भी शक्ति का स्मरण करके संयमपूर्वक करना

चाहिये ऐसा नियम था। इस तरह शुद्ध और पवित्र (conscreated) भोगों का सेवन किया तो वह उपभोग योग का साधन होता है, 'भोगो योगायते साक्षात्' (२-२४) ऐसा कौमलत था। परंतु शीघ्र ही प्रत्यय आने लगा कि उसपर संयम रखना कितना मुश्किल है। स्वयं मत्स्येंद्रनाथ एक योगिनी के सहवास में मशगुल हुए थे, और उस समय गोरक्षनाथ ने उनको रिहा किया था। मत्स्येंद्रनाथ की स्वीकृत साधना योगिनी कौलमत की थी। इस मार्ग में योगिनियों का प्राबल्य होने से स्त्रीसमागम की हद होने लगी। इसके बारे में चक्रधर स्वामी के लीळाचरित्र में दो निर्देश आये हैं[८]। एक कथा के अनुसार जालंधर-शिष्य कान्हपाद का अंत हुआ जब वह बहुडी नामक योगिनी से समागम में अपनी ऊर्ध्वरेतावस्था सिद्ध करना चाहता था। इसी बहुडी की स्वामिनी कामाख्या नामक योगिनी चांगदेव राउळ की ख्याति सुन कर उससे समागम माँगने गयी थी और उनके हठ की वजह से चांगदेव को देहत्याग करना पड़ा। इसलिये गोरक्षनाथ ने नाथसंप्रदाय में वैराग्य पर जोर दिया।

कौलमत और नाथसंप्रदाय

इससे स्पष्ट होता है कि नाथसंप्रदाय की जो तात्त्विक भूमिका है वह कौमलत की विरासत है। इस कौलमत की रचना और विस्तार करने में मत्स्येंद्रनाथ ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया होगा। इसलिये श्रीज्ञानेश्वर ने नाथसंप्रदाय के आद्य मानव प्रवर्तक ऐसा उनका निर्देश किया होगा। गोरक्षनाथ ने योगी के आचारधर्म में शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धि, बाह्य आडंबर से अनादर, ज्ञाननिष्ठा इनके साथ ही मद्यमांसादि मादक पदार्थों से घृणा और वैराग्य इनपर ज्यादा जोर दिया। इनमें से पहले चार आचार कौलधर्म में थे। लेकिन गोरक्षनाथ ने भोग और भक्ति इनकी अपेक्षा योग और वैराग्य पर ज्यादा भर दिया। इसलिये श्रीज्ञानेश्वर ने उनका वर्णन योगाब्जिनीसरोवर और विषयविध्वंसक वीर ऐसा किया है और वह सार्थ है। गोरक्षनाथ एक कार्यधुरंधर प्रचारक थे और उन्होंने नाथ संप्रदाय का प्रसार जोश से सब भारत देश में किया। उनके शिष्यमंडल में हिंदु-मुसलमान दोनों ही थे और

---

[८] रा. चिं. ढेरे, श्रीगुरुगोरक्षनाथ, नाथसंप्रदायाचा इतिहास. (मराठी में) मुंबई, १९५९, पृ. २७

विमलादेवी, मयनावती इनके सदृश उनकी स्त्रीशिष्याएँ भी थीं । उन्होंने दलितवर्ग को अपना कर उनको आत्मोन्नति का मार्ग बताया । इस कार्य में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

श्रीज्ञानेश्वर और गीता

नाथपंथ में दीक्षा लेने के बाद श्रीज्ञानेश्वर गीता के प्रति कैसे आकर्षित हुए यह निश्चित रूप से कहना मुश्किल है । महाभारत में एक कथा है कि श्रीकृष्ण उपमन्यु के पास गये थे और उससे शिवोपासना सीख कर उससे शिवजी को प्रसन्न कराया और उनसे उनकी पत्नी जांबवंती के लिये वरदान माँगा (अनुशासनपर्व १४.१८) । इसलिये श्रीकृष्ण उपमन्यु से पाशुपत दीक्षा लेनेवाला शिष्य था और उनकी भगवद्गीता यह एक शैवग्रंथ है इस श्रद्धा से वसुगुप्त और अभिनवगुप्त इन्होंने भगवद्गीता पर टीका लिखी ऐसी श्री. तगारे की राय है [९] ।परंतु यह कथा मूल भारत में नहीं है, और बाद में प्रक्षिप्त की गयी है । और यह स्पष्ट है कि भगवद्गीता में जिस ज्ञान का प्रतिपादन किया है, वह औपनिषदिक ज्ञान है । यह सही है कि भगवद्गीता में सांख्य, योग और पंचरात्र का वेदांत से समन्वय स्थापित किया है । किंतु उसमें पाशुपत के तत्त्वज्ञान का अंतर्भाव हुआ है ऐसा मुझे प्रतीत नहीं हुआ । [१०] श्रीज्ञानेश्वर दसवे अध्याय में कहते हैं कि ब्रह्मविद्या में जो श्रेष्ठ गीता है वह ओवियों में कहने की मुझे सद्गुरु ने आज्ञा की (ओवी १९) । तेरहवे अध्याय में उन्होंने बताया है कि मैंने गीतापर भाष्य किया है, ताकि सब लोगों के विचारों का दैन्य मिटकर ब्रह्मविद्या की खान सभी को मुबारक हो ।वे शिवजी के समान श्रीविष्णु को भी सन्मान देते थे । गहिनीनाथ और निवृत्तिनाथ ये दोनों कृष्णभक्त थे और उनके पहले ही शैवपंथ के भास्करभट्ट और अभिनवगुप्त ने गीतापर टीकाएँ लिखी थीं । कुलार्णवतंत्र में ऐसा एक उल्लेख है कि कृष्णाष्टमी एक विशेष दिन समझ कर उसमें विशेष पूजा करनी चाहिये । इसलिये श्रीज्ञानेश्वर गीता के प्रति आकर्षित हुए यह उनके परंपरा के अनुसार ही था । लेकिन ब्रह्मविद्या के प्रति मुडने पर भी

---

[९] ग. वा. तगारे, शैवदर्शन, (मराठी में) पुणें, १९८७, पृ.८

[१०] M. R. Yardi, The Bhagavadgita as a Synthesis, Pune, 1991, pp. 91,92

कुंडलिनी-योग और गुरुभक्ति की ओर जो उनका लगाव था वह कायम रहा और उनके उल्लेख ज्ञानेश्वरी में आये हैं।

कुंडलिनी-योग :

नाथसंप्रदाय का यह एक सिद्धांत है कि अद्वितीय शिवतत्त्व विश्वरूप में स्फुरित होने से जो ब्रह्मांड में है वह पिंड़ (शरीर) में भी है। मानव शरीर में शक्ति कुंडलिनी रूप से मूलाधार चक्र में सोयी हुई रहती है और मस्तक में स्थित ब्रह्मरंध्र में शिवजी निवास करते हैं। नाडीशोधन, आसन, बंध, प्राणायाम करने से सुषुम्ना मार्ग खुला हो जाता है और कुंडलिनी जाग्रत होकर शिव को मिलने के लिये दौड़ कर जाती है। तब योगी को कैवल्यावस्था प्राप्त हो ज़ाती है। वैसेही कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होकर षट्चक्रों का भेद करके ऊपर जाने लगती है तब सहस्रार में चंद्रामृत का तलैया झुक कर उसमें से चंद्रामृत कुंडलिनी के मुख में गिरता है। तब योगी के शरीर में जो परिवर्तन होता है उसका श्रीज्ञानेश्वर ने एक मनमोहक चित्र खींचा है। फिर भी यह नाथपंथ का रहस्य है ऐसा उन्होंने स्पष्ट किया है। इस योग का गीता में उल्लेख नही है इसकी पूर्ण जानकारी उनको थी। क्योंकि छठे अध्याय में (ओविया २९१,२९२) वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने इस नाथरहस्य का अस्पष्ट उल्लेख किया है, जो मैंने अब आप तज्ज्ञों के सामने प्रकट किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीज्ञानेश्वर ने सिर्फ़ गीता पर भाष्य नहीं किया है, बल्कि अपना अनुभव भी उसमें व्यक्त किया है। इस कुंडलिनीयोग को ज्ञानेश्वरी में समाविष्ट कर के और उस को पंथराज कह कर उसका गौरव कर के श्रीज्ञानेश्वर ने उसको ध्यानयोग के बराबरी का स्थान प्रदान किया है।

गुरुभक्ति और शक्तिपात

कौलमत में और नाथसंप्रदाय में गुरुभक्ति को बड़ा महत्त्व है। कुलार्णव तंत्र में शिष्य गुरु की भक्ति कैसी करे यह बारहवे अध्याय में बताया गया है। उसमें लिखा है कि गुरु की पवित्र पादुकाएँ उसका आभूषण है, गुरु का स्मरण जप है, गुरु का आज्ञापालन यही उसका आचार धर्म है और गुरु की सेवा यही उसकी पूजा है। गीता में ज्ञानी पुरुष का आचार्योपासन ऐसे एक शब्द में लक्षण कहा गया है। लेकिन श्रीज्ञानेश्वर ने उसपर नब्बे ओंवियाँ लिखी हैं। उन्होंने लगभग प्रत्येक

अध्याय का आरंभ गुरु के नमन और स्तवन से किया है। नाथसंप्रदाय में दीक्षा और शक्तिपात पर बहुत जोर दिया गया है। गुरु के मुख से ही मंत्र की दीक्षा लेने से वह मंत्र फलप्रद होता है। कुंडलिनी के उद्बोधन में शक्तिपात का विशेष महत्त्व है। क्योंकि गुरु के स्पर्श से यह कुंडलिनी शीघ्र जाग्रत होती है। इस शक्तिपात के निर्देश ज्ञानेश्वरी में आये हैं। अठारहवे अध्याय में ज्ञानेश्वर कहते हैं "मैं जो अज्ञानरूप निद्रा में विश्वरूपी स्वप्न का अनुभव कर रहा था तब गुरु ने महावाक्य कह कर और मेरे मस्तकपर थपकी लगा कर मुझे जाग्रत किया" (ओवी ४०३)। वे आगे कहते है "जो भगवान् शब्दों से नहीं दे सकते थे, वह देने के लिये अर्जुन को आलिंगन दिया और फिर हृदय हृदय से मिल गया और उन्होंने अपने हृदय का रहस्य उसके हृदय में डाला। और भगवान और भक्त का द्वैत न तोड़ते हुए अर्जुन को अपना-सा किया"।

यह सिर्फ कविकल्पना है यह मानने के लिये कुछ कारण नहीं है। श्रीरामकृष्ण ने जब नरेंद्र को पादस्पर्श किया तब उसकी अवस्था क्या हुई उसका वर्णन 'श्रीरामकृष्णलीला प्रसंग' में आया है।[११]

"दक्षिणेश्वर कालीबाड़ी कलकत्ते से इतनी दूर होगी, यह पहले एक बार गाड़ी से जाकर मैं समझ नहीं सका था। वराहनगर के दाशरथि सन्याल, सातकडि लाहिरी आदि मित्रों के घर तो मैं कभी कभी जाया करता था। मैंने सोचा था कि रानी रासमणि का बाग उन मित्रों के घर के समीप ही कहीं होगा, परंतु जितना ही चलने लगा, रास्ता समाप्त ही नहीं होता था ! अन्ततो गत्वा पूछते पूछते किसी तरह दक्षिणेश्वर पहुँच गया और एकदम श्रीरामकृष्णदेव के कमरे में उपस्थित हो गया। देखा कि वे पहले की तरह छोटी चौकी पर अकेले अपने ही भाव में विभोर बैठे हैं, पास में कोई नहीं था। मुझे देखते ही आनन्द से बुलाकर अपने पास बिठाया। बैठने के बाद ही मैंने देखा, न जाने किस प्रकार के भाव में वे तन्मय हो गये हैं और अस्पष्ट स्वर से कुछ कहते हुए स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखकर धीरे-धीरे सरकते

---

[११] स्वामी सारदानंद, श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग,
अनुवादक श्री. गोपालचंद्र, रामकृष्ण मठ, धंतोली नागपुर, १९८०, पृ.७५,७६

आ रहे हैं । मैंने सोचा, संभवत: यह पागल पहले दिन की तरह फिर कोई पागलपन कर बैठेगा । मैं यह सोच ही रहा था कि उन्होंने एकाएक मेरे पास आकर अपना दाहिना पैर मेरे अंग पर संस्थापित कर दिया और उसके स्पर्श से क्षण भर में मेरे भीतर एक अपूर्व उपलब्धि होने लगी । आँखें खोल कर मैं देखने लगा कि घर की दीवालों के साथ सारी चीजें घूमती हुई कहीं विलीन होती जा रही हैं और सारे ब्रह्माण्ड के साथ मेरा क्षुद्र 'अहं' भाव सर्वव्यापक महाशून्यं में विलीन होता जा रहा है । उस समय भय से मैं घबड़ा उठा । सोचने लगा- 'अहंभाव' का नाश ही तो मृत्यु है और वह मृत्यु सामने बहुत समीप आ गयी है ! अपने को सम्हाल न सकने के कारण मैं चिल्ला उठा, 'अजी, आपने मेरी यह कैसी अवस्था कर डाली ? मेरे तो माँ-बाप हैं !' मेरी बात सुनकर वह अद्भुत पागल खिलखिलाकर हँस पड़ा और मेरा हाथ पकड़कर छाती को स्पर्श करते हुए कहा, 'अच्छा तो फिर अभी रहने दे । एकदम ही होने की कोई जरूरत नहीं है । समय आने पर होगा ।' आश्चर्य की बात यह है कि उनके स्पर्श से और यह बात कहते ही मेरे अपूर्व प्रत्यक्ष विलुप्त हो गये । मैं प्रकृतिस्थ हो गया और कमरे के भीतर तथा बाहर सभी पदार्थों को पहले की तरह अवस्थित देखने लगा" ।

योग और ज्ञान

लेकिन गीताभाष्य करते समय श्रीज्ञानेश्वर ने शीघ्र शंकराचार्य के समान अनुभव किया होगा कि ज्ञान के सिवाय योगाभ्यास पूर्ण नहीं हो सकता । ब्रह्मसूत्र २-१-३ पर भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है कि केवल सांख्यज्ञान और योगाभ्यास से ब्रह्मज्ञान के बिना ब्रह्मानंद प्राप्त नहीं होता ।अमृतानुभव में (७२७) श्रीज्ञानेश्वर ने योगी को "दिन का चाँद" कहा है, यानी ज्ञानी पुरुष के सामने योगी जैसे दिन में चंद्रमा वैसे निस्तेज होता है । यहाँ योगी चांगदेव की आख्यायिका आँखों के सामने आती है । चांगदेव नाथपंथ के एक श्रेष्ठ योगी थे । उन्होंने गोरक्षनाथ की शिष्या योगिनी मुक्ता से दीक्षा ली थी । उन्होंने बहुत साल योगाभ्यास करके सिद्धियाँ प्राप्त की थी, और उसकी वजह से उनका अहंकार भी जबर्दस्त था । तब उनका कोरा खत देखकर श्रीज्ञानेश्वर की भगिनी मुक्ता ने कहा कि वे ज्ञान के बारे में कोरे ही रहे हैं, उसका यह उद्धार योग्य ही था । इस लिये जब उनकी ज्ञान के ईश्वर से भेंट हुई

तो यह स्वाभाविक था कि उनका गर्वपरिहार हो । लेकिन अब श्रीज्ञानेश्वर का ज्ञान शैवागम को अभिप्रेत ज्ञान नहीं था, बल्कि औपनिषदिक ज्ञान था । श्रीज्ञानेश्वर के तीनों ग्रंथों में ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव और चांगदेवपासष्टी में आत्मज्ञान का ही वर्णन है ।[१२]

ज्ञानियों का राजा

इसमें संदेह नहीं है कि श्रीज्ञानेश्वर ज्ञानयोग के अभ्यास से स्थितप्रज्ञ और ज्ञानी बन चुके थे । गीता में कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ के मन में सदैव शांति रहती है । सब नदियों के प्रवाह यद्यपि लबालब भर कर समुद्र से जा कर मिलें तो भी समुद्र को क्षोभ नहीं होता, वह सदैव शांत रहता है । श्रीज्ञानेश्वर के रोमरोम में ऐसी शांति भरी हुई थी । जिस ब्रह्मवृंद ने उनको और उनके भाई और बहन को संन्यासी के संतान कह कर सताया, उनका उन्होंने भूदेव, मंत्रविद्या के पीहर और तपश्चर्या के अवतार ऐसा गौरवपूर्ण उल्लेख किया है । ज्ञानी पुरुष के लक्षण जो तेरहवे अध्याय में कहे गये हैं उनमें पहला लक्षण अमानित्व याने बडप्पन की अत्यंत घृणा है । नौवे अध्याय में उन्होंने कहा है कि श्रेष्ठता छोड़कर और शास्त्रीय ज्ञान भूल कर और स्वयं को नगण्य समझकर जो बर्ताव करता है उसी को ज्ञान हुआ है ऐसा समझना चाहिये (ओवी ३७४) । वे जानते थे कि वे ज्ञानेश्वरी जैसा उत्कृष्ट ग्रंथ लिख रहे थे । फिर भी वे अपने को ओछा मान कर उसका श्रेय अपने गुरु निवृत्तिनाथ को प्रदान करते हैं । ज्ञानी पुरुष के जो लक्षण कहे गये हैं वे उनके बारे में हूबहू लागू होते हैं । जो ज्ञानी है वह प्राणिमात्र में भेदभाव नहीं करता । उसमें अहंकार न होने के कारण, यह मच्छर, यह हाथी, यह गाय, यह कुत्ता, ऐसा भेद उसको महसूस नहीं होता (गीता ५-४) हाथी, गाय और कुत्ता इन की तुलनामें भैंसा अत्यंत बुद्दू जानवर है । लेकिन जब श्रीज्ञानेश्वर ब्रह्मवृंद से शुद्धिपत्र लाने के लिये भाई और बहन के साथ पैठण गये थे, तब किसी ने रास्ते से जाते हुए भैंसा को देख कर उनकी खिल्ली उड़ाते हुए पूछा था, क्या इसमें आत्मा है ? तब उन्होंने जोर से कहा था कि जो आत्मा हमारे देह में है वही उस भैंसा में है । इस पर ही उन्होंने भैसा से वेद कहलवाया था, ऐसी आख्यायिका (legend) उत्पन्न हुई । इसलिये संत तुकाराम महाराज ने जो

---

[१२] शं.वा.दांडेकर, सार्थ ज्ञानेश्वरी (मराठी में) पुणें, १९५३, पृ. १२२

उनका 'ज्ञानियोंका राजा' ऐसा गौरवपूर्वक उल्लेख किया है वह यथार्थ है ।

अभेद भक्ति

सर्वसाधारण भक्ति का यह स्वरूप होता है कि भक्त ईश्वरपर मानव धर्मोंका अध्यारोप कर के उसकी सगुण रूप में भक्ति करता है । अथवा किसी असाधारण और अलौकिक व्यक्ति पर दैवी गुण चिपका कर और उसको परमात्मा का अवतार मान कर उसकी पूजा करता है । ऐसा साधारण तौरपर समझा जाता है कि भगवान् और भक्त में द्वैत के सिवाय भक्ति नहीं हो सकती । मध्वाचार्य के संप्रदाय में की भक्ति खुल्लम खुल्ला द्वैतभक्ति है, लेकिन रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य एक प्रकार से अद्वैती होते हुए भी उनकी भक्ति भी द्वैतस्वरूप की है । क्योंकि वे मानते हैं कि जीव मुक्त होने पर भी परमात्मा से एकरूप न होकर उसं के सान्निध्य में स्वतंत्र जीवन बिताता है । भगवान् और भक्त में भेद मान कर जो भक्ति की जाती है वह व्यभिचारी और संकुचित होती है । विश्व का लोप होने पर ईश्वरप्राप्ति होती है ऐसी बात नहीं, तो विश्व के समेत ही ईश्वर को जान लेना चाहिये यह श्रीज्ञानेश्वर की राय थी । चौदहवे अध्याय में श्रीज्ञानेश्वर कहते हैं कि उनमें भेद न मानकर ईश्वर ही समस्त विश्व में व्याप्त हुआ है ऐसे जानकर जो भक्ति की जाती है वही अव्यभिचारी और अभेद भक्ति होती है (ओवियाँ ३७९-८०) । दसवे अध्याय में वे कहते हैं कि जैसे समुद्र में लहरें होती हुईं भी तो वे सब पानीही होता है, वैसे यह ज्ञानी-भक्त सब विश्व में भगवान् को देखकर उस की उत्कंठा से और प्रेमभाव से भक्ति करता है । जिस प्राणिसे उसकी भेंट होती है, उसीको भगवान् मानना यही अभेद भक्ति है । ज्ञानी-भक्त के लक्षण बारहवे अध्याय के अंत में बताये गये हैं । उन में जो प्रथम लक्षण "अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्" यह श्रीज्ञानेश्वर को पूरी तरह लागू होता है । क्योंकि वे खलों का भी द्वेष नहीं करते थे, उलटे वे पसायदान में भगवान् की प्रार्थना करते हैं कि उनकी दुष्ट बुद्धि नष्ट हो । तेरहवे अध्याय में अहिंसा पर किए गए भाष्य में वे कहते हैं कि किसी भी प्राणि को तकलीफ़ न हो ऐसा बर्ताव करनाही अहिंसा है । इस तरह ज्ञानीभक्त के लक्षण उन्होंने आत्मसात् किये थे ।

प्रेमस्वरूप भक्ति

गीता में की भक्ति ध्यान पर निर्भर होते हुए भी उसमें प्रेमस्वरूप भक्ति के भी उल्लेख हैं। दसवे अध्याय में भगवान कहते हैं कि जो मेरी प्रेमपूर्वक भक्ति करता है, उसको मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ। आगे ग्यारहवें अध्याय में (श्लोक ५४) और बारहवें अध्याय में (श्लोक १०) भगवान् अर्जुन को उपदेश करते हैं कि 'मत्कर्मकृत्' और 'मत्कर्मपरम' हो जाओ। शंकराचार्य इसका अर्थ करते हैं कि ईश्वरापर्णबुद्धि से सब कर्म करते जाओ। लेकिन अभिनवगुप्त मानता है कि 'मत्कर्म' का अर्थ यहाँ भागवत धर्म को अभिप्रेत पूजा, तप, स्वाध्याय, होम ऐसा है। मधुसूदन सरस्वती इसके आगे चल कर कहते हैं कि मत्कर्म का अर्थ भागवत धर्म की श्रवण, कीर्तन इत्यादि नवविधा भक्ति है। महाभारत के चिकित्सित आवृत्ति में भागवत शब्द न होने से ऐसा मालूम होता है कि गीता के काल में भागवत धर्म विद्यमान नहीं था। लेकिन गीता में भागवत धर्म के बीज थे और उसमें से भागवत धर्म अंकुरित होकर उसका प्रसार उत्तर भारत में इसवी पूर्व दूसरी शताब्दि में हुआ था। श्रीज्ञानेश्वर को भागवत पुराण की जानकारी थी (अ.१८, ओवी ११३२)। कई विद्वानों के मत में श्रीज्ञानेश्वर ने अपने आधे से अधिक दृष्टांत भागवत पुराण से लिये हैं। उन्होंने छठे अध्यायमें (ओवी १२७) नौवीं आत्मनिवेदन भक्ति का उल्लेख कर के कहा है कि उस की इस ओर की आठवी भक्ति जो सख्य है उसका अर्जुन मुख्य देवता है। ज्ञानेश्वरी में जो कुछ पौराणिक कथाओं के उल्लेख आये हैं उनमें से बहुतेरों के संदर्भ भागवत में मिलते हैं।

नौवें अध्याय में श्रीज्ञानेश्वर ने कीर्तन भक्ति का मनमोहक वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि ये भक्त कीर्तन के प्रेम से नाचते हैं, उनके प्रायश्चित्त के सब कर्म बंद हुए हैं। वे कृष्ण, विष्णु, हरि गोविंद ऐसा मेरा निरंतर नामस्मरण करते हैं और आत्मचर्चा भी करते हैं। भगवान् के नामघोष से उन्होंने प्राणिजात के दुःख मिटाकर विश्व ब्रह्मानंद से भरा दिया है। वैकुंठ को कोई विरलाही जाता है, लेकिन इन भक्तों ने सब जगत् को वैकुंठ बना दिया है। भगवान् कहते हैं कि मैं किसी समय वैकुंठ में नहीं होता, सूर्यबिंब में ही नहीं रहता और योगियों का हृदय लाँघ कर जाता हूँ। परंतु जहाँ मेरा नामघोष लगातार होता रहता है वहाँ मैं निश्चय से पाया जाता हूँ।

जो मेरा नाम मुख में लाने के लिये हजारो जन्म सेवा करनी पड़ती है, वह उनकी ज़बानपर नाच करता है । उनकी सूरज, चाँद या मेघ से तुलना करना चाहूँ, तो सूर्य अस्तंगत होता है, चाँद किसी समय पर ही पूर्ण होता है, और मेघ रिक्त होते हैं । इन भलों का ज्ञान कभी नहीं ढलता, वे सदैव भक्ति से परिपूर्ण रहते हैं और आत्मबोध का बौछार करते हैं ।

ज्ञानदेव और नामदेव

इससे मालूम होता है कि श्रीज्ञानेश्वर प्रेमस्वरूप भक्ति से अनभिज्ञ नहीं थे । किंतु इस भक्ति में कितना उमंग होता है यहं श्रीनामदेव से भेंट होने पर ही वे जान गये होंगे । महाराष्ट्र की ये दो विभूतियाँ कहाँ और कब मिली इसकी जानकारी नहीं मिलती । श्रीनामदेव ये ज्ञानेश्वर के अद्वैत ज्ञान और अद्वैत भक्ति से चकाचौंध हो गये होंगे । और श्रीनामदेव की प्रेमभक्ति की उमंग और उनका भगवान के प्रति लगन देखकर श्रीज्ञानेश्वर प्रभावित हो गये होंगे । दो भक्त एकत्रित होने पर वे कैसे पेश आते हैं इसका रोचक वर्णन श्रीज्ञानेश्वर ने दसवें अध्याय में किया है । उस प्रकार ज्ञान और भक्तिभाव के जोश में उनके वार्तालाप रंग गये होंगे और वे आनंद से नाच रहे होंगे । उन्होंने अपने ज्ञान, अनुभव और भक्ति का आदान-प्रदान किया होगा । कीर्तन, भजन और आत्मचर्चा में उन्होंने दिन रात बिताये होंगे । इनकी मुलाक़ात से दो बातें बन गयी । श्रीनामदेव अब जान गये कि ज्ञान के बिना भक्ति अधूरी होती है और वे विसोबा खेचर के पास ज्ञानार्जन करनें गये । और ज्ञानी-भक्त ज्ञानेश्वर विठ्ठल-भक्त हो कर मधुरा भक्ति कें प्रति आकर्षित हुए ।

मधुरा भक्ति

किसी को संदेह होगा कि परमात्मा से एकरूप होते हुए ज्ञानेश्वर सगुण भक्ति के प्रति कैसे मुड़ गये । उसका श्रीज्ञानेश्वर ने बारहवें अध्याय में जबाब दिया है । वे कहते हैं कि यद्यपि वह बाहर कर्मयोग से और अंदर ध्यानयोग से कोई युक्त हो गया, तो भी उसको मेरे सगुण रूप से बडा लगाव होता है । हे अर्जुन वही भक्त है, वही योगी है और वही मुक्त है । वह मानो मेरी कांता है और मैं उसका पति, इतना वह मुझे प्यारा होता है । इतना ही नहीं, वह तो मुझको प्राण से भी प्रिय है । लेकिन

हमारे बीच में जो प्यार है उसके लिये यह उपमा भी योग्य नहीं है। प्यारे भक्तों की बातें मुझको मोहित करनेवाले मंत्र हैं। यह बातें कहकर दिखाने वाली नहीं होती, किंतु हमारे बीच में जो प्यार है उससे मैं कह गया। प्यारे भक्तों की बातें करने से प्रेम दुगुना हो जाता है, (ओवियाँ १५५-६०) यह कह कर भगवान् डोलने लगे। भक्त को जैसी भगवान् से लगन होती है, वैसेही भगवान् को ही भक्त की ओर आकर्षण होता है। इस भक्त का स्वरूप कैसे होता है वह वेद में वसिष्ठ ऋषि के वरुण सूक्त में (ऋग्वेद ७.८६) में हम देख सकते हैं। डॉ. रा. ना. दांडेकर का कहना है,

The devotee feels an irresistible urge to establish a personal communication with God and an acute sense of alienation when he thinks that for some reason God has deserted him.'[१३]

जब भक्त कभी कभी भगवान् से अलगाव महसूस करता है तब वह वियोग-दुःख से व्याकुल हो उठता है और उसके मन में गड़बड़ी पैदा होती है। इसको पाश्चात्य भक्तिपर ग्रंथों में night of darkness कहते हैं। इस विरहदुःख का वर्णन श्रीज्ञानेश्वरने अपने गौळणी-विरहिणी नामक अभंगों में किया है। उनमें का शृंगारिक वर्णन अगर हमे खटकता है, तो वह हमारा दोष है, श्रीज्ञानेश्वर का नहीं। ज्ञानेश्वर महाराज की मधुरा भक्ति निर्दोष है। उसमें जैसे पुष्टिमार्ग में या चैतन्य संप्रदाय में अनीति के प्रसार शुरू हुए, वैसे महाराष्ट्र में नहीं हुए। क्योंकि श्रीज्ञानेश्वर ने भक्ति को ज्ञान और वैराग्य की जोड़ दे कर भागवत धर्म की नींव मजबूत बनाई।

दूसरी तरफ रामानुजाचार्य का मत यह था कि मोक्षप्राप्ति के लिये प्रपत्ति या शरणागति ही पर्याप्त है और अन्य कर्म या योग आवश्यक नहीं हैं। श्री अरविंद घोष के विचार भी ऐसे थे। गुरुदेव रानडे ने उन का अपना अभिप्राय इस प्रकार

---

[१३] R. N. Dandekar, Vedic Mythological Tracts, Delhi, 1979, pp. 55,341 ff

दिया है ।

"The Gita is not a book of ethics, but of spiritual life. It teaches not human but divine action; not the disinterested performance of social duties, but the abandonment of all standards of duty (sarvadharman) to take refuge in the supreme alone; not social service, but the action of the God-possessed, the Master-men and as a sacrifice to Him, who stands behind man and nature (Essays on the Bhagavadgita, p. 43). [१४]

मुझे नहीं लगता कि इन विचारों से श्रीज्ञानेश्वर सहमत हो सकते थे । अठारहवें अध्याय में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कर्म से ईश्वर की पूजा करे । उनका कहना है कि अपने कर्मरूपी पुष्प ईश्वर के चरणोंपर अर्पण करना चाहिये । फिर वे श्रोताओं को बताते हैं कि यह मेरा 'धर्मकीर्तन' पूरा हुआ । यहाँ हमें ध्यान में रखना है कि श्रीज्ञानेश्वर के मत में धर्म का अर्थ गुणकर्म के अनुसार हमारे हिस्से में आया हुआ अपना कर्तव्यकर्म है । वे पसायदान में भगवान् की प्रार्थना करते हैं कि इस दुनिया में जो पापरूपी अंधकार फैला हुआ है वह नष्ट होकर स्वधर्मरूपी सूर्य उदित हो जाए ।

श्रीज्ञानेश्वर और वारकरी पंथ

श्रीनामदेव से उनका संपर्क आने के बाद अन्य वारकरी संत भी उनके निकट आये । जब वे नामदेव के साथ तीर्थयात्रापर गये, तब उसमें सेना न्हावी, सावता माली, नरहरी सोनार, गोरा कुंभार, चोखा महार इत्यादि महान् संत और इतर वारकरी भी शामील हुए थे । ये वारकरी संत अपना कर्तव्यकर्म का निष्ठा से पालन करके भागवत धर्म की प्रेमभक्ति से विठ्ठल का कीर्तन, भजन करते थे । वे अपने सांसारिक जीवन में परमार्थ का कैसा अनुभव करते थे यह नीचे उद्धृत वचनों से स्पष्ट होगा ।

---

[१४] R. D. Ranade, The Bhagavadgita as a Philosophy of God-realisation, Nagpur, 1959, p. 173

आम्ही वारिक वारिक । करू हजामत बारीक ।
भावार्थाच्या बगला झाडूं । काम क्रोध नखें काढूं ।
हम नाई हैं नाई हैं, करेंगे हजामत बारीक ।
भावार्थ के बगले साफ कर, कामक्रोधरूप नाखुन काटेगें

सेना न्हावी.

कांदा मुळा भाजी । अवघी विठाबाई माझी ।
प्याज मूली भाजी । सारे विठाई मेरी ।

सावता माली

देवा तुझा मी सोनार । तुझ्या नामाचा व्यवहार ।
जीवशिव करुनी फुंकी । रात्रंदिवस ठोकाठोकी ।
हे भगवान्, मैं तेरा सोनार हूँ । तेरे नाम का मेरा व्यवहार है ।
जीव शिव कह कर धौंकनी फूँकता हूँ ।
और रात दिन सुवर्ण ठोंकता हूँ ।

नरहरी सोनार

ज्ञानेश्वर के ज्ञान और भक्ति से प्रभावित हो कर इन सब संतों ने और वारकरी वृंद ने उन के चरणोंका आश्रय लिया । नाथपंथ में दीक्षित श्रीज्ञानेश्वर की गणति सिद्ध योगियों में नहीं होती, लेकिन वे वारकरी भक्तों के और हमारे ' माऊली ' (माता) बन गये । अब सातसौ साल के बाद भी आळंदी में उनकी समाधि के दर्शन के लिये ज्ञानेश्वरभक्तों की भीड़ लगी रहती है । जब आषाढी एकादशी के निमित्त श्रीज्ञानेश्वर की पालकी पंढरपूर जाने लगती है, तो हजारो वारकरी और ज्ञानेश्वरभक्त १७० मील का फासला धूप-वर्षा में पालकी के साथ पैदल काटते हैं । जब कार्तिकी वद्य एकादशी के दिन आळंदी में उत्सव-यात्रा होती है, तो वहाँ लाखों लोग इकठ्ठा होते हैं । ऐसी उस ज्ञानेश्वर माऊली को शतशः प्रणाम करके मैं यह ग्रंथरूपी फूल की पंखड़ी उनको अर्पण करता हूँ । और उनसे प्रार्थना करता हूँ कि इस विश्व में शांति फैला कर उसका नंदनवन बनाये ।

॥ पहला अध्याय ॥

हे आदिदेव, आप जो ॐकारस्वरूप और वेदों का प्रतिपाद्य विषय हैं, आपको मेरे प्रणाम । आपही आपको जानते हैं और आप सब प्राणिमात्र में अंतर्यामी हैं, आपकी जय हो । हे अधिदेव, सब चीजों को और सब बुद्धियों को रोशन करनेवाले गणेशजी आप ही हैं । वे गणेशजी कैसे हैं यह मैं निवृत्तिनाथ का शिष्य ज्ञानदेव कहता हूँ, वह ध्यानसे सुनिये । सब वेदवाङ्मय गणेशजी की मूर्ति है और उसमें जो निर्दोष शब्दरचना है वह उनकी सुंदर काया है ।स्मृतिग्रंथ गणेशजी के अंग, काव्यरचना उन अंगों के हावभाव और अर्थशोभा उसके लावण्य की ऊँचाई है । अठारह पुराण गणेशजी के जड़ाऊ गहने हैं । और पच्ची में जैसे रत्न जड़े होते हैं, वैसेही पदों के द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादन किये गये हैं ॥१-५ ॥ ललित पदरचना उस मूर्ति का रंगीन वस्त्र है और साहित्य उस वस्त्र का महीन पोत है । और देखिये, उन में जो काव्य और नाट्य की घटनाएँ हैं उनके सुंदर प्रबंध गणेशजी की करधनी के छोटे घुंघरू हैं और उन का तात्पर्य उन घुंघरुओं की रुनझुन करनेवाली मधुर ध्वनि है । मर्मज्ञ दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि उनमें जो विषय हैं वे उन घुंघरुओं में कौशल से जड़े हुए रत्न हैं । व्यासादि मुनियों की बुद्धि गणेशजी का

कमर में लपेटा हुआ सुहावना दुशाला है और उनकी बुद्धि की सात्त्विक वृत्तियाँ उस दुशाले के चमकीले छोर हैं । अब देखिये, षड्दर्शन उन गणेशजी के छः बाहु हैं, और उन के हाथों में जो शस्त्र हैं वे उन दर्शनों के भिन्न संप्रदायों का होना सूचित करते हैं ॥६-१० ॥ न्याय का तर्क परशु के रूप में है, वैशेषिक सिद्धान्त अंकुश के रूप में हैं, और वेदान्त एक मीठे, रसीले और रोचक मोदक के रूप में है । और गणेशजी के एक हाथ में जो टूटा हुआ दाँत है वह सूचित करता है कि मीमांसाके आचार्य वार्तिककार (कुमारिक भट्ट) ने बौद्धमत को खंडित किया है । इस के उपरान्त यह सहज प्राप्त है कि सांख्यों का सत्कार्यवाद उस का वरदाता पद्महस्त है और उस का अभयहस्त योगधर्म की प्रतिष्ठा सिद्ध करता है । जिस में महासुख का परमानंद है वह अतिनिर्मल विचार गणेशजी की सूंड है । वैसेही उत्तम वार्तालाप उनके सरल और शुभ्र दाँतों की जगह पर हैं और ज्ञान की चितवन उन विघ्नराज की अधखिली आँखें हैं ॥११-१५ ॥ मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा उन के कान हैं । बोधामृत उन के गंडस्थल से निकलते हुए मद के रूप में हैं और ऋषि उस का सेवन करनेवाले भ्रमर हैं । गहन तत्त्वरूपी मूंगों से सुशोभित उन के गंडस्थल द्वैत और अद्वैत सिद्धान्त हैं, जो उन के गजमस्तक से जुड़े हुए हैं । और दस उपनिषद जो ज्ञानरूपी मकरंद से परिपूर्ण हैं वे उन के मुकुट पर सुगंधित पुष्प हैं, जिनसे उनका मस्तक सुहावना लगता है । अ-कार उन गणेशजी के दो चरण, उ-कार उन का विशाल उदर, और म-कार उन के सर्व अवयवों में श्रेष्ठ मस्तक है । जब ये तीनों एकत्रित हुए, तब ऊँकार रूपमें सब वेद समा गये । विश्व के इस आदिबीज को मैं सद्गुरु निवृत्तिनाथ की कृपा से प्रणाम करता हूँ ॥१६-२० ॥

अब वाणी के अपूर्व विलास दिखानेवाली, कला और कौशल्य की स्वामिनी और विश्वमोहिनी शारदादेवी को मैं वंदन करता हूँ ।

जिनकी कृपासे मैंने यह संसार सागर पार किया वे सद्गुरु मेरे हृदय में रहते हैं और उन के कारणही मुझे विवेक के विषय में तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई । जिस प्रकार आँखों में अंजन डालने पर आदमी की दृष्टि चारों ओर विस्तारित होती है और उसको भूमिगत निधि प्राप्त होती है, अथवा जैसे चिन्तामणि हाथ लगते ही सब

इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, वैसेही मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि सद्गुरु निवृत्तिनाथ की कृपासे मेरी कामनाएँ परिपूर्ण हुई हैं। इस लिये बुद्धिमान् आदमी को चाहिये कि वह गुरु की सेवा करे और कृतार्थ हो। जैसे पेड के नीचे पानी डालने से उस की टहनियाँ और पत्तियाँ हरीभरी होती हैं, ॥२१-२५॥ समुद्र में स्नान करने से सभी तीर्थोंमें स्नान करने का पुण्य मिलता है, अथवा अमृतपान में सभी रसों का समावेश होता है, वैसे ही सद्गुरु मेरे सब मनोरथ पूर्ण करते हैं। मैं उनको बार बार प्रणाम करता हूँ।

अब आगे एक कथा सुनिये, जो सब आश्चर्यों की जड़ है या विवेकरूपी वृक्षों का एक अपूर्व उपवन है। यह कथा सभी के लिये सुखदायक सिद्धान्तों की निधि, नवरसों से भरा हुआ एक अमृतसिंधु, प्रत्यक्ष मोक्षका धाम, सभी विद्याओं का आदिपीठ, और समग्र शास्त्रों का निवास स्थान है ॥२६-३०॥ वह सब धर्मों का मायका, सज्जनों की धुन, या शारदा देवी के लावण्य रत्नों का भंडार है। ज्यादा क्या कहूँ, शारदादेवी स्वयं व्यासमुनि की प्रतिभाशाली बुद्धि में पैठ कर इस कथा के रूप में त्रैलोक्य में प्रकट हुई है। इस लिये यह कथा सभी काव्यों की सम्राज्ञी बन कर ग्रंथों के गौरव का मूलस्थान हुई और उसी से शृङ्गारादि रसों को रसीलापन और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। एक बात और ध्यानमें रखने योग्य है कि इस ग्रंथ में शास्त्र को ललितसाहित्य का योगदान मिला हैं और इस से तत्त्वज्ञान का रूखापन कम हुआ है और उसने दुगुनी कोमलता पायी है। इस कथा को लेकर कला समझदार हुई है, सिद्धान्तों में मिठास आई है और सुख का सौभाग्य बढ़ने लगा है ॥३१-३५॥ इस कारण से माधुर्य में मधुरता, शृंगार में सजावट और उचित बातों को मान्यता मिल कर उनको विशेष शोभा प्राप्त हुई है। इसी कथा को ले कर कला का कौशल और पुण्य का प्रताप बढ़ने लगा। और (यह कथा सुन कर) जनमेजय का (ब्रह्महत्या का) पाप आसानी से नष्ट हुआ। क्षणभर विचार करनेसे यह मालूम होगा कि इस कथाकी वजह से रसों ने सौंदर्य और गुणों ने योग्यता पायी है। सूरज के तेजसे जैसे त्रिभुवन प्रकाशित होता है, वैसे ही व्यास मुनि की प्रज्ञा से यह संसार उज्ज्वल हुआ है। अथवा जैसे उपजाऊ जमीन में बीज बोने से अच्छी फसल पैदा होती है, वैसेही ही इस भारत कथा में सभी विषय सहज रूप में विस्तार पाये

हैं ॥३६-४० ॥ अथवा जैसे आदमी शहर में रह कर सुसंस्कृत बनता है, वैसे ही व्यासमुनि द्वारा लिखित इस कथा के प्रकाश में सब विषय उजले हुए हैं । तथा जिस तरह जवानी में युवती के मुख पर एक अनोखी कांति दिखाई देती है किंवा, वसंत ऋतु के आगमन से उपवन में वनश्री की खान खुल जाती है और पहले से ज्यादा शोभा आती है, अथवा सुवर्ण की छड़ी दिखने में सामान्य दिखाई देती है, परन्तु उसके गहने बनते ही उनमें एक अलग चमक आ जाती है, उसी तरह व्यास मुनि की अलंकृत शैली से इस कथा को मनोहर शोभा प्राप्त हुई है और उस के कारण इतिहास ने इस कथा का आसरा लिया है ॥४१-४५ ॥ और उचित प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये सभी पुराणों ने छोटापन स्वीकार किया और वे उपाख्यान के रूप में इस भारत कथा में प्रविष्ट हुए हैं । जब कि जो इस भारत में नहीं वह त्रिभुवन में नहीं है । ऐसा, कहा जाता है कि त्रैलोक्य में जो कथाएँ हैं वे सब व्यासमुनि के उच्छिष्ट हैं । इस प्रकार यह रसीली कथा, जो परमार्थ की जड़ है, वैशंपायन ने राजा जनमेजय को सुनाई ।

अब आप एक अद्वितीय, अनुपम, परम मंगलकारक कहानी सुनिये । अब इस भारतरूपी कमल में परागरूपी एक प्रकरण है, जो श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कथन किया ॥४६-५० ॥ अथवा व्यासमुनि ने वेदसागर को अपनी प्रज्ञारूपी रई से मथ कर उन में से यह मक्खन निकाला । और फिर उसको ज्ञानरूपी आँचपर विवेक से तपा कर उस का घी बनाया । जिस की विरक्त इच्छा करते हैं, सज्जन जिसका अनुभव सदैव करते हैं, और ब्रह्मज्ञानी जिसमें सोहंभाव से रमते हैं, भक्त जिस का श्रवण करते हैं, जो त्रिभुवन में परमपूज्य है, और जो भीष्मपर्व में कथा के प्रसंग से कही गयी है, उस को भगवद्गीता कहते हैं । ब्रह्मा और शंकर उस की स्तुति करते हैं, और सनकादिक ऋषि उसका आदर से सेवन करते हैं ॥५१-५५ ॥ जिस प्रकार शरद ऋतु में चांदनी के कोमल अमृतकण चकोरपक्षियों के छौने हलके हलके चुन लेते हैं, उसी प्रकार सुननेवालों को चाहिये कि नाजुक मन से उसका अनुभव करें । सच में उनको चाहिये कि यह कहानी शब्दों के सिवाय कहें, इंद्रियों के अनजाने में ही उन को अनुभव करें और उस को सुनने के पहले ही उसके सिद्धान्तों को ग्रहण करें । जैसे भ्रमर कमलदलोंके ज्ञात होने के पहले ही उनका पराग चुन लेते है, उसी

तरह इस ग्रंथ को अपनाने का तरीक़ा है । अथवा अपनी जगह न छोड़कर उगते हुए चंद्रमा को आलिंगन देकर उस की प्रीति का अनुभव करना यह केवल कुमुदिनी ही जानती है ॥५६-६० ॥ वैसे ही गंभीरता से जिनका अन्तःकरण स्थिर हुआ है, वेही इस गीता का रहस्य समझ सकते हैं । इसलिये आप संत जो अर्जुन के समान गीता सुननें के लिये पात्र हैं, आप कृपया इस पर ध्यान दें । प्रभो, आप का हृदय गंभीर हैं यह जान कर, मैं आपके चरणों में इतने लगाव से प्रार्थना कर रहा हूँ । अपने तुतलानेवाले बालक को देख कर माँबाप बडे संतुष्ट होते हैं, वैसे ही जो आप सज्जनों ने मुझे अपना कहा है, तो क्या आप को यह कहने की आवश्यकता है कि आप मेरी त्रुटियों को क्षमा करें ? ॥६१-६५ ॥ लेकिन मेरा अपराध न्यारा है, जो मैं गीतार्थ का आकलन करने का प्रयत्न और ध्यान देने के लिये आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ । यह तो मेरा साहस ही है, नहीं तो सूरज के सामने जैसा जुगनू का प्रकाश होता है अथवा जिस तरह समुद्र में गिरे हुए अपने बच्चे को निकालने के लिए टिटिहरी अपनी चोंच से पानी भर भर कर उलीच रही थी, उसी तरह मैं इस कार्य में प्रवृत्त हो गया हूँ । देखिए, कि आसमान को बांध डालने के लिए हमें उससे भी विशाल होना चाहिये; वैसे ही यह सब काम मेरी सामर्थ्य के बाहर है । जब इस गीतार्थ की महिमा स्वयं शिवजी कह रहे थे, तो चकित हो कर देवी पार्वती ने उनसे पूछा ॥६६-७० ॥ तब शिव जी बोले कि हे देवी भवानी, जैसे तेरा स्वरूप नित नया दिखाई देता है, वैसे ही यह गीतातत्त्व है । जिस के खराटे से यह वेदार्थ का सागर पैदा हुआ है, उस विश्वेश्वर ने जागृति में यह गीताशास्त्र कहा है । जिस के सामने वेदों की भी मति सन्नाटे में आ गयी, वहाँ मुझ जैसे छोटे और अनाड़ी आदमी की बात ही क्या ? इस गहरे गीतार्थ का मैं कैसे आकलन करूँ ? इस महातेज को कैसे उजालूँ ? और मैं जो झींगूर सा हूँ आसमान को मुठ्ठी मैं कैसे पकडू ? परंतु मुझको एक ऐसा आधार मिला है, कि उसके बल पर मैं हृदय से कह सकता हूँ । मेरे सद्गुरु निवृत्तिनाथ की मुझ पर कृपा है, यह मैं ज्ञानदेव कहता हूँ ॥७१-७५ ॥ यों तो मैं मूर्ख और विवेकहीन हूँ, तोभी मेरे ऊपर आप संत सज्जनों का कृपादीप चमक रहा है । लोहे को सुवर्ण बनाने की शक्ति पारस में होती है और मृत को जिलाने की किमया अमृत ही कर सकता है । यदि शारदादेवी प्रसन्न हों तो वे गूँगे को भी बोलने की शक्ति दे सकती हैं । इस में कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु

कुछ वस्तुओं में विशेष शक्ति होती है । कामधेनु जिस की माता हो उस को दुर्लभ क्या है ? इस लिये सद्गुरु की कृपा से मैं यह ग्रंथ रचने को प्रवृत्त हुआ हूँ । मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि जो मुझ में त्रुटियाँ हैं, उन्हें पूरी करा लीजिए और जो कुछ अनावश्यक हैं उन को छोड़ दीजिए ॥७६-८० ॥ आप सज्जन इस बात पर ध्यान दें कि यदि आप मुझे बोलने की शक्ति प्रदान करेंगे, तो मैं बोल सकूंगा । क्योंकि कठपुतली की संचालन की क्रिया उसको बंधी हुई डोरीपर निर्भर होती है । मैं आप का कृपापात्र और आज्ञाकारी हूँ, इस लिये, आप मुझ को ऐसे सजायें जो आप उचित समझें । इस पर सद्गुरु ने कहा कि तुम ये व्यर्थ की बातें मत बढ़ाओ और गीतार्थ के प्रतिपादन पर ध्यान दो । यह सद्गुरु का वचन सुन कर मैं निवृत्तिदास ज्ञानदेव उमंग के साथ कहता हूँ कि आप सज्जन अब शांत चित्त से सुनिये ।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१ ॥

पुत्रस्नेह से मोहित हो कर राजा धृतराष्ट्र ने संजय से कहा कि संजय, कुरुक्षेत्र का वृत्तान्त मुझे बताओ ॥८१-८५ ॥ जिस कुरुक्षेत्र को धर्मभूमि कहते हैं, वहाँ मेरे और पांडु के पुत्र युद्ध के उद्देश्यसे गये हैं । वे इस समय आपस में क्या कर रहे हैं, वह हमें बताओ ।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२ ॥

तब संजय ने कहा कि महाप्रलय के समय जैसे कृतान्त अपना मुँह फैलाता है, वैसेही पांडवों की सेना क्षुब्ध हुई है । जैसे कालकूट चारों ओर फैल जाता है वैसे वह पांडवों की प्रचंड सेना एकाएक उछल पड़ी है, उस को कौन रोक सकता है ? किंवा प्रलयवात से भड़का हुआ वडवानल जैसे समुद्र का पानी सोख कर आसमान तक उछल पड़ता है ॥८६-९० ॥ वैसे ही नाना प्रकार के व्यूहों की रचना से सुसज्जित पांडवों की दुर्दम्य सेना इस समय अत्यंत भयानक दिखाई दे रही है । परंतु जिस तरह मृगराज सिंह हाथियों के झुंड की परवाह नहीं करता, उसी तरह

दुर्योधन ने पांडवों की सेना को नगण्य समझा ।

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३ ॥

फिर वह द्रोणाचार्य के पास गया और बोला कि हे आचार्य, आपने यह देखा कि पांडवों की सेना कैसी उछल पड़ी है ? इस सेना के नानाप्रकार के व्यूह, जो चलते हुए पहाड़ी दुर्ग के समान हैं, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने रचे हैं । जिस को आपने सिखा कर युद्धविद्या का आगार बनाया, उस ने यह सेनासागर कैसा फैलाया है, यह आप देखिये ॥९१-९५ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४ ॥

इस के अतिरिक्त इस सेना में शस्त्रास्त्र में कुशल और क्षात्रधर्म में निपुण महान् योद्धा हैं । वे सामर्थ्य, साहस और पराक्रम इन तीनों में भीम और अर्जुन के बराबर हैं । उन के नाम मैं इस अवसर पर बताता हूँ । अब यहाँ महायोद्धा युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपद पधारे हैं ।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६ ॥

चेकितान, धृष्टकेतु, वीर काशिराज, पराक्रमी उत्तमौजा और नृपश्रेष्ठ शैब्य इन को आप देखिये । और देखिये कि कुंतिभोज, युधामन्यु और पुरुजित् आदि सब राजालोग यहाँ आये हैं ॥९६-१०० ॥ फिर दुर्योधन बोला, कि आचार्य, इन को देखिये । सुभद्रा के हृदय को आल्हाद देनेवाला उस का पुत्र प्रतिअर्जुन अभिमन्यु, द्रौपदी के पुत्र, और जिन की गिनती नहीं हो सकती ऐसे अपरिमित महारथी वीर यहाँ एकत्रित हुए हैं ।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजय: ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८ ॥

अब हमारी सेना में जो मुख्य वीर हैं, उन को मैं इस समय बताऊंगा । आप के समान जो कोई वीर हैं उन का मैं संक्षेप में निर्देश करूंगा । यहाँ विक्रम और तेज में जो प्रत्यक्ष सूर्य के समान हैं, वे गंगापुत्र भीष्माचार्य और शत्रुरूपी हाथियों के सामने सिंह के समान प्रतापी कर्ण हैं ॥१०१-०५ ॥ इन दोनों में से यदि एकने भी मन में ठान लिया, तो इस विश्व का नाश हो जायेगा । अकेले कृपाचार्य ही इसके लिये पर्याप्त हैं । यहाँ पराक्रमी विकर्ण हैं और वहाँ अश्वत्थामा खड़ा है, जिस का डर कृतान्त भी मानता है । साथ ही युद्ध में सदैव विजय पानेवाला यह सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा-

अन्ये च बहव: शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता: ।
नानाशस्त्रप्रहरणा: सर्वे युद्धविशारदा: ॥९ ॥

और जिन के शौर्य का नाप ब्रह्मदेव भी नहीं कर सकते ऐसे कितने ही वीर हैं, जो शस्त्रविद्या में निपुण और अस्त्रविद्या के मूर्तिमन्त अवतार हैं । और क्या कहूँ, इन की वजह से ही अस्त्रविद्या इस दुनिया में प्रसिद्ध हुई है । इन का पराक्रम इतना है कि इन की बराबरी के कोई योद्धा नहीं है, तिसपर भी ये सच्चे मन से मेरे पक्ष में हैं ॥१०६-१० ॥ जैसे कि पतिव्रता अपना हृदय पति के सिवाय अन्य को नहीं सौंपती, वैसेही इन सब योद्धाओं के लिये मैं ही सब कुछ हूँ । वे इतने असीम और निर्दोष स्वामिभक्त हैं कि हमारे कार्य के लिये अपने प्राण भी तुच्छ मानते हैं । वे युद्धकला में इतने कुशल हैं कि उन्होंने अपने कौशल्य से कीर्ति पायी है और बहुत करके उनसे ही क्षत्रियधर्म प्रकट हुआ है । इस तरह हमारी सेना में सब से बहादुर अनेक वीर हैं, जिन की गिनती करना आसान नहीं ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१० ॥

ऐसे समय में सभी क्षत्रियों में श्रेष्ठ, जगज्जेता, और सब योद्धाओं में प्रतापी भीष्माचार्य को हमने सेनापति का पद दे कर सम्मानित किया है ॥१११-१५ ॥ अब उन्होंने इस सेना को इकट्ठा कर के उस की इस प्रकार रचना की है कि मानो

दुर्ग खड़े किये हैं । और उन के सामने ये तीनों लोक ओछे जान पड़ते हैं । पहलेही समुद्र किस को दुस्तर नहीं जान पड़ता ? और उसपर भी उस को वडवानल की सहायता मिले, अथवा प्रलयाग्नि और झंझावात इन दोनों का साथ हो, वैसे ही भीष्माचार्य हमारे सेनापति बन कर हमारे सहायक हो गये हैं । इस समय उन का कौन सामना कर सकता है ? हमारी सेना के सामने यह पांडवों की सेना वास्तव में नगण्य है और वह उजड्डु भीम उस का सेनापति बना है । यह कह कर वह चुप हो गया ॥११६-२० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११ ॥

पश्चात् वह अपने सेनानियों से बोला कि अब अपनी अपनी सेना को सुसज्जित रखिये । जो अक्षौहिणी के मुख्य सेनानी हैं वे मोरचे पर रह कर महारथियों में काम का बँटवारा करें और अपने अपने दल को सँभाल कर भीष्माचार्य की आज्ञा पालें । फिर वह द्रोणाचार्य से बोला कि आप समस्त सेना पर निगरानी करें और भीष्माचार्य को हमारी जगह पर समझ कर उन की रक्षा करें, क्योंकि वेही अब हमारी सेना के आधारस्तंभ हैं ।

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२ ॥

राजा दुर्योधन का यह भाषण सुन कर भीष्माचार्य प्रसन्न हुए और उन्हों ने सिंहनाद किया ॥१२१-२५ ॥ वह नाद उन दोनों सेनाओं में ऐसे गूंज उठा कि उस की प्रतिध्वनि कहीं भी नहीं समा पाती थी । उसी समय भीष्माचार्य की वीरवृत्ति उमड़ आई और उन्हों ने अपना दिव्य शंख बजाया । वे दोनों नाद जब एकत्रित हुए, तब त्रिभुवन में सब प्राणियों के कान के पर्दे फटने लगे और ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों आसमान टूट कर धरती पर गिर पड़ा हो । उस समय आसमान में कड़कड़ाहट हुई, समुद्र ऊपर उछलने लगे और चराचर जगत् घबरा कर थरथर काँपने लगा । और इस महानाद के गर्जन से पहाड़ों की गुहाएँ गूंज उठीं और दोनों सेनाओं में रणवाद्य बजने लगे । ॥१२६-३० ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमलोऽभवत् ॥१३॥

वह कर्कश और भयानक रणध्वनि वीरों को भी महाप्रलय के समान प्रतीत हुई । भेरी, निशान, मांदल, शंख, झांझ, ढोल आदि रणवाद्यों की गर्जना और योद्धाओं का भयंकर कोलाहल शुरू हुआ । कई वीरों ने आवेश से अपने बाहु ठोंके, वीरतापूर्वक अन्य कई वीर परस्परों को आह्वान देने लगे और वहाँ के हाथी भी मत्त होकर वश से बाहर हो उठे । फिर तो कायर लोगों की बात ही क्या ? वे तिनकों के समान बिखर गये और यमराज भी डर से चौंक उठे । कई लोगों के खड़े खड़े ही प्राण निकल गये । बड़े बड़े योद्धाओं की घिग्घी बंध गयी और ख्यातनाम वीर भी डर से काँपने लगे ॥१३१-३५॥ उन वाद्यों का घोष सुन कर ब्रह्मदेव भी व्याकुल हुए और अन्य देवता एक दूसरे से पूछने लगे कि अब क्या प्रलयकाल आ रहा है ?

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवाश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

इस तरह स्वर्ग में जब कुहराम मच गया, तब पांडवसेना में क्या हो रहा था, सुनिये । जो विजय का सार और महातेज का भंडार माना जाता था और जिस को गरुड़ जैसे चार वेगवान् घोड़े जुते हुए थे, ऐसा वह अर्जुन का श्रेष्ठ रथ वहाँ ऐसा सुहावना दिखाई दे रहा था, मानों पंखवाला मेरू पर्वत हो । उस के तेज से दसों दिशाएँ ठोस भर गयी थीं । जिस रथ के स्वयं वैकुंठ के राणा श्रीकृष्ण सारथी थे, उस का वर्णन हम कैसे और कहाँ तक करें ? ॥१३६-४०॥ साक्षात् शिवजी के अवतार हनुमान उस के ध्वजस्तंभ पर बैठे थे, और शार्ङ्गधर श्रीकृष्ण स्वयं उस के सारथी बने थे । उस प्रभु की अनोखी रीति देखिये । अपने भक्त के प्रति अद्भुत प्यार से वे पार्थ का सारथ्य करने लगे । अपने भक्त को शरण में लेकर वे आगे बढ़े

और उन्होंने लीला से अपना पांचजन्य शंख बजाया । उस शंख की गंभीर ध्वनि ऐसी गूँज उठी कि जैसे सूर्योदय के बाद नक्षत्र ओझल हो जाते हैं, वैसे कौरव सेना के रणवाद्यों की ध्वनि न जाने कहाँ लुप्त हो गयी ॥१४१-४५ ॥ उस समय अर्जुन ने भी अपना गंभीर नादवाला देवदत्त नामक शंख बजाया । जब उन दोनों शंखों का नाद एकत्रित हुआ, तो ऐसा जान पड़ा कि ब्रह्मांड के सैंकडों टुकड़े करने पर ही वह निनाद तुला होगा । इतने में भीमसेन भी जोश में आ कर महाकाल के समान क्षुब्ध हुआ और उसने अपना पौंड्र नाम का शंख बजाया । वह शंखनाद जब महाप्रलय के समान गरज रहा था, तब धर्मराज ने अनंतविजय नामक शंख बजाया । उसी समय नकुल ने सुघोष शंख और सहदेव ने मणिपुष्पक शंख बजाये, जिस की वजहसे यमराज भी व्याकुल हो गये ॥१४६-५० ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९ ॥

वहाँ अनेक नरेश उपस्थित थे । राजा दुपद्र, द्रौपदी के पुत्र, महाबाहु काशिराज, अर्जुनपुत्र अभिमन्यु, अजिक्य सात्यकि, नृपश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न, शिखंडी, विराट और अन्य प्रमुख सेनानियों ने अपने अपने शंख बजाये । वह महानाद सुन कर शेष और कूर्म एकदम चौंक उठे और पृथ्वी का भार फेंक देने के लिए तैयार हो गये । तब त्रिभुवन डगमगाने लगा, मेरू और मंदार पर्वत झूमने लगे और समुद्र का जल कैलास तक उछल पड़ा ॥१५१-५५ ॥ तब ऐसा प्रतीत होने लगा कि पृथ्वी औंधी होकर गिरने वाली है । उस समय आसमान भी झटका खा कर हिलने लगा, मानो नक्षत्रमालाएँ टूटकर उन की बौछार होने वाली हो । तब सत्यलोक में हाहाकार मच गया कि पृथ्वी डूबी रही है और देवता असहाय हो जायेंगे । सूरज दिन में ही रुक गया और तीनों लोकों में कुहराम मच गया मानो प्रलयकाल आ गया हो । यह देख कर आदिपुरुष श्रीकृष्ण विस्मित हो गये और शायद पृथ्वी का अंत होनेवाला

है यह जान कर उन्होंने उस अद्भुत कोलाहल को शांत किया। इसलिए यह संसार सँभल गया, नहीं तो श्रीकृष्ण और अन्योंके शंख बजाने पर युगान्त होने का समय आ गया था ॥१५६-६० ॥ शंखनाद तो थम गया, लेकिन उस की प्रतिध्वनि अभी गूँज रही थी, जिस की वजह से कौरव सेना तितर बितर हो गयी। जिस तरह मृगराज सिंह हाथियों के झुंड के झुंड मार डालता है, उसी तरह वह शंखनाद कौरवों का हृदय चीर गया। उस शंखनाद का निनाद सुन कर कई लोग हिम्मत हार गये और वे एक दूसरे को चेतावनी देने लगे, 'सावधान रे सावधान'।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२० ॥

तब वहाँ जो कई बलाढ्य महारथी थे उन्होंने अपनी अपनी सेना को सँभाल लिया। फिर वे तैय्यार हो कर दुगुने जोश से आगे बढ़े तब तीनों लोक त्रस्त हो उठे। ॥१६१-६५ ॥ उन तीरंदाजों ने बाणों की ऐसी सतत बौछार की जो प्रलयकाल की घनघोर घटाएँ जैसी प्रतीत हुईं। यह देख कर अर्जुन का चित्त प्रसन्न हो गया और उसने सेना पर नज़र डाली। तब लड़ाई के लिये सज्जित हुई कौरव सेना को देखकर उसने सहज हाथ में धनुष उठा लिया।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

फिर अर्जुन ने कहा कि हे देव, अब इस रथ को ले कर दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मयासह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३ ॥

जिससे कि यहाँ युद्ध करने आये हुए सब योद्धाओं को मैं देख सकूँ ॥१६६-७० ॥ क्योंकि मुझे यह जानना है कि यहाँ जो वीर उपस्थित हैं उनमें किनके साथ मुझे लड़ना है। बहुधा ये कौरव उतावले और दुर्बुद्धि हैं और पराक्रम के बिना हिम्मत बांध कर लड़ने आये हैं। इनमें लड़ने का हौसला है, मगर वे युद्ध में टिके

नहीं रहेंगे। यह कह कर संजय फिर बोला,

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄंनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥२६॥

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

राजन् सुनो। अर्जुन के इस वचन पर श्रीकृष्णने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ला खड़ा किया, जहाँ भीष्माचार्य, द्रोणाचार्य, रिश्तेंदार और अनेक राजा लोग थे ॥१७१-७५॥ वहाँ रथको खड़ा करने पर अर्जुन कौरवसेना को भौंचक्का हो कर देखने लगा। फिर उस ने कहा कि, हे देव, देखिये, ये तो हमारे संबंधी और गुरु हैं। यह सुन कर श्रीकृष्ण विस्मित हुए और वे सोचने लगे कि इस समय अर्जुन के मन में क्या है, कौन जाने? किन्तु आश्चर्य की बात है, अवश्य । इस प्रकार आगे होनेवाले संवाद का अंदाज लगाते हुए श्रीकृष्णने उस की राय जान ली। किन्तु वे चुप रहे। तब वहाँ अर्जुनने चाचा, दादा, गुरु, बन्धु, मामा, अन्य सगेसंबंधी आये हुए देखे ॥१७६-८०॥ फिर उसने अपने सगे संबंधी और पुत्र उस जगह पर जमा हुए देखे। अर्जुन ने और भी वहाँ अपने आत्मीय मित्र, श्वशुर, रिश्तेदार और पोते देखे जिन पर उसने कभी उपकार किये थे और जिनका उस ने संकटों में बचाव किया था। सारांश यह कि उसने छोटे और बड़े सब मिल कर अपने वंशज और भाईबंधु देखे।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

तब उसका मन चकरा गया और उसमें दया उपजी। इस से अपमानित हो कर वीरवृत्ति उसको छोड़ कर चली गयी ॥१८१-८५॥ क्योंकि स्त्री गुणवती, सुंदर

और अच्छे कुल की होती है, वह अपनी तेजस्विता के कारण अपने घर में अन्य नारी का प्रभुत्व नहीं सह सकती। देखिये, नयी नारी के प्यार से पुरुष अपनी पत्नी को भी भूल जाता है और पागल होकर उस के जाल में व्यर्थ फँस जाता है। अथवा तपस्वी जब अपने तपोबल से ऋद्धि सिद्धि प्राप्त करता है, तब उसकी बुद्धि चकरा जाती है और फिर उस को वैराग्य की सुध भी नहीं रहती। उसी प्रकार अर्जुन के मन में दया प्रविष्ट हो गयी और उस का शौर्य लुप्त हो गया। अब देखिये कि यदि कोई मांत्रिक गलत मंत्रोच्चारण करता है तो पिशाच उस के पीठ पर चढ़ जाता है, वैसे ही वह धनुर्धारी अर्जुन मोह से भ्रमित हो गया ॥१८६-९० ॥ इसी कारण से वह हिम्मत हार बैठा और उस का मन दया से द्रवित हो गया। जिस तरह चंद्रमा की किरणों का स्पर्श होने पर चंद्रकान्त मणि पिघल जाती है, उस तरह वह करुणा से मोहित हो कर खेद से बोलने लगा।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८ ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३० ॥

हे भगवन् जब मैं इस समुदाय को देखता हूँ तो मुझे वहाँ हमारे ही वंशज दिखाई देते हैं। और ये सब लड़ने के लिये उद्यत हैं, लेकिन क्या हम को भी इस तरह का बर्ताव उचित होगा ? इस विचार से मुझे कुछ सूझता नहीं, मेरा होश जा रहा है और मेरे मन और बुद्धि भी स्थिर नहीं हैं ॥१९१-९५ ॥ देखिये, मेरा शरीर काँप रहा है, गला सूख गया है और मेरे अवयव शिथिल हो गये हैं। मेरे सारे शरीर पर रोंगटे खड़े हो गये हैं और मेरा मन संतप्त हो गया है। और इसके कारण ही पता नहीं कब मेरा हाथ ढीला पड़ गया और न जाने कब गांडीव धनुष गिर पड़ा। इतना मेरा हृदय मोहसे भरा हुआ है। जो वज्र से भी कठिन, दुर्दम्य और कठोर था, उसे भी मोह ने वश में कर लिया है, यह कितनी आश्चर्य की बात है ? जिस ने युद्ध

में शिवजी को भी जीत लिया और निवात कवच राक्षसों को ठिकाने पहुँचाया, उस अर्जुन के चित्त पर उस समय एक क्षण में मोह सवार हो गया ॥१९९-२०० ॥ भ्रमर किसी भी सूखी लकड़ी में छेद कर सकता है, किंतु यदि वह कहीं कोमल कली में फँस जाय, तो प्राणसंकट में होनेपर भी वह कली को चीर कर बाहर निकालना नहीं चाहता । उसी तरह स्वजनों का कोमल स्नेह तोड़ना मुश्किल होता है । संजयन ने कहा कि 'हे राजन् यह मोह परमेश्वर की माया है, और उसको ब्रह्मदेव भी टाल नहीं सकते । इस लिये अर्जुन उस मोह से व्याप्त हो कर व्याकुल हो उठा' । फिर अपने वंशजों को देख कर अर्जुन का लड़ने का हौसला मिट गया । उस के मन में दया कैसे पैदा हुई कौन जाने । फिर वह श्रीकृष्ण से बोला कि हे श्रीकृष्ण अब यहाँ ठहरना अच्छा नहीं । ॥२०१-२०५ ॥ इन सबों का वध करने के विचार से ही मेरी घिग्घी बंध गयी है और मेरा चित्त उदास हो गया है ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१ ॥

यदि कौरवों का हम वध कर सकते हैं तो क्यों न धर्मराज और अन्य भाईयों को भी मार डालें ? क्योंकि ये सभी आपसके और हमारे संबंधी हैं । लानत है इस युद्ध पर, परन्तु मैं नहीं जानता कि यह महापाप करने से हमें क्या मिलेगा ? बहुत विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि यह युद्ध करनेसे बुरे परिणाम होंगे और उस को टाल देने में ही हमारा हित होगा ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो,राज्येन गोविंद किं भौगेर्जीवितेन वा ॥३१ ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽव्रस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३२ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥३४ ॥

इस प्रकार विजयी हो कर हमें क्या करना है और इस राज्य को लेकर भी हमें क्या मिलेगा ? ॥२०६-२१० ॥ अर्जुन ने कहा कि यदि इन सभी को मार कर हम राज्यभोग पायेंगे तो आग लगे ऐसे राज्य को । इस सुख के बदले हम पर चाहे

जो आए हम उसको सहेंगे और इनपर हमारी जान भी निछावर कर देंगे। किन्तु हम इस का विचार स्वप्न में भी नहीं कर सकते कि इनका वध कर के हम राज्यसुख भोगें। यदि हम बड़ों के बारे में बुरा सोचें तो हमने जन्म ही क्यों लिया और जियें भी किस लिये ? जो हर एक कुटुंब संतान की इच्छा करता है, उस को क्या यही फल मिले कि संतान के हाथों से वंशजों का सर्वनाश हो ? ॥२११-१५॥ हम यह विचार भी कैसे करें कि हम इनके साथ वज्र के समान पेश आयें ? इस के बदले हमें चाहिये कि इनका जितना कल्याण कर सकें उतना करें। हमें चाहिये कि जो धन हम कमायें वह उनके काम आये और इतना ही नहीं हम उनपर हमारी जान भी दे दें। वास्तव में हम दस दिशाओं के राजाओं को जीत कर अपने कुल को संतुष्ट करें। किन्तु कर्मगति कैसी विपरीत है कि ये हमारे सम्बधी बालबच्चों और धनदौलत को छोड़ कर शस्त्रों की धार पर अपने प्राण अर्पित करने के लिये सज्जित हो कर यहाँ आये हैं ॥२१६-२०॥ इनको मैं कैसे मारूँ ? इन में से किन पर हथियार उठाऊँ ? अपने ही दिल पर प्रहार कैसे करूँ ? क्या तुम नहीं जानते कि ये कौन हैं ? वहाँ उस ओर भीष्माचार्य और द्रोणाचार्य खड़े हैं, हम पर उनके अनेक उपकार हैं। यहाँ साले, ससुर, मामा, बंधु, पुत्र और अन्य संबंधी आये हैं। ये तो हमारे निकट के रिश्तेदार हैं। यदि उनकी हत्या का शब्द भी हमारे मुँहसे निकले तो बड़ा पाप होगा।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

इस के विपरीत यदि ये हमारे साथ पराये जैसा व्यवहार करेंगे और हम को मार भी डालेंगे, तो भी हमें नहीं चाहिये कि हम उन के वध के बारे में सोचें ॥२२१-२५॥ त्रिभुवन का निष्कंटक राज्य भी हमको मिले तो भी मैं यह अनुचित कृत्य नहीं करूंगा। यदि हम आज इनकी हत्या करें तो कौन हमारी इज्ज़त करेगा और भगवन्, आप ही बताइये कि क्या आप का मुख भी हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होगा ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

अगर हम इन वंशजों का वध करेंगे, तो हम पापों का आश्रय बन कर आप को खो बैठेंगे। परिवार का घात करने से हमें अनन्त पाप लगेंगे। उस समय हम आपको कहाँ और कैसे देख पायेंगे ? जैसे कि उपवन में दावानल भड़कने पर कोयल क्षणभरके लिए भी नहीं ठहरती ॥२२६-३० ॥ अथवा चकोर पक्षी कीचड़ से भरे हुए तालाब को छोड़कर निकल जाते हैं, वैसे ही, हे देव, अगर हमारी पुण्य की नमी सूख जायेगी, तो आपके प्यार का सहारा रुक जायगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७ ॥

इसलिये मैं यह कृत्य कभी नहीं करूंगा और इस युद्ध में शस्त्र भी धारण नहीं करूंगा। क्योंकि यह कृत्य मुझ को हर तरह बुरा लगता है। यदि हमारा आप से वियोग हुआ, तो हमारी क्या हालत होगी ? आपके वियोग से हमारा दिल टूट जायगा। अर्जुन ने फिर से कहा कि 'इसलिये, हे देव, यह अनहोनी बात है कि हम कौरवों का वध करें और सुख भोगें। ॥२३१-३५ ॥ यदि ये घमंड से उन्मत्त हो कर यहाँ लड़ने आये हैं, तो भी हमें देखना है कि हमारा हित किस में है। यह कृत्य हम कैसे करें कि हम अपने हाथों से अपने रिश्तेदारों की जान लें ? जानबूझकर कालकूट विष कैसे पियें ? यदि रास्ते में चलते समय कोई सिंह अचानक सामने आ जाये तो उसको टाल कर जाना ही हितकारी होगा। हे देव, सहज प्राप्त प्रकाश को छोड़ कर हम यदि अंधेरी कोठरी में जा कर रहें, तो उस से क्या लाभ होगा ? अथवा सामने अग्नि की लपटें देखकर भी यदि हम उनसे बचकर नहीं निकलें तो वे एकक्षण में हमको लपेट कर जला देंगी ॥२३६-४० ॥ उसी प्रकार यह जानते हुए कि ये मूर्तिमंत दोष हमें लगेंगे, हम इस युद्ध के लिये कैसे तैयार हो सकते हैं ? इतना कह कर, अर्जुन उस समय बोला, हे देव, यह पाप कितना घोर है सुनिये।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४० ॥

जिस तरह शमी वृक्ष की लकड़ी को लकड़ी पर रगड़ने से अग्नि पैदा होती है और वह भड़क उठने पर सब लकड़ियाँ जलाती हैं, उसी तरह यदि वंशज ईर्ष्यासे एक दूसरे को मार डालने लगे, तो उस घोर पापसे सब वंश नष्ट हो जायगा। इस

पापकृत्य की वजह से कुलधर्मों का लोप हो कर उस खानदान में अधर्म बढ़ जायेगा ॥२४१-४५ ॥

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१ ॥

फिर सारासार विचार, आचारधर्म, कर्तव्य अकर्तव्य इन बातों से हम विमुख होंगे । जिस प्रकार मिला हुआ दीप खोकर यदि कोई व्यक्ति अंधेरे में चलने लगा, तो वह सीधे रास्ते पर भी ठिठक कर गिर जाता है, उसी प्रकार कुलक्षय होने के बाद जब कुलधर्म लुप्त हो जाता है, तब पाप के सिवाय और क्या प्राप्त हो सकता है ? यदि मन और इंद्रियाँ वश में नहीं रहतीं तो इंद्रियाँ मनमानी करने लगती हैं और इस वजह से कुलस्त्रियों में भी व्यभिचार बढ़ जाता है । तब उत्तम और अधम लोगों का मेल हो कर उच्च और नीच वर्णो का संकर होता है और इससे सब जातिधर्म लुप्त हो जाते हैं ॥२४६-५० ॥ जैसे चौराहे में रखे हुए भक्ष्य पर कौए टूट पड़ते हैं, वैसे ही ऐसे कुल में महापाप स्वच्छंद प्रवेश करते हैं ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२ ॥

फिर वह सारा कुल और कुलघातक नरक में गिर जाते हैं । इस प्रकार उस वंश का अधःपतन होता रहता है और फिर उस के स्वर्गस्थ पितर भी नीचे लौट आते हैं । जिस कुल में नित्य और नैमित्तिक कर्म नहीं किये जाते, वहाँ पूर्वजों को तिलांजली कौन देगा ? इस हालत में पूर्वज भी क्या करेंगे और वे स्वर्ग में कैसे बसे रहेंगे ? इसलिये वे भी अपने कुल में लौट आते हैं ॥२५१-५५ ॥ जिस प्रकार नाखून के सिरे पर सर्पदंश होनेपर वह शीघ्र ही शिरतक पहुँच जाता है, उसी प्रकार संबंधियों की हत्या से होनेवाला पाप कुल के मूलपुरुष को ले कर सारे कुल का सर्वनाश कर देता है ।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५ ॥

हे भगवान, और भी एक महापातक होता है, सुनिये । क्योंकि आसक्ति के दोष से लौकिक आचार भी लुप्त हो जाते हैं । जिस तरह घर के अंदर लगी हुई आग भड़क कर अन्य कमरों को भी जला देती है, उसी तरह जो लोग इस कुल के साथ रहते हैं वे भी पाप के भागी होते हैं । अर्जुन फिर से बोला कि हे देव, इस प्रकार के अनेक दोषों के कारण उस कुल के सब व्यक्तियों को भीषण नरकवास भोगना पड़ता है ॥२५६-६० ॥ और एक बार नरक में गिर जाने पर कल्पान्त में भी उन का छुटकारा नहीं होता । और इस कुलक्षय से उनकी गिरावट होती है । आगे अर्जुन बोला कि, हे भगवन्, मैं इतने समयसे बकबक कर रहा हूँ । उसे सुनकर आप के दिल में परेशानी कैसे नहीं होती ? आप का दिल क्या वज्र के समान कठोर हो गया है ? अब ध्यान दे कर सुनिये । जिस के लिये हम राज्यसुख चाहते हैं, वह शरीर क्षणभंगुर है । यह जान कर भी क्या यह हमें उचित नहीं कि हम अपने को कुलक्षय के पाप से बचायें ? यह क्या हम से कम पाप हुआ है कि हमने बड़ों को उनका वध करने की इच्छासे ही देखा है ?

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६ ॥

अब इस तरह जीने से शस्त्र छोड़कर कौरवों के बाण सहन करनाही उचित होगा ॥२६१-६५ ॥ ऐसा करने से मृत्यु भी आ गयी, तो वह भी बेहेतर है । इस लिये इन की हत्या का पाप मेरे सिर पर लेना मुझ को अच्छा नहीं लगता । इस प्रकार अपने वंशजों को देखकर अर्जुन बोला कि इनका वध करके राज्यसुख का उपभोग नरक यातना के बराबर है ।

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७ ॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा, हे राजन्, सुनिये । उस समय रणभूमि पर अर्जुन इस तरह बोला और फिर अत्यंत विषाद से उद्विग्न हो कर वह रथसे नीचे कूद

पड़ा। जिस प्रकार पदच्युत राजकुमार मुरझाया हुआ दिखाई देता है या राहूसे ग्रस्त सूरज निस्तेज होता है, ॥२६६-७० ॥ अथवा महासिद्धियों के लोभ से कोई तपस्वी भ्रमित हो कर फिर विषयवासना से घिर कर लाचार बनता है, उसी प्रकार रथ से नीचे उतरा हुआ अर्जुन तीव्र दुःख से परेशान हो गया। संजयने कहा कि 'हे राजन् उसने धनुषबाण फेंक दिये और उसकी आँखों में आँसू भर आये। अब अर्जुन को दुःखित देखकर वैकुंठनाथ श्रीकृष्ण किस प्रकार उस को परमार्थ का उपदेश करेंगे, वह सविस्तर कथा आप अगले अध्याय में रुचि से सुनेंगे, ऐसा निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं। ॥२७१-२७५ ॥

◆ ◆ ◆

॥ दूसरा अध्याय ॥

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१ ॥

संजय ने कहा ।

उस वक्त अर्जुन शोक से व्यथित हुआ था और उसकी आँखों में आँसू भर आये थे । वहाँ अपने सारे रिश्तेदारों को देख कर उनके लिये अजीब स्नेह पैदा हुआ और उस का मन पसीज गया । जैसे पानी में नमक पिघल जाता है या हवा में बादल बिखर जाते हैं, वैसे ही उस का दृढ मन डाँवाडोल हो गया । वह ममता से व्याप्त हो कर कीचड़ में फँसे हुए राजहंस के समान म्लान दिखाई देने लगा । उस पांडुकुमार को महामोह से इस तरह पीड़ित देख कर श्रीकृष्ण बोले । ॥१-५ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

हे अर्जुन, इस अवसर पर तुम्हारा यह बरताव क्या तुम्हें शोभा देता है ? तुम को यह क्या हो गया है और तुम क्या कर रहे हो ? सोच लो कि तुम्हें क्या हुआ है ? क्या तुमको कुछ कमी है या कुछ करना बाकी है ? फिर यह शोक क्यों करते हो ? तुम कभी अनुचित बात पर ध्यान नहीं देते हो और धीरज नहीं छोडते हो। तुम्हारा नाम सुन कर अपयश भी भाग जाता है । तुम शौर्य का आगार और क्षत्रियों में अग्रगण्य हो । और तुम तीनों लोकों में अपनी वीरता का प्रभाव जमाये हुए हो। तुमने श्रीशंकर को युद्ध में जीत लिया, निवात कवच राक्षसों का वध किया और गंधर्वों से अपना यंशोगान करवाया ॥६-१० ॥ तुम्हारे सामने ये तीनों ही लोक तुच्छ लगते हैं, इस प्रकार का तुम्हारा विक्रम है । वही आज तुम वीरवृत्ति छोड़ कर सिर नीचा करके रो रहे हो । हे अर्जुन, सोच लो कि तुम दया से कितने दीन हो गये हो ! देखो, क्या कभी अंधेरा सूरज को निगल सकता है ? अमृत कभी मरता है ? इंधन कभी अग्नि को जला सकता है ? क्या नमक से कभी जल पिघल जाता है ? कोई जहर कालकूट की जान ले सकता है ? मेंढक कभी महासर्प को निगल सकता है ? ॥११-१५ ॥सियार कभी सिंह को झपट सकता है ? क्या कभी ऐसी अनहोनी बातें घटी हैं ? लेकिन तुम ने ये बातें सच कर दिखा दी हैं । इसलिये तुम इस तुच्छ बात पर ध्यान मत दो और धीरज रख कर सचेत हो जाओ । यह पागलपन छोड़ो और उठ कर धनुष्यबाण हाथ में लो । अरे, इस रणभूमि पर यह दया किस काम की ? अर्जुन, तुम तो बड़े बुद्धिमान हो, फिर तुम सोच विचार क्यों नहीं करते ? इस संग्राम में दया दिखाना क्या उचित है ? इससे तुम्हारी कमायी हुई कीर्ति नष्ट होगी और तुम परलोक से भी वंचित हो जाओगे ॥१६-२० ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३ ॥

इसलिये, हे अर्जुन, तुम शोक मत करो । धीरज रख कर इस दुःख को दूर करो । यह बात तुम्हारे लिये उचित नहीं । आजतक जो कुछ यश तुम ने कमाया है, उस पर यह पानी फेर देगी । इसलिये अब तुम्हारा कल्याण किस में है वह सोच लो । इस युद्ध के अवसर पर यह दया व्यर्थ है । इन कौरवों से तुम्हारा नाता अब

क्या हो गया है ? यह बात क्या तुम्हें पहले मालूम नहीं थी ? तुम क्या नहीं जानते थे कि ये तुम्हारे रिश्तेदार हैं ? फिर अब क्या हुआ और यह ममता कहाँ से पैदा हो गई ? ॥२१-२५ ॥मैं तो कुछ नहीं समझ पाता । किंतु, अर्जुन यह तुमने बुरा किया । अगर तुम इस मोह से जुड़े रहोगे, तो तुमने अब तक जो कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त की है वह खो कर तुम इस लोक से और परलोक से वंचित हो जाओगे । दिल का ढीलापन क्षत्रियों को शोभा नहीं देता । संग्राम के अवसर पर तो वह नरक का साधन बनता है । इस प्रकार कृपालु भगवान् ने उसको विविध भाँति उपदेश किया । उसको सुन कर अर्जुन ने कहा ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४ ॥

हे भगवान्, यह कहने की आवश्यकता नहीं थी । इस संग्राम के बारे में आपही सोचिये । ॥२६-३० ॥ यह संग्राम नहीं बल्कि हम से बड़ी ग़लती हो रही है । अगर हम लड़ेंगे तो हमें बड़ा दोष लगेगा । यहाँ तो पूजनीय बुजुर्गों की हत्या हो रही है । बड़ों को संतोष देने के लिये उन की सेवा करनी चाहिये, न कि अपने हाथों से उनका वध । हे देवाधिदेव, साधुसंतों को प्रणाम करना चाहिये, हो सके तो उनकी पूजा भी, न कि अपने मुख से उनकी निंदा । फिर ये हमारे कुलगुरु हैं और इसी कारण से वंदनीय हैं । और तिस पर भीष्माचार्य और द्रोणाचार्य के हमारे ऊपर बहुत उपकार भी हैं । सो उनके साथ दुश्मनीभी नहीं करनी चाहिये, फिर भला उन पर प्रहार कैसे करें ॥३१-३५ ॥ हम ने उन्हीं के पास शस्त्रविद्या प्राप्त की, फिर क्या हम उस विद्या का उपयोग उनके वध के लिये करें और गर्व करें ? यदि हम ऐसा करें, तो आग लगे हमारी इस जिंदगी को ! द्रोणाचार्य ने मुझे धनुर्विद्या सिखा कर धनुर्धर बनाया, तो क्या मैं उनका ऋण उनकी हत्या कर के चुका दूँ । उनकी कृपा से हमें यह वरदान मिला, तो क्या मैं भस्मासुर हूँ कि उनके साथ विद्रोह करूँ ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५ ॥

हम ने सुना है कि समुद्र गहरा है, परंतु वह ऊपरी है, दिखावटी है । लेकिन द्रोणाचार्य के मन में कभी क्षोभ पैदा नहीं होता । इस अपार आसमान को तो मापना

कदाचित् संभव होगा, परंतु द्रोणाचार्य का हृदय इतना गहरा है कि उस की थाह नहीं लगती ॥३६-४० ॥एक बार अमृत भी खट्टा हो सकता है, समय की गति से वज्रभी टूट सकता है, किन्तु द्रोणाचार्य के चित्तकी समता कभी विचलित नहीं हो सकती । माँ के प्रेम को सच्चा कहते हैं, परंतु द्रोणाचार्य के मन में कृपा का निवास है ।ये आचार्य तो मानो दया का मायका, गुणों की खान और विद्या का सागर है । तो फिर उनको धोखा देने की बात भी हम सोचें, तो क्या वह उचित होगा ? अगर प्राण भी चले जाएँ, तो भी उनको मारकर राज्यसुख का उपभोग हमारे लिये हराम है । ॥४१-४५ ॥ इस दुस्सह कृत्य के सामने यदि कोई राज्यसुख को श्रेष्ठ समझे तो वह उसीको मुबारक हो । मैं तो भीख माँगना या देशत्याग करके गिरिकंदरामें रहना ही पसंद करता हूँ । किन्तु आचार्य के विरोध में शस्त्र हाथ में लेना मुझे अच्छा नहीं लगता । हे देवाधिदेव, अभी अभी पैने किये हुए बाणों से उनके मर्म स्थल पर प्रहार कर के अगर राज्यभोग भी मिले, तो उनसे हमको क्या लाभ होगा ? उनके रक्त से भीगे हुए भोगों का उपभोग कैसे उचित होगा ? इसलिये मुझे आपका यह युक्तिवाद नहीं जंचता । यह कह कर अर्जुन आगे बोला, हे भगवन् क्या आपने मेरी बात सुन ली ? लेकिन उसकी बात श्रीकृष्ण को पसंद नहीं आई । ॥४६-५० ॥ यह देख कर अर्जुन घबरा गया और बोला, हे देवाधिदेव, आप मेरे भाषण पर ध्यान क्यों नहीं देते ?

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेन हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६ ॥

भगवन्, मेरे मन में जो कुछ आया, वह मैंने स्पष्ट कह दिया । इस से भला क्या हो सकता है यह आपही जानें । देखिये, जिन के साथ हमारी दुश्मनी है ये शब्द सुनने से हमें मर जाना ही अच्छा लगता है, वे हमारे साथ लड़ने के लिये सामने खड़े हैं । अब इन को मारें या वापस लौट जायें इन दोनों में क्या भला है यह मेरी समझ में नहीं आता ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः । पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे । शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७ ॥

अब मेरे लिये क्या करना उचित होगा यह मुझे नहीं सूझता । इस का कारण

यह है कि मेरा मन मोह से ग्रस्त हुआ है। ॥५१-५५ ॥जैसे अंधेरे में आँखों का तेज लुप्त होने पर पास की वस्तु भी दिखाई नहीं देती, वैसीही मेरी हालत हुई है। मेरा मन भ्रांति से व्याप्त हुआ है, अब मैं नहीं जानता कि मेरा कल्याण किसमें है? हे प्रभो, आप ही सोच समझ कर मुझ को बताइये। क्योंकि आपही हमारा सहारा हैं। आपही हमारे गुरु, भाई, पिता, कुलदेवता और रक्षक हैं। गुरु अपने शिष्य को त्याग नहीं सकता; क्या समुद्र को नदियाँ कभी त्याज्य हो सकती हैं? ॥५६-६० ॥ हे देवाधिदेव, आपही सोच लें कि यदि माँ अपने बच्चे को छोड़ जाय तो वह कैसे जी सकता है? आप ही हमारे सब कुछ हैं। इस लिये यदि मेरा कहना आपको नहीं जँचा, तो, हे पुरुषोत्तम, हमारे लिये क्या उचित और धर्म के अनुकूल है वह शीघ्र बताइये।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८ ॥

क्योंकि इस समय जहाँ जहाँ मैं देखता हूँ, वहाँ वहाँ कोई भी मेरी इंद्रियों को सुखानेवाले इस शोक को दूर नहीं कर सकता। चाहे पृथ्वी का निष्कंटक समृद्ध राज्य या देवताओं पर प्रभुत्व भी क्यों न पा लूँ?

हमारे ये जो सब सम्बंधी हैं उन को देख कर मेरे मन में शोक पैदा हुआ है, वह आप के उपदेश के बिना नहीं मिटेगा। मुझ को इस धरतीका राज्य या इंद्रपद भी मिल जाय, तो भी यह मेरा मोह दूर नहीं होगा ॥६१-६५ ॥ जैसे भुना हुआ बीज उपजाऊ भूमि में बोकर उसको काफी पानी भी दें तो भी वह नहीं उगता, या आयु समाप्त होने पर अमृत के सिवा कोई दवा लागू नहीं होती, वैसे ही राज्यभोग या समृद्धि से मेरी बुद्धि होश में नहीं आयेगी। वहाँ तो हे कृपानिधे, आप का प्रेम ही काम आयेगा। इस तरह जब अर्जुन बोला, तो मानो ऐसा लगता था कि क्षणभर के लिये उस का मोह दूर हुआ था। फिर तुरंत ही वह माया की लहर से लपेटा गया। ज्ञानदेव कहते हैं कि यह माया की लहर न हो कर दूसरा कोई प्रकार होगा। उस को महामोहरूपी कालसर्प ने काटा होगा ॥६६-७० ॥ अर्जुन का हृदय उस समय करुणासे भरा हुआ था, इसलिये उस सर्प ने जो उसके मर्म स्थल को डंसा, उस जहर की वेदनाएँ नहीं थमती थीं। ऐसे टेढ़े समयपर अपनी कृपादृष्टिसे उस

विष को उतारनेवाले जादूगर श्रीकृष्ण वहाँ आ धमके थे। उस समय व्याकुल अर्जुन के पास ही श्रीकृष्ण थे, इस लिये वह अपनी कृपादृष्टि से उस की शीघ्र रक्षा करेंगे। इस लिये मैंने कल्पना की कि यह मोह नहीं था, बल्कि कोई साँप था, जिस ने अर्जुन को काटा था। जिस तरह बादल से सूरज ढँक जाता है, उसी तरह अर्जुन मोह से व्याप्त हुआ था ॥७१-७५॥ जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में पहाड़ दावानल से धधक उठता है, उसी प्रकार अर्जुन दुःख से पीड़ित हुआ था। इस लिये कृपामृत से भरा हुआ सांवला कृष्णरूपी मेघ उसकी ओर मुड़ा। श्रीकृष्ण के दाँतोंकी प्रभा विद्युत् सी लगती थी और उनकी गंभीर वाणी विद्युल्लता का गरजन सा प्रतीत होता था। अब वह श्रीकृष्णरूपी उदार मेघ कैसी कृपा बरसाएगा और उस वर्षा से अर्जुनरूपी पहाड़ कैसे ठण्डा होकर ज्ञान से अंकुरित होगा यह कथा सुनिये। उस से चित्त का समाधान होगा ऐसा निवृत्तिदास ज्ञानदेव ने कहा ॥७६-८०॥

संजय उवाच।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तुष्णीं बभूव ह ॥९॥

ऐसा कह कर संजय आगे बोला। इस प्रकार अर्जुन ने शोक से विकल होकर क्या कहा वह सुनिये। अर्जुन ने तिलमिला कर यह बात कही, हे देवाधिदेव, इस के बारे में मुझ से आग्रह मत कीजिये। कुछ भी हो मैं नहीं लड़ूँगा। ऐसे एकाएक कह कर वह चुप हो गया और उसको देख कर भगवान् को बड़ा विस्मय हुआ।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

फिर वे सोचने लगे कि अर्जुन ने यह मन में क्या ठाना है। यह कुछ समझताही नहीं ?अब इस को कैसे समझाना होगा और किस उपाय से यह धीरज से काम लेगा ? जिस तरह मांत्रिक पिशाचबाधा के बारे में अनुमान करता है, ॥८१-८५॥ या बीमारी असाध्य देख कर वैद्य आखिरी संजीवनी दवा की योजना करता है, उसी तरह दोनों सेनाओं के बीच में खड़े हुए श्रीकृष्ण विचार करने लगे कि अर्जुन इस मोहसे कैसे मुक्त होगा। उस मोहका कारण ध्यान में रखते हुए उन्होंने कुछ नाराज हो कर बोलना शुरू किया। जिस तरह माँ के गुस्से में सुप्त प्यार होता है, या कड़वी

दवा में अमृत का संचय होता है, जो ऊपर से दिखाई नहीं देता, लेकिन असर में प्रकट होता है, वैसे वे देखने में क्रुद्ध किन्तु भीतर स्नेहसे परिपूर्ण बात कहने लगे ॥८६-९० ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११ ॥

फिर भगवान् अर्जुन से बोले, तुम यहाँ बीच में क्या करने पर तुले हुए हो ? मुझे उस का बहुत अचंभा होता है । तुम अपने को सयाना समझते हो, किन्तु अज्ञान का त्याग नहीं करते । और यदि मैं तुम को कुछ सिखाना चाहूं, तो तुम नीति की बातें करते हो । जब जन्मांध पागल हो जाता है, तो वह जिधर रास्ता मिले उधर भागता फिरता है उसी के समान तुम्हारी बुद्धि दिखाई देती है । तुम अपने बारे में कुछ न जानते हुए कौरवों के लिये शोक करते हो, उस से मुझको रह रह कर आश्चर्य होता है । सो, हे अर्जुन, तुम्हीं बताओ कि क्या इस त्रिभुवन को तुम्हारा ही सहारा है ? यह विश्व की रचना अनादि है ऐसा जो कहा जाता है वह क्या झूठ है ? ॥९१-९५ ॥इस दुनिया में केवल ईश्वर से ही प्राणिजात का सर्जन होता है ऐसी जो धारणा है वह क्या अर्थहीन है ? अब क्या हुआ है कि तुम से ही ये जन्म और मृत्यु उत्पन्न हुए हैं ? और क्या यदि तुम ने ठान लिया तभी ये कौरव मारे जायेंगे ? अथवा तुमने अहंकार से भ्रमित होकर इन का वध करना नहीं चाहा, तो ये क्या अमर रहेंगे ? अगर तुम समझते हो कि तुम अकेले मारनेवाले और ये सब मरनेवाले हैं, तो यह तुम्हारी भूल है । ये सब अनादिसिद्ध बातें सहज होनेवाली हैं, फिर इनके लिये तुम व्यर्थ क्यों रोते हो ? ॥९६-१०० ॥और उलटे हम को नीति के सबक सिखाते हो । हे अर्जुन, जो विवेकशील हैं, वे जन्म और मृत्यु को भ्रममूलक समझ कर दोनों के लिये शोक नहीं करते ।

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतःपरम् ॥१२ ॥

हे अर्जुन, एक बात और सुनो । अगर तुम समझते हो कि तुम, हम और ये जो नरेश यहाँ इकट्ठे हुए हैं वे सब वैसे ही रहेंगे या मौत पायेंगे तो यह तुम्हारा भ्रम

है। इस भ्रांति को तुम छोड़ दोगे तो तुम्हें मालूम होगा कि ये बातें सच नहीं हैं। वस्तुओं का अस्तित्व या नाश जो हमें दिखाई देता है, वह केवल माया है ।अन्यथा आत्मा वास्तव में अविनाशी है। ॥१०१-१०५ ॥ यदि पानी हवा से हिल जाता है, तो उस पर लहरें उठती हैं। वहाँ क्या कुछ सचमुच उत्पन्न होता है और जब हवा रुक जाने पर पानी स्तब्ध होता है, तो वहाँ क्या कुछ नष्ट होता है, यह सोचो।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३ ॥

और सुनो। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उम्र की वजह से इस शरीर में अनेक अदलबदल हो जाते हैं। पहले बचपन देखने में आता है, वही आगे जवानी में बदल जाता है, लेकिन शरीर नष्ट नहीं होता। उसी तरह देही(जीवात्मा) की असंख्य अवस्थाएँ होती रहती हैं। जो यह जानता है, उस को भ्रममूलक दुःख नहीं होता ॥१०६-१० ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४ ॥

इंद्रियों के अधीन हो जाने से आदमी नासमझ होता है। इंद्रियों के आकर्षण से उस का अंतःकरण भ्रम के चक्कर में पड़ जाता है। जब इंद्रियाँ विषय का सेवन करती हैं तब वे सुख दुःख का अनुभव करती हैं। और इसी वजह से आदमी अपने स्वरूप के बारे में भ्रमित हो जाता है। इन शब्दादिक विषयोंकी कभी एक जैसी अवस्था नहीं होती, वे समय के अनुसार कभी सुख देते हैं कभी दुःख। अब शब्दविषय की व्याप्ति देखो, जब हम कानों से निंदा सुनते हैं तो द्वेष पैदा होता है, जब स्तुति सुनते हैं तो समाधान होता है। अब मृदु और कठिन ये दो स्पर्श के गुण हैं और वह त्वचा के लिये आनंद और दुःख का कारण होता है ॥१११-१५ ॥सुंदर और कुरूप ये रूप के दो लक्षण होते हैं और वह नेत्र द्वारा सुखदुःख पैदा करता है। सुगंध और दुर्गंध ये गंध के दो भेद हैं और वे नासिकाद्वारा संतोष और असंतोष उत्पन्न करते हैं। रस भी दो प्रकार का होता है और वह इच्छा और अनिच्छा पैदा करता है। इस प्रकार विषय की संगति से आदमी अपने निजी रूप से भ्रष्ट हो जाता है ॥११६-२० ॥ अगर तुम पूछोगे ये विषय कैसे होते हैं, तो मैं कहता हूँ कि वे

मृगजलके सरीखे या सपने में देखे हुए हाथी के समान अनित्य होते हैं । इस लिये, हे अर्जुन, उन की संगति छोड़ दो ।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५ ॥

जिस पर इंद्रियाँ अधिकार नहीं कर सकती, उस व्यक्ति पर सुखदुःख का प्रभाव नहीं होता और उसको गर्भवास भी सहना नहीं पड़ता । हे अर्जुन, जो इंद्रियों के वश में नहीं आता, वह हर तरह से शाश्वत है ऐसे समझ लो ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६ ॥

अब, हे अर्जुन, तुम्हें और एक बात कहूंगा, जिस को विचारशील लोग पहचानते हैं ॥१२१-२५ ॥ इस मायामय प्रपंच के पीछे एक गूढ़ तत्त्व है, जो सब तत्त्वज्ञों को मान्य है । जिस तरह दूध में मिला हुआ पानी राजहंस चुन कर उसे अलग करता है, या कारीगर अशुद्ध सोने को तपा कर उस को शुद्ध बनाते हैं, या चतुरता से दही मथनेपर मक्खन दिखाई देता है, या भूससहित अनाज को पटक कर भूससे अलग करते हैं, ॥१२६-१३० ॥उसी तरह विचार करने पर ज्ञानी लोगों के लिये प्रपंच का लय हो जाता है और केवल आत्मा ही उनके चिंतन का विषय रह जाता है । इस लिये वे शरीर जैसी अनित्य वस्तु का अस्तित्व नहीं मानते । क्योंकि सत् और असत् क्या होते हैं इस के बारे में उन का निश्चित मत है ।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥१७ ॥

देखो, सारासार विचार करने से यह प्रतीत होता है कि जो असार है वह भ्रममूलक है और जो सार है वह नित्य है । जिस से इस त्रिभुवन का विस्तार हुआ है, उस के नाम, रंग, रूप कुछ चिह्न नहीं होते । वह हमेशा सर्वव्यापक हो कर जन्ममृत्यु के परे होता है । अगर तुम उस का नाश भी करना चाहोगे तो वह कदापि नष्ट नहीं होगा ॥१३१-३५ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥१८ ॥

और, हे अर्जुन, ये शरीर स्वभावतः नश्वर होते हैं, इस लिये तुम युद्ध करो।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९ ॥

तुम देहाभिमानी हो कर इतरों के शरीरों की ओर देखते हो और सोच रहे हो कि मैं उन को मारनेवाला हूं और ये मेरे हाथों मरनेवाले हैं । किन्तु, हे अर्जुन, यह तुम्हारी समझ सही नहीं है । अगर तुम ठीक विचार करोगे तो तुम्हें मालूम होगा कि तुम मारनेवाले और ये मरनेवाले नहीं हैं ।

न जायते म्रियते वा कदाचि । न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो ।न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१ ॥

हम जो स्वप्न में देखते हैं, वह जाग्रति में सचमुच नहीं होता; उसी प्रकार यह सब माया है और तुम व्यर्थ चक्कर में पड़े हो । जिस तरह आदमी की परछाईं पर किया गया प्रहार उस को चुभता नहीं, ॥१३६-४० ॥या पानी से भरा हुआ घड़ा औंधा करने पर उस में का सूरज का प्रतिबिंब अदृश्य हो जाता है, लेकिन असलमें सूरज का लोप नहीं होता, या मठमें का आकाश, जो मठके आकार का होता है, वह मठ फूट जाने पर उस के निजी रूप में रहता है, उसी तरह शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता । इसलिये, हे अर्जुन, उसका आत्मा पर अध्यारोप मत करो ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय । नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२ ॥

जिस तरह आदमी फटा हुआ वस्त्र फेंक कर नया पहनता है, उसी तरह यह आत्मा एक देह छोड़ कर दूसरा ग्रहण करता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यःसर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४ ॥

यह आत्मा जन्मरहित हो कर नित्य और शाश्वत है, और वह उपाधिहीन और शुद्ध है। इसलिये इसको शस्त्र नहीं काट सकते, ॥१४१-४५ ॥अग्नि से उसका दहन संभव नहीं, और उस को वायुभी सोंख नहीं सकता। हे अर्जुन, वह आत्मा नित्य, स्थिर और शाश्वत है और सारे जगत् में पूरी तरह व्याप्त है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५ ॥

तर्क से इसका निपटारा नहीं हो सकता, ध्यान से ही उससे मिलन की उत्कंठा तृप्त होती है। यह चित्त के लिये दुर्बोध, साधनाओं से दुर्लभ, अनंत और प्राणिजात में श्रेष्ठ है। यह त्रिगुणों से परे हैं, अनादि, निर्विकार, निराकार और विश्वरूप है ॥१४६-५० ॥ हे अर्जुन, इस प्रकार यह सभी का अन्तर्यामी है।यह तुम्हें जब विश्वास होगा, तब तुम शोकरहित हो जाओगे।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६ ॥

अथवा, हे अर्जुन, यदि तुम मानते हो कि यह आत्मा नित्य न होकर नश्वर है, तब भी तुम को शोक के लिये कोई कारण नहीं है। क्योंकि जैसे गंगा की जलधारा अखंड और लगातार चलती रहती है, वैसे यह उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयरूपी प्रवाह बेरोक सदैव जारी रहता है। गंगा नदी का पानी उसके उद्गम में और समुद्र से मिलने पर अखंडित होता है, लेकिन बीच में उस का बहाव दिखाई देता है। उसी तरह इस आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं और वे आदमी से अलग नही होतीं ॥१५१-५५ ॥ इस लिये इस बात पर खेद करना उचित नहीं है। (अनादि काल से) यह सृष्टिक्रम स्वभावत: जारी है। हे अर्जुन, तुम इस पर गौर क्यों नहीं करते कि समग्र प्राणिजात उत्पत्ति और लय के अधीन हैं। देखो, जब जन्म और मृत्यु अटल हैं, तब तुम्हारे लिये शोक का कुछ कारण नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७ ॥

जो जन्म लेता है वह नष्ट होता है, और वह नष्ट हो कर पुनः जन्म लेता है। यों प्राणी रहँट की तरह घूमता रहता है। जिस प्रकार सूरज के उदय और अस्त

योंही होते हैं उसी प्रकार इस संसार में जन्म और मृत्यु अनिवार्य हैं ॥१५६-६० ॥ महाप्रलय के समय इन तीनों लोकों का संहार होता है, इस लिये ये आदि और अंत रुक नहीं जाते । अगर इस से तुम सहमत हो तो खेद क्यों करते हो ? जानकार होकर अज्ञानी क्यों बनते हो ? हे अर्जुन, तुम किसी भी प्रकारसे इस पर सोचोगे तो तुम्हें मालूम होगा कि यहाँ शोक का कोई कारण नहीं ।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।२८ ॥

ये सब प्राणी जन्म से पहले निराकार थे और जन्म लेने पर साकार बने हैं। जब उन का लोप होता है तब वे निःसंशय दूसरी अवस्था को न पाते हुए अपनी पूर्वस्थिति को पाते हैं । ॥१६१-६५ ॥ जैसे सोया हुआ आदमी सपना देखता है, उसी तरह बीच में माया की वजह से आत्मा पर आकार का आभास होता है । पानी को हवा का स्पर्श होते ही उस पर लहरें उठती हैं, कारीगर की वजह से सोने के गहने बनते हैं, या आसमान में बादल छा जाते हैं, उसी तरह समझ लो कि ये सब माया से बने हुए हैं । इसलिये जो मूलतः नहीं हैं, उनके लिये तुम क्यों रोते हो ? देखो, यह आत्मा अक्षय है, और उस के बारे में श्रद्धा पैदा होने पर संतजन विषयों को त्याग देते हैं; साधु विरक्त हो कर वन में रहते हैं, ॥१६६-७० ॥ और मुनि, ब्रह्मचर्यादि व्रत रख कर तप करते हैं ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९ ॥

उस आत्मा को परखने से अनेक स्थिरचित्त हो कर संसार को भूल गये । कोई उन का गुणगान करते हुए विरक्त हो गये और अंत में उसमें तल्लीन हो गये । कोई उस को सुनतेही शांत हो गये और देहाभिमान खो बैठे । और कोई उस का अनुभव पा कर तद्रूप हुए । जिस तरह नदियों के प्रवाह समुद्र में मिलते हैं और उस में समा कर वापस नहीं आते, ॥१७१-७५ ॥ उसी तरह योगियों की बुद्धि उस आत्मा से मिल कर तद्रूप होती है । फिर जो उस का चिंतन करते हैं, वे पुनर्जन्म नहीं पाते ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३० ॥

जो सर्वत्र सब देहों में व्याप्त हो कर अवध्य है, वह केवल विश्वरूप आत्मा है । उसी की सत्ता से इस जगत् में हेरफेर हो जाते हैं, फिर तुम किस लिये शोक करते हो ?यह मेरी समझ में नहीं आता कि यह बात तुम्हारे मन में क्यों नहीं प्रविष्ट होती ? यह तुम्हारा शोक मुझे बेतुका लगता है ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१ ॥

अरे, तुम विचार क्यों नहीं करते ? तुमने अब क्या सोचा है ? जिस स्वधर्म के योग से आदमी यह भवसागर के पार जाता है, उस को तुम भूल गये ? ॥१७६-८० ॥ देखो, अगर यहाँ कौरवों का कुछ अनिष्ट हुआ, या तुम्हारा कुछ बुरा हुआ, या यह जगत् डूब भी जाय, तो भी स्वधर्म कदापि त्याज्य नहीं । अरे, यदि तुम स्वधर्म त्याग दोगे, तो यह करुणा क्या तुम्हें पार लगायेगी ? तुम्हारा हृदय जो पसीज रहा है, वह युद्ध के अवसर पर अनुचित है । गाय का दूध बहुत अच्छा होता है, किन्तु यदि पथ्य में वर्जित होने पर नवज्वर से बीमार आदमी को दिया जाये तो वह विषवत् होता है । इस प्रकार असमय में अनुचित किये पर स्वहित का नाश होता है, इस लिये तुम होश में आओ ॥१८१-८५ ॥ हे अर्जुन, तुम उदास क्यों होते हो ? तुम स्वधर्म पर ध्यान दो । उस के आचरण से किसी भी समय दोष नहीं लगता । जिस तरह सीधे मार्ग से जाने में दुर्घटना नहीं होती, या प्रकाश में चलने पर ठेंस नहीं लगती, उसी तरह स्वधर्म के बर्ताव से सब मनोरथ सफल होते हैं । इस दृष्टिकोण से यह मालूम होता है कि युद्ध के सिवाय क्षत्रियों के लिये और कुछ योग्य नहीं । मुझे यह साफ दिखता है कि छल रहित होकर आमने सामने लड़ने में ही तुम्हारी भलाई है । अब और ज्यादा क्या कहूँ ? ॥१८६-९० ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२ ॥

अरे, इस युद्ध के रूप में तुम्हारा भाग खुल गया है या सब धर्मों की निधि तुम्हें मिल गयी है । इस को युद्ध कैसे कहें, यह तो युद्ध के रूप में प्रत्यक्ष स्वर्ग

प्रकट हुआ है । किंवा तुम्हारे गुणों की ख्याति सुन कर बड़े प्यार से कीर्ति खुद तुम्हें ब्याहने आई है । किसी क्षत्रिय को बहुत पुण्य जुटाने पर ऐसे युद्ध का अवसर मिलता है । जैसे कोई मार्ग में इष्ट फल देनेवाले चिंतामणि को पा जाए या जँभाई से मुँह खोलने पर उस में एकाएक अमृतके बूंद टपक कर गिरें, वैसेही युद्ध का यह अवसर तुम्हें प्राप्त हुआ है ॥१९१-९५ ॥

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३ ॥

अब जो तुम इस संग्राम को टालकर अकारण शोक करने बैठोगे, तो तुमसे अपने हाथों अपना अहित होगा । यदि तुम इस युद्ध में शस्त्रत्याग करोगे, तो पूर्वजों का कमाया हुआ यश खो बैठोगे । इतनाही नहीं तुम्हारी आजतक की कीर्ति नष्ट हो जायेगी । सब लोग तुमको धिक् कहेंगे और तुम्हारे मन में बसने के लिये महादोष तुम्हारी खोज में आयेंगे । जैसी पतिविरहित स्त्री सभी के मज़ाक का पात्र बनती है, वैसी ही दशा स्वधर्म का त्याग करने पर तुम्हारी होगी । अथवा जैसे गिद्ध रणस्थल में पड़े हुए शवों पर चारों ओर से टूट पड़ते हैं, वैसेही स्वधर्म से गिरे हुए आदमी को महादोष घेर लेते हैं ॥१९६-२०० ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४ ॥

इस लिये अगर तुम स्वधर्म छोड़ दोगे तो महापाप तुम्हारा पीछा करेगा। और प्रलयकालतक तुम्हारे अपयश का दाग नहीं मिटेगा । जब तक अप्रतिष्ठा नहीं होती तब तक ज्ञानी को जीना चाहिये । अब तुमही सोचो कि तुम यहाँ से कैसे हट पाओगे ? तुम ईर्षा छोड़ कर सदय हृदय से यहाँ से लौट जाना चाहोगे तो भी कौरव तुम्हारी इस बात को नहीं मानेंगे । और जब वे चारों ओर से तुम्हें घेर कर तुम पर बाणों की बौछार करेंगे, तब इस भावुकता से तुम छुटकारा नहीं पाओगे। अगर तुम बड़े प्रयत्न से शायद छूट भी जाओगे तो इस तरह जीना मरने से भी बुरा होगा ॥२०१-०५ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५ ॥

और तुमने इस बात को तो सोचाही नहीं है कि यहाँ तुम बड़े ठाठबाट से लड़ने आये हो । अब सदय हो कर यहाँ से हट जाओगे, तो तुम्हारे दुश्मन तुम्हारी इस भावुकता को क्या सच मानेंगे ?

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६ ॥

वे कहेंगे, अर्जुन हम से डर कर भाग गया । अगर तुम्हारे बारे में यह बात फैल गयी तो क्या यह ठीक होगा ? हे धनुर्धर, बहुत परिश्रम से किंवा समय पर प्राण संकट में डाल कर भी जो कीर्ति लोग प्राप्त करते हैं, वैसी आसमान के समान ऊँची कीर्ति तुम्हें विना कष्ट के प्राप्त हुई है । ॥२०५-१० ॥तुम्हारी जो प्रतिष्ठा है वह असीम है और तुम्हारे गुण भी तीनों लोकों में निरुपम और श्रेष्ठ हैं । सुदूर देश के राजा तुम्हारे भाट बन कर तुम्हारा यशोगान करते हैं और वह सुन कर यमादि देव भी चौंक जाते हैं । तुम्हारी कीर्ति की महिमा गंगाजल के समान गहरी और निर्मल है और उस को सुन कर संसार के बड़े बड़े योद्धा भी चकित हो जाते हैं ।

तुम्हारा अद्भुत पराक्रम सुन कर इन सब कौरवों का जी बैठ गया है । जिस तरह सिंह की गर्जना सुन कर मतवाला हाथी भी मानता है कि प्रलयकाल आ पहुँचा है, उसी तरह कौरवों को तुम्हारा डर लगता है ॥२११-१५ ॥ जैसे पहाड़ वज्र के बारे में, साँप गरुड के बारे में सोचता है वैसे ही कौरव तुमको मानते हैं । किन्तु तुम यदि न लड़ कर लौट जाओगे, तो तुम्हारी यह धाक मिट जायेगी और तुम्हारी अप्रतिष्ठा होगी । फिर तुम अगर भाग जाना चाहोगे तो वे तुम्हें भागने नहीं देगे । वे तुम्हें पकड़ कर तुम्हारी बेइज्जती करेंगे और तुम्हारे मुँह पर असीम निंदा करेंगे, जिसे सुन कर तुम्हारा हृदय फट जायेगा । इस लिये क्या यह अच्छा नहीं होगा कि तुम वीरता से लड़कर और विजयी हो कर राज्य का उपभोग करे ।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७ ॥

अगर लड़ते लड़ते तुम्हारी मौत हुई, तो तुम्हें स्वर्गसुख मिलेगा ॥२१६-२० ॥ इस लिये, हे अर्जुन, ज्यादा मत सोचो, उठो और हाथ में धनुष्य बाण लो और युद्ध के लिये सिद्ध हो जाओ । स्वधर्म पालने से किये हुए दोष नष्ट हो जाते

हैं, फिर उस से पाप लगता है यह भ्रम तुम्हारे मन में कैसे पैदा हुआ ? तुमही बताओ क्या नाव में बैठा हुआ आदमी कभी डूब सकता है ? सीधे रास्तेपर चलनेवाला आदमी क्या ठेस लग कर गिर सकता है ? किन्तु जिस को ठीक चलना नहीं आता, उस को मात्र ठिठक कर गिरनेकी संभावना है । अगर विषमिश्रित भोजन कर लिया तो मौत आतीही है, उसी प्रकार फल की इच्छा से स्वधर्म का बर्ताव करनेपर दोष अवश्य लगेगा । इस लिये, अर्जुन, क्षात्रधर्म से तुम युद्ध करोगे तो उस से पाप नहीं लगेगा ॥२२१-२५ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८ ॥

सुख पाकर प्रसन्न और दुःखी होने पर उदास नहीं होना चाहिये और लाभ हानि का विचार भी छोड़ देना चाहिये । इस संग्राम में हमारी विजय या मौत होगी इसपर पहले सेही चिंता नहीं करनी चाहिये । स्वधर्म का आचरण करते हुए जो कुछ अपने हिस्से में आयेगा उस को चुपचाप सहना होगा । इस प्रकार चित्त स्थिर होने पर दोष नहीं लगेगा, इस लिये तुम निर्भय होकर लड़ो ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९ ॥

अबतक मैंने तुम से ज्ञानयोग संक्षेप में कहा, अब बुद्धियोग कहता हूँ, सुनो । ॥२२६-३० ॥ हे अर्जुन, जिस को यह बुद्धियोग साध्य होता है, उस को कर्मबंधन की बाधा बिलकुल नहीं होती, उसी तरह जिस तरह तनपर वज्र का कवच पहना हुआ आदमी शस्त्रों की मार सह करभी सुरक्षित रहता है ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४० ॥

इस बुद्धियोग से ऐहिक सुख का नाश नहीं होता, किन्तु मोक्ष को भी वह नहीं खोता । यद्यपि उस के प्रारंभ होने पर आगे रुकावट आई तो भी वह खंडित नहीं होता । किन्तु कर्म करते रहने पर कर्मफल की इच्छा नहीं करनी चाहिये । जैसे मांत्रिक को भूतबाधा नहीं होती वैसे ही जिस को निष्काम कर्म करने की अच्छी बुद्धि प्राप्त हुई है, उस को जन्म- मरण की पीड़ा नहीं होती । ॥२३१-३५ ॥ जिस

के अंदर पाप और पुण्य नहीं पैठ पाते और जो बहुत सूक्ष्म और स्थिर हो कर तीन गुणों से दूषित नहीं हुई है, उस बुद्धि से आदमी के अंतःकरण में उस के पूर्वपुण्य के प्रभाव से यदि थोड़ा सा भी प्रकाश पड़ा, तो वह उस को संसार के भय से मुक्त करता है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१ ॥

जैसे दीपक की रोशनी छोटी होकर भी सर्वत्र पूरी तरह से फैलती है, वैसे ही इस बुद्धि को अल्प होने पर भी छोटी नहीं समझना चाहिये । हे अर्जुन, विचारशील लोग कई तरह से इस के लिये तरसते हैं, किन्तु वह प्राणिजात के लिये दुर्लभ है । जिस प्रकार अन्य पत्थरों की तरह पारस ज्यादा नहीं मिलते, और अमृत की बूँद भी भाग्यसे प्राप्त होती है ॥२३६-४० ॥ उसी तरह यह सुबुद्धि, जिससे ईश्वर प्राप्त होता है, कठिनाई से प्राप्त होती है । जिस तरह नदी का प्रवाह समुद्र की ओर चलता है, वैसे ही जिस बुद्धि को ईश्वर के सिवाय दूसरा प्राप्य विषय नहीं है, वह संसार में एकमात्र बुद्धि है । इसके सिवाय अन्य बुद्धियाँ बुरी होती हैं । उन में विकार पैदा होते हैं और विचारशून्य लोग उन में हमेशा आनंद पाते हैं । इस लिये वे सिर्फ स्वर्ग, संसार और नरकवास के भागी होते हैं और आत्मसुख उन को दृष्टिगोचर नहीं होता ।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२ ॥

जो वेदों का आधार लेकर वैदिक क्रिया-कर्मों का श्रेष्ठत्व साबित करते हैं, वे फलों की इच्छा रखते हैं ॥२४१-४५ ॥ वे बोलते हैं कि जन्म ले कर यज्ञादि कर्म करें और स्वर्गसुख का उपभोग करें । इस स्वर्गसुख के सिवाय लगातार आनंद देनेवाली और कोई चीज़ नहीं है, इस तरह, हे अर्जुन, ये नासमझ लोग कहते हैं ।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३ ॥

पार्थ, वे उपभोग पर ध्यान दे कर सकाम कर्म और अनेक प्रकार के अनुष्ठान विधिपूर्वक और बड़ी दक्षतासे करते हैं और इस तरह धर्म का बर्ताव करते हैं ।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४ ॥

लेकिन, वे एक बुरी बात करते हैं कि वे स्वर्ग की साध रख कर यज्ञ का भोक्ता जो ईश्वर है उस को भूल जाते हैं । ॥२४६-५० ॥ जिस तरह कपूर का ढेर रच कर उस को जला दे, मिष्टान्न बना कर उस में विष मिलायें, या भाग्य से मिला हुआ अमृतकुंभ लात से गिरा दें, उसी तरह वे लोग प्राप्त हुआ धर्म फलेच्छा के कारण खो बैठते हैं । बड़े परिश्रम से पुण्य कमाने पर संसार की इच्छा क्यों की जाए ? लेकिन यह अज्ञ लोगों की समझ में नहीं आता । जिस तरह कोई चतुर स्त्री सलोना भोजन पका कर उस को बेच दे, उसी तरह विचारशून्य लोग सुख के उपभोग के लिये धर्म खो बैठते हैं । इस लिये, हे पार्थ, जो वेदों की फलश्रुति में रमते हैं उनके मन में हमेशा दुर्बुद्धि वास करती है, यह ध्यान में रखो ॥२५१-५५ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५ ॥

तुम यह निश्चित रूप से समझ लो कि ये वेद तीन ही गुणों से भरे हुए हैं। उपनिषद जैसे तत्त्वज्ञान के ग्रंथ सत्त्वगुण से संपन्न हैं । उनके अलावा जो अन्य धर्मग्रंथ हैं उनमें स्वर्गप्राप्ति के लिये कर्म और उपासना आदि का विवेचन किया गया है, इस लिये वे रजोगुण और तमोगुण से युक्त हैं । इन गुणों से वे सुख और दुःख पैदा करते हैं, यह समझ कर तुम उन को अपने मन में स्थान मत दो । इन तीन गुणों का गुट तज कर अहंकार और ममता को मिटा दे दो और आत्मसुख को मत भूलो ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६ ॥

यद्यपि वेदों में बहुत बातें कही गयी हैं और विविध प्रकार के अनुष्ठानों के सुझाव मिलते हैं, फिर भी जिस में अपना हित है वही ग्रहण करना चाहिये ॥२५६-६० ॥ सूर्योदय होने पर अनेक रास्ते दिखाई देते हैं, लेकिन उन सब से आदमी क्या जा सकता है ? अथवा सारी पृथ्वी जलयुक्त होने पर भी हम प्यास

बुझाने के लिये थोडासा पानीही लेते हैं । उसी तरह जो ज्ञानी हैं वे वेदार्थों का मनन कर के उन में जो शाश्वत तत्त्व है वही ग्रहण करते हैं ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मां कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७ ॥

इस लिये, हे पार्थ, ध्यान से सुनो । इन सब बातों का ख्याल रखने पर तुम्हारे लिये स्वधर्म का आचरणही उचित प्रतीत होता है । सोचविचार कर मैं तुम को यह परामर्श देता हूँ कि तुम को अपना धर्म छोड़ना नहीं चाहिये । ॥२६१-६५ ॥लेकिन तुम कर्मफल की आशा छोड़ कर और निषिद्ध कर्म तज कर निष्काम मन से सत्कर्म का बर्ताव करो ।

योगस्थ: कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८ ॥

हे अर्जुन, तुम योगयुक्त हो कर फल की आसक्ति छोड़ दो और लगन से काम करो । किन्तु भाग्य से यदि शुरू किया हुआ कर्म सफल हुआ तो ज्यादा आनंद मत मनाओ । और यदि वह कर्म किसी कारण से असफल रहा तो क्रोध से मत तिलमिलाओ । यदि कर्म पूर्ण हुआ तो अच्छा ही हुआ, किन्तु यदि वह अपूर्ण रहा तो भी वह कामयाब हुआ ऐसा समझो ॥॥२६६-७० ॥ क्योंकि जो कर्म अपनेसे जहाँतक बनता है वह परमात्मा को अर्पण करो और वह पूरा हुआ ऐसा मानो । देखो, सफल और असफल कर्म के बारे में समचित्त रहना ही योग स्थिति है ऐसा उत्तम लोग कहते हैं ।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५० ॥

हे अर्जुन, मन जहाँ बुद्धि से एकरूप होता है, वहाँ चित्त की समता बनी रहती है और यही योग का सार है । चिन्तन करनेसे ऐसा लगता है कि कर्ममार्ग की योग्यता बुद्धियोग से कुछ कम है । लेकिन यदि वही कर्म निष्काम चित्त से करें तो बुद्धियोग साध्य होता है । और यदि इस तरह कर्म सिद्ध हुआ तो उस को योगस्थिति

कहते हैं । ॥१७१-७५ ॥इसलिये, हे अर्जुन, इस बुद्धियोग का सहारा लेकर तुम अपना मन स्थिर करो और फल की वासना छोड़ दो । जिन्होंने इस बुद्धियोग का आसरा लिया, उन्होंने संसार को पार किया और पापपुण्योंके बंधनोंसे छुटकारा पाया ।

केर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१ ॥

हे अर्जुन, यदि वे कर्म में मग्न रहते हैं तो भी वे कर्मफल की इच्छा नहीं करते। इस से उन का जन्ममरण का फेरा समाप्त हो जाता है । हे धनुर्धर, फिर बादमें वे बुद्धियुक्त हो कर उस स्थान को पाते हैं जो बह्मानंद से परिपूर्ण और शाश्वत है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्ताऽसि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२ ॥

जब यह मोह नष्ट हो कर तुम्हारे मन में वैराग्य पैदा होगा, तब तुम इस योगस्थिति को पाओगे ॥२७६-८० ॥ फिर तुम्हें निर्दोष और गहरा आत्मज्ञान प्राप्त होगा और तुम्हारा मन इच्छारहित होगा । इस अवस्थामें अधिक ज्ञान पाना या पिछले ज्ञान का स्मरण रखना आदि सब प्रकार बंद हो जायेंगे ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३ ॥

फिर इंद्रियों की संगति में जो बुद्धि बिखर जाती थी, वह बादमें आत्मस्वरूप में अनायास स्थिर होती है । इस प्रकार जब समाधिसुख पाकर तुम्हारी बुद्धि स्थिर होगी, तभी तुम योगस्थिति को पूरी तरह पाओगे ।

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४ ॥

उस वक्त अर्जुन ने कहा, हे कृपानिधे, इस विषय में मैं जो कुछ पूछूँगा उस का सही उत्तर दीजिये।' ॥२८१-८५ ॥ इस पर प्रसन्न हो कर श्रीकृष्ण बोले कि हे अर्जुन, तुम जो कुछ योग्य समझते हो वह खुले दिल से पूछो । श्रीकृष्ण के इस वचन पर अर्जुन ने पूछा, हे भगवान, अब मुझे बताइये कि स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं

और उस को हम कैसे पहचान सकते हैं। जो स्थिरबुद्धि कहलाता है और लगातार समाधिसुख का अनुभव करता है उसको किन लक्षणों से हम जान सकते हैं ? वह किस अवस्था में रहता है और उस का रूप कैसा होता है ? हे रमाकांत, यह सब मुझे कृपया समझाईये। फिर जो छः गुणों के अधिष्ठान और परब्रह्म के अवतार हैं वे श्रीकृष्ण बोले ॥२८६-९० ॥

भगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५ ॥

भगवान बोले, हे अर्जुन, सुनो। मन में गड़ी हुई वासना ही आत्मसुख में रुकावट डालती है। ज्ञान से संपन्न और नित्यतृप्त आदमी भी उस के संयोगसे दुर्गति पाता है। जब वह वासना पूरी तरह नष्ट होनेपर आदमी आत्मसुख में मग्न होता है तब वह स्थितप्रज्ञ हो गया ऐसे समझो।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६ ॥

जब वह विविध प्रकार के दुःख पाता है, तब वह उनसे ऊब नहीं उठता और सुख के लालच से तंग नहीं होता। हे अर्जुन, ऐसे पुरुष के दिल से काम और क्रोध अनायास हट जाते हैं और वह पूर्णावस्था पाकर भयरहित हो जाता है। ॥२९१-९५ ॥ इस तरह जो उपाधियों से मुक्त हो कर भेदरहित हो गया है, उसको स्थिरबुद्धि जानो।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७ ॥

जिस तरह पूनम का चाँद अच्छे और बुरे लोगों को समान प्रकाश देता है, उसी तरह वह सब से हमेशा बराबर पेश आता है। उस की चित्तवृत्ति में सब प्राणिमात्र के लिये अखंड समता और करुणा होती है और उस में कभी बदल नहीं होता। उस को भली बुरी बातों से संतोष या खेद कभी नहीं होता। इस प्रकार जो हर्षशोकरहित होकर आत्मस्वरूप में रमता है, उसी को, हे अर्जुन, स्थितप्रज्ञ समझो ॥२९६-३०० ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८ ॥

जिस तरह कछुआ प्रसन्न हो कर अपने हाथपाँव फैलाता है और जब चाहे तब समेट लेता है, इसी तरह जो इंद्रियों को वश में ला कर उनसे मनचाहा काम करवाता है उस की बुद्धि स्थिर हो गयी है ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निर्वतते ॥५९ ॥

हे अर्जुन, और एक आश्चर्यकी बात मैं कहता हूं, सुनो । जो साधक नियमों के द्वारा विषयों को तज कर इंद्रियोंको वश में लाते हैं, किन्तु जिह्वा का संयम नहीं करते, वे हर तरह के विषयों में फँस जाते हैं । पेड़ की कोपलें काट कर उन की जड़ों में पानी डालें तो पेड़ का नाश कैसे होगा ? ॥३०१-०५ ॥ वह पेड़ पानी के बल पर जैसे आड़ा फैलता है, वैसे ही आदमी के मन में उस जिह्वा के द्वारा विषय अधिकतर पुष्ट होते हैं । बाकी इंद्रियों के विषय छोड़ दे सकते हैं, लेकिन जिह्वा के विषय का संयमन ज़बरदस्ती से नहीं किया जाता । क्योंकि हमारा निर्वाह उस के सिवा हो ही नहीं सकता । परन्तु, हे अर्जुन, जब साधक को आत्मा का अनुभव होता है, तब जिह्वा का नियमन अनायास होता है । जिस समय आदमी को यह विश्वास होता है कि 'मैं आत्मरूप हूं' उस वक्त उस का देहभाव मिट कर वह इंद्रियों को भूल जाता है ।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६० ॥

अन्यथा, हे अर्जुन, ये इंद्रियां और कोई अन्य साधनों से हमारे अधीन नहीं होती । ॥३०६-१० ॥ क्योंकि जो उन्हें वश में लाने की कोशिशें करते हैं और अपने चारों ओर यमनियमों की चहारदीवारी और अभ्यास का पहरा लगा कर मन हमेशा अपने मुठ्ठी में रखते हैं, वे भी इन इंद्रियों से हैरान होते हैं, ऐसा इंद्रियों का प्रभाव है । जिस तरह डायन मांत्रिक को भ्रमित करती है, वैसे ही ये विषय ऋद्धिसिद्धि के रूप में योगी को प्राप्त होते हैं और इंद्रियों के द्वारा उस पर अपना रोब जमाते

हैं। अगर वह इन के दाँव में फँस गया तो योगाभ्यास छोड़कर चैन से समय बिताता रहता है, ऐसा इंद्रियोंका सामर्थ्य है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इसलिये, हे पार्थ, जो विषयेच्छा छोड़ कर इंद्रियोंपर संयम करता है और भोगविलास के भुलावे में नहीं आता, ॥३११-१५॥वही योगनिष्ठा का अधिकारी होता है। क्योंकि वह आत्मज्ञान से संपन्न हो कर मुझे कभी भूल नहीं पाता। जो बाह्य विषयों को तज कर उन पर मन में घुलता रहता है, वह पूरी तरह संसार में गड़ा हुआ है ऐसे कहना पड़ता है। अगर ज़हर अल्प मात्रा में भी लिया जाय तो भी वह शरीर में फैल कर निश्चयही प्राणघातक होता है, वैसे ही यदि मन में विषयोंकी ओर जरासी भी इच्छा रही तो वह विवेक को नष्ट कर देती है ॥३१६-२०॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

विषयों की यदि याद भी आयी, तो विरक्त को भी उन में लगन पैदा हो जाती है। इस आसक्ति के कारण उस के मन में काम प्रकट होता है। काम में क्रोध छिपा रहता है और जहाँ क्रोध है वहाँ अविचार थमा रहता है। जिस तरह दीपक की लौ हवा से बुझ जाती है, उसी तरह अविचार से स्मृति मिट जाती है। अथवा सूरज के अस्त होते ही रात्रि जैसे सूर्यप्रकाश को निगलती है, वैसे ही अज्ञान का अंधेरा उस की बुद्धि को घेर लेता है और वह उसकी वजह से भीतर ही भीतर व्याकुल रहता है ॥३२१-२५॥ जन्मांध जब दौडने के लिये विवश हो जाता है तब वह परेशान हो कर इधर उधर भागता है, उसी तरह उस की बुद्धि भौंचक्की हो कर भटकने लगती है। इस प्रकार उस का बुद्धिभ्रंश हो कर उसकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है और उसका सब ज्ञान नष्ट होता है। देह मेंसे प्राण निकल जाने पर जैसी किसी की दशा होती है, वैसी ही अवस्था बुद्धि का नाश होने पर उसकी होती है। इस लिये, हे अर्जुन, ध्यान में रखो कि लकड़ी को अग्निकी चिनगारी लग जाए तो वह त्रिभुवन

जलाने को पर्याप्त होती है, उसी तरह विषयों की याद किसी समय हुई, तो ऐसा पतन होता है ॥३२६-३० ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४ ॥

इस लिये इन सब विषयों से पार निकल जाने पर राग और द्वैष अपने आप नष्ट होते हैं । एक बात और कहता हूँ कि राग द्वेष नष्ट हो जानेपर यदि इंद्रिय विषयों में रत रहे तो भी वह बंधनकारक नहीं होता । वैसेही जिस तरह सूरज अपनी किरणों से जगत् में सब पदार्थों को स्पर्श करता है, लेकिन स्वयं इस संसर्ग से दूषित नहीं होता, उसीतरह जब कोई विषयों की ओर उदासीन, कामक्रोध से निर्लिप्त और आत्मानंद में मग्न रहता है, और, हे अर्जुन विषयों मेंभी अपने सिवाय और कुछ नहीं देखता, तब विषय कैसे रहेंगे और किस को बंधनकारक होंगे ? ॥३३१-३५ ॥ अगर पानी को पानी में डुबाये जाय या अग्नि अग्नि को जलाये, वैसेही वह परिपूर्ण पुरुष विषयों में निमग्न रहेगा । इस प्रकार जो सभी तरह आत्मस्वरूप में तल्लीन रहता है, उस की बुद्धि स्थिर हुई ऐसे निःसंदेह समझो ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५ ॥

देखो जिस का चित्त अक्षुण्ण प्रसन्न हो चुका है, उस को संसार के दुःख नहीं छूते । जिस के पेट में अमृत का झरना है, उस को भूख प्यास का डर नहीं होता, वैसेही जिस का चित्त प्रसन्न हो चुका है, उस को दुःख कैसे और कहाँ से होगा ? उस की बुद्धि अपने आप आत्मस्वरूप से जुड़ जाती है । ॥३३६-३४० ॥ जिस तरह हवारहित स्थान में दीपक की लौ बिलकुल नहीं हिलती उसी तरह योगी पुरुष की बुद्धि आत्मस्वरूप में स्थिर रहती है ।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६ ॥

जिस के मन में इस योग का विचार भी नहीं उठा है, वह विषयों के जाल में फँस जाता है । हे पार्थ, ऐसे आदमी की बुद्धि कभी स्थिर नहीं रहती और उसे ध्यान में भी नहीं आता कि वह स्थिर रहे । अगर मन में स्थिरता की भावना भी न हो, तो

उसे शांति का लाभ कैसे होगा ? जैसे पापी को मोक्ष नहीं प्राप्त होता, वैसेही जहाँ शांति की इच्छा नहीं होती वहाँ भूल कर भी सुख नहीं टपकता । ॥३४१-४५ ॥ देखो, यदि आग में जला हुआ बीज उग सकता है, तो अशांत आदमी को सुख मिलने की संभावना हो सकती है । चित्त में स्थिरता का अभाव ही दुःख का कारण होता है । इस लिये, इंद्रियों का निग्रह ही सब से अच्छा है ।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७ ॥

जो आदमी इंद्रियों के पीछे पागल हो जाते हैं उनको लगता है कि उन्होंने भवसागर को पार किया है । जिस तरह तूफान से बचकर किनारे पर पँहुची हुई नौका फिर आफ़त में पडती है, उसी तरह अगर सिद्ध पुरुष कुतूहलवश इंद्रियों की प्यास बुझाता है तो वह संसारताप से घिर जाता है ॥३४६-५० ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८ ॥

इस लिये, हे धनंजय, अगर इंद्रियाँ अधीन हो गयीं, तो उस से अधिक सफलता क्या हो सकती है ? जैसे कछुआ प्रसन्न होकर अपने अंग फैलाता है और जब चाहे उन को समेट लेता है, वैसे ही जिस की इंद्रियाँ आज्ञाकारी हो कर उस का कहा मानती हैं, उस की बुद्धि स्थिर हुई ऐसे समझो । और ऐसे पहुँचे हुए पुरुष के एक और गुप्त लक्षण कहता हूँ सुनो ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९ ॥

देखो, जब अन्य जीव आत्मज्ञान के बारे में अंधेरे में रहते हैं, तब योगी को सबेरा होता है । और जब वे विषय सुख की ओर सजग रहते हैं तब उसकी ओर वह सोया सा रहता है । ॥३५१-५५ ॥हे अर्जुन, वही उपाधिरहित, स्थिर बुद्धि और सब तरहसे सत्पुरुष है ऐसे समझो ।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७० ॥

हे पार्थ, ऐसे आदमी को पहचानने का एक और चिह्न है, सुनो। समुद्र जैसे लगातार शान्त रहता है (वैसा स्थितप्रज्ञ होता है)। जिस तरह जब बरसात में लबालब भरी हुई नदियाँ समुद्र से मिलती हैं, तब वह थोड़ासा भी फूल कर अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, और ग्रीष्म की ऋतु में जब सब नदियाँ अँट जाती हैं, तो वह तनिक भी कम नहीं होता। उसी तरह उस पुरुष को ऋद्धिसिद्धियाँ मिलीं तो वह हर्षित नहीं होता और न मिलीं तो वह उदास नहीं होता। ॥३५६-६०॥ देखो, सूरज के घर में क्या दीपक से ही प्रकाश मिलता है और दीपक न हो तो क्या उसे अंधेरे में रहना पड़ता है ? उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ के यहाँ ऋद्धिसिद्धियाँ आयीं या गयीं इस की उसे सुध भी नहीं होती। क्यों कि उस का चित्त आत्मानंद में मग्न रहता है। जो अपने घर की शोभा के आगे इंद्रलोक को भी तुच्छ मानता है, वह भील की कुटिया में कैसे रमेगा ? जैसे अमृत में दोष देखनेवाला काँजी नहीं पीता, वैसे ही आत्मज्ञानी ऋद्धिसिद्धियों का उपभोग नहीं करता। हे पार्थ, जिस को स्वर्ग सुख के लिये आस्था नहीं है वह तुच्छ ऋद्धिसिद्धि की क्यों परवाह करेगा ? और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। ॥३६१-६५॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

इस तरह जो आत्मज्ञान से तृप्त हो कर ब्रह्मानंद में मग्न रहता है वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है। वह सब वासनाएँ और अहंकार तज कर और विश्वरूप हो कर संसार में चलता फिरता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे अर्जुन, यह वह असीम ब्रह्मस्थिति है, जिस का निष्काम पुरुष अनुभव पाकर अनायास आत्मरूप होते हैं। आत्मरूप होने पर मृत्यु के समय में उन का चित्त व्यथित नहीं होता और उनकी व्याकुलता उनकी ब्रह्मस्थिति के आड़े नहीं आ सकती। संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस ब्रह्मस्थिति का विवेचन किया। ॥३६६-७०॥ फिर अर्जुन ने सोचा कि जो कुछ श्रीकृष्ण ने कहा वह मेरे अनुकूल ही है। अगर उन्होंने सभी कर्मों का निषेध किया

है, तो अब मैं उनके युद्ध करने के तकाज़े से बच गया। श्रीकृष्ण की इन बातों से हर्षित होकर अर्जुन उनसे अपने कुछ संदेह पूछेगा। वह अवसर बहुत सुंदर और रसपूर्ण हो कर सब धर्मों की खान, और विचारामृत का असीम सागर है। अब जो विवेचन सर्वज्ञों के गुरु श्रीकृष्ण करेंगे, वह मैं निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहता हूँ। ॥३७१-७५ ॥

◆ ◆ ◆

॥ तीसरा अध्याय ॥

अर्जुन उवाच !

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१ ॥

फिर अर्जुनने कहा, हे कृपानिधे आपने जो कुछ कहा वह मैंने ध्यान से सुना । उससे यह जान पड़ता है कि कर्म और कर्ता शेष नहीं रहते । अगर यही आपकी पक्की राय है, तो आप मुझे लड़ने को क्यों प्रेरित कर रहे हैं ? ऐसे भयानक कर्म में मुझे घसीटने में आपको संकोच क्यों नहीं होता ? देखिये, आपने ही सब कर्मों का निषेध किया है फिर मुझसे यह क्रूर कर्म क्यों करवाते हैं ? हे हृषीकेश आपही सोचिये कि नैष्कर्म्य की प्रशंसा करने पर आप मुझसे यह हिंसात्मक कर्म क्यों करवाते हैं ? ॥१-५ ॥

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२ ॥

हे देवाधिदेव, अगर आप ही यों कहने लगे तो हम जैसे अज्ञानी लोग क्या करेंगे ? अब तो हमारा विवेक नष्ट हुआ जान पड़ता है । अगर यही आपका

उपदेश है, तो अन्य लोगोंकी बात क्या हो सकती है ? अब मेरी आत्मज्ञान की इच्छा पूरी हो चुकी । वैद्य ने अगर पथ्य कह कर विष पिलाया, तो बीमार कैसे बचेगा, बताइये । अंधे को टेढ़े मार्ग भेजने पर, या बंदर को मद्य पिलाने पर जो दशा होती है वैसे ही आप के इस सलोने उपदेश से मैं चक्कर में पड गया हूँ ऐसा कहना पड़ता है । मैं पहले ही नासमझ हूँ, तिस पर मोह में फँसा हुआ था, इसलिये, हे कृष्ण, मैंने आपकी सलाह ली ॥६-१० ॥ लेकिन आप तो चालाक निकले ! आप के उपदेश में सब कुछ निराला है । सेवक से व्यवहार करने का क्या आपका यही तरीक़ा है ? हम अपनी जान धोखे में डाल कर आप के वचनों पर विश्वास करते हैं और अगर आप ऐसी बातें करने लगे तो फिर सब समाप्त हो चुका । यदि इस प्रकार आप उपदेश करने लगे तो आपने मुझे धोखा दिया ऐसा मानना पड़ता है । अर्जुनने कहा कि मैं अब ज्ञान-प्राप्ति की आशा कैसे करूँ ? अब मेरी ज्ञान की इच्छा अधूरी रह गयी है । उलटे जो मेरा चित्त स्थिर था अब वह संभ्रम में पड़ गया है ।

हे कृष्ण, आपका चरित्र अतर्क्य है । आप इस उपदेश के बहाने मेरे मनकी थाह लेना चाहते हैं यह तो मैं नहीं जानता ॥११-१५ ॥ कहीं आप मुझे झाँसा तो नहीं दे रहे हैं ? या गूढ़ार्थ से मुझको तत्त्वज्ञान सुना रहे हैं ? यह जाननेका प्रयत्न करने पर भी मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है ? इसलिये हे भगवन्, अपने विचार गूढार्थ में न कह कर स्पष्ट बताइये । मैं बहुत मंदबुद्धि हूँ, इसलिये ऐसी स्पष्ट बात कहिये जो मेरी समझ में आ सके । देखिये, बीमारी हटाने के लिये दवा जरूर देनी होगी, पर वह मीठी और स्वादिष्ट होनी चाहिये । उसी तरह सब अर्थोंसे भरा हुआ और यथार्थ तत्त्वज्ञान मुझ को सुनाइये, लेकिन वह इस तरहसे कहिये कि मैं उसको सरलता से समझ सकूँ ॥१६-२० ॥ हे भगवन् यदि आप जैसे गुरु का मुझे लाभ हुआ है, तो मैं अपनी आकांक्षाएँ क्यों नहीं पूरी कर लूँ ? आप मेरी माता के समान हैं, फिर मैं किसकी चिंता करूँ ? देखिये, यदि भाग्य से मुझे कामधेनू प्राप्त हुई है तो मनचाही चीज माँगनेमें टालमटोल क्यों करूँ ? यदि चिंतामणि हाथ में आया है, तो मनपसंद वस्तू मिलने में अड़चन क्यों होगी ? मैं अपना मनचाहा पदार्थ क्यों न माँग लूँ ? सुनिये, यदि अमृतसिंधु के पास जाकर प्यास से तड़पना ही है,

तो वहाँ जाने का कष्ट क्यों उठाया जाए ? उसी प्रकार हे रमानाथ, हर जन्म में आपकी उपासना करने से आप हमको मिले हैं । ॥२१-२५ ॥ फिर हमारी इच्छाएँ आपसे क्यों न पूरी कर लूँ ? हे भगवन, मेरी आकांक्षाएँ पूरी होनेका यह सुदिन उदित हुआ है । आज मेरी सब इच्छा-आकांक्षाएँ पूर्ण होकर मेरे पूर्व जन्मों के शुभ कर्म सफल और मेरे सब मनोरथ पूर्ण हुए हैं । क्योंकि जो परम मंगलधाम और देवाधिदेव हैं वे आप हमारे सहायक हुए हैं । जैसे नन्हे बच्चे को माँ का दूध पीने के लिये समय का बंधन नहीं होता, उसी तरहसे हे कृपानिधे, मैंने आपसे यह सवाल पूछा है । ॥२६-३० ॥ इसलिये, हे भगवन्, जो इस लोक में आचरण के योग्य और परलोक में हितकर है वह एक पक्की बात ही मुझसे कहिये ।

भगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३ ॥

अर्जुन की यह बात सुन कर श्रीकृष्ण को विस्मय हुआ और वे बोले । हे अर्जुन, मैंने जो कुछ कहा उसका आशय यह है कि मैंने बुद्धियोग कहते हुए संयोग से तुम्हें ज्ञानयोग भी कहा, जिससे सांख्य सहमत है । किन्तु तुम हमारा आशय नहीं समझे, इसलिये तुम्हें व्यर्थ क्षोभ हुआ है । मैंने ही ये दो मार्ग कहे हैं यह तुम ध्यान में रखो । हे वीरश्रेष्ठ, ये दोनों संप्रदाय मैं ने ही सदियों से प्रकट किये हैं। ॥३१-३५ ॥ इन में एक को ज्ञानयोग कहते हैं, जिस का आचरण सांख्यवादी करते हैं और आत्मरूप की पहचान होने पर तद्रूप हो जाते हैं । दूसरे मार्ग को कर्मयोग कहते हैं, जिस से साधक कुशलतापूर्वक स्वधर्म का आचरण कर मोक्ष पाते हैं । ये पंथ भिन्न होते हुए भी उनका परिणाम एकही है । जिस प्रकार तैयार या पकाये हुए भोजन से समान तृप्ति होती है, किंवा पूर्व और पश्चिम वाहिनी नदियाँ अलग दिखाई देती हैं, फिर वे समुद्र से मिल कर उस से एकरूप हो जाती हैं, उसी तरह ये दो पंथ एक ही परमार्थ के सूचक हैं । इन दोनों में किस का अवलंब करें यह साधक की योग्यता पर निर्भर करता है । ॥३६-४० ॥ देखो, पंछी उड़कर तुरंत पेड़ पर फल पर आकर्षित होता है, लेकिन आदमी के लिये वैसा करना कैसे संभव है ? वह आहिस्ता आहिस्ता एक शाखा से दूसरी शाखा पर उड़ कर आखिर निश्चित ही उस

फल के पास पहुँच जाता है । उसी प्रकार सांख्ययोगी ज्ञानयोग का आचरण कर के पंछी की तरह मुक्ति पाते हैं । और अन्य योगी कर्मयोग का आधार लेकर स्वधर्म का आचरण करते हुए ठीक समय पर (चींटी की तरह) मोक्ष पाते हैं ।

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४ ॥

यदि कोई सिद्ध पुरुष की तरह कर्म छोड़ दे तो भी वह कभी कर्मरहित नहीं होता ॥४१-४५ ॥ अगर कोई कहे कि वह प्राप्त कर्तव्य टाल कर नैष्कर्म्य पायेगा तो यह निरा पागलपन है । यदि नदी को लाँघ कर पार जाना है तो वह नाव के बिना कैसे जाया जा सकता है ? अगर भोजन से तृप्ति चाहोगे तो वह रसोई के सिवा या पकाया हुआ अन्न खाये बिना कैसे मिल सकती है ? जब तक आदमी इच्छा-रहित नहीं होता तबतक देह के व्यापार चालू रहते हैं । फिर यदि आत्मानंद का लाभ हुआ तो वे अपने आप थम जाते हैं । इसलिये जिस को नैष्कर्म्य साध्य करने में आस्था है, उसको कर्म का आचरण कभी छोड़ना नहीं चाहिये । ॥४६-५० ॥ और यदि कोई कहे कि मैं अपनी इच्छा से कर्म का स्वीकार या त्याग करूँगा तो वह कैसे संभव है ? यह बेकार की बकबक है । तुम यह बात ध्यान में रखो कि कर्म टालने से कर्म का त्याग नहीं हो सकता ।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५ ॥

जब तक माया की सत्ता होती है तबतक मैं कर्म करूँगा या तजूँगा यह कहना अज्ञानमूलक है । क्योंकि देह के व्यापार गुणों के अधीन होते हैं । अगर हम सब कर्तव्यकर्म छोड़ भी दें तो क्या इंद्रियों के स्वभावधर्म लुप्त हो जायेंगे ? कर्मों का त्याग करने पर क्या कान सुनना छोड़ देंगे ? क्या आँखों की दृष्टि चल बसेगी ? या नथुने बंद होकर सूँघना छोड़ देंगे ॥५१-५५ ॥ ? अथवा क्या प्राण और अपान वायु की गति रुक जायेगी ? क्या चित्त विकल्परहित हो जाएगा ? या भूखप्यास मिट जायेगी ? किंवा निद्रा या जागृति की अवस्थाएँ नष्ट हो जायेंगी ? या पाँव चलना भूल जायेंगे ? इतना ही नहीं, क्या जन्ममरण भी टलेंगे ? यदि इंद्रियों के व्यापार बंद नहीं होते तो फिर किस का त्याग हो जाता है ? इसलिये जो कोई प्रकृति

के अधीन होता है, वह कर्म का त्याग नहीं कर सकता। यह कर्म पराधीन हो कर प्रकृति के गुणों के अनुसार होते रहते हैं। इसलिये मैं कर्म का स्वीकार या त्याग करूँगा यह मानना व्यर्थ है। देखो, अगर आदमी रथ में चुपचाप बैठे तो उसको जहाँ रथ ले जाये वहाँ जानाही पड़ता है ॥५६-६०॥ अथवा यदि पेड़ का सूखा पत्ता हवा के झोंके में फँस जाय तो वह स्वयं निश्चेष्ट होते हुए भी आसमान में घूमता रहता है। उसी प्रकार माया की सत्ता और कर्मेंद्रियों के विकार के कारण इच्छारहित आदमी भी कर्म करता रहता है। इसलिये जबतक माया का प्रभुत्व है तबतक कर्म का त्याग नहीं घटता। तिस पर भी अगर कोई कहे कि वह कर्म का त्याग अवश्य करेगा तो उसका हठही शेष रहता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार: स उच्यते ॥६॥

जो कर्मेंद्रियों की प्रवृत्ति रोक कर कर्तव्य कर्म टालते हैं और कर्मरहित होने की आशा करते हैं, उनका कर्मत्याग घटित नहीं होता। कारण कि, उनके मन में कर्म के प्रति आसक्ति होती है और उन का कर्मत्याग दिखावटी होता है। ऐसे लोग अभागे होते हैं ॥६१-६५॥ और वे विषयों में फँसे होते हैं यह तुम निःसंदेह समझो। हे अर्जुन, अब तुम्हें संयोग से निष्काम पुरुष के लक्षण बताऊँगा, ध्यान दे कर सुनो।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

जो अंदरसे निश्चल और परमात्मा में रत, किन्तु ऊपर से रीतिरिवाज के अनुसार चलनेवाला है, जो इंद्रियों को आज्ञा नहीं देता, विषयों का डर नहीं मानता और समय समय पर जो कर्म करने हैं उनको नहीं टालता, जब कर्मेंद्रियाँ कर्म करती हैं तब उनको वह नहीं रोकता ॥६६-७०॥ और वासनाओं में फँस नहीं जाता और जिसके चित्त को मोह की बाधा नहीं होती, जिस तरह कमल का पत्ता पानी से गीला नहीं होता, उसी तरह वह संसार में रहता हुआ भी सामान्य आदमी जैसा दिखाई देता है। जिस तरह पानी के संयोग से सूरज का प्रतिबिंब पानी में दिखाई देता है उसी तरह वह आदमी ऊपर से साधारण आदमी जैसा लगता है। किन्तु

उसकी आत्मस्थिति निश्चित रूप से मालूम नहीं पड़ती । इस प्रकार जो निष्काम और योगयुक्त है वही मुक्त है ऐसा मान लो । हे अर्जुन, इस लोक में वही योगी प्रशंसा का पात्र होता है । इसलिये मैं तुम्हें कहता हूँ कि तुम योगी बनो । ॥७१-७५ ॥ तुम अपने चित्त को संयमित कर के अंदर स्थिर हो जाओ, फिर कर्मेंद्रियाँ सुख से अपना अपना बर्ताव करती रहें ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८ ॥

कर्म का त्याग इस संसार में असंभव है । फिर सोच लो कि लोग शास्त्र के विरुद्ध कर्म क्यों करें ? इसलिये जो जो कर्म उचित और प्रस्तुत होंगे उसको निष्काम बुद्धि से करो । हे पार्थ आश्चर्य की एक बात और है जो शायद तुम्हारे ध्यान में नहीं आयी । वह यह है कि निष्काम बुद्धि से किये हुए कर्म से संसार से छुटकारा मिलता है । देखो, जो वर्णाश्रमधर्म का पालन करता है, उसके कर्म का आचरण उसको मोक्षदायी होता है । ॥७६-८० ॥

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९ ॥

अरे भाई, स्वधर्म का आचरण ही नित्य यज्ञ होता है । उस तरह बर्ताव करने से पाप नहीं लगता । जब आदमी स्वधर्म छोड़कर अप्रस्तुत कर्म की इच्छा करता है, तब वह संसार में याने जन्ममरण के जाल में पड़ता है । इस लिये समझ लो कि स्वधर्म का आचरण ही नित्य यज्ञ है । जो यज्ञ करता है, उस को वह कर्म बंधनकारक नहीं होता । ये लोग कर्मों में फँसे हुए पराधीन याने माया के वशमें हो गये हैं । इस कारण वे स्वधर्म से विमुख हो गये हैं । इसलिये, हे पार्थ, मैं तुम्हें एक किस्सा सुनाऊँगा । जिस समय ब्रह्मदेव ने यह सृष्टि निर्माण की, ॥८१-८५ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१० ॥

उन्होंने जीव और उनके नित्य आचरण के धर्म भी एकसाथ उत्पन्न किये । किन्तु गहन होने के कारण वे जीवों की समझ में नहीं आये । तब उन्होंने ब्रह्मदेवसे प्रार्थना की कि, हे भगवन्, इस लोक में हमारे लिये क्या उपाय है ? उस समय

ब्रह्मदेव ने कहा, हम ने पहले ही आप के लिये वर्ण के अनुसार धर्म तय किये हैं। उनको आचरण में लाओ, फिर तुम्हारी इच्छाएँ अपने आप पूरी होंगी । व्रत कर के शरीर को पीड़ा मत दो, तीर्थयात्रा पर दूर मत जाओ, योगादिक साधना, सहेतुक उपासना, मंत्रतंत्र मत करो ॥८६-९० ॥ तुम अन्य देवताओं की उपासना मत करो। बल्कि स्वधर्म के आचरण से स्वभावत: होनेवाला यज्ञ किया करो । स्वार्थ पर दृष्टि न रख कर यज्ञ का अनुष्ठान करो । जिस तरह पतिव्रता स्त्री पति की निष्काम बुद्धि से सेवा करती है, उसी तरह यह स्वधर्म का यज्ञ तुम्हें आचरणीय है । फिर सत्यलोक के अधिपति ब्रह्मदेव ने कहा कि, सज्जनो, यदि आप स्वधर्म के अनुसार बर्ताव करेंगे, तो वह कामधेनु की तरह फल देगा और आप से अलग नहीं होगा ।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११ ॥

इस स्वधर्म के आचरण से सब देवता प्रसन्न हो कर आप की माँगें पूरी करेंगे । ॥९१-९५ ॥ इस प्रकार यदि आप स्वधर्म का पालन कर के देवताओंकी पूजा करेंगे तो वे आप का कुशल मंगल करेंगे ही । यदि आप देवतार्चन करेंगे तो वे देवता प्रसन्न होंगे । इस तरह जब आप दोनों में प्रेम हो जायगा, तब आप जो करना चाहेंगे वह अनायास सफल होगा और आप की सब इच्छाएँ पूरी होंगी । आप जो कहेंगे वह सच साबित होगा, आज्ञा करने की सामर्थ्य आपको प्राप्त होगी और महासिद्धि आपकी आज्ञा की बाट जोहेगी । वसंत ऋतु के आगमनपर जैसे वनश्री तुरंत फलभार से लदी हुई सेवा के लिये सज्जित रहती है, ॥९६-१०० ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२ ॥

इसी तरह आप जहाँ भी होंगे वहाँ सब सुखों के साथ प्रत्यक्ष भाग्य आप की खोज में आयेगा । सज्जनो, अगर आप स्वधर्म का निष्ठा से पालन करेंगे तो आप सब उपभोगों को पा कर सुखी होंगे । किन्तु, यह धनदौलत पा जाने पर जो विषयासक्त बन कर इंद्रियों की इच्छा से बर्ताव करेगा, और यज्ञों से प्रसन्न होकर देवताओं की धनदौलत की देन स्वधर्म के आचरण में लाकर पूजाअर्चा नहीं करेगा, जो अग्नि में हवन, देवताओं का पूजन, अतिथियों को योग्य समय पर अन्नदान नहीं

करेगा, ॥१०१-१०५ ॥ जो गुरु की भक्ति, अतिथि की आवभगत और जो ज्ञाति को संतुष्ट नहीं करेगा, और जो इस तरह स्वधर्म से विमुख हो कर धन के घमंड में विषयासक्त बनेगा, तो उस पर बड़ी विपत्ति आयेगी और वह हाथ में आया हुआ धन खो कर प्राप्त हुए भोगों का उपभोग नहीं कर सकेगा। जिस तरह आयु समाप्त होने पर आत्मा देह में नहीं रहती, या अभागे के घर में लक्ष्मी वास नहीं करती, या दीपक बुझते ही प्रकाश लुप्त होता है, उसी तरह स्वधर्म का लोप होने पर सब सुखों का सहारा मिट जाता है ऐसा समझिये। ॥१०६-११० ॥ ब्रह्मदेव ने कहा, प्रजाजनो, जिसने स्वधर्म छोड़ दिया है, उसकी स्वतंत्रता नष्ट होती है। इसलिये जो स्वधर्म तजेगा, उसको काल दण्ड देगा और उस को चोर समझ कर उस का सब कुछ छीन लेगा। फिर रात्रि होते ही जैसे पिशाच मरघट में जमा होते हैं वैसेही सब दोष उस की खोज में आयेंगे। इसी तरह त्रिभुवन के सब दुःख, पाप और गरीबी उस के भाग में आयेगी। सज्जनो, इस तरह उस उन्मत्त व्यक्ति की दशा होती है। और वह कितना ही क्यों न गिड़गिड़ाये, फिर भी वह छुटकारा नहीं पा सकता ॥१११-१५ ॥ इस तरह इंद्रियों को मुक्त छोड़ कर स्वधर्म का त्याग नहीं करना चाहिये, ऐसा ब्रह्मदेव ने प्रजा को उपदेश किया। जिस तरह जलचर प्राणी को पानी से बाहर निकालते ही उसकी मौत हो जाती है, उसी तरह स्वधर्म छोड़ने पर मानव का पतन होता है। इसलिये आप सभी को चाहिये कि आप अपना कर्तव्यकर्म निभाने पर तत्पर रहें, इस प्रकार ब्रह्मदेव बार बार बोले।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

हे अर्जुन, जो निष्काम बुद्धि से स्वधर्म के अनुसार प्राप्त कर्मों में अपनी दौलत खर्च करता है, और गुरु, आप्तजन और अग्नि की पूजा, ठीक समय पर ब्राह्मणों की सेवा, और पूर्वजों का श्राद्ध कर्म इत्यादि करता है, ॥११६-२० ॥ और इसी तरह शास्त्रोक्त विधि से पाँच महायज्ञ, और हवन कर के जो शेष का परिवार के साथ सेवन करता है, उस के पाप नष्ट हो जाते हैं। अमृत का सेवन करने से जैसे महारोगों का नाश होता है, वैसे ही यज्ञमें से बचेखुचे अन्न का भोजन करने से उस के सब पाप धुल जाते हैं। किंवा जिस तरह तत्त्वज्ञ जरा सा भी मोहजाल में नहीं फँसता,

उसी तरह जो यज्ञ का शेष अन्न खाता है, वह दोषों से निर्लिप्त रहता है । इस लिये स्वधर्म से कमाया हुआ धन स्वधर्म में ही लगाओ और उस का समाधानपूर्वक उपभोग लो । ॥१२१-२५ ॥ इस तरह यह पुरानी कथा श्रीकृष्ण ने सुनाई । किन्तु जो लोग देह को ही आत्मा समझ कर उसको विषयोपभोग का साधन मानते हैं और इस के सिवाय और कुछ नहीं जानते, और अपनी कमाई यज्ञ का साहित्य है ऐसे न मानते हुए, जो भ्रांति और अहंकार से उस का उपयोग सुखोपभोग के लिये करते हैं, और स्वादिष्ट अन्न पका कर आप ही भोजन करते हैं, वे पापी लोग पाप को ही निगलते हैं ऐसा समझो । उनको चाहिये कि इस सारी धनदौलत को स्वधर्मरूपी यज्ञ का साधन मान कर उस को स्वधर्मरूपी यज्ञ से ईश्वर को अर्पण करें ॥१२६-३० ॥ किन्तु यह छोड़ कर मूर्ख लोग अपने लिये ही भोजन के बहुत पदार्थ पकवाते हैं । किन्तु जिस से यज्ञ की पूर्ति होती है और परमात्मा को संतोष मिलता है, वह अन्न साधारण नहीं होता । इस लिये अन्न को साधारण मत समझो । यह अन्न ब्रह्मरूप ही है, क्योंकि जीवों के लिये जीने का यही प्रमुख साधन है ।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५ ॥

अन्न से ही प्राणियों की वृद्धि होती है और वह वर्षा से पैदा होता है । वर्षा की उत्पत्ति यज्ञसे, यज्ञ की कर्म से और कर्म की वेद से होती है ॥१३१-३५ ॥और वेद की उत्पत्ति परात्पर अविनाशी ब्रह्म से होती है । इसलिये ब्रह्म इस चराचर विश्व में भरा होता है । फिर, हे अर्जुन, सुनो । कर्मरूप में प्रकट होने वाले इस यज्ञ की असल नींव अक्षय वेद हैं ।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६ ॥

हे पार्थ, इस स्वधर्मरूपी यज्ञ की परंपरा मैं ने तुम्हें संक्षेप में बता दी । इस लिये जो उन्मत्त पुरुष स्वधर्मरूपी यज्ञ का इस लोक में आचरण नहीं करता, बल्कि बुरे चालचलन से इंद्रियों को लाड़ प्यार से बहलाता है, वह पापराशि धरती पर बोझ

बनता है ॥१३६-४० ॥ जिस तरह असमय के बादल बेकार होते हैं, उसी तरह उस पुरुष का जन्म और कर्म विफल होता है । जो स्वधर्म का पालन नहीं करता उस का जीवन बकरी के गलस्तन के समान होता है । हे अर्जुन, यह ठीक ध्यान में रखो कि स्वधर्म को किसी तरह छोड़ना नहीं चाहिये, बल्कि उसका बर्ताव करना चाहिये । देह से संयोग होने पर कर्तव्यकर्म भी साथ साथ आते हैं, फिर हम उचित कर्म क्यों टालें ? हे अर्जुन, नरदेह पाने पर जो कर्म करने में खेद करते हैं वे अनाड़ी हैं । ॥१४१-४५ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७ ॥

हे अर्जुन, देहधर्म होते हुए भी जो सतत आत्मस्वरूप में मग्न रहता है, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता । क्योंकि वह आत्मज्ञान से संतोष पा कर कृतार्थ हो चुका है । इस लिये उसको कर्म से आसक्ति नहीं होती ।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८ ॥

जिस तरह तृप्ति होने पर उस के साधनों का प्रयोजन समाप्त होता है, उसी तरह आत्मानंद में मग्न होने पर कर्मों की अपेक्षा नहीं रहती । हे अर्जुन, जब तक आत्मज्ञान का लाभ नहीं होता, तबतक ही इन साधनों का आचरण करना पड़ता है ।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९ ॥

इसलिये तुम सदैव निष्काम हो कर स्वधर्म का आचरण करते रहो । ॥१४६-५० ॥हे पार्थ, जिन्होंने इस लोक में निष्काम बुद्धि से कर्म किया, उन्होंने सचमुच मोक्षपद पाया ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२० ॥

हे अर्जुन, कर्मों का संन्यास न करने पर भी जनक राजा को मोक्षसुख प्राप्त हुआ । इस लिये, हे पार्थ, तुम कर्म की ओर आस्था रखो । कारण उस से और एक लाभ है । अगर हम अपना कर्तव्यकर्म करेंगे तो यह देख कर अन्य लोगों की भी

उस के प्रति प्रवृत्ति होगी और उन के दु:ख नष्ट हो जायेंगे। देखो जो निष्काम होने से कृतार्थ हो गये, उन को भी चाहिये कि वे लोगों के पथप्रदर्शन के लिये कर्तव्य कर्म करते रहें। ॥१५१-५५॥ जिस तरह अंधेके हमराही को उस के आगे चलना पड़ता है, उसी तरह ज्ञाता को भी अपने आचरण से नासमझ लोगों को बोध कराना चाहिये। अगर उन्होंने ऐसा नहीं किया तो अज्ञानी लोगों को ज्ञान कैसे प्राप्त होगा और वे सन्मार्ग को कैसे जान पायेंगे ?

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन: ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

इस लोक में श्रेष्ठ लोगों के आचार को धर्म समझ कर साधारण लोग उन के अनुरूप बर्ताव करते हैं। यह बात स्वाभाविक है, इस लिये कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। प्राय: साधुसंतों को यह चाहिये कि वे कर्म का आचरण अवश्य करें।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

किन्तु, हे पार्थ, मैं अन्य लोगों की बात क्यों छेड़ूँ ? मेरे आचरण तुम देखो। ॥१५६-६०॥ मैं भी इस कर्ममार्ग का आचरण करता हूँ। अगर तुम कहोगे कि मेरे ऊपर कोई विपत्ति आयी होगी या मेरी कोई इच्छा अधूरी रही होगी, इस लिये, मैं धर्म का आचरण करता हूँ, तो इस लोक में मेरे समान गुण और ऐश्वर्य से संपन्न दूसरा कोई नहीं है और तुम मेरे प्रताप को भी जानते हो। मेरा पराक्रम तुमने देखा ही है कि मैं गुरु सांदीपनी का मृत पुत्र यमलोक से वापस लाया था । परंतु मैं इच्छारहित हो कर भी कर्ममार्ग का आचरण करता रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रित: ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश: ॥२३॥

सकाम मानव जैसे कर्म करता है वैसे मैं भी करता हूँ। परन्तु यह करने में मेरा एक अर्थ है। वह यह कि जो प्राणी मेरे ऊपर निर्भर हैं वे मनमौजी न बनें ॥१६१-६५॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४ ॥

यदि मैं इच्छारहित हो कर आत्मस्वरूप में मग्न रहूँ, तो इस प्रजा का निर्वाह कैसे होगा ? यदि प्रजा मेरा अपनाया हुआ यह मार्ग देखकर बर्ताव करने लगी तो दुनिया की प्रथा बिगड़ जायेगी । इस लिये जो समर्थ और सर्वज्ञ हैं उसको चाहिये, कि वह कर्म का त्याग न करे ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५ ॥

जिस तरह सकाम मानव फल के उद्देश्य से कर्म करता है, उसी तरह इच्छारहित आदमी को भी कर्म के आचरण में लगे रहना चाहिये । इसलिये, हे अर्जुन, मुझे बार बार तुमसे कहना पड़ता है कि समाज की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिये । ॥१६६-७० ॥ ज्ञाताओं को चाहिये कि वे कर्ममार्ग का आचरण करें, लोगों को सन्मार्ग पर लायें, परन्तु ऐसा न दिखायें कि आप अन्य आदमियों से निराले हैं ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्व कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६ ॥

हे अर्जुन, जो बच्चा माँ का दूध भी कष्ट से पीता है, वह मिष्टान्न कैसे खा सकता है ? अतः उसको वह नहीं खिलाना चाहिये, वैसेही जिस में केवल कर्म करने की क्षमता है, उस को मज़ाक में भी ज्ञानमार्ग का महत्त्व नहीं बताना चाहिये । उसको सत्कर्म का मार्ग ही दिखाना चाहिये । उसी की प्रशंसा करनी चाहिये और निष्काम आदमियों को भी चाहिये कि वे उस के समान आचरण कर के दिखाए । इसलिये यदि वे समाज की रक्षा के लिये कर्म का आचरण करें, तो उन का कर्म बंधनकारक नहीं होता । ॥१७१-७५ ॥ जो बहुरूपिये राजा रानी के स्वाँग रचते हैं उनके मन में स्त्रीपुरुषभाव बिलकुल नहीं होता, फिर भी वे आम लोगों को उन रूपों में ज्ञात होते हैं ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥२७ ॥

हे अर्जुन, अगर हम दूसरों का बोझ अपने कंधेपर उठायें, तो क्या हम उस बोझ के नीचे दबे नहीं जायेंगे ? उसी तरह, भले बुरे कर्म प्रकृति के गुणों से घटते हैं, फिर भी मूर्ख को ऐसा भ्रम होता है कि वह ही उन का कर्ता है । इस तरह जो अहंकार से भरा हुआ संकुचित मनोवृत्ति का पुरुष है, उस को यह गहरा परमार्थ नहीं बताना चाहिये । अब तुम्हारा हित किस में है यह बताता हूँ, ध्यान से सुनो ॥१७६-८० ॥

तत्त्ववित्तु महाबांयो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८ ॥

जिस से सब कर्म उत्पन्न होते हैं, उस प्रकृति की भावना ज्ञाताके मन में नहीं होती । वह ज्ञाता देहाभिमान छोड़ कर गुणोंसे परे जाता है और देह में साक्षी हो कर रहता है । इस लिये देहधारण करने पर भी वह कर्मों से जकड़ा नहीं जाता, उसी प्रकार जैसे सूरज प्राणियों को प्रकाश दे कर भी उन के कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९ ॥

जो गुणों के मोह में फँसा हुआ प्रकृति के वश में हो कर बर्ताव करता है, वही कर्म से लिप्त होता है । कारण कि जब इंद्रियाँ गुणों के अधीन होकर अपना अपना कर्म करती हैं, तब वह इच्छा न होने पर भी उस कर्म को अपना समझ कर उस का स्वीकार करता हैं ॥१८१-८५ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥३० ॥

इस लिये तुम सब कर्तव्य कर्मों का आचरण कर उन को मुझ को अर्पण करो । किन्तु, अपना चित्त मात्र आत्मस्वरूप में रखो । इस कर्म का मैं कर्ता हूं और वह मैं विशेष उद्देश्य से कर रहा हूं इस तरह का अभिमान मत करो । तुम शरीर की आसक्ति छोड़ दो और सब वासनाएँ तज कर सब विषयों का ठीक समय पर उपभोग लो । अब हाथ में धनुष लेकर रथ पर चढ़ो और शांत चित्त से वीरवृत्ति को अपनाओ । इस लोक में तुम अपनी कीर्ति और धर्म की महिमा बढ़ाओ और इन दैत्यों के बोझ से धरती को मुक्त करो । ॥१८६-९० ॥ अब तुम निःसंदेह हो कर

यह युद्ध ध्यान में रखो और कुछ मत कहो ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१ ॥

जो मेरे मत को सादर स्वीकार करते हैं और उसका श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं, वे कर्म करते हुए भी कर्मरहित होते हैं । इस लिये शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण ही उचित है ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३ ॥

लेकिन जो प्रकृति के जाल में फँसे हुए हैं और इंद्रियों को लाड़ प्यार से बहलाते हुए मेरे मत की अवहेलना करते हैं और उस को साधारण समझ कर उस का अनादर करते हैं, किंवा बकवाद करते हुए उस को कर्म की फलश्रुति कहते हैं, ॥१९१-९५ ॥ वे सब मोह के मदिरापान से भ्रमित, विषय के विष से घिरे और अज्ञान के कीचड़ में फँसे हुए हैं ऐसा निःसंदेह समझो । हे अर्जुन, जैसे शव के हाथ में दिया हुआ जवाहिर व्यर्थ होता है, या जन्मांध को सबेरा नहीं जान पड़ता, या चंद्रोदय कौए के काम नहीं आता, वैसेही मूर्खों को यह मेरा विचार नहीं सुहाता । हे पार्थ, जो जन इस परमार्थ से विमुख हैं, उस से कभी बात भी नहीं करनी चाहिये । भला बताओ क्या पतिंगा दीपक का प्रकाश सह सकता है ? ॥१९६-२०० ॥ जब वह लौ को गले लगाता है, तो वह मर जाता है, उसी तरह विषयों का उपभोग विनाश का कारण बनता है । इस लिये ज्ञाता को चाहिये कि वह इंद्रियों के साथ बडे लाड़ प्यार से पेश न आये । बताओ, क्या कोई साँप के साथ खेल सकता है ? वाघ को कोई साथ दे सकता है ? किंवा हलाहल विष पीकर उसको पचा सकता है ? खेलने में अगर आग लग गयी तो वह बुझाई नहीं जा सकती, वैसे ही जो इंद्रियों के लाड़ प्यार करता है, उस का भला कैसे हो सकता है ? सच में, हे अर्जुन, जीव गुणों के वशमें होने के कारण पराधीन है, फिर उस के लिये विषयभोग पाने के लिये हम दौड़धूप क्यों करें ? ॥२०१-२०५ ॥ बहुत प्रयत्न कर और

साधनसामग्री जुटा कर जन्म से मृत्यु तक इस देह का पालन क्यों करें ? अति परिश्रम से कमाये हुए धन का देहपोषण के लिये क्यों उपयोग करें ? जब, पंचमहाभूतों से बना हुआ देह पंचमहाभूतों में विलीन हुआ, तब उस परिश्रम का फल ढूंढने कहाँ भटकें ? इस लिये देह का पोषण निरी लूटमार है। यह समझ कर उस पर ध्यान नहीं देना चाहिये।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४ ॥

यों यह सत्य है कि इंद्रियों को उनके चाहते विषय देने में चित्त को सुख होता है। ॥२०६-१० ॥ किन्तु देखने में प्रतिष्ठित चोर की संगति शहर की हद पार होने तकही सुखदायी होती है, वैसे ही यह विषयसुख है। विषयों का स्वाद लेने पर उस के प्रति इच्छा पैदा होती है, किन्तु उस का असर जानलेवा होता है। तथैव इंद्रियों में जो विषयवासना रहती है, वह मनुष्य में सुख का एक अनोखा लालच उत्पन्न करती है। जिस तरह मछली काँटे में लगाये हुए प्रलोभन से भ्रमित होती है, और यह नहीं जानती कि प्रलोभन से ढंका हुआ कांटा उस की जान लेगा, वैसी ही आदमी की हालत विषय वासना से होती है। और विषयों की इच्छा पूरी नहीं हुई, तो वह क्रोधांध हो जाता है। ॥२११-१५ ॥ जिस तरह पारधी अपना मतलब साधने के लिये हिरन को चारों ओर से घेर कर घुमा लाता है, वैसे ही इन विषयों का नियम है। इस लिये, हे पार्थ, काम और क्रोध को घातक समझ कर तुम इन की संगति मत करो। और तुम इन विषयों को आसरा मत दो, अपितु उनकी याद भी मत होने दो।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५ ॥

अरे, यद्यपि अपने धर्म का आचरण मुश्किल है तो भी उसी में हमारा हित है। दूसरों के आचार देखने में भले क्यों न हों, फिर भी हमें स्वधर्म का ही आचरण करना चाहिये। ॥२१६-२० ॥ ब्राह्मण गरीब होने पर भी शूद्र के घर में जा कर मिष्टान्न कैसे सेवन करेगा ? बताओ, ऐसे अनुचित कर्म हम कैसे करें ? जो लेने योग्य नहीं है, उसकी इच्छा हम क्यों करें और इच्छा हो ही गयी तो उस को पूरी

क्यों करें ?इस का तुम विचार करो । हम लोगों के सफेद आकर्षक चूने के मकान देखकर अपनी घास की कुटिया क्यों तोड़ डालें ? अस्तु, जैसे अपनी कुरूप स्त्री भी समागम के योग्य होती है, वैसे ही स्वधर्म का आचरण दु:सह और दुष्कर होने पर भी परलोक में सुखकर होता है। ॥२२१-२५॥ हे अर्जुन, दूध चीनी की मिठास सब को परिचित है। किन्तु कृमिरोग से पीडित हुआ आदमी वह कैसे खा सकता है ? और वह खाता भी है, तो वह उस का हठ है। क्योंकि उस का नतीजा हितकर नहीं होता। इस लिये स्वहित का ध्यान रख कर जो कर्म दूसरों के लिये योग्य और अपने लिये अयोग्य है, उस का आचरण नहीं करना चाहिये। स्वधर्म के आचरण में जान का खतरा भी हो तो वह दोनों लोकों में हितकर ही होता है, ऐसे देवाधिदेव श्रीकृष्ण बोले। उस पर अर्जुन ने कहा, 'हे भगवन्, मेरी एक बिनती है। ॥२२६-३०॥ आपने जो कुछ कहा वह मैंने ध्यान से सुना। फिर भी मेरे मन में एक संदेह पैदा हुआ है, उस के बारे में पूछता हूँ।

अर्जुन उवाच।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

हे देवाधिदेव, ज्ञानी लोग भी बुद्धिभ्रंश होकर बुरे मार्ग से क्यों जाते हैं ? जो सर्वज्ञ होकर योग्य उपाय जानते हैं वे भी स्वधर्म छोड़ कर परधर्म के प्रति कैसे आकर्षित होते हैं ? जिस तरह अंधा धान्य और भूसा चुन नहीं सकता, वैसेही थोड़े ही समय के लिये आँखवाला भी कैसे भ्रम में पड़ता है ? जो आसक्तिरहित होकर वनवास में जाते हैं, वे आसक्ति से बैचेन होकर फिर क्यों लौट आते हैं? ॥२३१-३५॥ और जो अलिप्त हो कर पाप से बचने की कोशिश करते हैं, वे भी इच्छा न होने पर भी बलात् पाप में फँसे जाते हैं। जिस बात से चित्त को घृणा होती है, उसी की उस को रट लगती है और उस से बचना चाहें तो वह हमारा पीछा करती है। अर्जुन ने कहा, हे भगवन्, इस तरह कौन है जो जबरदस्ती से अपनी ही ज़िद पूरी करता है ?

श्रीभगवानुवाच।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

तब हृदय को संतोष देनेवाले और निष्काम योगियों को भी प्रिय ऐसे पुरुषोत्तम जो बोले वह मैं कहता हूँ, सुनिये। ऐसा अत्याचार करनेवाले ये काम और क्रोध हैं। इन में दया का लेश भी नहीं है। ये प्रत्यक्ष यमराज माने जाते हैं। ॥२३६-४० ॥ ये ज्ञानरूपी निधि पर बैठे हुए साँप, विषयरूपी घाटी के शेर या भजनमार्ग के हत्यारे हैं। ये देहदुर्ग के पत्थर या इंद्रियरूपी बस्तीके कोट हैं। वे मोहादि रूप ले कर संसार में धूम मचाते हैं। ये रजोगुण से उत्पन्न हुए विकार आसुरी संपत्ति की जड़ हैं और अविद्यामाया ने उन का पालन किया है। ये रजोगुण से पैदा हो कर भी तमोगुण के बहुत लाड़ले हैं और इसी के कारण तमोगुण ने अपना सब कुछ याने प्रमाद और मोह इनको सौंप दिया है। ये जीवों के दुश्मन हैं और इस लिये इनका यमराज के नगर में सम्मान होता है। ॥२४१-४५ ॥ इनकी भूख जगाई गयी तो उनके एक कौर के लिये यह सारा विश्व कम पड़ेगा। इनके सब व्यापार आशा के बल पर चलते रहते हैं। भ्रांति, जिस की खुली हुई मुट्ठी को भरने के लिये चौदह भुवन पर्याप्त नहीं हैं, इनकी छोटी लाड़ली बहन है। वह भ्रांति बच्चों के खेल में तीनों लोकों को निगल सकती है। और इस की दासी बन कर उसके बल पर वासना पुष्ट होती है। मोह इनका सम्मान करता है और जो अपनी करतूत से संसार को नचाता है, उस अहंकार के साथ इनका लेन देन का व्यवहार होता है। इन्होंने सत्य की कोथली निकाल कर उस की जगह पर असत्य का भूसा ठूंस दिया है और दंभ को संसार में प्रसिद्ध बना दिया है ॥२४६-५० ॥ इन्होंने शांति सती को लूट कर माया भंगिन को सजाया है और उस से साधुओं को भ्रष्ट कराया है। इन्होंने विवेक की नींव खोद कर वैराग्य की खाल खींच ली है और इंद्रियनिग्रह का गला घोंट दिया है। इन्होंने संतोष का वन काट दिया है, धैर्य का किला मटियामेट किया है और आनंद का गाछ उखाड़ दिया है। इन्होंने ज्ञान के पौधे उखाड़ दिये हैं, सुख का नाम मिटा दिया है और प्राणिमात्र के हृदय में त्रिविध ताप की लौ लगा दी है। ये शरीर के साथ जुड़ जाते हैं, इस लिये ब्रह्मादि को भी उनका पता नहीं लगता ॥२५१-५५ ॥ ये चेतना के पड़ोस में ज्ञान से चिपक कर बैठे रहते हैं। इस लिये वे जीवों का नाश करने पर तुले होते हैं और इन को कोई भी वश में नहीं ला सकता। ये पानी के बिना डुबा देते हैं, अग्नि के बिना जला देते हैं और प्राणिमात्र को उनके जाने बिनाही सताते हैं। ये हथियार के सिवाय काटते हैं, डोरी के सिवाय बांध रखते

हैं और ज्ञानियों को बीड़ा उठाकर कष्ट देते हैं। ये जीवों को कीचड़ के बिना गाड़ते हैं और फंदे के बिना जकड़ लेते हैं। और चित्त में ही उनका अस्तित्व होने से उन की बराबरी कोई नहीं कर सकता।

धूमेनाऽऽव्रियते वन्हिर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८ ॥

जिस तरह साँप चंदन के पेड़ की जड़ को घेरे रहता है, या गर्भाशय की खोल गर्भ को ढांके रहती है, ॥२५६-६० ॥ किंवा प्रभा के बिना सूरज, धुएं के बिना अग्नि और धूल के बिना आईना नहीं होता, उसी तरह हम ने काम और क्रोध के बिना ज्ञान नहीं देखा। जिस तरह बीज भूसे से ढँका हुआ पैदा होता है,

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९ ॥

उसी तरह शुद्ध ज्ञान काम और क्रोध से छिपा रहता है और इस के कारण वह हमको गहरा लगता है। इस लिये काम और क्रोध पर विजय पा कर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। किन्तु राग और द्वेष पर विजय पाना बहुत दुष्कर है। इन पर मात करने के लिये जो जोश अपनाना पड़ता है वही उनका सहायक बन जाता है। जिस तरह इंधन अग्नि की सहायता करता है ॥२६१-६५ ॥,

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४० ॥

इसी तरह जो जो उपाय हम सोचते हैं वे उन को ही मदद करते हैं। इस लिये वे इस लोक में हठयोगियों को भी परेशान करते हैं। परंतु इस संकट के पार जाने के लिये एक ही इलाज है। अगर वह तुम्हें पसंद हो तो मैं सुनाता हूँ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३ ॥

इन का मूल निवास इंद्रियों में होता है, और इंद्रियों से कर्म की प्रवृत्ति होती है। इस लिये तुम इंद्रयों को वश में लाओ। फिर तुम्हारे चित्त की दौड़ रुक जायेंगी और बुद्धि इन से छुटकारा पायेगी। इस से इन दुष्टों का आसरा नष्ट हो जायेगा। जिस तरह सूरज की किरणों के बिना मृगमरीचिका नहीं होती, उसी तरह यह समझ लो कि इन को दिल से निकाल देने पर ये नष्ट होते हैं ॥२६६-७० ॥ यों राग और द्वेष मिट जाने पर ब्रह्म का स्वराज्य हाथ लगता है और योगी ब्रह्मानंद में मग्न रहता है। यही वह गुरु और शिष्य के बीच की गुप्त बात है, यही वह जीव और शिव की एकता है जिस में वह स्थिर हो कर कभी विचलित नहीं होता। संजय ने कहा, हे राजन् सुनो। इस तरह वे सब सिद्धों के स्वामी देवाधिदेव रमानाथ बोले। अब आगे श्रीकृष्ण एक पुरानी कथा कहेंगे और वह सुन कर अर्जुन एक सवाल पूछेगा। उस कथा की योग्यता और मधुरता सुन कर श्रोताओं को बडा संतोष होगा। ॥२७१-७५ ॥ मैं निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहता हूँ, सज्जनो, बुद्धि को सजग रख कर यह कृष्ण और अर्जुन का संवाद सुनिये ॥२७६ ॥

◆ ◆ ◆

॥ चौथा अध्याय ॥

आज श्रवणेंद्रियों का भाग्य खुल गया । क्योंकि गीतारूपी निधि उन्हें प्राप्त हुई । जो बात स्वप्न की सी जान पड़ती थी वह आज सच हो गयी । पहले तो यह था अध्यात्मका विषय, तिस पर प्रतिपादन करनेवाले थे भगवान श्रीकृष्ण और सुननेवाला था भक्तशिरोमणि अर्जुन । जिस भांति पंचम स्वर, सुगंध और मिठास एकत्रित हो जाने पर मन प्रसन्न होता है, वैसे ही इस कहानीसे संतोष हुआ । कैसी सौभाग्य की बात है कि श्रोताओं की जप तप की साधना सफल हुई और उन्हें अमृत की गंगा प्राप्त हुई । इस लिये सब इंद्रियों को चाहिये कि वे कानों में प्रवेश करें और कृष्णार्जुन का संवाद याने गीता का सुख अनुभव करें ॥१-५॥ उस वक्त श्रोताओं ने कहा कि यह लंबीचौड़ी बात असमय कहते हो उसे छोड़ कर श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच जो संवाद हुआ उसे आगे बढ़ाओ । तब संजय धृतराष्ट्र से बोला कि अर्जुन उस समय सत्त्व गुणसे संपन्न हुआ था और इसी के कारण श्रीकृष्ण उसके साथ बड़े प्यार से बात कर रहे थे । जो अपना रहस्य श्रीकृष्ण ने अपने पिता वसुदेव को, माँ देवकी को या भाई बलराम को भी नहीं बताया, वह उन्हों ने अर्जुन से कहा । अरे देवी श्रीलक्ष्मी उन के पास रहनेवाली, किंतु उन्हें भी जो प्यार का

सुख नहीं मिला वह अर्जुन को प्राप्त हुआ । सनकादिक ऋषि कृष्णजी के प्रेम के लिए बरसों तरस रहे थे, किन्तु उन को भी वह प्राप्त नहीं हुआ ॥६-१० ॥ देखिये, इस पार्थ ने कौनसा बडा पुण्य किया था कि उसने जगदीश का यह अनुपम प्रेम पाया और उसी के लिये वह निराकार परमात्मा साकार हो गया । इस से मुझ को यह भाता है कि ये दोनो एकरूप हैं । नहीं तो जिस परमात्मा को योगी भी नहीं पाते, जिस को वेद भी नहीं जान सकते और जिस के पास ध्यान भी नहीं पहुँचता, वह अंतर्यामी, अनादि और निश्चल परमात्मा अर्जुनकी ओर कैसे कृपालु हो गया ? देखो जो इस त्रैलोक्य की मानों तह है, वे निराकार भगवान इतने प्यारसे अर्जुन के कैसे अधीन हो गये कौन जाने ! ॥११-१५ ॥

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१ ॥

फिर श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले कि मैं ने यह योग पहले सूरज से कहा था। परंतु उस बात को बहुत दिन हुए । पीछे सूरज ने यह योग वैवस्वत मनु को बताया। बाद में मनु ने उसे आचरण में लाया और उसका इक्ष्वाकु को उपदेश किया । इस तरह सदियोंसे ऐसी परंपरा फैल गयी ।

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२ ॥

बादमें यह योग अन्य राजर्षियों को ज्ञात हुआ, किन्तु अब उस को जाननेवाला कोई भी नहीं रहा । सभी प्राणी विषयभोगमें आसक्त हो कर देह का लाड प्यार करने लगे और आत्मज्ञान को भूल गये। ॥१६-२० ॥ फिर उनकी श्रद्धा कुमार्ग पर चलने लगी । उन का यह विचार हुआ कि विषयभोग में ही सुख की परमावधि है और वे जी जान से उस के पीछे पड़ गये । देखिये, नागा साधुओं के गांव में कीमती कपड़ों की कौन परवाह करेगा ? जन्मांध को सूरज से क्या लाभ होगा ? गूंगों की सभा में गाने की कौन क़दर करेगा ? सियार चांदनी को कैसे चाहेगा ? वैसे ही चांद उगने के पहले जिस की आँखें मुँद जाती हैं वह कौआ चांद को कैसे पहचान सकेगा ? उसी तरह जिस ने वैराग्य का गांव भी नहीं देखा और विवेक का नाम भी नहीं सुना वह नासमझ मुझे कैसे पायेगा ? ॥२१-२५ ॥ यह

मोह कैसे बढ़ गया कौन जाने, किंतु ज्यादा समय व्यर्थमें बीत गया और यह योग लुप्त हो गया ।

स एवाऽयं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३ ॥

हे अर्जुन, वास्तव में वही योग आज मैंने तुमसे कहा । इस में सन्देह मत करो । तुम मेरे दुलारे हो, इस लिये यह मैं तुम से कैसे छिपा सकता हूँ ? हे धनुर्धर, तुम मेरे प्यार के पुतले, परम भक्त, आत्मीय मित्र और विश्वास के स्थान हो । भला तुम को धोखा कैसे दे सकता हूँ ? यद्यपि हम यहाँ युद्ध के लिये आये हैं, ॥२६-३० ॥ तब भी युद्ध की हलचल टालते हुए चखचख के बिना मुझे तुम्हारा अज्ञान दूर करना पड़ेगा ।

अर्जुन उवाच-

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४ ॥

तब अर्जुन बोला कि हे कृपानिधे, माँ अपने बेटे से प्यार करती है इस में कौन आश्चर्य की बात है ? आप संसार में थकेमाँदे लोगों के लिये छाया हैं और बेसहारा लोगों के लिये आसरा हैं । और आप की कृपा सेही हमारा जन्म हुआ है । हे भगवन् जब अपने अपाहिज बेटे के लिये माँ को कष्ट उठाने पड़ते हैं, तो आपके सामने यह बात क्यों न छेडूं ? अब मैं जो पूछनेवाला हूँ उस को ध्यानसे सुनिये और क्रोध मत कीजिये ॥३१-३५ ॥ आपने पहले जो बात कही थी वह मेरे मन में नहीं जँची । क्योंकि उस विवस्वान सूरज को हमारे बाप-दादा भी नहीं जानते थे, तब आपने उस को कब और कहाँ उपदेश किया । मैं ने सुना है कि विवस्वान पुरातन काल में हो चुके थे, आप तो आजकल के हैं, इसलिये ये आप की बातें बेमेल सी लगती हैं । वैसेही, भगवन्, आप की करनी अगम्य है, ऐसा हम कैसे कहें कि आप की बात बेतुकी है ? इसलिये आपने सूरज को कैसे उपदेश किया, यह इस तरह बतायें कि मैं समझ सकूँ ? ॥३६-४० ॥

श्रीभगवानुवाच-

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५ ॥

तब भगवान बोले कि हे अर्जुन, जब वह सूरज था तब मेरा अस्तित्व नहीं था यह तुम्हारा सन्देह ठीकही है । तुम को यह मालूम नहीं कि मेरे और तुम्हारे बहुतसे जन्म हुए हैं, किंतु तुम को अपने पूर्वजन्मों की याद नहीं है । हे अर्जुन, मैं ने जो जो अवतार ग्रहण किये उन सभी का मुझे स्मरण है ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६ ॥

इसलिये मुझ को मेरे पिछले जन्मों की बातें याद हैं । मैं अजन्मा हो कर भी माया का योगदान लेकर जन्म लेता हूं । किन्तु जन्म लेने पर भी मेरा अविनाशी भाव नष्ट नहीं होता । क्योंकि मैं जो अवतार लेता हूँ और उस को समाप्त करता हूँ वे माया के कारण आभासमय होते हैं ॥४१-४५ ॥ इससे मेरी स्वाधीनता को ठेस नहीं पँहुचती । जो मुझ को कर्म के अधीन मानते हैं यह उनकी ग़लतफ़हमी है । यथार्थ में यह उन की समझ सच नहीं है । दर्पण के सामने एक ही चीज़ दो दिखाई देती है, किंतु वास्तवमें क्या वे दो चीज़ें हैं ? उसी तरह, हे अर्जुन, मैं स्वयं निराकार होते हुए भी जगत्कार्य के लिये माया के सहयोग से नटनटी के भाँति अनेक रूपों में सजता हूं ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७ ॥

क्योंकि जो युगधर्म है उन की रक्षा मैं निरंतर करता आया हूँ । यह व्यवस्था सदियों से जारी है । इसलिये जब अधर्म धर्म को दबा लेता है तब मैं भूल जाता हूं कि मैं अजन्मा और निराकार हूं ॥४६-५० ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८ ॥

उस समय भक्तों की हिमायत के लिये मैं देह धारण करता हूँ और उनका अज्ञान का अंधेरा नष्ट करता हूँ । फिर अधर्म की मर्यादा तोड़कर मैं पाप के धब्बे

पोंछता हूँ और सज्जनों द्वारा सुख के झंडे फहराता हूँ। फिर दैत्य कुलों की हत्या करके साधुओं की इज्ज़त स्थापित करता हूँ और धर्म और नीति को संगठित करता हूँ। उस के पश्चात् मैं अविवेकरूपी काजल नष्ट करता हूँ, जिस से विवेक का दीपक चमक उठता है और उसकी लौ योगीजनों को निरंतर जगमगाती सी लगती हैं। उस समय सब विश्व सत्सुख से भर जाता है, संसार में धर्म बढ़ने लगता है और भक्तजन सत्त्वगुणों से संपन्न होते हैं। ॥५१-५५ ॥ हे अर्जुन, जब मैं जन्म लेता हूँ, तब पापोंके पहाड़ सपाट हो जाते हैं और पुण्य की प्रभात होती है। इस जगत्कार्य के लिये मैं हर युग में जन्म लेता हूं और मेरा यह रहस्य ज्ञानीही जानते हैं ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९ ॥

मैं अजन्मा होकर भी जन्म लेता हूँ और अक्रिय हो कर भी कर्म करता हूँ। और फिर भी मैं निर्विकार हूँ, इस बात को जो जानता है वह परममुक्त है । उसकी देह जब चलती है तब वह नहीं चलता और देहधारी होकर भी वह देहभाव से लिप्त नहीं होता। फिर जब उस की देह पंच महाभूतों में विलीन हो जाती है, तब वह मेरे स्वरूप में लीन हो जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१० ॥

जो पिछली और अगले बातों पर शोक नहीं करते और निष्काम होते हैं, और किसी भी समय क्रोध के रास्ते पर नहीं जाते; ॥५६-६० ॥ और जो मद्रूप हो कर मेरी सेवा करने के लियेही जीवित रहते हैं, जो विकाररहित होकर आत्मचिंतन में लगे रहते हैं; जो तपोबल की राशी है, ज्ञान के एकमेव स्थान है और तीर्थों को भी पावन करनेवाले तीर्थरूप हैं, वे सहज मेरे स्वरूप में विलीन होते हैं और मद्रूप हो कर रहते हैं। तब उनमें और मुझमें कोई भेदभाव नहीं होता। अरे पीतल का कालापन बिलकुल मिट जाय, तो सुवर्ण पानेके लिये कौन प्रयत्न करेगा ? उसी प्रकार जो यमनियमों के आचरण में पूरे उतरे हैं और ज्ञान और तप से शुद्ध हुए हैं, वे मेरे स्वरूप में मिल जाते हैं इस में क्या संदेह हो सकता है ? ॥६१-६५ ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११ ॥

इस के अलावा जो जिस भाव से मुझे भजते हैं, उसी भावसे मैं उनको भजता हूं। आदमी को मेरे भजन के प्रति स्वाभाविक रुचि होती है । किंतु बहुतसे लोग मोह के कारण मेरे अकेला होने पर भी मुझ में अनेकत्व की कल्पना करते हैं। इसलिये मुझ में अभेद न होने पर भी वे भेदभाव मानते हैं, मेरे अनामा होने पर भी वे मुझे अनेक नाम से पुकारते हैं, और मेरे वर्णनातीत होने पर भी मुझे देव-देवी ऐसे कहते हैं । मैं सब वस्तुओं में समान हूँ किन्तु वे भ्रान्ति से मुझमें उच्च नीच का भेद मानते हैं ॥६६-७० ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२ ॥

फिर वे विविध इच्छाओं से अनेक देवताओं को मनाते हैं । और उन की यथाविधि पूजा करते हैं । इस प्रकार वे जो कुछ चाहते हैं वह सफल होता है । किंतु यह तुम निश्चित रूप से समझो कि यह सब उनके किये हुए कर्म का ही फल है। कर्म के सिवाय फल देनेवाला या फल लेनेवाला और कोई नहीं होता । जिस प्रकार खेत में जो कुछ बोया है वही उगता है, दर्पण में जो देखता है वही दिखाई देता है, अथवा, हे अर्जुन, पहाड़ की तलहटी में जो हम कहते हैं, उसी की प्रतिध्वनि सुनाई देती है ॥७१-७५ ॥ उसी प्रकार इन सब देवताओं की जो पूजा-अर्चा होती है, उसका मैं साक्षीभूत होता हूँ और उपासक का जैसा भाव होता है वैसाही फल देता हूँ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३ ॥

अब तुम जान लो कि यह चातुर्वर्ण्य याने चार वर्णों की व्यवस्था मैंने गुण और कर्म के अनुसार की है । उन चारों वर्णों के कर्म उन के स्वभावधर्म और गुण को ध्यान में रख कर मैंने तय किये हैं । और, हे अर्जुन, यद्यपि सब लोग एक जैसे होते हैं फिर भी उनके गुणों और कर्मों को ध्यान में रख कर मैंने उन के चार विभाग किये हैं । और फिर भी मैं इस चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का कर्ता नहीं हूँ ॥७६-८० ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥१४ ॥

यद्यपि यह चातुर्वर्ण्य मुझ से उत्पन्न हुआ है तथापि मैं उस का कर्ता नहीं हूँ । इस बात को जो जानता है वह कर्मबन्धन से मुक्त होता है ।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५ ॥

हे अर्जुन, जो मुमुक्षु पहले हो गये हैं, उन्होंने इसी ज्ञान का सहारा लेकर कर्म किये । जैसे भुने हुए बीज बोनेपर भी नहीं उगते, वैसेही उनके निष्काम कर्म मोक्षदायक होते हैं । हे अर्जुन एक और बात है कि कर्म अकर्म के विचार में मनमानी नहीं करनी चाहिए ।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६ ॥

कर्म माने क्या है, अकर्म के लक्षण क्या होते हैं, इस के सोचविचार में ज्ञानी भी दुविधा में पड़ जाते हैं ॥८१-८५ ॥ जैसे खोटी मुद्रा हुबहू खरी सी दिखाई देकर आँखों को धोखा देती है, वैसे ही नैष्कर्म्यविषयक अज्ञान से बुद्धिमान लोग कर्मों में लगे रहते हैं । क्योंकि जब वे बाह्य कर्मों को छोड़ देते हैं तब भी उन के प्रतिसृष्टि निर्माण करनेवाले मनोगत चालू रहते हैं । फिर वहाँ अनजानों की बात ही क्या ? इस विषय में ज्ञानी भी संदेह में पड़े हैं । इसलिये मैं इस विषय के बारे में अपने विचार स्पष्ट कहना चाहता हूँ ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७ ॥

जिस व्यापार से यह संसार पैदा हुआ है, उस को कर्म समझो, इस को पहले ठीक तरह से समझ लेना चाहिये । फिर वेदों में वर्णाश्रम के अनुसार जो उचित कर्म कहे गये हैं, उनको परिणाम के साथ जान लेना चाहिये । ॥८६-९० ॥ इस के विपरीत जिन को निषिद्ध कर्म कहा जाता हैं, उनका स्वरूप भी मालूम कर लेना

चाहिये, ताकि आदमी निषिद्ध कर्मों में फँस न जाये । वास्तव में यह संसार कर्माधीन है और कर्म की व्याप्ति गहन है । खैर, अब सिद्ध पुरुष के क्या लक्षण होते हैं सुन लो ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः स कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८ ॥

जो सारे कर्म करता हुआ भी अपनेको कर्ता नहीं मानता और कर्म के फल की आशा नहीं रखता, और जिस के लिये इस संसार में कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहा, उस पुरुष को नैष्कर्म्य का पूरा ज्ञान हुआ है ऐसा समझो । अगर कोई आदमी सब कर्मों का ठीक आचरण करनेवाला भी हो, किन्तु उपरोक्त लक्षणों से संपन्न हो, तो वह भी ज्ञानी है यह ठान लो ॥९१-९५ ॥ जिस प्रकार कोई आदमी पानी में अपनी परछाईं देख कर अपनेको उससे निःसंदेह अलग समझता है, अथवा जिस प्रकार चलती हुई नाव में बैठा हुआ मनुष्य नदीतट के पेड़ जोर से दौड़ते हुए देखकरभी तय करता है कि वे पेड़ निश्चल हैं, उसी प्रकार वह अपने किये हुए कर्मों को अर्थहीन समझकर अपने को अकर्ता मानता है । और जिस तरह सूरज स्थिर होने पर भी उस के उदयास्त से वह चलता सा दिखाई देता है, उसी तरह वह मनुष्य कर्म करता हुआ भी अपने को कर्ता नहीं मानता । वह साधारण लोगों सा दिखाई देता है, किंतु जिस प्रकार पानी में दिखाई देनेवाला सूरज का प्रतिबिंब सूरज नहीं होता, उसी प्रकार वह आदमी नहीं बल्कि ब्रह्मरूप ही है ऐसा समझो ॥९६-१०० ॥

तब वह मनुष्य दुनिया को देखता हुआ भी नहीं देखता, कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता, और उपभोग लेता हुआ भी कुछ नहीं भोगता । वह एकही जगह आत्मस्वरूप में रहता हुआ भी संसार में सर्वत्र संचार करता है, सारांश कि वह स्वयं विश्वरूप हो चुका है ।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥१९ ॥

जो पुरुष कर्मों से घृणा नहीं करता और कर्मफल के बारे में आशाभी नहीं रखता, और मैं अमुक कर्म करूँगा या शुरू किया हुआ कर्म पूरा करूँगा, यह संकल्प

भी नहीं करता, किंतु जिस ने ज्ञानरूपी अग्नि में अपने सब कर्म जला दिये हैं, वह मनुष्य नहीं, परब्रह्मही है यह पहचान लो ॥१०१-०५॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ॥२०॥

जो शरीर की ओर उदासीन और कर्मफल की ओर इच्छारहित होकर सदा प्रसन्न रहता है, जो संतोष के गर्भगृह में आत्मबोध परोसने पर ना नहीं कहता,

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥२२॥

जो आशा और अहंभाव को त्याग कर लगन से ब्रह्मसुख की मिठास चखता है, और समय पर जो कुछ उसे प्राप्त होता है उसी में सुख मानता है, और अपना पराया ऐसा भेदभाव नहीं करता, वह जो कुछ आँखों से देखता है और कानों से सुनता है वह स्वयं हो जाता है ॥१०६-१०॥ और जब वह चलना, बोलना इत्यादि विविध चेष्टाएँ करता है वह खुद बन जाता है; खैर ! वह जहाँ देखता है, वहाँ उस को आत्मरूप के बिना और कुछ दिखाई नहीं देता । फिर भला उस को कर्म का बंधन कैसे हो सकता है ? जिसके कारण जलन पैदा होती है वह द्वैतभाव जब उसमें नहीं रहा तो उसका वर्णन 'असूयारहित' इस शब्द से कैसे किया जाए ? इसका अर्थ यह है कि वह सब प्रकार से मुक्त हो गया है । क्योंकि वह कर्म करता हुआ भी कर्महीन, गुणसंपन्न होकर भी गुणातीत है इसमें कोई संदेह नहीं ।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

वह देहधारी होकर भी निर्गुण के समान दिखाई देता है, और जब वह परब्रह्म की कसौटी पर परखा जाता है, तब वह शुद्ध ब्रह्मही जान पड़ता है ॥१११-१५॥ ऐसा पुरुष यदि कुतूहलवश यज्ञादि कर्म करता है, तब वे सारे कर्म उसी में विलीन

हो जाते हैं । जैसे आसमान में असमय पर आये हुए बादल बारिश के बिना नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही उस के किये हुए वेदोक्त कर्म विलीन हो जाते हैं, क्योंकि उस ने कर्म के बारे में द्वैतभाव त्याग दिया है ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४ ॥

यह हवन है, मैं होता हूं, वह यज्ञ का भोक्ता है, इस प्रकार का भेदभाव उस की बुद्धि को छूता भी नहीं । इस लिये जब वह मनचाहा यज्ञ करता है, तब वह आहुति, मंत्र इत्यादि को ब्रह्मस्वरूप में देखता हैं । ॥११६-२० ॥ इसलिये हे अर्जुन, जब वह कर्म ब्रह्म के रूप में देखता है, तब वह कर्महीन हो जाता है । अब जिस यज्ञ में आदमी अविवेकरूपी कुमारावस्था को त्याग कर विरक्ति का स्वीकार करता है और योगरूपी अग्नि की उपासना करता है,

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५ ॥

और जिस यज्ञ में दिनरात यजनशील हो कर गुरुवाक्य में मन के सहित अज्ञान का होम करता है, उसको दैवयज्ञ कहते हैं । जो निश्चित रूप से जानता है कि प्रारब्धानुसार शरीर का निर्वाह होता है और उस के बारे में चिंता नहीं करता, समझ लो कि वह योगी हो ही गया है । ॥१२१-२५ ॥ और अब जो ब्रह्मयज्ञ के उपासक बनकर और ईश्वर को यज्ञरूप मान कर उसकी आराधना करते हैं, उन के बारे में कुछ कहूँगा, सुनो ।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६ ॥

और कई संयमरूपी अग्नि में होम करनेवाले योग के तीन बंधों की सहायता लेकर संयमाग्नि में पवित्र इंद्रियरूपी पदार्थ का हवन करते हैं । और दूसरे वैराग्य का सूर्य उदित होने पर संयम की मठी में इंद्रियरूपी अग्नि प्रज्वलित करते हैं। फिर जब उस इंद्रियरूपी अग्नि में वैराग्य की ज्वाला भड़क उठती है, तब उसमें विकाररूपी इंधन जल जाता है और उस समय आशारूपी धुआँ ज्ञानेंद्रियरूपी पाँच

कुंडियों से बाहर हो जाता है । उस के बाद वह वेदोक्त विधि के अनुसार इंद्रियरूपी अग्नि में विषयों का होम करते हैं ॥१२६-३० ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७ ॥

इस तरह पार्थ, कई लोगों ने अपने पापों को धोया । और कई लोगों ने हृदय की अरणी पर विवेकरूपी मंथा धैर्य और शांति के साथ दबायी और गुरुवाक्यरूपी मंत्र से उन दोनों का घर्षण किया । इस प्रकार जब सब चित्तवृत्तियों को समेट कर दोनों का घर्षण किया तब फलस्वरूप ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो गयी । फिर ऋद्धिसिद्धि का मोहरूपी धुआँ निकल गया और उस में ज्ञान की चिनगारी पैदा हुई । बाद में यम नियमों के आचरण से जो मन निर्दोष और हलका हुआ था उस को इंधन के रूप में ज्ञानाग्नि में डाल दिया । ॥१३१-३५ ॥ और जब ज्ञानाग्नि की ज्वाला धधक उठी तब वासनारूपी समिधाएँ मोहरूपी घी लगा कर उस में जला दीं । इस तरह प्रज्वलित हुए ज्ञानाग्नि में यज्ञकर्तनि 'सोऽहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्मही हूँ) इस मंत्रोच्चार से इंद्रियकर्मों का हवन किया । फिर प्राणकर्मरूपी स्रुवा ले कर ज्ञानाग्नि में अंतिम आहुति दी और उस समय ब्रह्म से तन्मय होने के कारण उनको यज्ञसमाप्ति का अवभृथ स्नान सहज रीति से हो गया । उस के बाद उन्होंने यज्ञ में बचे हुए आत्मानंदरूपी अन्न से भोजन किया । इस प्रकार कई लोगों ने यज्ञ कर के त्रिभुवन में मुक्ति प्राप्त की । यद्यपि यज्ञ की क्रियाएँ विविध प्रकार की होती हैं, तो भी उनका लक्ष्य एक ही होता है । ॥१३६-४० ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८ ॥

ये जो योग कहे गये हैं, उनमें से एक द्रव्ययज्ञ कहलाता है, एक तप की साधनासे किया हुआ तपोयज्ञ है, और एक योगसाधनासे प्राप्त योगयज्ञ है । जिस में शब्द से शब्दों का होम किया जाता है, उसे वाङ्मय यज्ञ कहते हैं । और जिस यज्ञ में ब्रह्म ज्ञात होता है, वह ज्ञानयज्ञ है । हे अर्जुन, ये सब यज्ञ दुष्कर हैं और उन के आचरण में बहुत कष्ट होता है । किंतु जिन्होंने इंद्रियों को वश में किया है, वे अपनी योग्यता के अनुसार ये यज्ञ कर सकते हैं । जो योगबल से संपन्न हैं, वेही इन

यज्ञों का अनुष्ठान कर सकते हैं, क्योंकि उन्हों ने आत्मा में अपने स्वत्व का हवन किया है ।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुध्वा प्राणायामपरायणा: ॥२९ ॥

कई लोग योगसाधना करके अपानवायु में प्राण का हवन करते है। ॥१४१-४५ ॥ अन्य लोग हे अर्जुन, अपान को प्राणवायु में मिला देते हैं और अन्य लोग दोनों का भी निरोध करते हैं । इन को प्राणायामरूपी यज्ञ के कर्ता कहा जाता है ।

अपरे नियताहारा: प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा: ॥३० ॥

और कई हठयोगी आहार पर संयम कर के तत्काल प्राणाग्नि में प्राण का हवन करते हैं । यों जो मोक्ष के अभिलाषी यज्ञद्वारा अपने मनोविकारों का क्षालन करते हैं, वे मुमुक्षु हैं । इस प्रकार ज्ञान से सब अज्ञान जल जाने से उस आदमी का शुद्ध स्वरूप बाकी रहता है और फिर उस के मन में अग्नि और यज्ञकर्ता ऐसी द्विधा का भाव नहीं रहता । जिसमें यज्ञकर्ता की इच्छाएँ पूर्ण होकर यज्ञकर्म और सब चेष्टाएँ समाप्त होती हैं, ॥१४६-५० ॥ जिसमें विचार प्रवेश नहीं कर पाता, जिसको तर्क स्पर्श नहीं कर सकता, और द्वैतभाव का दोष नहीं लगता,

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य: कुरुसत्तम ॥३१ ॥

इस प्रकार का जो शुद्ध ज्ञान यज्ञ के अन्त में प्राप्त होता है, उस का 'अहं ब्रह्मास्मि' इस मंत्र से ब्रह्मनिष्ठ अनुभव करते हैं । इस तरह जो यह यज्ञशेषरूपी ज्ञानामृत पी कर तृप्त और अमर हुए, वे यों ही ब्रह्मरूप होते हैं । हे अर्जुन, जिनका ऐहिक सुख ही अनिश्चित है, उनके पारलौकिक सुख के बारे में हम क्या कहें ? ॥१५१-५५ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२ ॥

इस प्रकार मैं ने जो तुम्हें अनेक यज्ञ कहे हैं, उन का वेदों ने विस्तृत वर्णन

किया है। किंतु इस से हमें क्या वास्ता है ? हम को केवल इतनाही जानना चाहिये कि ये सब यज्ञ कर्मसाध्य हैं, और ज्ञान से उनका बंधन नहीं होता।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे अर्जुन, वेदों में जो छोटे बड़े क्रिया प्रधान यज्ञ कहे गये हैं, उनसे हम स्वर्ग सुख का ही अपूर्व लाभ उठा सकते हैं। वे सच में कर्मयज्ञ हैं। किंतु जैसे सूर्य के सामने नक्षत्रों का तेज फीका पड़ता है, वैसेही दिव्य यज्ञ ज्ञानयज्ञ की बराबरी नहीं कर सकते। देखो, जिस ज्ञान का अंजन आँखों में डालकर आत्मसुख की निधि प्राप्त करने के लिये योगी जन सावधान रहते हैं, ॥१५६-६०॥ वह ज्ञान कर्मयोग की पूर्ति है, नैष्कर्म्य की खान है, और आत्मसुख के भूखे साधकों का आशास्थान है। जिस के बारे में कर्म की प्रवृत्ति लंगड़ी होती है, तर्क अंधा होता है और इंद्रियाँ विषयसंग को भूल जाती हैं, मन का मनपन टूट जाता है, और शब्द कुंठित होते हैं, तब ज्ञेय ब्रह्म प्राप्त होता है। तब वैराग्य की कमी मिट जाती है, विवेक का शोक शांत हो जाता है, और अनजानेही स्वस्वरूप से भेंट होती है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

वह श्रेष्ठ ज्ञान तुम पाना चाहते हो तो साधुपुरुषों की सेवा करो। ॥१६१-६५॥वे संत ज्ञान के मंदिर हैं और सेवाधर्म उस मंदिर का महाद्वार है। उनकी सेवा कर के उनको अपने अधीन कर लो। फिर तन मन धन लगा कर उनके चरणों में लग जाओ और अभिमान छोड़ कर उनकी सेवा करो। फिर जिस ज्ञान की प्राप्ति तुम चाहते हो वह ज्ञान वे तुम को दे देंगे और उस के बाद तुम्हारे संकल्प नष्ट होंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

उन संतवचनों के प्रकाश में तुम्हारा चित्त सन्देहरहित हो कर तुम ब्रह्म की योग्यता प्राप्त करोगे। उस समय तुम सब प्राणिमात्र को मेरे स्वरूप में सदैव देखोगे। ॥१६६-७०॥ हे पार्थ, इस तरह जब सद्गुरु की कृपा होगी तब तुम्हारे

अंत:करण में ज्ञान का प्रकाश फैल जायेगा और तुम्हारा मोहरूपी अंधेरा नष्ट होगा।

अपि चेदसि पापेभ्य: सर्वेभ्य: पापकृत्तम: ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६ ॥

फिर तुम पापों का आगार, भ्रांति का सागर और मोह का पहाड़ क्यों न हो ये सब ज्ञान के सामने तुच्छ हैं, इतना श्रेष्ठ बल ज्ञान में है। जो जगदाभास अमूर्त परमात्मा की परछाईं सा दिखाई देता है, वह उस ज्ञान के प्रकाश में ओछा जान पड़ता है; उस के सामने अज्ञान की बात ही क्या ? इसलिये मन में पैदा हुआ यह संदेह उचित नहीं है। इस धरती पर ज्ञान की बराबरी करनेवाली कोई चीज नहीं है। ॥१७१-७५ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७ ॥

जब प्रलयाग्नि से त्रिभुवन जलता रहता है, तब उस का धुआँ प्रलयकाल की झंझा बिखरा देता है। फिर उस के सामने बादल कैसे टिक सकते हैं ? किंवा जब वायु से भड़की हुई प्रलयाग्नि पानी को भी जला देती है, भला वह क्या तिनके से या लकड़ी से दब सकती है ?

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्ध: कालेनात्मनि विन्दति ॥३८ ॥

परंतु यह अनहोनी बात है, इसलिए यह सवाल भी बेतुका है। फिर इस ज्ञान की क्षमता दूसरी किसी भी चीज में नहीं है। जैसे चैतन्य बेजोड़ है, वैसे ही इस श्रेष्ठ ज्ञान के समान दूसरी चीज नहीं है। यदि सूर्यबिंब के समान उस के प्रतिबिंब का तेज हो, अथवा आसमान को लपेट में ले लिया जाय ॥१७६-८० ॥ अथवा धरती को तोलने के लिये तराजू मिले, तभी, हे अर्जुन, इस ज्ञान की बराबरी की वस्तु प्राप्त होगी। इसलिये लगातार विचार करने से यही जान पड़ता है कि ज्ञान की पवित्रता ज्ञान में ही होती है। अगर कोई पूछे कि अमृत का स्वाद कैसा होता है, तो वह अमृत का सा होता है यही जवाब देना पड़ेगा, वैसेही ज्ञान को ज्ञानकी ही उपमा देनी होगी। इस के उपरान्त ज्ञान के बारे में और कुछ कहना समय नष्ट करना होगा। तब अर्जुनने कहा, 'हे देव, तुम सच कहते हो।' फिर अर्जुन पूछने वाला ही था कि यह ज्ञान

आदमी कैसे प्राप्त कर सकता है, तो भगवान ने उस का मनोगत ताड़ लिया। ॥१८१-८५ ॥ और वे अर्जुन से बोले कि अब मैं इस ज्ञानप्राप्ति का साधन तुम्हें बताऊंगा, वह ध्यान से सुनो ।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९ ॥

जो आत्मसुख चाहता है, वह विषयोंसे घृणा करता हुआ इंद्रियोंकी परवाह नहीं क़रता और वह अपनी इच्छाओं को समझ में नहीं आने देता । और स्वभाव के अनुसार जो कर्म घटते हैं उनका दायित्व अपने सिर पर नहीं लेता और श्रद्धा का सहारा लेकर सुखी होता है । और जो निर्मल शांति से भरा हुआ है, निःसंदेह उस की खोज में ज्ञान स्वयं आ जाता है । जब यह ज्ञान जाग जाता है, तब उस के चित्त में शांति और आत्मबोध फैल जाते हैं ॥१८६-९० ॥ तब वह जिधर दृष्टि डालता है उधर वह शांति का ही अनुभव करता है और उस का अपने पराये का भाव नष्ट हो जाता है । इस तरह उसका ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है । उस के बारे में जो वर्णन करें वह कम है, इसलिये इतना ही पर्याप्त है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४० ॥

सुनो, जिस आदमी को ज्ञान की रुचि नहीं है, उसकी जिंदगी भी क्या है ? उस से तो मौत अच्छी । जैसे उजाड़ घर या बेजान शरीर होता है वैसा ही उस ज्ञानरहित व्यक्ति का जीना सिर्फ पागलपन है । यदि यह ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है किंतु मन में उस की इच्छा है, तभी उस के ज्ञानी बनने की कुछ संभावना है । ॥१९१-९५ ॥ ख़ैर, अगर ज्ञान के बारे में अभिरुचि न हो, तो समझ लो कि वह संशय के लपेट में आया है । क्यों कि अमृत का शौक़ तो दूरही रहा, किंतु जब वह फीका लगता है, तो मान लो कि मृत्यु समीप आई है । जो विषयसुख में मग्न होकर ज्ञान की ओर लापरवाह हो गया है, उस को निःसंदेह संशय ने झपट लिया है । इस तरह जो संशय में पड़ता है, वह तबाह हो जाता है और इहलोक के और परलोक के सुख से वंचित होता है । जो बीमार पड़ा है, उस को गरमी और सरदी में कुछ फरक नहीं मालूम होता और वह चांदनी और धूप को एकसरीखा मानता है ।

॥१९६-२०० ॥ वैसे ही संशययुक्त आदमी सच और झूठ, योग्य और अयोग्य, हित और अहित इन में भेद नहीं कर पाता। जैसे जन्मांध को दिन रात मालूम नहीं होते, वैसे ही संशययुक्त आदमी को कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए संदेह से ज्यादा भयानक पाप नहीं है। वह प्राणिमात्र का नाश करनेवाला एक जाल है। इस लिए इस संशय को आसरा मत दो और उस को प्रथम जीत लो। जहाँ ज्ञान का अभाव है, वहाँ उस का अस्तित्व होता है। जब अज्ञान का घना अंधेरा छा जाता है, तब यह संशय मन में जोर से बढ़ने लगता है और श्रद्धा के मार्ग में सब प्रकार की रुकावटें डालता है। ॥२०१-०५॥ फिर वह दिल में नहीं समाता और बुद्धिपर भी जम जाता है, फलस्वरूप उस को तीनों लोक संदेहमय लगते हैं। परंतु यह संदेह बढ़ भी जाय, तो उस पर विजय पाने का एक ही तरीक़ा है। अगर हाथ में ज्ञानरूपी पैनी तलवार हो तो आदमी उससे इस संशय को समूल काट सकता है और उस के बाद मन में यह दोष बिलकुल नहीं रहता। इसलिये, अर्जुन, अपने मन का यह संशय छोड़ दो और तुरंत उठ कर युद्ध करने के लिए खड़े हो जाओ। संजय धृतराष्ट्र से बोला, राजा सुनो, ज्ञानियों के पिता और ज्ञानदीपक भगवान श्रीकृष्ण ने कृपालु होकर अर्जुन से ये बातें कहीं। ॥२०६-१०॥ (ज्ञानदेव कहते है) अब पिछले और अगले बयान पर सोचता हुआ अर्जुन समयोचित सवाल करेगा। अब जो कथा प्रबंध, भाव और रस से समृद्ध हुई है, वह आगे सुनाऊंगा। जिस पर आठों रस निछावर हैं, और जिस से सज्जनों को आराम मिलता है, वह शांतरस अब प्रकट होगा। उस के बारे में नदी से भी गहरी और अर्थ से भरी हुई देशी बोलियाँ सुनिये। जैसे सूरज का बिंब मुठ्ठी के समान छोटासा दिखाई देता है, किंतु उसका प्रकाश त्रिभुवन के लिए भी पर्याप्त है, वैसे ही इन शब्दों की व्याप्ति है ऐसा आप अनुभव कीजिए ॥२११-१५॥ किंवा जैसे कल्पवृक्ष कामी जनों की कामनाएँ सफल करता है, वैसे ही ये व्यापक बोलियाँ सब आप की

मुरादें पूर्ण करनेवाली होती हैं । इस लिए उन पर ध्यान दीजिए । और आपसे क्या कहूँ ? आप तो ज्ञानी हैं, इस लिए मैं आपसे सविनय प्रार्थना करता हूँ कि मेरे वर्णन पर गौर करें । जिस तरह कोई स्त्री सुंदर, गुणवती और अच्छे कुल की साध्वी होती है, उसी तरह इस में काव्यरचना, साहित्य और शांत रस दिखाई देंगे । चीनी की चाह हर आदमी को होती है, वह फिर यदि दवा के रूप में दी जाय, तो वह बार बार संतोष से क्यों न चखे ? मलय पर्वत से मंद और सुगंधित हवा आयी, चखने को अमृत मिला, और उसी समय संयोग से मधुर संगीत भी सुनाई दिया, ॥२१६-२० ॥ तो हवा से शरीर ठंडा होगा, अमृत से जबान मीठी होगी और वह संगीत सुन कर कान वाह कहेंगे । यह कथा सुन कर कानों की इच्छा पूरी होगी, और आसानी से संसार का दुःख मिट जायेगा । यदि मंत्रतंत्र से ही शत्रु का नाश हो, तो हाथ में कटार क्यों ली जाए अगर चीनी और दूध लेने से बीमारी हट जाय, तो नीम का सेवन क्यों करें ? उसी तरह मन को मारे बिना और इंद्रियों को दबाये बिना इस कथा के श्रवण से ही मोक्ष सहज प्राप्त होगा । इस लिये मैं कहता हूं कि संतोष के साथ आप इस गीतार्थ को ठीक से सुन लीजिए । ॥२२१-२५ ॥

◆ ◆ ◆

॥ पाँचवाँ अध्याय ॥

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१ ॥

फिर अर्जुन ने कहा, यह आप क्या कह रहे हैं ? यदि आप एक बात निश्चित रूपसे कहें तो मैं उस का शांत चित्त से विचार कर सकूंगा । पहले आपने ही कई प्रकार से कहा था कि सब कर्मों का त्याग करना चाहिये, फिर अब कर्म का समर्थन क्यों कर रहे हैं ? यह आप की दो अर्थी बातें हम जैसे अनजानों की समझ में नहीं आती । हे भगवन् एकही तत्त्व का उपदेश करना है तो वह सीधी तरह से करें, यह क्या आपसे कहना पड़ता है ? इसलिये मैं ने आपसे पहलेही प्रार्थना की थी कि यह परमार्थ की बात पहेली में मत कहिये । ॥१-५ ॥ अब पिछली बात छोड़िये । हे भगवन् इन दोनों में कौनसा मार्ग उत्तम है वह स्पष्ट बताईये, वह मार्ग जो अचूक फल देनेवाला और आचरण में आसान हो । डोली जैसा वाहन मिलनेपर बिना निद्राभंग के सुख से लम्बी यात्रा भी हम कर सकते हैं, सो उस के सरीखा कोई सुगम उपाय सुझाइये । यह अर्जुन की बात सुन कर भगवान् प्रसन्न हो गये और

बड़े संतोष के साथ बोले कि जो तुम चाहते हो वैसाही होगा। (श्रीज्ञानदेव कहते हैं) सुनिये, जिस भाग्यवान की कामधेनु जैसी माँ है, उसको खेलने के लिये चाँद भी मिल सकता है ॥६-१० ॥ देखिये, भगवान, शंकर ने प्रसन्न हो कर उपमन्यु को क्षीरसमुद्र सौंप कर क्या उस की दूध की चाह पूरी नहीं की ? उसी तरह जो उदारता की खान है वे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को मिलने पर उसे सब सुख क्यों प्राप्त नहीं होंगे ? अथवा लक्ष्मीपति जिस का स्वामी है उसने यदि मनचाही चीज माँग ली तो उस में आश्चर्य की क्या बात है ? इस लिये जिस ज्ञान के लिये उस ने प्रार्थना की वह श्रीकृष्ण ने उसे संतोष से दिया। उस के पश्चात् भगवान् ने क्या कहा वह मैं बताता हूँ।

श्रीभगवानुवाच।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

भगवान बोले, हे अर्जुन, यदि हम संन्यास और योग इन दोनों का विचार करें, तो दोनों ही मोक्षदायी हैं। ॥११-१५ ॥ यदि स्त्री और बालबच्चों को नदी के पार जाना है तो नौका ही सुगम साधन होती है। वैसे ही (भवसागर तिरने को) कर्मयोग ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के लिये सुलभ मार्ग होता है। सोच विचार करने पर यही आसान मालूम होता है। और उस का आचरण करनेसे अनायास संन्यास का फल भी प्राप्त हो जाता है। इसलिये तुम्हें संन्यासी के लक्षण बताता हूँ, जिस से तुम को ज्ञात होगा कि ये दोनों मार्ग अभिन्न हैं।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात् प्रमुच्यते ॥३॥

जो प्राप्त और अप्राप्त वस्तु के बारे में खेद नहीं करता और जो मेरु पर्वत के समान अंदर स्थिर रहता है, और जिस के चित्त में मैं, तू मेरा और तेरा इस की भावना भी नहीं होती, वह पुरुष नित्य संन्यासी है ऐसा समझ लो ॥१६-२० ॥ इस अवस्था को जो पहुँचता है, उस को कर्मफल की आसक्ति नहीं होती और उस को अखंड सुख प्राप्त नहीं करना पड़ता, क्योंकि उस के मन में 'मैं निःसंग हूँ' यह भावना व्याप्त होती है। देखो, अग्नि बुझ जाने पर उसकी राख कपास में हम रख

सकते हैं, वैसे ही जिस की बुद्धि संकल्पहीन हो गई है वह संसार में रह कर भी कर्मबंधन से नहीं जकड़ता। इस लिये जब मन में संकल्प पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं, तभी संन्यास घटित होता है और इस कारण से संन्यास और कर्मयोग एकसरीखे हैं ॥२१-२५ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४ ॥

इसके सिवा जो सभी तरह अज्ञान से घिरे हुए हैं, उन को सांख्य और योग की व्यवस्था कैसे मालूम होगी ? अज्ञानवश वे इन दोनों में अलगाव देखते हैं। किन्तु क्या दीप को की रोशनी में कोई भेद हो सकता है ? सो जिन्होंने आत्मतत्त्व का अनुभव किया है, उन को ये दोनों योग समान लगते हैं।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५ ॥

जो पद सांख्यों को प्राप्त होता है वह योगी को भी मिलता है, इस लिये ये दोनों एक ही हैं। आकाश और अवकाश में जैसे भेद नहीं होता, वैसे ही संन्यास और योग में अलगाव नहीं होता। जो सांख्य और योग को अभिन्न समझता है, ॥२६-३० ॥ उस को ज्ञान का प्रभात होता है और परमात्मा का दर्शन होता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६ ॥

हे पार्थ, जो योग का मार्ग पकड़कर मोक्ष के पहाड़ पर चढ़ने लगता है, वह ब्रह्मानंद के पठार पर तुरंत पहुँच जाता है। किन्तु जो योग का सहारा लेताही नहीं, वह व्यर्थ मोक्ष का शौक करता है, क्योंकि उसको संन्यास कभी साध्य नहीं होता।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७ ॥

योगी अपना चित्त मोह से मुक्त करता है और उस को गुरु वाक्य से शुद्ध कर के आत्मानुभव की ओर लगाता है। जिस तरह नमक समुद्र में डालने तक अलग और छोटासा दिखाई देता है, फिर उस को समुद्रमें डाल देने पर वह समुद्र से घुलमिल जाता है, ॥३१-३५ ॥ उसी तरह उसका चित्त आत्मा से एकरूप होकर

त्रिभुवन में व्याप्त रहता है । फिर 'मैं यह करता हूँ' 'मुझे यह कर्म करना है' ऐसी बातें समाप्त होती हैं और यदि उसने कर्म किया भी हो तो वह कर्मरहित होता है ।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रनश्नन्गाच्छन् स्वपञ् श्वसन् ॥८ ॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि ।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९ ॥

क्योंकि, हे पार्थ, जिस के मन में देह का भान नहीं होता, उस को कर्तापन का अहंकार कैसे महसूस होगा ? इस तरह मरने के पहले ही योगी में निराकार ब्रह्म के लक्षण दिखाई देते हैं । यों देखने में वह साधारण लोगों की तरह सब प्रकार के काम किया करता है ॥३६-४० ॥ वह आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि वह देहभावना से अलिप्त रहता है । वह स्पर्श का अनुभव करता है, नाक से श्वास लेता है और समय पर ठीक बात भी करता है, वह खाता पीता है, अनिष्ट वस्तु फेंक देता है और निद्रा के समय पर आराम से सो जाता है । वह निश्चिंत होकर फिरता है और समय पर जो कर्म करने चाहिये वे सब करता रहता है । हे अर्जुन, और क्या कहूँ, श्वासोच्छ्वास करना, आँखें खोलना और मूँदना ऐसे सब कर्म उस में दिखाई देते हैं । ॥४१-४५ ॥ लेकिन, स्वानुभव होने के कारण वह अपना कर्तापन महसूस नहीं करता । क्योंकि जब तक वह भ्रांतिरूपी शय्या पर सोया हुआ था, तब तक स्वप्नसुख का अनुभव करता था । अब उस के मन में ज्ञान का उदय हुआ है और वह सजग हो उठा है ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१० ॥

अब आत्मा की सत्ता में उसकी सब इंद्रियाँ अपने अपने विषयों में व्यस्त रहती हैं । जैसे दीपक की रोशनी में घर के सब व्यवहार घटित होते हैं, वैसे ही योगी से सब कर्म किये जाते हैं । कमल का पत्ता जैसे पानी में गीला नहीं होता, वैसे ही योगी कर्म करने पर भी कर्मबंधन से बद्ध नहीं होता ॥४६-५० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११ ॥

जिस में बुद्धि का अंश नहीं होता और मन में विचार भी नहीं उठते, उस कर्म को देह का व्यापार कहते हैं । अब यही बात मैं सरल शब्दों में कहूँगा, सुनो । जैसे बच्चों की चेष्टाएँ सहज होती हैं, वैसेही योगी केवल देहसे कर्म किया करता है । फिर पंचमहाभूतों से बना हुआ उस का शरीर सो जाता है, तब उस का मन अकेला स्वप्न की दुनिया मे व्यवहार करता रहता है । हे अर्जुन, इस देह में वासना कितनी फैली हुई है देखो । वह देह से उस के अनजाने में ही सुखदुःख का अनुभव कराती है । इंद्रियों को पता न होते हुए जो व्यापार होते हैं उनको मानसिक व्यापार कहते हैं । ॥५१-५५ ॥ योगी भी मानसिक व्यापार किया करता है, किन्तु वह अहंकार-रहित होने के कारण कर्म उसको बंधनकारक नहीं होते । भूतबाधा होने पर आदमी का चित्त भ्रमित होता है, तब इंद्रियों से जो क्रियाएँ होती हैं वे अव्यवस्थित होती हैं । वह सामनेवाले आदमी की शकल देखता है, किसी की पुकार सुनता है, ज़बान से बोलता है, किन्तु इन बातों का उस के दिमाग़ पर असर नहीं होता । खैर, ऐसे जो अकारण कर्म किये जाते हैं उनको इंद्रियों के कर्म समझो । इनके सिवाय जो जानबूझ कर कर्म किया जाता है, वह बुद्धि से किया हुआ कर्म है, ऐसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा । ॥५६-६० ॥ उन्होंने आगे कहा, कि योगी जानबूझकर और मन लगा कर कर्म करते हैं और वे कर्म से मुक्त होते हैं । क्योंकि बुद्धि से जड़ देह तक उनको अहंता का भान नहीं होता । इस लिये वे कर्म करते हुए भी पवित्र रहते हैं । कर्तापन का अहंकार छोड़ कर काम करनाही नैष्कर्म्य है, यह रहस्य उन को सद्गुरु से ज्ञात हुआ है । इस लिये उनके मन में शांतरस इतना भरा होता है कि वह उमड़ आता है । अब वाणी के परे जो सत्य है वह मैंने तुमसे कहा । जिनकी इंद्रियों की ओर की विवशता नष्ट हो चुकी है, उनको यह सत्य सुनने की इच्छा होती है । ॥६१-६५ ॥ (तब श्रोताओंने कहा) अब यह विषय छोड़ दो । क्योंकि यदि कथा का सूत्र टूट गया तो मूल श्लोकों का मेल नहीं रहेगा । जो मन और बुद्धि को अगम्य है वह गुप्त बात हमारे सौभाग्य से तुमने कही । जो वाणी के परे है उस का तुमने वर्णन किया, फिर हमें और क्या चाहिए ? अब कथा को आगे बढ़ाओ । श्रोताओं की यह उत्कंठा जान कर निवृत्तिदास ज्ञानदेव ने कहा, अब कृष्णार्जुन का संभाषण ध्यान देकर सुनिये । फिर श्रीकृष्ण पार्थसे बोले, अब मैं सिद्ध योगी के लक्षण तुम्हें कहता हूँ, ध्यानसे सुनो ॥६६-७० ॥

युक्तः कर्मफलं व्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥१२॥

जो आत्मज्ञानी होने पर कर्म फल से ऊब ऊठा है, घर बैठे ही शांति उस का वरण करती है । किन्तु जो अज्ञानी है वह कर्म की डोरीसे फलभोग की खूँटी को वासना की गाँठ से खूब कस कर बाँधा जाता है ।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

जैसे अन्य लोग फल की आशा से कर्म करते हैं, वैसेही वह आत्मज्ञानी सब कर्म करता रहता है । किन्तु 'मैंने ये कर्म कियेही नहीं' इस विचार से वह उन के फल के प्रति उदासीन रहता है । वह जहाँ देखता है वहाँ की सृष्टि सुखमय होती है और जो कुछ वह कहता है उस में ब्रह्मज्ञान रहता है । चूँकि उसने कर्मफल का त्याग किया है, इसलिये वह नौद्वारवाले शरीर में रहने पर भी देहातीत और सब कर्म करने पर भी कर्मरहित होता है । ॥७१-७५॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

विचार करने से यह मालूम होता है कि ईश्वर भी कर्मरहित है, फिर भी वह त्रिभुवन के विस्तार को सृजता है । उस को हम कर्ता कैसे मानें ? क्योंकि वह कर्म से लिप्त नहीं होता और उस की वृत्ति उदासीन होने से उस के हाथपाँवों का संयोग किसी वस्तु से नहीं होता । इस लिये उसकी योगनिद्रा भंग नहीं होती और उसके अकर्तापन को बाधा नहीं पहुँचती । फिर भी वह महाभूतों के समुदाय खड़े कर देता है । हम देखते हैं कि प्राणिमात्र में उसका अस्तित्व है, किन्तु वह कभी किसी का नहीं होता । इस लिये उसको सुधितक नहीं होती कि यह विश्व पैदा होता है और फिर लुप्त हो जाता है ।

नाऽऽदत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

इस जगत् में जो पापपुण्य होते हैं, उनके पास होकर भी वह उनको नहीं देखता । उनका वह साक्षी भी नहीं रहता, फिर अन्य बातों के बारे में क्या पूछना ? ॥७६-८० ॥ अगर वह देह धारण कर के लीला करता है, तो भी उसका निराकारपन भंग नहीं होता । इसलिये, हे अर्जुन, जो कहा जाता है कि वह उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कारण है, वह अज्ञानमूलक है ऐसा समझो ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६ ॥

जब यह अज्ञान समूल नष्ट होता है, तब भ्रांति की कालिख पूरी तरह नष्ट हो जाती है और मेरा याने ईश्वर का अकर्तापन स्पष्ट समझ में आता है । यदि उसको यक़ीन हुआ कि ईश्वर अकर्ता है, तो फिर मैं ही ईश्वर हूँ यह बात पहलेसेही सिद्ध है । इस प्रकार जब उस के मन में विवेक का प्रकाश आ जाता है, तब वह त्रिभुवन में भेदभाव का अनुभव कैसे करेगा ? इस अवस्था में वह सब विश्व को अभेद की भावनासे ही देखता है ॥८१-८५ ॥ अब तुम पूछोगे यह कैसे होता है, तो मैं कहता हूँ, यह वैसे ही होता है जैसे सूर्योदय होनेपर पूर्वदिशा प्रकाशित होती ही है, लेकिन साथ साथ अन्य दिशाओं का अंधेरा भी नष्ट हो जाता है ।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७ ॥

जिन की बुद्धि आत्मज्ञान के बारे में पक्की हो गयी है, जो अपने को ब्रह्मरूप मानते हैं और रातदिन तत्पर हो कर अपनी ब्रह्मनिष्ठा कायम रखते हैं, उन की खोज में व्यापक ज्ञान आता है । उनकी समदृष्टि के बारे में क्या कहना ? अगर मैं यह कहूँ कि वे सब विश्व को अपना मानते हैं तो इस में आश्चर्य की बात क्या है ? जिस तरह भाग्य को, भूलकर भी, दैन्य नहीं दिखाई देता उसी तरह विवेक को भ्रांति का परिचय नहीं होता ॥८६-९० ॥ सूरज सपने में भी अंधेरा नहीं देख सकता, किंवा अमृत को मौत का समाचार नहीं मिलता, या चाँद को गरमी मालूम नहीं होती, उसी तरह ज्ञानी लोगों को प्राणिमात्र में भेदभाव दिखाई नहीं देता ।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८ ॥

फिर यह मच्छर, वह हाथी, यह अत्यंज, वह ब्राह्मण, यह अपना बेटा, वह पराया बालक, यह गाय, वह कुत्ता, यह बड़ा, वह छोटा, ऐसे भेदभाव उसके मन में कैसे पैदा होंगे ? जो जागृत है वह स्वप्न कैसे देखेगा ? जिस में अहंकार शेष है उसी में यह भेदभाव दिखाई देता है । किन्तु जब अहंकार पूरी तरह नष्ट हुआ तब द्वैतभाव कैसे रहेगा ? ॥९१-९५ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९ ॥

इस लिये जिसने समभाव आत्मसात् कर लिया है, वह स्वयं अद्वितीय ब्रह्म हो चुका है । यही समदृष्टि का पूरा मर्म है ऐसा समझ लो । उसने विषयों का साथ न छोड़ कर और इंद्रिय-निग्रह न करते हुए निःसंग होने का अनुभव किया है और साधारण लोगों की तरह व्यवहार करते हुए भी लौकिक वस्तुओं का मोह टाला है । जैसे पिशाच दुनिया में होता हुआ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, वैसे ही वह देहधारी निःसंग योगी पहचाना नहीं जाता । खैर, हवा के संयोग से पानी पानी में लुढ़का तो उसको लहर कहते हैं ॥९६-१०० ॥ वैसे ही उस का नामरूप निराला होते हुए भी वह प्रत्यक्ष ब्रह्म ही है । क्योंकि उस का दिल ब्रह्मभाव से परिपूर्ण हुआ है । श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, जिस को इस तरह की समदृष्टि प्राप्त हुई है, उस योगी के लक्षण मैं तुम्हें संक्षेप में कहता हूँ, सुनो ।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२० ॥

जिस तरह मृगमरीचिका की बाढ़ में पहाड़ बह नहीं जाता, उसी तरह भला या बुरा कर्मफल मिलने पर वह व्यक्ति क्षोभ नहीं पाता । वह ही समदर्शी, वही प्रत्यक्ष ब्रह्म होता है, ऐसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१ ॥

जो आत्मस्वरूप को छोड़कर इंद्रियों के वश में कभी नहीं आता, वह विषयों का उपभोग नहीं करता इसमें आश्चर्य क्या है ? ॥१०१-०५ ॥ उसका मन असीम

आत्मानंद से सुखी हो चुका है, इसलिये वह बाह्य विषयों की ओर नहीं झुकता। जिसको कुमुदिनी के पत्तों में चाँद की किरनों को चरना है वह चकोर पंछी रेगिस्तान में क्या बालू चबाएगा ? उसी तरह जिस को आत्मानंद स्वयं प्राप्त हुआ है, उस ने त्याग किया इस में कहने योग्य क्या है ? हाँ, जो इस विषयसुख के मोहजाल में फँस जाते हैं उन के बारे में कुतूहल से सोच कर देखो ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२ ॥

जैसे भूखा कंगाल आदमी भूसा भी खाता है, वैसे ही जिन को आत्मा का दर्शन नहीं हुआ है, वे विषयसुख में रमते हैं ॥१०६-१० ॥ अथवा जिस तरह प्यास से व्याकुल हिरन पानी को भूलकर बंजर भूमि में दिखाई देनेवाली मरीचिका की ओर दौड़ जाते हैं, उसी तरह जिन को आत्मा का अनुभव नहीं हुआ या आत्मसुख के सदा नागे पड़े हैं, उनको यह विषयसुख मीठा लगता है । हाँ, विषयोपभोग से सुख होता है ऐसा कहना भी उचित नहीं है । यदि हम मानें कि विषयसेवन में सुख है, तो विद्युत् के चमकने में दुनिया के व्यवहार क्यों नहीं होते ? तुमही कहो कि यदि हम बादलरूपी छत से धूप, हवा और बारिश हटा सकें तो तिमंजिले भुवन क्यों बनायें ? जिस तरह विषकंद को महुर (मधुर) कहते हैं, उसी तरह यह कहना बेकार है कि विषयसेवन से सुख मिलता है । ॥१११-१५ ॥ जैसे क्रूर ग्रह को मंगल और मृगमरीचिका को जल कहते हैं वैसेही विषय को सुखद कहना व्यर्थ है । खैर, अब कहो, कि नागके फन की परछाईं से चूहे को कितना सुख प्राप्त होगा ? हे अर्जुन, जब तक मछली काँटे को लगाये हुए प्रलोभन को मुँह नहीं लगाती तब तक उस की खैरियत है । वैसा ही विषयों के संयोग के साथ होता है, यह तुम निःसंदेह समझो । हे अर्जुन, अगर तुम विरक्त निगाहों से विषयों को देखोगे, तो वे पांडुरोगी जैसे मोटे दिखते हैं । इसलिये विषयों के उपभोग में जो सुख है वह आदि से अंततक दुःख ही है ऐसे समझो । किन्तु अज्ञानी लोग और क्या कर सकते हैं ? उनको विषयोपभोग करने के सिवाय और कोई उपाय नहीं । ॥११६-२० ॥ मर्म न जानने से उन बेचारों को विषयों का सेवन अवश्य करना पड़ता है । तुमही कहो, पीब और कीचड़ में जो कीड़े होते हैं, वे उन की क्या घृणा करते हैं ? वे जन्तु उन में सुख ही पाते हैं । ये लोग विषयरूपी कीचड़ में पड़े हुए मेंढक या भोगरूपी जल

में रहनेवाली मछलियाँ हैं, फिर वे विषयभोगों को कैसे त्याग सकते हैं ? अगर विषयों के बारेमें प्राणिमात्र विरक्त हुए, तो क्या दुःखद योनियाँ निरर्थक नहीं होंगी ? ! फिर गर्भवास आदि बलाएँ और जन्म मरण की यातनाएँ जो हैं उनके मार्ग पर कौन चलेंगे ? और विषयासक्त पुरुषोंने विषयों का त्याग किया, तो महादोष कहाँ निवास करेंगे ? फिर क्या 'संसार' यह शब्द झूठा नहीं होगा ? ॥१२१-२५ ॥ इस लिये वे विषयभोग के दुःख को सुख समझाकर लोगों के मन में झूठी अविद्या के बारे में सच का आभास निर्माण करते हैं । इसलिये, हे अर्जुन, विचार करने पर ऐसा मालूम होता है कि विषय बुरे हैं, इस लिये तुम भूल कर भी उन के मार्ग पर मत जाओ । इस कारण से विरक्त पुरुष विषयों को विष के समान टालते हैं । और वे इच्छारहित होने की वजहसे यदि उनके सामने दुःखरूपी सुख आ ही गया तो वह उनको अच्छा नहीं लगता ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३ ॥

जो ज्ञानी हैं वे इन विषयोंका नाम भी नहीं लेते, क्योंकि उन्होंने देहभाव को अपने वश में कर लिया है । जो बाह्य विषयों की बात तक नहीं जानते, उनका चित्त लगातार सुख का अनुभव करता है । ॥१२६-३० ॥ किन्तु इस आत्मसुख का अनुभव करने का उनका तरीक़ा अलग होता है । जैसे पंछी फल का स्वाद लेता है, वैसे वे सुख का उपभोग नहीं करते ।क्योंकि उस समय वे अपना भोलापन भी भूल जाते हैं । जब वे आत्मसुख का अनुभव करते हैं, तब उनका अहंकार का परदा हट जाता है और वे सुख को दृढता से चिपक कर उस से एकरूप हो जाते हैं । यदि पानी को पानी में मिलाया जाये तो वह अलग नहीं रहता, अथवा आकाश में हवा रुक गई तो उन दोनों में अंतर नहीं रहता, उसी तरह उस अवस्था में केवल सुख ही शेष रहता है । इस तरह भेदभावना नष्ट हो जाने पर उनका सुख से मेल हो जाता है तब उसको कौन साक्षी रहता है ? ॥१३१-३५ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

बस यह पर्याप्त है । जो बात के परे हैं मैं उस के बारे में और क्या कहूँ । जो आत्मस्वरूप में रमते हैं, उन को उस के लक्षण सहज ही समझ में आयेंगे । जो इस आत्मसुख से पूर्ण हो कर आत्मस्वरूप में मग्न हो चुके हुए हैं, वे मेरे विचारसे ब्रह्मानंद से ढले हुए पुतले हैं । वे ब्रह्मानंद की प्रतिमा, आत्मसुख के अंकुर, या आत्मज्ञान के धाम होते हैं । तथा वे विवेक की जन्मभूमि, परब्रह्म का रूप, ब्रह्मविद्या के सजाये हुए शरीर, सत्त्व का सार या जीवात्मा के सिक्के हैं । (उस समय निवृत्तिनाथ ने कहा) अब यह लंबा बयान छोड़ दो । एक ही बात तुम हर प्रकार से लेकिन कलापूर्ण ढंग से कहते हो ॥१३६-४०॥ तुम जब संत सज्जनों की प्रशंसा करने लगते हो, तब तुम कथावस्तु का भान नहीं रखते और विषय छोड़कर सुंदर शब्दरचना करते हो । किन्तु रसों का वर्णन जरा कम करके गीतार्थ का दीप जलाओ और सज्जनों के हृदयमंदिर को प्रकाशित करो । इस प्रकार श्रीगुरु का इशारा मिलते ही निवृत्तिदास ज्ञानदेव ने कहा, अब श्रीकृष्ण जो कुछ बोले वह सुनो । उन्होंने कहा, हे अर्जुन, जिन्होंने आत्मसुख के अथाह दह का तल गाँठा है, वे ही ब्रह्मरूप होकर स्थिर हुए हैं । और जिन्हों ने आत्मज्ञान के निर्मल प्रकाश में सब विश्व अपने में देखा है, वे देहधारी होने पर भी परब्रह्म हो गये हैं ऐसा निश्चित मानो । ॥१४१-४५॥ यह आत्मसुख सचमुच अति उत्तम, अविनाशी और अमर्याद है । जो निष्काम होते हैं वे ही उसके अधिकारी होते हैं । यह सुख महर्षियों के लिये रखा हुआ है, वह विरक्तोंके ही हिस्से में आता है और जिन का आत्मा के सम्बंधमें संदेह मिट गया है, उन्हीं को यह पका हुआ फल प्राप्त होता है ।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जिन्होंने अपना मन विषयों से हटा कर उन पर विजय पायी है और जो विषयों की ओर निद्रित हो कर कभी जाग्रत नहीं होते, वे लोग, हे अर्जुन, आत्मज्ञान का लक्ष्य जो परब्रह्म है वही बन जाते हैं । यदि तुम पूछोगे कि वे इस अवस्था को कैसे पहुँचते हैं और इस देह में ही ब्रह्मत्व कैसे प्राप्त करते हैं, तो मैं संक्षेप में कहता हूँ सुनो ॥१४६-५०॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८ ॥

यों वैराग्य का सहारा ले कर वे विषयों को बाहर रख कर शरीर में चित्त को स्थिर करते हैं । और उस समय जहाँ तीन नाड़ियाँ मिलती हैं वहाँ भ्रूमध्य पर दृष्टि पीछे घुमा कर, और बायें और दायें नथुनों के मार्ग रोक कर और प्राण और अपान वायु सम कर उन को चिदाकाश में ले जाते हैं । फिर जिस तरह जब रास्ते से जलधाराएँ ले कर गंगा सागर को मिलती हैं तब उन को अलग नहीं कर सकते, उसी तरह, हे अर्जुन, जिस समय प्राण के निरोध से चिदाकाश में चित्त का लय होता है, तब वासनाओंकी उधेडबुन बंद हो जाती है । ॥१५१-५५ ॥ जिस मनोरूपी पट पर संसार का चित्र बना हुआ है, वह पट फट जाता है । जिस तरह तालाब सूख जाने पर उसमें का प्रतिबिंब अदृश्य होता है, उसी तरह जहाँ मन ही मूलतः मिट जाता है वहाँ अहंकार और मनोरथ कैसे रहेंगे ? इस लिये जिन्होंने आत्मसुख का अनुभव किया है, वे देह होने पर भी ब्रह्मरूप हो चुक गये हैं ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९ ॥

मैंने जो तुम्हें पहले कहा था कि कोई जीवित दशा में ही ब्रह्मरूप हो चुके हैं, वे इसी योगमार्ग से गये हैं । वे यमनियमों के ऊँचे और दुस्तर कगार चढ़ कर और योगाभ्यास के सागर लाँघ कर संसार के पार हुए हैं । और उन्होंने उपाधिरहित प्रपंच की थाह ले कर सचमुच ब्रह्मभाव प्राप्त किया है । ॥१५६-६० ॥ इस तरह जब श्रीकृष्ण ने कहा तब अर्जुन मर्मज्ञ होने से बहुत चकित हुआ । फिर उसका अभिप्राय ताड़ कर श्रीकृष्ण जरा हँस कर बोले कि मैंने जो तुम्हें बताया क्या उससे तुम्हारा समाधान हुआ ? इस पर अर्जुन ने कहा, हे भगवन्, आप दूसरों के मन का भाव जाननेवालों में श्रेष्ठ हैं । इस लिये आप मेरा आशय अच्छी तरह जान गये । मैं जो कुछ आपसे पूछनेवाला था वह आपने पहले ही ताड़ लिया । फिर भी आपने जो कुछ कहा, वह स्पष्ट कहियेगा । गहरे पानी में तैरने के बजाय पुल परसे जाना

ज्यादा आसान होता है, वैसा ही यह योग मार्ग है, जो आपने कहा है ॥१६१-६५॥ यों यह योगमार्ग देरी से साध्य होनेवाला है, फिर भी हम जैसे निर्बल जीवों के लिये ज्ञानमार्ग से ज्यादा सुगम है। इसलिये, हे भगवन्, उसको फिरसे बताइये ताकि मैं उसका अनुभव कर सकूँ। इससे आपका वर्णन थोड़ा लम्बा हो जायेगा, यह सच है। फिर भी उसको आदि से अंत तक कहिये। तब श्रीकृष्ण ने कहा कि यदि यह योग मार्ग तुम को इतना भाया है, तो फिर उस को दुहराने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? तुम सुन रहे हो इसलिये मैं सुख से बताता हूँ। हे अर्जुन, तुम ध्यान दे कर सुनते हो और सुन कर उसके अनुसार आचरण करते हो। फिर तुम से कहने में मैं क्यों आगापीछा करने लगूँ ? (ज्ञानदेव कहते हैं) पहले माँ का दिल और तिस पर लाडले बेटे का कारण हो तो उस अनोखे प्यार को कौन जान सकता है ? ॥१६६-७०॥ उसको मैं करुणारस की बौछार कहूँ या अद्भुत प्रेम का उदय मानूँ ? मैं तो श्रीकृष्ण की उस कृपादृष्टि का वर्णन करने में असमर्थ हूँ। यह कृपादृष्टि अमृत के साँचे से निकली थी या प्रेमरस पी कर मस्त हो गयी थी, इस के कारण अर्जुन के स्नेह में होश हो कर वह बाहर नहीं आ सकी। उस प्यार के बारे में अगर मैं कुछ कहने लगूँ, तो यह बयान लम्बा हो जाएगा। और फिरभी उस प्रेम का पूरी तरह से वर्णन नहीं हो पाएगा। फिर बात बढ़ाने से क्या फायदा होगा ? जो परमात्मा अपने आपको नाप नहीं सकता, उस को हम कैसे जान सकेंगे ? फिर श्रीकृष्ण के बोलने के रुख से मुझे ऐसा लगा कि वे सहजमें अर्जुन के स्नेह में डूबे हुए थे। इसके पश्चात् वे सँभल कर बोले, हे अर्जुन, मैं जो कुछ कहता हूँ वह सुन लो। ॥१७१-७५॥ जिस तरह तुम जान सकोगे, उसी तरहसे मैं तुम को यह योगमार्ग बता दूँगा। इसको योग क्यों कहते हैं, इससे क्या फल मिलता है और इसके आचरण के कौन अधिकारी हैं यह सब तुम्हें कहूँगा, उस को ध्यान दे कर सुनो। ऐसे बोल कर जो श्रीकृष्ण ने कहा वह अगले अध्याय में है। निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं कि इस अवसर पर जो योग श्रीकृष्ण ने कहा उस का मैं ब्यौरा दूंगा ॥१७६-८०॥

◆ ◆ ◆

॥ छठा अध्याय ॥

तत् पश्चात् संजय ने धृतराष्ट्र से कहा, हे राजन्, अब श्रीकृष्ण ने योग के बारे में जो अभिप्राय व्यक्त किया, वह सुनिये । उन्होंने सहज में अर्जुन को ब्रह्मरस का भोजन कराया और ठीक उसी समय मैं मेहमान बनकर वहाँ जा पहुंचा । यह हमारा कितना सौभाग्य है कि जैसे प्यासे आदमी ने पानी समझ कर मुँह में डाला और वह स्वाद लेने पर अमृत निकला, वैसेही मेरे बारे में भी हुआ । क्योंकि अनायास मुझ को ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हुआ । उस समय धृतराष्ट्र ने कहा, हे संजय, मैंने तो इसके बारे में कुछ नहीं पूछा था । धृतराष्ट्र की यह बात सुन कर संजय ने ताड़ लिया कि इस समय राजा के मन में पुत्रविषयक विचार घूम रहे हैं । ॥१-५ ॥ यह जान कर वह मन में हँस कर बोला, इस बूढ़े का मन पुत्रमोह से कुलबुला उठा है । नहीं तो अबतक श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच का संभाषण बढ़िया हुआ है । लेकिन ऐसा लगता है कि वह उसको नहीं भाया । क्योंकि जो जन्मांध है, वह सबेरा कैसे देख सकता है ? किन्तु यदि मैं यह स्पष्ट कहूँ तो ये रूठ जायेंगे । इस लिये वह मन में घबरा गया, फिर भी वह प्रसन्न था, क्योंकि उस को कृष्णार्जुन का वार्तालाप सुनने का भाग्य प्राप्त हुआ था । उस संभाषण से तृप्त हुआ संजय अब प्रसन्न चित्त से

परंतु बड़े अदब के साथ धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण का अभिप्राय बतायेगा। क्षीरसागर का मंथन करने पर जैसे मनपसंद अमृत मिला, वैसे ही यह छठे अध्याय का प्यारा अवसर हमें प्राप्त हुआ है ॥६-१० ॥ यह अध्याय मानो गीतार्थ का सार, विवेक सागर का परला किनारा, और योगसंपत्ति का खुला खजाना है। जहाँ आदिमाया आराम करती है, वेद मौन रखते हैं और जहाँ से गीतारूपी बेल को सिद्धान्त के अंकुर फूटे हैं वह छठा अध्याय ललित शैली में कहा जाएगा। इसलिये ध्यान दे कर सुनिये। मैं ऐसी शब्दरचना करूंगा कि ये देशी बोल अमृत पर भी बीड़ा उठा कर विजय पायेंगे। ये शब्द इतने कमनीय होंगे कि उन के सामने गाने के कोमल सुर फीके पड़ेंगे और सुगंध भी बुरा लगेगा ॥११-१५ ॥ उन का स्वाद चखने के लिये जिव्हाएँ फूट आयेंगी और इंद्रियाँ आपस में कलह करने लगेंगी। जिव्हा कहेगी कि रस मेरा विषय है, तो नाक उस को सूँघना चाहेगी। और आश्चर्य की बात यह है कि इस काव्यरचना को देख कर आँखें तृप्त होंगी और उन को ऐसा लगेगा कि यह प्रत्यक्ष रूप की खान है। जब शब्दों का पूरा वाक्य बाहर पड़ेगा तब दिल बाहें फैला कर उस को लिपटने दौड़ेगा। इस तरह सब इंद्रियाँ अपने अपने स्वभाव के अनुसार उस बात को गले लगाएंगी। जिस तरह सूरज अकेला ही सब दुनिया को चेतना देता है, वैसेही इन शब्दों की व्यापकता असाधारण है। ॥१६-२० ॥जो उन का अर्थ जानते हैं, उन को उनमें चिंतामणि के गुण दिखाई देंगे। इन शब्दों की थाली में मैंने निष्काम लोगों के लिये मोक्षरस का भोजन परोसा है। इस अवसर पर रोशनी के लिये नित्य नयी आत्मज्योति रखी है। जो इंद्रियों के जाने बिना उसका सेवन करेगा, उस को ही वह मोक्षरस प्राप्त होगा। उस समय आप श्रोताओं को चाहिये कि इंद्रियोंकी सहायता लेते हुए उन का अनुभव करें और शब्दों का ऊपरी छिलका निकाल कर ब्रह्मस्वरूप हो कर इस सुख का आस्वाद लें ॥२१-२५ ॥ ऐसे कोमल दिलसे आप इस का अनुभव करेंगे तो आपका श्रवण यथार्थ होगा। नहीं तो गूँगे ने कहा और बहरे ने सुना ऐसी हालत होगी। किन्तु यह बात रहने दीजिये, क्योंकि आपको यह चेतावनी देने की आवश्यकता नहीं है। आप निष्काम होने के कारण यह बात सुनने के योग्य हैं। जिन्होंने आत्मज्ञान की चाह से संसार और स्वर्ग के सुख निछावर किये हैं, उनके सिवाय अन्य लोग इन शब्दों की मधुरता नहीं जान सकेंगे। जैसे कौए चांद को नहीं पहचानते, वैसे ही साधारण

लोग इस ग्रंथ को नहीं समझ पायेंगे । लेकिन जैसे चांद की किरणें चकोर पंछी का भोजन होती हैं, वैसे ही यह ज्ञानी लोगों के लिये भोजन है । जो अज्ञानी हैं उनके विषय ही अलग हैं, उन के बारे में ज्यादा कहना उचित नहीं ॥२६-३० ॥ किन्तु संयोग से जो बात मैं ने कही, उस के लिये आप सज्जनों से क्षमा चाहता हूँ । इसके आगे श्रीरंग क्या बोले वह मैं कहता हूँ । उन की बातें बुद्धि से जानना कठिन है, इसलिये वे शब्दों में नहीं कही जा सकतीं । किन्तु मैं उन को श्रीगुरु निवृत्तिनाथ की कृपा से जानता हूँ । जो कभी दृश्य नहीं होता, वह आत्मज्ञान से ही मालूम होता है । यदि पारस मणि हाथ में आया, तो लोहे से सोना बनता है, जो किमयागर को भी हासिल नहीं होता । इसी तरह जिस पर गुरु की कृपा हुई उसके लिये असाध्य क्या है? इस लिये मैं कहता हूँ कि मुझ को यह गुरुकृपा पूरी तरह प्राप्त हुई है ॥३१-३५ ॥ उसके बल पर मैं बोलूंगा, अरूप को रूप दूंगा और इंद्रियों से अतींद्रिय बातों का अनुभव कराऊंगा । यश, श्री, औदार्य़, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये छः गुण जिनमें एकत्रित हुए हैं और इसीलिये जिन को भगवान् कहा जाता है और जो विरक्तों के साथी हैं, वे श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले, हे पार्थ, अब सतर्क हो कर सुनो ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा, योगी और संन्यासी भिन्न हैं ऐसा मत समझो । क्योंकि विचार करने पर यह मालूम होता है कि वे दोनों एक ही हैं । इन दो नामों से जो अलगाव का आभास होता है उस को छोड़ दो । क्योंकि ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से दोनों में भेद नहीं है ॥३६-४० ॥ जिस तरह हम एक ही आदमी को अलग अलग नामों से पुकारते हैं, या दो मार्गों से एक ही जगह पर पहुँचते हैं, या भिन्न भिन्न बरतनों में भरा हुआ पानी अभिन्न होता है, उतना ही भेद योग और संन्यास इन दोनों में है ऐसा समझो । यह दुनिया में सब को मालूम है, कि जो कर्म करने पर उस के फल की इच्छा नहीं करता वही योगी है । यह भूमि, पेड़ और बेल पैदा करने पर भी उस पर गर्व या फलाशा नहीं करती, उसी तरह वंशपरंपरा से प्राप्त हुए जातिधर्म जो संयोग से करने पड़ते हैं, ॥४१-४५ ॥उनको वह यथाविधि करता है, और फिर उसके

कर्तृत्व का अहंकार नहीं रखता और वह अपने चित्त को फलाशा का स्पर्श नहीं होने देता। ऐसा जो आदमी है वही संन्यासी है, वही योगी है ऐसा समझ लो। इस के विपरीत जो नित्य और नैमित्तिक कर्म बंधनकारक समझकर तजता है और तुरंत अन्य कर्मों का प्रबंध करता है और जिस तरह कोई एक लेप पोंछ कर दूसरा लगाता है, उसी तरह वह आग्रहवश यों ही उधेड़बुन में पड़ता है। और उस के हिस्से में आई हुई गृहस्थी का बोझ फेंक कर वह संन्यास का भार अपने सिर पर लेता है ॥॥४६-५० ॥ इस लिये जो अग्निहोत्र आदि कर्म करता हुआ धर्म की मर्यादा नहीं छोड़ता, वह अनायास योगसुख अपने में पाता है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२ ॥

यह तुम ध्यान में रखो कि संन्यास और योग की एकवाक्यता का ध्वज सभी शास्त्रों ने फहराया है। क्यों कि जब संकल्प नष्ट हो जाता है, तभी योग का सार प्राप्त होता है, यह बात अनुभव से सिद्ध हो चुकी है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३ ॥

हे पार्थ, इस योगरूपी पहाड़ के शिखर पर जो चढ़ना चाहता है, उस को कर्ममार्ग का पायदान नहीं छोड़ना चाहिए। उसको चाहिये कि पायदान से पहले यमनियम का तल गाँठ कर फिर आसन की पगडण्डी से प्राणायामरूपी कगार पर चढ़ जाये। ॥५१-५५ ॥ बादमें इन्द्रियनिग्रहरूपी ढलान आता है। उस पर बुद्धि के पैर भी फिसल जाते हैं और वहाँ हठयोगी भी अपना प्रण छोड़ देते हैं। किन्तु प्रत्याहार के भिन्न मार्ग से अभ्यास के बल पर धीरे धीरे वैराग्य के नाखून रोपकर उस ढलान पर चढ़ना संभव होता है। इस प्रकार प्राणायाम के पठार पर चित्त स्थिर करने के लिये वह धारणा के मार्ग से चल कर ध्यान की चोटी गाँठता है। फिर यह यात्रा वहीं समाप्त होती है और प्रकृति की वासना मिट जाती है। लक्ष्य और साधना एक हो जाने पर उन दोनों में अलगाव नहीं होता। जिस जगह पर आगे पग रखना बंद होता है, और पिछली पाँवपिटाई याद नहीं रहती, ऐसी समाधि की समतल भूमि पर वह योगी स्थिर हो जाता है ॥५६-६० ॥ इस प्रकार की साधना कर के जो योगी

पूर्ण अवस्था को पहुँच जाता है, उस के पूरे चिन्ह तुम्हें बताता हूँ, सुनो ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४ ॥

फिर उस की इंद्रियों के घर में विषयों की चहलकदमी बंद हो जाती है और वह आत्मज्ञान के भीतर कमरे में लेटा रहता है । इस के कारण संसार के सुखदुःख से उस का जी नहीं मचलता, और यदि विषय आकर टकरा भी गये तो उसको उनकी सुधि नहीं होती । अगर उस की कर्मेंद्रियां कर्म करने को प्रवृत्त हो गईं, तो भी उस के दिल में कर्मफल के लिये जरासी भी इच्छा नहीं होती । जो देहधारण के प्रति जाग्रत हो कर आत्मज्ञान में मग्न रहता है, वही योगारूढ हुआ ऐसा तुम निःसंदेह समझो ॥६१-६५ ॥ उस समय अर्जुन ने कहा, ' हे भगवन्, यह सुन कर मुझे आश्चर्य होता है । उस जन को इतनी योग्यता कौन देता है, यह मुझे बताइये ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५ ॥

तब श्रीकृष्ण हँस कर बोले, " मुझे तुम्हारी इस बात पर आश्चर्य होता है ।ऐसी अद्वैत अवस्थामें कौन किस को क्या दे सकता है ? जब यह जीव अज्ञानवश मोह की शय्या पर सोया होता है, तब वह जन्ममरणों के दुःस्वप्न देखा करता है । जब वह एकाएक जाग्रत होता है, तब उसे निश्चित ज्ञान होता है कि वे सब स्वप्न झूठे थे और उस निद्रामें मैं ही वह सब कुछ बना हुआ था । इसलिये, हे अर्जुन, यह व्यर्थ का देहाभिमान रख कर हम अपना अहित करने को उद्यत होते हैं ॥६६-७० ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६ ॥

फिर यदि विचार करके हम अहंकार त्याग दें, तो हमको अपना ही ब्रह्मरूप जँचता है और इस से हमने ही खुद अपना हित किया ऐसा प्रतीत होता है । जो इस सुशोभित शरीर को आत्मभाव से देखता है, वह चंपाकीड़े की तरह स्वयं अपना बैरी बनता है । कोई अभागा सौभाग्य के समय पर अपनी आँखें मूँद लेता है, या कोई आदमी भ्रमवश मैं खो गया हूँ इस धुन में बैठता है । सही विचार करने पर मालूम होता है कि यह जीव स्वयं ब्रह्म है, लेकिन क्या किया जाये क्योंकि उसको

वैसी बुद्धि नहीं होती। देखो, स्वप्न में शस्त्र के घाव से क्या कोई मर जाता है ? ॥७१-७५ ॥ जब तोता पेड़ पर लटकी हूई नलीपर बैठ जाता है, तब वह नली उस के भार से उलटी फिरने लगती है । उस समय वह डर के मारे नली छोड़ कर उड़ नहीं जाता, बल्कि वह योंही अपनी गर्दन सिकोड़ता है, अपने पाँव के तलुएँ सीने से कस कर लगाता है, और उस नली को चोंच में दृढता से पकड़े रहता है। मैं सचमुच नली में जकड़ा गया हूँ इस भ्रांति से वह फ़न्दे में फँस जाता है और उस के खुले पाँव का तलुआ भी नली में अटक जाता है । फिर यदि उस को आधा काट भी डालें तो वह नली नहीं छोड़ता । इस तरह जो अकारण जकड़ा जाता है, हम कैसे कहें कि उस को किसी दूसरे ने बांधा है ? इसलिये चित्त में संकल्प और विकल्प बढ़ा कर वह अपनाही बैरी बनता है । इस के विपरीत जो बंधन है ही नहीं ऐसा मानता है, वही आत्मज्ञानी है । ॥७६-८० ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः
शोतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥८ ॥

जिस ने अपने चित्त को जीत लिया है, और जिस की वासनाएँ शांत हो चुकी हैं, उसको परमात्मा दूर नहीं है । जैसे सोने में से मिलावट निकाल देने पर वह शुद्ध बनता है, वैसे ही संकल्प नष्ट हो जाने पर जीवात्मा ब्रह्मरूप हो जाता है । जिस तरह घट का नाश होने पर उस में जो अवकाश है, उस को आकाश से मिलने के लिये कहीं जाना नहीं पड़ता, उसी तरह अहंकार नष्ट हो जाने पर जीव आरंभ से ही परमात्मा है । फिर उस के मन में सरदी या गरमी, सुख या दुःख, मान या अपमान ऐसे विचार पैदा नहीं होते ॥८१-८५ ॥ अरे, जिन मार्गों से सूरज जाता है, वे सब मार्ग रौशन होते हैं । उसी तरह जो भी चीज़ उस आदमी को प्राप्त होती है, वह उस को आत्मरूप दिखाई देती है । देखो, जैसे बादल से गिरी हुई वर्षा की धाराएँ समुद्र को नहीं चुभती, वैसे ही शुभ और अशुभ कर्म योगी को भिन्न नहीं लगते । फिर जब वह प्रपंच पर गौर करता है, तब उस को मालूम होता है कि प्रपंच मिथ्या है । और जब वह ज्ञान की खोज लेता है, तब मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसा अनुभव करता है । फिर जब

वह छानबीन करता है कि मैं व्यापक हूं, या स्थान और समय से सीमित हूं, तो उस के सब प्रयास जहाँ के तहाँ थम जाते हैं। क्योंकि उस के मन में द्वैतभाव नहीं होता। इस तरह जिस ने देह में रहते हुए भी इंद्रियों पर विजय पायी है, वह सहज में परब्रह्मकी योग्यता को पहुँच गया है। ॥८५-९० ॥ और जिस के चित्त को छोटा बड़ा ऐसा भेद नहीं छूता, उस को जितेंद्रिय कहते हैं। हे अर्जुन, वह शुद्ध सोने के पहाड़ को और मिट्टी के ढेले को समान मानता है, और पृथ्वी से ही ज्यादा बहुमूल्य और सुंदर रत्न को पत्थर के समान मान कर उस की अभिलाषा नहीं करता ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९ ॥

फिर उस के मन में साथी और दुश्मन, उदासीन और मित्र ऐसे, विचित्र विचार कैसे आयेंगे ? मैं ही विश्व हूँ यह ज्ञान प्राप्त होने पर कौन किस का भाई और कौन किस का बैरी ? ॥९१-९५ ॥हे अर्जुन, उसकी दृष्टि में यह छोटा, वह बड़ा यह कैसे हो सकता है ? अरे, पारसमणि के स्पर्श से लोहे की अलग अलग कसौटी कैसी हो सकती है ? जिस तरह उस पारसमणि के स्पर्श से लोहे का शुद्ध सोना बनता है, उसी तरह वह सब चराचर जगत को समान अनुभव करता है। ये विश्वरूप की चीजें भिन्न भिन्न रूप की होती हैं, फिर भी वे केवल परब्रह्मरूपी सुवर्ण की बनी हुई हैं। इस प्रकार का शुद्ध ज्ञान जिस को हुआ है, वह इस दुनिया के ऊपरी रंगेबिरंगे रूपों से धोखा नहीं खाता। अगर कोई वस्त्र को सूक्ष्म दृष्टि से देखता है, तो उसको मालूम होता है कि वह वस्त्र धागे का बुना हुआ है। उसी तरह इस लोक में उसको ब्रह्म के सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता ॥९६-१०० ॥ जिसने निश्चित रूपसे यह अनुभव किया है कि यह विश्व ब्रह्ममय है, वही समबुद्धि होता है। समबुद्धि होना इससे भिन्न नहीं है, ऐसे समझो। जिस के दर्शन से हमारे मन में पूज्यभाव पैदा होता है, उस को तीर्थराज कहते हैं। जिस के साथ रहनेसे ब्रह्मभाव प्राप्त होता है, जिस के संभाषणसे धर्म का पुनरुत्थान होता है, जिस की दृष्टि महासिद्धियों को जन्म देती है, और जिस की लीलाएँ स्वर्ग के सुख जैसा सुख प्रदान करती हैं, उसके स्मरण से ही आदमी उस के समान हो जाता है। इतना ही नहीं उसका गुणगान करने से उस गुणगायक का हित होता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१० ॥

जिस के हृदय में कभी अस्त न होनेवाला अद्वैत का सूर्य उदय हो चुका है, वह योगी आत्मस्वरूप में लगातार मग्न रहता है ॥१०१-०५ ॥ हे अर्जुन, इस दृष्टि से जो विचार करता है, वह अद्वितीय है और तीनों लोकों में संगरहित है। (श्री ज्ञानदेव कहते है) इस प्रकार भगवान ने ज्ञान-संपन्न लोगों को अपने से ज्यादा सम्मान देकर उन के लक्षण बताये। जो ज्ञानियों का गुरु प्रत्युत उनकी आँखों का प्रकाश है, जिस समर्थ के संकल्प से इस विश्व की रचना हुई है, जिस के यश को चारों ओर लपेटने के लिये ओंकार के हाट में बुना हुआ वेदरूप वस्त्र अपर्याप्त ठहरा, जिस के तन के तेजसे चांद और सूरज अपने व्यापार करते रहते हैं, ॥१०६-११० ॥उन श्रीकृष्ण के सहारे के बिना यह दुनिया कैसे निर्वाह कर सकती है ? भगवान ने सोचा कि अगर मैं, जिस से द्वैतभाव नष्ट हो जाता है, वह ब्रह्मविद्या इस को प्रकट करूं, तो प्यारा अर्जुन इस विचार में जो आनंद है वह तो नहीं बिगड़ जायेगा ? इस लिये भगवान ने साफ साफ न कह कर थोडासा पर्दा रखा और परस्पर प्यार का अनुभव लेने के लिये अर्जुन का मन अलग रखा। उन्हों ने सोचा कि जो सोहंभाव के पास पहुँच कर मोक्ष सुख के लिये तरस रहे हैं उनकी दृष्टि इस प्रेम को न लगे ॥१११-१५ ॥ शायद मेरा उपदेश सुन कर अर्जुन मुझ से एकरूप हो जाय, तो मैं अकेला क्या करूँगा ? फिर जिसको देखने से दृष्टि शीतल हो जाती है, जिससे मुँह खोल कर बातें कर सकूं, जिसको दृढता से गले लगाऊँ, वह कौन शेष रहेगा ? अगर हम एकरूप हो जायें, तो चित्त में न समानेवाली गुप्त बातें किससे कहूँगा ? इस प्रकार व्याकुल हो कर भगवान् ने ज्ञानियों का बयान करने के बहाने दो मन का मेल नहीं होने दिया। मेरा यह बयान शायद आप को विचित्र लगेगा, किन्तु आप जान लीजिये कि अर्जुन भगवान् के स्नेह की ढली हुई प्रतिमा था। ॥११६-२० ॥ जैसे किसी बाँझ स्त्री को बुढ़ापे में बच्चा पैदा हुआ, तो वह प्यार की गुड़िया उसके इर्दगीर्द नाचने लगती है, वैसी ही श्रीकृष्ण की अवस्था हुई। यदि मेरी दृष्टि में उनका अर्जुन के प्रति प्यार नहीं होता, तो मैं यह नहीं कहता। कैसी आश्चर्य की बात है ? कितना अद्भुत चमत्कार है ? क्या तो वह युद्ध का समय और क्या यह उपदेश ! यहाँ तो प्यार का पुतला नाचने लगा है। जो लज्जा पैदा करता है वह

प्यार कैसा, जो थकावट लाता है वह शौक कैसा, और जो भुलाता नहीं वह पागलपन कैसा ? सारांश, कि अर्जुन मानो भगवान की मैत्री का स्थान या उसके सुख से खिले हुए अंतरंग का दर्पण था ॥१२१-२५ ॥ इस प्रकार अपने पुण्य कर्म से पवित्र होकर अर्जुन भक्ति का बीज बोनेके लिये उपजाऊ खेत बना । और इसी के कारण श्रीकृष्ण की कृपा के योग्य बना । नवविधा भक्ति में आत्मनिवेदन के पहले जो मित्रता की भक्ति है, अर्जुन उसका देवता था । स्वामी पास खड़े होने पर भी उस की प्रशंसा न करते हुए कोई उस के सेवक के गुण गाये और वह स्तुति उसको भाये, इतना अर्जुन भगवान् का प्यारा था । देखिये, जो साध्वी बडे प्रेम से अपने पति की सेवा करती है, और उस को मान्य होती है, क्या वह भी पति से ज्यादा प्रशंसा की पात्र नहीं होती ? इस लिये मुझे भाया कि अर्जुन का विशेष यशोगान करूँ, क्योंकि उस को त्रिभुवन जैसा बड़ा सौभाग्य प्राप्त हुवा था ॥१२६-३० ॥ इस अर्जुन के प्यार के कारण उस निराकार परमात्मा को साकार बनना पड़ा और पूर्णकाम होनेपर उनके मन में उत्कंठा पैदा हुई । उस समय श्रोताओं ने कहा, कैसा यह हमारा सौभाग्य है ? इन शब्दों में कितनी विलक्षण शोभा है ? मानो उन्होने सप्त सुरों पर भी मात की है । अरे, क्या देशी भाषा भी इतनी मोहक हो सकती है ? यदि इस भाषा में बात करनी हो तो ऐसाही बोलना चाहिये । मानो हृदयाकाश में साहित्य के रंग खुल गये हैं । इन शब्दोंमें ज्ञान की चाँदनी कैसी उजली छिटकी है ! तिस पर भी भावार्थ की शीतलता मिलने से श्लोकों के अर्थों के कमल खिले हुए हैं । इन बातों से निरीह श्रोताओं की सुनने के लिये इतनी उत्कंठा बढ़ गयी कि वे प्रसन्न हो कर डोलने लगे ॥१३१-३५ ॥ श्रोताओं की यह उत्सुकता जान कर निवृत्तिदास ज्ञानदेवने कहा, सज्जनो, अब ध्यान से सुनिये । यह कृष्णरूपी सबेरा पांडव के ही कुल में हुआ । नहीं तो श्रीकृष्ण को देवकी ने कोंख में पाला, यशोदा ने कष्ट झेलकर उस का पालनपोषण किया, किन्तु वह अंत में पांडवों के काम में आया । उसके लिये अर्जुन को श्रीकृष्ण की बहुत काल सेवा करनी पड़ी या अवसर पाने पर उनकी मिन्नतें करनी पड़ीं, ऐसी भी कोई बात नहीं थी । इतने कष्ट भी उस भाग्यवान् को नहीं उठाने पड़े । तब श्रोताओं ने कहा, अब यह बात छोड़ दो और अगली कथा शीघ्र सुनाओ । फिर अर्जुन जरा लगाव के साथ बोला, हे भगवन्, ये संतों के लक्षण मुझ में नहीं हैं । यों मैं इन का मर्म जानने के लिये अयोग्य और

असमर्थ हूँ। किन्तु यदि आप के संभाषण से वह योग्यता मुझ में आयी तो अच्छा होगा। ॥१३६-४० ॥ अगर आपने मन में ठाना तो मैं ब्रह्मरूप हो भी जाऊंगा। आप जो कुछ कहेंगे उस का मैं आचरण करूंगा। आपने जिस व्यक्ति का बयान किया, उसको मैं अच्छी तरह न समझ सका। तो भी आप की बात सुन कर मुझे उसकी प्रशंसा जँचने लगी। फिर यदि मैं वैसा हो जाऊं तो मेरे संतोष का पारावार नहीं रहेगा। सो, हे प्रभो, क्या आप ऐसा करेंगे कि वह योग्यता मुझ में आ जाये ? इस पर श्रीकृष्ण हँस कर बोले कि जैसे तुम्हारी इच्छा है वैसा ही करूंगा। देखो, जब तक मन को समाधान नहीं होता, तब तक सुख कम प्रतीत होता है। फिर संतोष की प्राप्ति होने पर वह न्यूनता कैसे महसूस होगी ? योंही जो ईश्वर का दास है वह सहज में ब्रह्मरूप हो सकता है। अब देखिये कि अर्जुन के भाग्य का सितारा कैसे चमक रहा है ? ॥१४१-४५ ॥ जिन को इंद्र आदि देव हजारों जन्म लेने पर भी न पा सके, वे अर्जुन के इतने अधीन हुए कि वे अर्जुन की बात काट नहीं सके। अब आगे सुनिये। जब अर्जुन ने कहा कि मैं ब्रह्मरूप होना चाहता हूँ, तो उसकी बात भगवान् ने चुपचाप सुन ली। उस समय श्रीकृष्ण के मन में यह विचार आया कि चूंकि इसमें ब्रह्मरूप होने की इच्छा पैदा हुई है, तो इसकी बुद्धि में वैराग्य बढ़ रहा होगा। यद्यपि उसका वैराग्य अभी तीव्र नहीं है, तो भी उसके वैराग्यरूपी वसंत को बहार आई है और उसको सोहंभाव का मौर फूट पड़ा है।

अब श्रीकृष्ण को भरोसा हुआ कि उस को ब्रह्मप्राप्ति का फल पाने के लिये देर नहीं लगेगी, इतना वह विरक्त हो चुका है ॥१४६-५० ॥ उन्होने मन में कहा, अब यह जो कुछ करना चाहेगा, उस का फल वह तुरंत पायेगा। इसलिये अब इस को योग का उपदेश करूं तो वह व्यर्थ नहीं होगा। यह सोच कर उस समय श्रीकृष्ण बोले, अब मैं तुम से वह योग कहूँगा, जो पंथराज है, उसको ध्यान से सुनो। इस पथ पर प्रवृत्तिरूपी पेड़ की जड़ में निवृत्तिरूपी बहुत कंद लगे हैं। श्रीशंकर अब भी इस पथ के यात्री है। कई लोग पहले हृदयाकाश में आड़े मार्ग से जाने लगे, किन्तु उस के अनुभव से सज्ञान होकर वे इसी राहपर आये। फिर अज्ञान की पगडण्डी को छोड़कर उन्होंने आत्मज्ञानके सीधे मार्ग पर चटपट पाँव रखे ॥१५१-५५ ॥ उन के पीछे कई महर्षि भी इस मार्ग से जाकर सिद्ध हो गये और आत्मज्ञानी

होकर ऊंचे पद पर पहुँच गये । यह योग प्राप्त होने पर उनकी भूखप्यास मिट जाती है और कब दिन बीत गया और कब रात हुई इसकी उनको सुधि भी नहीं होती । इस यात्रा में वे जहाँ जहाँ पाँव रखते हैं वहाँ वहाँ मोक्षकी खान खुल जाती है । और यदि वे संयोग से आड़े मार्ग से चलने लगते हैं तो वे स्वर्गसुख पाते हैं । यदि वे प्रवृत्ति पथ से चलें तो भी वे निवृत्ति के पथ पर आकर इस मार्ग से चलने लगते हैं । इस मार्ग से वे जिस धाम को पहुँचते हैं वही आप बन कर रहते हैं । यह मैं तुमसे कैसे कहूँ ? वह तो तुम अपने आप समझ पावोगे ॥१५६-६० ॥ तब अर्जुन ने पूछा, आप यह योग मार्ग मुझे कब बतायेंगे ? क्योंकि मैं उत्कंठा के सागर में गोते खा रहा हूँ । आप क्या मुझे वहाँ से बाहर नहीं निकालेंगे ? तब श्रीकृष्णने जवाब दिया, तुम इतने उतावले क्यों होते हो ? मैं खुद तुम को बताने ही वाला था, उसके पहलेही तुमने यह सवाल कर दिया ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११ ॥

खैर, अब मैं यह योग विस्तार से कहूंगा । किन्तु इस का अभ्यास करने से ही यह योग सफल होता है । पहले योगाभ्यास के लिये योग्य जगह ढूँढ लेनी चाहिये । वह जगह ऐसी हो कि वहाँ बैठने पर चित्त को समाधान हो और उस को देखते ही वहाँ से हटने को जी न करे और वैराग्य दुगुना हो । यदि उस स्थान में पहले संतों ने वास किया हो तो संतोष बढ़ कर चित्त को उमंग और धैर्य मिलेगा ॥१६१-६५ ॥ वह जगह इतनी रम्य हो कि वहाँ योगाभ्यास अनायास हो कर चित्त आत्मानंद का अनुभव करे । हे पार्थ, अगर कोई नास्तिक उस स्थल के पास पहुँचे, तो वह भी वहाँ तप करने के लिये आकर्षित हो । यदि कोई आदमी किसी उद्देश से वहाँ एकाएक पहुँच गया तो वहाँ से लौट जाना भूल जाये । वह स्थल ऐसा हो कि जो वहाँ रहना नहीं चाहता हो उस को भी रहने के लिये विवश करे, जो घुमक्कड है उस को रोककर उस के चित्तमें वैराग्य पैदा करे । और यदि कोई विषयासक्त राजा उस स्थल को देखे तो राज्य छोड़ कर वहाँ एकांतवास में रहना पसंद करे ॥१६६-७० ॥ इस तरह वह स्थल इतना रम्य और शुद्ध हो कि उसकी पवित्रता दृष्टिगोचर हो । एक और बात ध्यान में रखनी चाहिये कि वहाँ केवल

साधकों की बस्ती हो और साधारण लोगों की जमघट न हो । उस जगह पर अमृततुल्य मधुर कंद और फलसे लदी हुई घनी झाड़ियां हों । बरसात के अलावा अन्य मौसम में भी पग पग पर वहाँ पानी हो, प्राय: स्वाभाविक और सुगम झरने हों । वहाँ की धूप नरम हो और शीतल और मंद हवा बहती रही हो ॥१७१-७५ ॥ वह जगह शांत होकर वहाँ जंगली जानवरों की भीड़ न हो, किन्तु तोते और भ्रमर भी थोड़े हों । अगर वहाँ कुछ बतखे, हंस और दो या तीन चकवे पक्षी हों तो कोई आपत्ति नहीं । साथ ही साथ कुछ समय पर कोयल भी आ जाये तो भी चलेगा । इसी तरह ही हमेशा के लिये नहीं किन्तु कभी कभी यदि कोई मोर भी आ जाये तो हम ना नहीं कहेंगे । हे अर्जुन, योगी इस प्रकार का स्थान देखे कि जहाँ गुप्त गुहा या शिवजी का मंदिर भी हो ।

इन दोनों में से जो कुछ पसंद हो, वह चुन कर वहाँ ज्यादा समय एकांत में बैठे ॥१७६-८० ॥ ऐसे, पहले स्थल जांच कर देखना चाहिये कि वहाँ चित्त स्थिर होता है या नहीं । और यदि वहाँ चित्त स्थिर होता है तो वहां आसन जमाये । ऊपर कृष्णाजिन, नीचे साफ़ कपड़ा और उस के नीचे नुकीले कुशों का आसन रखे । वे कुश मुलायम और एक सरीखे होने चाहिये और उनको ऐसा गूँथना चाहिये कि वे अपने आप एकत्रित रहें । यदि वह आसन ऊँचा हो तो शरीर डाँवाडोल होगा और यदि वह नीचा हो तो (सरदी, चींटियाँ आदि) धरती के दोषों से कष्ट होंगे । इस लिये आसन ऊँचा नीचा न रखते हुए बराबर रखे ॥१८१-८५ ॥

तत्रैकाग्रं मन: कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय: ।
उपविश्यासने युञ्जाद् योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

फिर वहाँ साधक चित्त एकाग्र करके सद्गुरु का स्मरण करे । सद्गुरु का स्मरण करने से अहंकार की कठोरता नष्ट हो जाती है । उस के बाद चित्त बाहर और भीतर सात्त्विक वृत्तियोंसे भर जाता है, विषयों का विस्मरण होता है, इंद्रियों का उद्वेग शांत हो जाता है और हृदयमें चित्त सिमट आता है । इस तरह चित्त हृदय से एकरूप हो जाने तक उस स्थान में वास करे और उस का अनुभव आनेपर आसन जमाये । फिर बदन सँभाल कर प्राण और अपान वायु का निग्रह करे । इससे अनुभव दृढ

हो जाता है ॥१८६-९० ॥ इस अवस्था में प्रवृत्ति बल पाती है, चित्त समाधि में जाता है और बैठतेही तुरंत योगाभ्यास सिद्ध होता है । अब योगमुद्रा में जो बढ़िया मुद्रा है उस मूलबंध का मैं वर्णन करूंगा वह सुनो । पहले पिंडलियाँ जंघाओं को जोड़ कर बैठ जाये । फिर एक पाँव पर दूसरा पाँव टेढा रख कर गुदा के नीचे बायें पाँव की एड़ी दृढता से लगाये । फिर दाहिनी एड़ी नीचे रखकर उस से सीवन का बीचवाला भाग ऐसे दबाये कि वह बायीं एड़ी पर ठीक जमकर स्थिर हो । गुदा और शिश्न में जो चार ऊँगल जगह होती है, उस में ड़ेढ़ ड़ेढ़ ऊँगलियां आगे पीछे छोड़ कर ॥१९१-९५ ॥ बीच में जो एक ऊँगली भर जगह बचती है, उस को एड़ी के ऊपर के भाग से दबाये । फिर बदन को तौल कर स्थिर रखे और रीढ़ के नीचे का भाग इस तरह उठाये कि शरीर ऊपर उठा कि नहीं यह मालूम न पड़े । फिर सारा शरीर पाँव के गट्ठेपर अपने आप स्थिर हो जाता है । हे अर्जुन, यह मूलबंध आसन का लक्षण है । इसको वज्रासन यह घटिया नाम भी है । मूलबंध सिद्ध हो जाने पर अपान वायु का नीचे का मार्ग बंद हो कर वह अंदर पीछे हटने लगता है ॥१९६-२०० ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३ ॥

इसके बाद दोनों हाथों के पंजे सहज में बायें पाँव पर रखे ताकि कंधे ऊपर उठे हुए दिखाई दें । फिर भुजाएँ तनी होने के कारण उन में शीश गड़ा हुआसा दिखता है और आँखों की पलकें सकुचा जाती हैं । ऊपर की पलकें गिरती नहीं और नीचे की पलकें फैलती हैं, इस लिये नयन अधखिले हो जाते हैं । इस प्रकार दृष्टि भीतर ही भीतर रह कर अगर कुतूहल से बाहर झाँके भी तो वह नाक के सिरे पर रुक जाती है । इस तरह वह अधखिली दृष्टि बाहर न जाकर नाक के सिरे पर स्थिर हो जाती है । ॥२०१-२०५ ॥इस लिये दिशाएँ निरखने किंवा रूप देखने की इच्छा अपने आप नष्ट हो जाती है । फिर गला सिकुड़ कर ठोढ़ी नीचे गढ़े में चिपक कर सीने पर दृढता से दबोच लेना चाहिये । हे अर्जुन, पश्चात् उसका कंठमणि (टेंटुआ) देखने में नहीं आता । इस तरह से जो मुद्रा बनती है, उसको जालंधर बंध कहते हैं । फिर तोंद ऊपर ऊठती है, पेट सपाट हो जाता है और हृदयकमल अंदर

खिल जाता है । हे अर्जुन, गुदा के ऊपर और तोंद के नीचे जो मुद्रा बनती है, उसको ओढियाणा बंध कहते हैं ॥२०६-१० ॥ इस तरह शरीर का आश्रय लेकर योगाभ्यास शुरू करे तो चित्त के धर्म (वासनाएं आदि) दुर्बल हो जाते हैं ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४ ॥

फिर मन के संकल्प नष्ट हो जाते हैं, प्रवृत्ति शांत होती है और मनोविकार अपने आप अनायास बंद होते हैं । तब क्षुधा क्या हो गयी, नींद कहाँ चली गयी इसकी उस को थोड़ी भी सुधि नहीं रहती । तब मूलबंध से रोकी हुई अपानवायु पीछे हटकर ऊपर बढ़ने लगती है । फिर वह उमड़ कर मत्त हो जाती है, जहाँ वह रुक गयी है वहाँ गुर्राती रहती है, और रह रह कर मणिपूर चक्र को धक्के देती है ॥२११-१५ ॥ इस तरह उठी हुई यह आंधी चारों ओर से पेट को औंटाकर बचपन से जमा हुआ मल बाहर निकाल देती है । फिर यह वायु तल में न सिकुड़ कर पेट में पैठ जाती है और वहाँ कफ और पित्त का नाश करती है । फिर वह सप्त धातुओं के स्थान औंधा करती है, मेद का पर्वत चकना चूर करती है और हड्ड़ियों से मज्जा बाहर निकाल देती है । बाद में वह नाड़ियाँ खोल देती है, शरीर शिथिल करती है और साधक को डरा देती है, किन्तु साधक को डरना नहीं चाहिये । यह अपान वायु पहले साधक को बीमार बनाकर शीघ्र उस को स्वस्थ करती है । शरीर में जो (कफ, पित्त आदि) जल के अंश और (मांस, मज्जा आदि) पृथ्वी के अंश हैं उनको मिला कर एकत्रित करती है ॥२१६-२० ॥ बीच में, हे अर्जुन, आसन की गरमी से कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है । मूलबंध में नन्हीसी कुंडलिनी साढ़े तीन घेरे की कुंडली बनाकर नीचे की तरफ मुँह छिपा कर सोयी होती है, मानो कुंकुम से पोती हुई नागिन की बच्ची कुंडल बना कर बैठी हो । जैसे कोई विद्युत् का कंगन, अग्नि की सीमटी हुई ज्वाला, या शुद्ध सोने की छड़ी हो, वैसी नाभिस्कंध में योंही जम कर बैठी हुई कुंडलिनी मूलबंध की नोच पा कर जाग्रत होती है ॥२२१-२५ ॥ और तब लगता है मानो कोई नक्षत्र टूट पड़ा हो, या सूरज का आसन ढला हो या तेज का बीज निकल आया हो । वह कुंडलिनी अपने घेरे खोल कर कुतूहल से सुस्ती छोड़कर नाभि में खड़ी हो जाती है । पहले बहुत दिनों से भूखी थी । फिर

जाग्रत होने का निमित्त हुआ, इस लिये वह बड़े जोश से अपना मुँह खोल कर उसे ऊपर उठाती है। उस समय, हे अर्जुन, हृदयकमल के नीचे जो वायु भरी हुई थी उस से वह लिपट जाती है और अपने मुँह की ज्वाला से ऊपर के और नीचे के मांस के कौर निगल लेती है ॥२२६-३० ॥ जहाँ जहाँ मांस हो वह उस को सहज हड़प जाती है, और बाद में सीने के भी एक दो कौर खाती है। फिर हाथपाँव के तलुएँ खोज कर उन के ऊपर के भागों का भेद करती है और हर एक अंग और गाँठ की तलाशी लेती है। फिर अपना मूल स्थान न छोड़ती हुई नाखुनों का सत्त्व निकालती है और त्वचा साफ कर के हड्डियों के ढांचे को भिड़ती है। बाद में हड्डियों की नलियाँ साफ कर के नसों की नालियाँ खुरच देती है। इस वजह से बाहर के बालों की जड़ें घट जाती हैं। फिर वह सप्त धातुओं के समुद्र में अपनी प्यास बुझाती है और उस के साथ साथ बदन पूरी तरह सुखाती है ॥२३१-३५ ॥ नथुनों से जो प्राणवायु बारह अंगुलियाँ तक बहता है उस को अंदर और अंदर के अपान वायु को ऊपर खींचती है। जब वे दोनों मिल जाते हैं, तब चक्र के केवल पर्दे शेष रहते हैं। ये दोनों वायु उस समय ही परस्पर मिलजुल जाते, किन्तु उस वक्त कुंडलिनी क्षणमात्र बैचेन हो कर उन को डांटती है कि 'तुम्हारा यहाँ क्या काम है ? यहाँ से हट जाओ'। हे अर्जुन, यह कुंडलिनी शरीर का पृथ्वी का अंश हड़प करती है और पानी का अंश भी पीकर सफाचट करती है। इस प्रकार वह दोनों महाभूतों के अंश खाकर तृप्त हो कर सुषुम्ना नाड़ी के पास पहुँचती है ॥२३६-४० ॥ उस तृप्ति के जोश में वह जो लार टपकाती है, उस का अमृत बनता है और वह शरीर की रक्षा करता है। उस समय शरीर में पैदा हुई अग्नि बाहर हो कर उससे शरीर बाहर और भीतर शीतल हो जाता है। और उस में फिर से शक्ति आ जाती है। फिर नाड़ियों का बहना बंद होता है और नवविध वायु के व्यापार धीमे हो जाते हैं। इससे शरीर के धर्म नष्ट हो जाते हैं। इड़ा और पिंगला दोनों नाडियाँ एक होती हैं, तीनों चक्रों की अंटियाँ और उन के छः पर्दे खुल जाते हैं। फिर नथुनों से बहनेवाली वायु, जिनकी सूर्य और चंद्र ऐसी संज्ञाएँ हैं, वे दीपक की रोशनी में भी दिखाई नहीं देती ॥२४१-४५ ॥ उस समय बुद्धि की कली मिट जाती है और नाक में बची हुई सुगंध कुंडलिनी के साथ मध्यमा नाड़ी में प्रवेश करती है।

पीछे चंद्रामृत की तलैया जो ऊपर होती है वह आहिस्ता झुक जाती है और उस में का अमृत कुंडलिनी के मुँह में गिर पड़ता है। उस समय अमृत कुंडलिनी के अंगों में भर कर खेलता है, और प्राणवायु के संयोग से जहाँ का तहाँ भिद जाता है। मोम तपी हुई घरिया में डालने पर, जैसी वह उसके रस से भर जाती है, वैसीही शरीर में चंद्रमा की कांति फैल जाती है, लेकिन वह त्वचा से ढकी रहती है ॥२४६-५० ॥ जिस तरह बादलों की आड़में गया हुआ सूरज उन के हट जाने पर अपने तेज से चमक उठता है, उसी तरह शरीर पर जो त्वचा का पटल है, वह भूसी की तरह उड़ जाता है। फिर जैसा स्फटिक का मूल रूप हो, या रत्न का बीज बोनेपर वह अंकुरित हो, वैसी शरीर की कांति चमक उठती है। नहीं तो ऐसा लगता है कि संध्याप्रकाश की लालिमा ले कर मानो वह शरीर कुंकुम से सराबोर है, चैतन्यरस से ढला हुआ है, या शांतरस प्रत्यक्ष साकार बन कर आया है। ॥२५१-५५ ॥ मानो वह शरीर विविध रंगों से सजा हुआ आनंद का चित्र, महान् आत्मसुख का स्वरूप या संतोष का बढ़ा हुआ पौधा है। और वह चंपा की बडी कली, अमृत का पुतला या कोमलता का खिला हुआ बगीचा है ऐसा लगता है। शरदऋतु की ओल से चंद्रबिंब जैसा उजला होता है, या प्रत्यक्ष तेज आसन लगा कर बैठा है, उसी तरह कुंडलिनी चंद्रामृत पी जाने पर उस का शरीर देखने में सुंदर लगता है। फिर उस शरीर से मृत्यु भी डरता है। तब बुढ़ापा हट जाता है, जवानी का जोश पीछे मोड़ लेता है और बीता हुआ बचपन लौट आता है ॥२५६-६० ॥ फिर वह उम्र में बालक सा दिखता है, किन्तु वह अतीव समर्थ और धैर्यवान होता है। तब उस के नये चमकते हुए नाखून होते हैं, जो सुवर्णवृक्ष के कोंपल में उगी हुई रत्नों की नयी कलियों के समान लगते हैं।उस के दांत भी दूसरे निकल आते हैं, किन्तु वे इतने छोटे होते हैं मानों दोनों तरफ मोतियों की पंक्तियाँ लगी हुई हैं। सभी शरीर पर सहज में जो रोम उठे हैं वे मानिक के समान और हाथपाँव के तलुए भी लाल कमल जैसे दिखाई देते हैं और आँखें इतनी स्वच्छ होती हैं कि क्या कहें? ॥२६१-६५ ॥ जिस तरह फूले हुए मोती घोंघे में नहीं समाते, उस तरह उस की दृष्टि पलकों में न समाती हुई बाहर जाने लगती है और अधखिली होकर गगन में फैली रहती है।हे अर्जुन, सुनो।उस का देह सुवर्ण के समान कांतिमान होने पर भी वायु जैसा हलका होता है, क्योंकि अब उसमें पृथ्वी और जल के अंश नहीं होते।

फिर वह योगी समुद्र के परे जो चीजें हैं उन को देख सकता है, स्वर्ग के मनसूबे जानता है, और चींटियों की मंशा पहचानता है। वह वायु पर सवार हो सकता है और जब वह पानी पर चलता है तब उसके पाँव गीले नहीं होते। इस प्रकार उस को संयोग से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ॥२६६-७०॥ बाद में वह कुंडलिनी प्राणवायु का आसरा लेकर हृदयाकाश की देहरी लाँघकर मध्यमा नाड़ी के सीड़ीसे हृदयतक पँहुच जाती है। मानो कि वह कुंडलिनी जीवात्मा को शोभा देनेवाली साक्षात् जगदंबा है। वह विश्व का सार जो जीव है उस की परछाईं सी है। वह निराकार ब्रह्म की प्रतिमा, परमेश्वर का कोश और ओंकार की जन्मभूमि है। जब वह कुंडलिनी हृदय में प्रवेश करती है तो अनाहत की ध्वनि सुनाई देती है ॥२७१-७५॥ उस शक्ति के पास होने के कारण बुद्धि उस की भनक पाती है। उस ध्वनि की कुण्डी में ओंकार के समान खींचे हुए नादचित्र प्रकट होते हैं। यह सब कल्पनाशक्ति से जानना पड़ता है, परंतु वहाँ कल्पना करनेवाला (मन) कहाँसे लाये ? सच में, वहाँ कैसी ध्वनि आती हैं यह मालूम नहीं होता। लेकिन हे अर्जुन, मैं तुम्हें एक बात बताना भूल गया। क्योंकि जब तक प्राण आदि वायु नष्ट नहीं होते, तब तक हृदयाकाश में यह ध्वनि गूँजती रहती है। उस अनाहत का मेघनाद हृदयाकाश में गरजता रहता है और फिर ब्रह्मरंध्र का द्वार खुल जाता है। कमल की पोल के समान एक दूसरा महदाकाश है, जहाँ चैतन्य आधार के बिना वास करता है ॥२७६-८०॥ उस महदाकाश के ऊपर के खाने में (ब्रह्मरंध्र) में कुंडलिनी भगवती ब्रह्म को अपने तेज का भोजन और बुद्धिरूपी भाजी का भोग दे कर द्वैत का आभास भी नष्ट करा देती है। उस समय वह अपना तेजरूप छोड़कर वायुरूप बन कर रहती है। अब तुम पूछोगे कि उस समय वह कैसी होती है, तो सुनो। तब वह वायु की पुतली जो रेशम की पीली साडी पहनी थी उसको उतार कर अलग रख देती है। जिस तरह हवा में दीपक बुझ जाता है, या विद्युत् आसमान में चमक कर अदृश्य हो जाती है, ॥२८१-८५॥ उसी तरह वह कुंडलिनी हृदयकमल में पहुँचतेही सोने के तार या बहते हुए तेजरूप सोते जैसी दिखाई देती है। फिर वह हृदयाकाश की पोल में एकाएक सन जाती है और उस का रूप नष्ट हो कर वह शक्ति में लीन हो जाती है। इस अवस्था में उस को शक्ति कहना ही उचित होगा, किन्तु अब वह वायुरूप हो चुकी होती है। क्योंकि उस समय नाद, बिंदु और कला

नहीं होते, इस लिये मन पर विजय पाना, वायु का निरोध करना या ध्यान करना शेष नहीं रहता। उस वक्त संकल्प करना या तजना ऐसे प्रकार बंद हो जाते हैं। इस लिये तुम समझो की यह कुंडलिनी पाँच महाभूतों को औटाने की घरिया है ॥२८६-९० ॥ (ज्ञानदेव कहते है) पिंड से पिंड का ग्रास यही आदिनाथ संप्रद्राय का सिद्धान्त है। इस का श्रीकृष्ण ने यहां केवल संकेत मात्र किया है। श्रीकृष्ण के इस संकेत की गठरी खोल कर और आप श्रोताओं को ग्राहक समझ कर यह भावार्थरूपी वस्त्र के थान आप के सामने मैंने खोल दिये हैं।

युञ्जन्नैवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५ ॥

जब शक्ति का तेज नष्ट हो जाता है तब शरीर का रूप भी लुप्त होता है। फिर वह योगी लोगों को दिखाई नहीं देता। यों उस का शरीर पहले जैसा अवयव सहित रहता है, किन्तु वह अब वायुरूप हो चुका होता है। अब वह ऐसा लगता है मानो ऊपरी छाल निकल जाने पर केले के पेड़ का गूदा खड़ा हुआ है या आसमान को अवयव उग आये हैं। ॥२९१-९५ ॥शरीर इस तरह हो जाने पर उस को खेचर याने आसमान में भ्रमण करनेवाला कहते हैं। योग्यता प्राप्त करने पर उसका (योगीका) शरीर जगत् में चमत्कार करने योग्य बन जाता है। उस साधक के चलने पर उस के साथ पग पग पर अणिमादि सिद्धियाँ सेवा के लिये उपस्थित होती हैं। किन्तु इन सिद्धियों से हमें क्या वास्ता है? हे धनंजय, मेरे कहने का आशय यह है कि उस साधक की देह में पृथ्वी, जल और तेज का लय हो गया है । जल पृथ्वी को, और तेज जल को सोंखता है और हृदयस्थ वायु तेज को नष्ट करता है। बादमें वायुरूपी शरीर ही शेष रहता है। फिर उस का भी कुछ समय के बाद हृदयाकाश में लय हो जाता है ॥२९६-३०० ॥ उस समय उसको कुंडलिनी नाम से नहीं पुकारते, वह अब मारुत (वायुरूप) नाम पाती है। परंतु जब तक वह ब्रह्मस्वरूप में विलीन नहीं होती तब तक उस का शक्तिपन कायम रहता है। तब वह जालंधर बंध छोड़ कर कंठस्थान को चीर कर ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करती है। फिर वह ओंकार की पीठ पर पग रख कर नाद की पश्यन्ती अवस्था के आगे बढ़ कर चली जाती है। जिस तरह नदी सागर को मिलती है, उसी तरह वह ओंकार की अर्धमात्रा को पीछे

छोड़कर ब्रह्माकाश में प्रवेश करती है। तब ब्रह्मरंध्र में स्थिर हो कर, मैं ब्रह्म ही हूँ, इस कल्पना से बाहें फैला कर वह परब्रह्म को गले लगाती है। ॥३०१-०५॥ तब महाभूतों का पर्दा दूर होकर शिव और शक्ति का मिलन होता है और फिर वह ब्रह्माकाश के साथ परब्रह्म से एकरूप हो जाती है। जैसे समुद्र का जल बादल के रूप में अलग हो कर फिर वर्षा के रूप से लौट कर उसे मिलता है, वैसे ही जीवात्मा, जो देह के निमित्त से अलग हुआ था, ब्रह्मस्वरूप में मिल जाता है। फिर मैं आत्मा से भिन्न हूँ या उसीका रूप हूँ यह विचार भी उस के मन में नहीं आता। इस प्रकार अवकाश के आकाश में लय होने की जो अवस्था होती है, उस का वह साधक अनुभव करता है, और तब वह ब्रह्मरूप होता है। ॥३०६-१०॥ उसका यह जो अनुभव है उस को प्रकट करने में शब्द अपर्याप्त होते हैं।अभिप्राय व्यक्त करने का जिस को गर्व है वह वैखरी वाणी भी इस से दूर रहती है। इन भौंहों के पीछे जो ओंकार की तीसरी मात्रा मकार होती है वह भी उस में प्रवेश नहीं कर पाती। उसी तरह अकेली वायु भी महदाकाश में जाना भयप्रद समझती है। फिर जब वह वायु वहाँ जाकर तद्रूप होती है, तब शब्दों का उच्चार थम जाता है और आकाश भी वहाँ जाकर विलीन होता है। जिस महाशून्य के दह का आकाश भी थाह नहीं ले सकता, वहाँ शब्द कैसे बाज़ी ले जा सकते हैं? ॥३११-१५॥इस लिये यह योग शब्दों में कहने और कानों से समझने योग्य नहीं होता, यह त्रिवार सत्य है। किन्तु जब भाग्य से यह अनुभव किसी को प्राप्त होता है, तब वह तद्रूप हो जाता है। और फिर इस के आगे जानने को कुछ शेष नहीं रहता। किन्तु, हे अर्जुन, इस के बारे में बात बढ़ाना निरर्थक है। इस प्रकार जहाँ शब्दोंकी मंजिल रुक जाती है, संकल्प भी समाप्त हो जाता है और विचार भी बंद हो जाते हैं, यह उन्मनी अवस्था की सुंदरता है, तुर्यावस्था की जवानी है, और अनादि और असीम परमतत्त्व है। ॥३१६-२०॥वह विश्व की जड़, योग का फल और आनंद का चैतन्य है। वहाँ रूप समाप्त होता है, आदि और अंत का विलय होता है और वह मोक्ष का स्थान है। वह पाँच महाभूतों का बीज है और महातेज का भी तेज है। हे अर्जुन, वही मेरा मूल स्वरूप है। जब दानवों ने मेरे भक्तों को हैरान किया, तब मेरे इस मूल स्वरूप से यह लुभानेवाली चतुर्भुज मूर्ति साकार हुई। इस ब्रह्मस्थिति का महासुख अवर्णनीय है। इस की प्राप्ति के लिये जिन पुरुषोंने लगातार प्रयत्न किये, वेही स्वयं

परमांनदरूप हो गये ॥३२१-२५ ॥ जिन्होंने मेरी बताई हुई योगसाधना इसी देह में की, वे शुद्ध हो कर मेरी योग्यता पा गये । ऐसे योगियों के शरीर तेजस्वी होते हैं, मानो उन के शरीर की घरिया में ब्रह्मरस भरा हुआ है । जब कोई अंतरंग में इस ब्रह्मभाव का अनुभव करता है, तब यह सब विश्व तिरोहित हो जाता है ।

तब अर्जुन बोला, " हे भगवन्, आपने सच कहा । क्योंकि आपने जो उपाय कहा उससे ब्रह्मप्राप्ति निश्चित हो जाती है । इस का दृढ़ता से जो अभ्यास करते हैं वे सचमुच ब्रह्मपद को पहुँचते हैं, ऐसा आप के कहने से मुझे मालूम हुआ ॥३२६-३० ॥हे भगवन्, अगर आप के वर्णन से चित्त को बोध होता है, तो उस का अनुभव ले कर वह क्यों नहीं तद्रूप होगा ? इस लिये मैं कुछ अनोखी बात नहीं पूछूंगा । किन्तु मैं जो सवाल करूंगा, उस पर ध्यान दीजिये । हे श्रीकृष्ण, आप ने जो योग बताया है, वह मुझे पसंद है । किन्तु मेरी योग्यता कम होने से मुझे लगता है कि यह योगाभ्यास मुझ से नहीं होगा । यदि मुझ में जो शक्ति है उस का उपयोग करने पर यह योग संपन्न होगा, तो मैं सन्तोषपूर्वक इस मार्ग पर चलूंगा । किंवा आपका यह योग मेरी क्षमता से बाहर है, तो मेरी योग्यता के अनुसार जो संभव हो वह मुझे कहिये । ॥३३१-३५ ॥ मुझे संदेह हुआ, इसलिये आप से यह सवाल किया । अब ध्यान दीजिये, आपने जो साधना बताई है, वह मैंने सुनी । किन्तु क्या वह किसी को भी साध्य हो सकती है या योग्यता के बिना हो नहीं सकती ? तब श्रीकृष्ण बोले, हे अर्जुन, यह तुम्हारा सवाल कैसा बेतुका है ! यह योगाभ्यास, मोक्ष की प्राप्ति या कोई साधारण काम भी हाथ में लो, तो क्या वह योग्यता के बिना पूरा हो सकता है ? क्योंकि कार्य सफल होने पर ही हम योग्यता आजमा सकते हैं । अगर योग्यता हो तोही शुरु किया हुआ कर्म सिद्ध होता है ॥३३६-४० ॥ किन्तु यह योग्यता सहज मिलनेवाली चीज नहीं है । हे अर्जुन, योग्यता की क्या कोई खान है ? जब कोई आदमी जरासा विरक्त हो कर अपने विहित कर्म करता है, तभी वह योग्य बनता है न ? फिर इस युक्ति का उपयोग कर के तुम भी योग्यता जुटा सकते हो । इस तरह श्रीकृष्ण ने अर्जुन का संदेह दूर किया । फिर उन्होंने कहा कि इस योगाभ्यास का यह एक नियम है, कि जो हमेशा विहित कर्म नहीं करता उसे यह योग्यता प्राप्त नहीं होती ।

नात्यनश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमश्ननतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६ ॥

जो जिह्वा और निद्रा के वश सर्वथा होता है, वह योग का अधिकारी नहीं हो सकता ॥३४१-४५ ॥ किंवा जो दुराग्रहसे भूखप्यास को दबा कर कम खाता है, सोने का नाम भी नहीं लेता, और इस तरह हठपूर्वक बर्ताव करता है, उस का शरीर भी उस के अधीन नहीं रहता, फिर उस को योग कैसे साध्य होगा ? इसलिये जैसे विषयों का अधिक सेवन मना है, वै से ही उन की घृणा और त्याग भी वर्जित है ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७ ॥

आहार का सेवन तो करना ही होगा, किन्तु वह योग्य और माफ़िक होना चाहिये । जो जो कार्य हाथ में लेना है वह भी परिमित होना चाहिये । साधक को चाहिये कि परिमित बोले, धीरे धीरे चले, और योग्य समय पर सोये ॥३४६-५० ॥जागरण करना पड़ा तो वह भी नियमित काल तक करे । इस नियमित आचार से शरीर के धातु सम प्रमाण में रहते हैं । इस तरह योग्य प्रमाण में इंद्रियों को विषयों का उपभोग मिले तो मन तृप्त रहता है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८ ॥

बाह्येंद्रियाँ अगर नियमित हो गयीं तो अंतरंग में सुख की समृद्धि होती है । वह योगी अभ्यास के बिनाही अपने आप योग पाता है । जैसे भाग्य खुल जाने पर उद्यम को निमित्त बना कर सब धनदौलत यों ही घर आती है, वैसे ही जो नियमित हो कर अभ्यास करता है, वह आत्मस्थिति का अनुभव करता है । ॥३५१-५५ ॥ उसी प्रकार, हे अर्जुन, जिस भाग्यवान ने संयम रखने की युक्ति अपना ली, वह मोक्ष के राजपदसे आभूषित होता है ऐसे समझो ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९ ॥

इस तरह जब नियमित भोजन और योगाभ्यास का मेल होता है, तब वह सुयोग प्रयागतीर्थ के समान होता है । उस प्रयाग में जिस का चित्त आखिर तक

क्षेत्रसंन्यासी के समान स्थिर रहता है, उसी को योगी कहना चाहिये । तुम ध्यान में रखो कि उस समय उस को वायुरहित जगह पर रखे हुए दीप की उपमा लागू होती है । अब तेरा दिली भाव जान कर जो मैं स्पष्ट कहता हूं वह ध्यान दे कर सुनो । तुम योगप्राप्ति की इच्छा करते हो, लेकिन योगाभ्यास की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं है । वह योगाभ्यास मुश्किल है इस विचार से क्या तुम डर रहे हो ? ॥३५६-६० ॥ किन्तु, हे अर्जुन, अगर तुम्हारा जी घबराता हो तो जान लो कि ये नटखट इंद्रियाँ मामूली बातों का हौआ बना कर व्यर्थ भय दिखाती हैं । हे अर्जुन, जो मौत की विपत्ति टाल कर आयु बढ़ाती है, क्या उस दवा कोभी जिह्वा दुश्मन नहीं मानती ? उसी तरह, जो कुछ अपने लिये हितकर है, उसको इंद्रियाँ सदैव पीड़ाकारक समझती हैं । नहीं तो क्या इस योग के सरीखा कोई सरल उपाय है ?

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१ ॥

इस लिये आसन दृढता से जमा कर, जो योगाभ्यास किया जाता है, अगर हो सके तो उसीसे इंद्रियनिग्रह होता है । प्रायः योगसे इंद्रियनिग्रह होने पर चित्त अपने आप आत्मा से मिलता है ॥।३६१-६५ ॥जब चित्त (विषयों के पीछे दौड़ने के बदले) पीछे मुड़कर अंतर्मुख हो जाता है, तब वह आत्मा को देखता है और उसी समय मैं और आत्मा एकही हूँ यह पहचान लेता है । इस के उपरांत वह सुख का स्वराज्य भोगता है और आत्मतत्त्व से एकरूप हो कर रहता है । और वह चित्त तब जिस के परे कुछ नहीं है और जो इंद्रियों को कभी ज्ञात नहीं होता वह आत्मतत्त्व खुद बन कर रहता है ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२ ॥

इस अवस्था में यदि मेरुपर्वत जैसे शारीरिक दुःख के पहाड़ भी टूट पड़े, तो भी उस का चित्त विचलित नहीं होता । अथवा शस्त्र से उसकी देह काटी जाय या वह देह अग्नि में गिर पड़े तो भी महासुख में लेटा हुआ उस का मन क्षोभ नहीं

पाता। ॥३६५-७० ॥ इस तरह आत्मसुखमें मग्न होने पर उस को देह की सुधि भी नहीं रहती और फिर ऐसे अकथनीय सुख की प्राप्ति से वह अन्य बातें भी भूल जाता है।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा ॥२३ ॥

इस आत्मसुख का स्वाद लेने पर मन वासना की याद नहीं करता और संसार से अपना ध्यान हटा लेता है। जो सुख योग की शोभा है, संतोष का राज्य है, और ज्ञान का अनुभव है, वह सुख योगाभ्यास से प्रत्यक्ष हो जाता है और वह देखने वाला तद्रूप हो कर रहता है।

संकल्प प्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४ ॥

तथापि, हे अर्जुन, यह योग वैसे ही सरल है। अगर (काम को नष्ट कर) संकल्प को पुत्रशोक में डुबा दिया, तो वह प्राप्त होता है। ॥३७१-७५ ॥जब संकल्प देखेगा कि विषय नष्ट हो कर इंद्रियों के व्यापार नियमित हो रहे हैं, तब उस की छाती फट कर जान निकल जाती है। इस तरह जब वैराग्य रोम रोम में भर जाता है, तब संकल्प की बारी बंद हो जाती है और बुद्धि धीरज के महल में सुख से जा बसती है।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५ ॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६ ॥

यदि बुद्धि का धीरज से संयोग हो, तो वह मन को धीर धीरे आत्मानुभव के मार्ग पर लाती है और उस को आत्ममंदिर में स्थापित करती है।किन्तु यदि यह भी न हो सके, तो आत्मप्राप्ति का दूसरा एक सुगम उपाय मैं बताऊंगा, सुनो। हम दिल से एक नियम करें कि एक बार किया हुआ निश्चय नहीं बदलेंगे ॥३७६-८० ॥ इस से अगर चित्त स्थिर हो गया तो अनायास काम बन चुका। फिर ऐसा न हो तो

उसको मनमानी करने के लिये छोड़ दो । ऐसा अनर्गल मन जहाँ जायेगा, वहाँ से उस को खींच कर लौटा लाना, इस से वह सहज में स्थिर हो जायेगा ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७ ॥

फिर इस प्रकार चित्त बहुत काल स्थिर हो जाने पर वह सहज में आत्मस्वरूप के पास पहुँच जायेगा और उस का स्वरूप देखते ही तद्रूप होगा । फिर द्वैत का अद्वैत में विलय होता है और इस एकता की रोशनी में तीनोंही लोक चमक उठते हैं। जिस तरह बादल बिखर जानेपर निरभ्र आकाश विश्व को घेरे रहता है, ॥३८१-८५ ॥ उसी तरह चित्त विलीन हो जाने पर सब विश्व चैतन्यमय हो कर रहता है । ऐसे इस उपाय से यह आत्मप्राप्ति अनायास होती है ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८ ॥

इस प्रकार सरल योगसाधना का आसरा ले कर जिन्होंने संकल्प को तुच्छ मान कर आत्मानुभव किया, उन्होंने ब्रह्मपद पाया । जैसे नमक जल में मिलते ही उस से अलग नहीं होता, वैसे ही जीवात्मा और ब्रह्म एकरूप होने पर उन की ऐसी ही अवस्था होती है । फिर उन को ऐसा भाता है कि सब विश्व एकता का मंदिर है और उस में महासुख की दिवाली मनाई जा रही है । इस तरह अपने पाँव पीछे मोड़ कर अपने मूल स्वरूप की ओर जाना चाहिये । फिर यदि यह भी तुमसे नहीं हो तो आगे सुनो. ॥३८६-९० ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३० ॥

मैं सभी के देहों में विद्यमान हूँ इस के बारे में संदेह मत करो । यों ही सब कुछ मुझ में मौजूद है । यह विश्व और सब प्राणिमात्र परस्पर संबद्ध हैं ऐसी बुद्धि रखनी चाहिये । वैसे ही, हे अर्जुन, जो एकता की भावना से मुझ को सब प्राणियों

में देखता है और इस समदृष्टि से मेरी आराधना करता है, वह प्राणि भिन्न और अनेक होते हुए भी चित्त में भेदभावना न रख कर मुझे सर्वत्र देखता है । फिर मैं और वह एकरूप हैं ऐसा कहना भी व्यर्थ है और यह बताना भी नहीं पड़ता । ॥३९१-९५ ॥ दीप और उसकी रोशनी जैसे एक होते हैं वैसे ही वह मुझ में और मैं उस में विद्यमान रहता हूँ । जिस तरह जल में रस या आकाश में पोल होती है, वैसे ही वह योगी मेरे रूप से रूपवान दिखाई देता है ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१ ॥

वस्त्र में जिस तरह तंतु होते है, वैसे ही वह मुझे एकता की बुद्धि से सर्वत्र देखता है । अथवा जैसे कई प्रकार के गहने होते हुए भी सुवर्ण एक ही होता है, वैसे ही उस में एकता की भावना दृढ़ हो चुकी होती है । जिस तरह पत्ते अधिक होने पर भी पेड़ एक ही होता है, उसी तरह अद्वैत का प्रभात होते ही अज्ञान की रात समाप्त हो जाती है । ॥३९६-४०० ॥ फिर वह पांच महाभूतोंके बने हुए शरीर में रह कर भी उस में कैसे व्यस्त रहेगा ? क्योंकि अनुभव से उसने मेरी योग्यता पायी है । जिस ने अनुभव से मेरा व्यापकपन जान लिया है, वह स्वयं सर्वव्यापक हो चुका है यह कहना भी ठीक नहीं होगा । तब वह शरीरधारी होता हुआ भी शरीर से लगाव नहीं रखता । यह हम शब्दों से कैसे बता सकेंगे ?

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२ ॥

इसलिये इस विषय में ज्यादा कहना उचित नहीं । जो सदैव यह चराचर जगत् अपने जैसा मानता है, वह सुख-दुःख आदि विकार और शुभाशुभ कर्म भिन्न नहीं समझता । ॥४०१-०५ ॥ वह यह मानता है कि सम-विषम भाव और बहुत प्रकार की चीजें अपने शरीर के अवयव जैसे हैं । ज्यादा क्या कहूँ, जिस ने यह त्रिभुवन मैं ही हूँ ऐसा अनुभव किया है, उसके शरीर होते हुए भी और रीतिरिवाज के अनुसार लोग उसको सुखी या दुःखी समझते हुए भी, वह अनुभूति के कारण परब्रह्म ही हुआ है । इसलिये, हे अर्जुन, जिस समदृष्टिसे तुम जगत् को देखकर विश्वरूप हो जाओगे, उसको अपनाओ । इसीलिये मैं तुम को बार बार कहता आया हूँ कि संसार

में इस समदृष्टि से बढ़िया चीज़ नहीं है ॥४०६-१० ॥

अर्जुन उवाच:-

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४ ॥

फिर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, हे भगवन्, आपने इतनी लगन से यह योगमार्ग बताया, किन्तु वह चित्त के स्वभाव के कारण स्थिर नहीं हो सकता । यदि हम सोचते हैं कि यह चित्त कैसा और कितना है, तो उस की थाह मिलती ही नहीं । योंही उसे भटकने के लिये ये तीनों लोक भी पर्याप्त नहीं होते । बंदर को समाधि लगना या हवा को रोक कर शांत करना क्या कभी संभव हुआ है ? यह मन बुद्धि को सताता है, निश्चय को डगमगाता है और धैर्य को झाँसा देता है । वह विचार को चकमा देता है, समाधान को अपने पीछे पागल बनाता है, और स्तब्ध बैठने पर भी सर्वत्र सैर करता है । ॥४११-१५ ॥ अगर कोई उसका निरोध करे, तो वह उछल पड़ता है और उस का नियमन करे तो साथ देता है । ऐसा यह मन अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकता है ? इसलिये इस मन को स्थिर बना कर साधक समदृष्टि प्राप्त करे यह सुतराम् संभव नहीं है ।

श्रीभगवानुवाच :

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५ ॥

भगवान ने कहा कि हे अर्जुन, तुम ने सच कहा । यह मन स्वभावतः चंचल है । किन्तु वैराग्य का आसरा लेकर उस को योगाभ्यास के मार्ग पर लगाया जाए तो वह कुछ काल में स्थिर होगा । इस मन का एक अच्छा धर्म है कि जिस बात में उसको रुचि होती है उसी में वह आसक्त हो कर रहता है । इसलिये उसको आत्मानुभव की रुचि लगानी चाहिये । ॥४१६-२० ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६ ॥

हे अर्जुन, मैं मानता हूँ कि जो विरक्त नहीं होते और योगाभ्यास से विमुख रहते हैं, उन के लिये मन को वश में रखना संभव नहीं है । किन्तु यदि हम यमनियमों के रास्ते पर न चलें, वैराग्य की याद भी न करें, और मन विषयरूपी पानी में डूबे रहे, और उसको योगकी छड़ी नहीं मारे तो वह कैसे निश्चल होगा ? इसलिये वह उपाय करो जिससे मन का संयम हो सके । फिर हम देखते हैं वह कैसे स्थिर नहीं होता । जो योग के साधन बताये गये हैं वे क्या सब झूठ हैं ? प्रायः तुमसे योगाभ्यास नहीं बनता ऐसा कहो । ॥४२१-२५ ॥ योगाभ्यास की ताक़त अपने पास हो, तो चित्त कैसे चंचल हो सकता है ? इस योग से महत् आदि तत्त्व क्या अपनी मुट्ठी में नहीं आते ? तब अर्जुन बोला, हे भगवन्, आप सच कहते हैं । सचमुच इस योगसामर्थ्य की तुलनामें मन की शक्ति तुच्छ होती है । किन्तु यह योग कैसा है और उस को हम किस तरह जान सकते हैं यह मालूम नहीं था । इसलिये मन का संयम करना कठिन है ऐसा मैं समझता था । आज, हे पुरुषोत्तम, आप की कृपासे इसी जन्म में मुझ को योग की पहचान हुई ।

अर्जुन उवाच :-

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेतुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९ ॥

किंतु, हे प्रभो, मुझे और भी एक संदेह है । वह मिटाने के लिये आपके बिना और कोई समर्थ नहीं है ॥४२६-३० ॥ इसलिये, हे गोविंद, मुझ को यह बताइये । कोई श्रद्धावान आदमी साधनों के सिवा मोक्ष पाने का इच्छुक था । उसने इंद्रियोंका गाँव छोड़ कर आत्मप्राप्ति के गाँव को जाने के लिये श्रद्धा का रास्ता अपनाया । किन्तु वह मोक्ष की हद तक नहीं पहुँच पाया । न कि वह लौट कर आ सका । और इस अवस्था में उसके जीवनकाल का सूरज बीच में ही अस्त हो गया । जिस तरह सहज में असमय पर आया हुआ हलका बादल पूरा नहीं टिकता और वर्षा भी नहीं

करता, उसी तरह जिसके दोनों रास्ते बंद हो चुके हैं उसको मोक्षप्राप्ति तो दूरही रही, किन्तु वह श्रद्धासे छोड़े हुए संसारसुख से भी वंचित हुआ ॥४३१-३५ ॥इस प्रकार जो इन दोनों से विमुख हो कर श्रद्धा में मग्न रहता है वह कौनसी गति पाता है ?

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४० ॥

तब श्रीकृष्ण ने कहा, हे पार्थ, जिस को मोक्षसुख में आस्था है, उसके लिये मोक्ष के सिवा अन्य क्या गति हो सकती है ? होता यह है कि वह बीचमें विश्राम करता है । फिर उस में जो सुख है, वह देवताओं को भी नहीं मिलता । यदि उसने योगाभ्यास तेजी से किया होता तो आयु समाप्त होने से पहलेही वह मोक्षपद को पहुँच चुका होता । उसके प्रयत्न में तेजी न होने से उसको बीच में रुकना पड़ा । किन्तु उसके लिये मोक्ष तय है ॥४३६-४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वती: समा: ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१ ॥

अरे, यह एक आश्चर्य की बात है कि जिस लोक की प्राप्ति के लिये इंद्रको भी परिश्रम करने पड़ते हैं, वह उस साधक को आसानी से प्राप्त होता है । किन्तु वहाँ के निष्फल न होनेवाले और अप्रतिम भोगों का अनुभव करता हुआ भी वह व्याकुल होता है । ये दिव्य भोग अनुभव करते समय भी वह सदैव चिंतित रहता है कि भगवन् मेरे मोक्षमार्ग में यह रुकावट क्यों आ गई ? वह उस के बाद मृत्युलोक में एक धार्मिक वंश में जन्म लेता है । और धान की फसल काटने पर खेत में जैसे गठीले पत्ते आते हैं, वैसेही उस की धनदौलत बढ़ जाती है । जिस खानदान में लोग नीति के मार्ग पर चलते हैं, सच और साफ़ बातें करते हैं, ॥४४१-४५ ॥जिस कुल में वेदही जाग्रत देवता है, स्वधर्म ही आचार है, सारासार विचार सलाहकार है, ईश्वरही चिंतन का एकमेव विषय है और गृहदेवता दौलत देती है, इस तरह अपने पुण्य के बूते पर सब लौकिक सुखों से संपन्न कुल में वह योगभ्रष्ट पुरुष सुख से जन्म लेता है ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४३ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥४३ ॥

अथवा जो ज्ञानयज्ञ करते हैं, अध्यात्म के विषय में निपुण हैं और महासुख के जागीरदार हैं, जिन्होंने महासिद्धान्त का मर्म जानकर त्रिभुवन का राज्य पाया है, जो संतोषरूप वन में गानेवाले कोकिल है, ॥४४६-५० ॥ और जो लगातार फल देनेवाले विवेकवृक्ष के तल में बैठे रहते हैं, ऐसे योगियों के कुल में वह योगभ्रष्ट जन्म लेता है । वह बालक जन्म लेते ही उसके लिये आत्मज्ञान की प्रभात होती है । और जिस तरह सूर्योदय होने के पहले उसकी प्रभा चारों ओर फैल जाती है, वैसे ही सर्वज्ञता उसकी युवावस्था की राह न देखती हुई उसको बचपन मेंही ब्याहती है । और पूर्व जन्म में संपादित बुद्धि और सब विद्याएँ उसको प्राप्त होती हैं और उसके मुँह से सब शास्त्र प्रकट होते हैं । जिसको तरस कर स्वर्गवासी देव भी जप और होम करते हैं, ॥४५१-५५ ॥ और भाट बनकर मृत्युलोक की सराहना करते हैं, ऐसे उत्तम कुल में वह पुरुष जन्म लेता है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४ ॥

और पूर्व जन्म के अंत में जो सद्बुद्धि उस को प्राप्त हुई थी, वह उस को इस जन्म में हासिल होती है । जैसे एक भाग्यशाली पाँव की ओरसे पैदा हुआ आदमी आँखों में अंजन डालने पर भूमिगत निधि देख सकता है, उसी तरह गुरुबानी के बिना दुर्बोध आशय उसकी बुद्धि ठीक समझती है । उसकी दुर्दम्य इंद्रियाँ उसके अधीन होती हैं, मन प्राण से एकरूप होता है और प्राण चिदाकाश में विलीन हो जाता है । ॥४५६-६० ॥ कैसे कौन जाने, योगाभ्यास भी उसको अपने आप प्राप्त होता है और समाधि उसकी खोजमें आती है । उस समय वह ऐसा लगता है कि मानो योगपीठ का भैरव, योगारंभ का विभव या वैराग्य का अनुभव प्रत्यक्ष होकर आया है । अथवा यह योगी संसार का मानदंड या अष्टांगयोग का द्वीप है । किंवा जिस तरह सुगंध चंदन का रूप लेता है, उसी तरह संतोष उस योगी का रूप लेकर

आया है । साधक की दशा मेंही उसका ऐसा उत्कर्ष प्रकट होता है, मानो उसको सिद्धियों के भाण्डार से ही प्राप्त किया है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५ ॥

क्योंकि वह असंख्य बरसों के बाद हजारों जन्म की रुकावटें दूर करके आत्मप्राप्ति के किनारे पर आ पहुँचा है ॥४६१-६५ ॥ इसलिये उसको सब साधनाएँ अनायास प्राप्त होती हैं और वह विवेककी गद्दीपर बैठता है । फिर विचारों में अति बलवान विवेक भी पीछे हट जाता है और वह स्वयं विचारों के परे जो ब्रह्म है उससे एकरूप होता है । तब विचारों के बादल छँट जाते हैं, वायु का वायुपन समाप्त होता है और चिदाकाशं भी आत्मस्वरूप में मग्न होकर वह ओंकार की अर्धमात्रा में विलीन होता है । इस तरह उस को अवर्णनीय सुख का लाभ होता है और वह मौन साधता है । इस प्रकार की जो ब्राह्मी स्थिति, जिसे परमगति कहते हैं उस का वह मूर्त स्वरूप बनकर रहता है । ॥४६६-७० ॥उसने पूर्वजन्म का विक्षेपरूप मैला झिड़क दिया होता है, इसलिये वह जन्म लेतेही लग्नघड़ी डूब जाती है और उसका ब्राह्मी स्थिति से शुभ विवाह होकर वह उससे एकरूप होता है । जिस तरह बादल छँट जानेपर आकाशरूप होकर रहते हैं, उसी तरह वह विश्व का निर्माता और लयस्थान जो ब्रह्म है, उससे इसी देहमें एकरूप होता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६ ॥

उसकी प्राप्ति की इच्छासे कर्मनिष्ठ पुरुष अपने धैर्यरूप बाहुबल के भरोसे पर षट्कर्म की धारा में कूदते हैं । उसी चीजके लिये ज्ञानी ज्ञान का अभेद्य कवच चढ़ाकर प्रपंच से जूझते हैं । ॥४७१-७५ ॥ उसीकी इच्छासे तपस्वी तपोरूप पहाड़ के टूटे हुए दुर्धर और चिकने ढलानपर चलते हैं । वह ब्रह्म भक्ति का अधिष्ठान है, और यज्ञ का देवता है और इसलिये वह सभी को पूज्य होकर ब्रह्म से एकरूप हो जाता है । इसलिये वह कर्मियों को वंदनीय, ज्ञानियों को जानने योग्य और तापसों में तपोनिधि होता है । और यह देखो कि जीव और शिव के मिलन हो जानेपर वह इसी देह में यह योग्यता पाता है ॥४७६-८० ॥ इसीके कारण मैं तुम्हें योगी बनो

ऐसे खुले दिल से कहता आया हूँ ।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत: ॥४७ ॥

अरे, यह समझ लो कि वह योगी देवों का अधिदेव, मेरा सुखसर्वस्व और प्राण है । भक्त, भजन और भजनीय देवता यह जो भक्तिसाधनों का त्रिकूट है वह मैंही हूँ ऐसा अखंड अनुभव वह करता है । फिर, हे अर्जुन, उसके और मेरे बीच जो प्रीति है उसका स्वरूप शब्दों में कहना सचमुच असंभव है । इस तरह जो हमारा प्रीतिमिलन हुआ है, उसके लिये मैं देह हूं और वह आत्मा है यही उपमा यथार्थ होगी । ॥४८१-८५ ॥

संजयने धृतराष्ट्र से कहा, 'हे राजन् जो भक्तरूपी-चकोर पंछियों का चाँद, गुणों का सागर और त्रैलोक्य का राजा है, वे श्रीकृष्ण परमात्मा अर्जुन से इस तरह बोले । वहाँ पहले से ही उपदेश सुनने की जो अर्जुन को उत्कट इच्छा थी वह अब दुगुनी हो गयी, यह यदुनाथ ने ताड़ लिया । वह देखकर श्रीकृष्ण को सहज में संतोष हुआ कि जो वे कहते हैं वह प्रत्यक्ष देखने के लिये अर्जुन आईना बना है । इस आनंद के जोश में वे अगली कथा सुनायेंगे । इस अगले प्रस्ताव में शांतरस प्रकट होगा और ज्ञानबीज की गठरी खुली होगी । उस समय बुद्धिमान श्रोताओं के चित्त में सात्त्विक भावनाओं की बौछार होने लगेगी और उस का रूखापन मिट कर उसमें क्यारियाँ तैयार होंगी । ॥४८६-९० ॥ जब उस में अवधान की गरमी लगी तब श्रीनिवृत्तिनाथ को सिद्धान्तों के बीज बोने की उत्कट इच्छा हुई । वे बीज बोने में सद्गुरु ने बडे प्यारसे मुझको चोंगे की तरह उपयोग किया और मेरे मस्तक पर हाथ रखकर उसमें बीज रखा । इसलिये जो शब्द मेरे मुँहसे बाहर निकलेंगे वे सीधे संतों के दिल में जा बैठेंगे । अब श्रीरंग ने क्या कहा वह बताऊँगा, उसको ध्यान से सुनिये, बुद्धि से सोचिए, और चित्त देकर उसका आशय समझ लीजिये । फिर वह अवधान के द्वारा दिल में रखिये ताकि वे सज्जनों का मन बहलायेंगे ॥४९१-९५ ॥ मेरे वचनों से स्वहित बढ़ेगा, उसका अच्छा परिणाम निकलेगा, और योगी को परम सुख प्राप्त होगा । अब अर्जुन के साथ श्रीकृष्णने जो सुंदर और चतुर वार्तालाप किया वह मैं ओवीछंद में कहूँगा ॥४९६-९७ ॥

◆ ◆ ◆

॥ सातवाँ अध्याय ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्षाम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२ ॥

सज्जनो, ध्यान देकर सुनिये । बादमें श्रीकृष्णने कहा, 'हे अर्जुन, अब तुम सचमुच योगयुक्त बन गये हो । मैं अब तुम्हें विज्ञान के साथ ज्ञान इस तरह कहूँगा कि तुम हथेली पर रखे हुए रत्न के समान उसको सब प्रकार से जान लोगे । यहाँ विज्ञान का क्या प्रयोजन है ऐसा संदेह तुम्हारे मन में शायद आयेगा । किन्तु उसको पहले जान लेना आवश्यक है । फिर जिस तरह किनारे लगी हुई नौका झोंके नहीं खाती, उसी तरह ज्ञान के समय बुद्धि विज्ञानसे मुँह मोड़ लेती है । हे अर्जुन, जहाँ बुद्धि का प्रवेश नहीं होता, विचार ठिठक जाता है और तर्क काम नहीं आता, उसी को ज्ञान कहते हैं ॥१-५ ॥ इससे निराला जो प्रपंचविषयक ज्ञान है, उसको विज्ञान और प्रपंच को सच मानना अज्ञान है । सो जिस कारण से अज्ञान नष्ट हो जायेगा,

विज्ञान जल जायेगा और प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होगा, जहाँ कहनेवाले का वर्णन थम जायेगा, सुननेवाले का शौक कम होगा, और छोटा बड़ा यह भेदभाव नहीं रहेगा, वह रहस्य मैं तुम्हें कहूँगा । वह कुछ कुछ समझ लोगे तो चित्त को समाधान होगा ।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३ ॥

सचमुच हजारों मनुष्यों में किसी एकको इसके बारेमें आस्था होती है और उनमें से मुझे जाननेवाला बिरला होता है ॥६-१० ॥ मानवों से भरे हुए इस जगत् में एक एक शूर व्यक्ति चुनकर लाख की सेना खड़ी करते हैं, किन्तु युद्ध में शस्त्रों के घाव पड़नेपर जिस तरह विजयश्री किसी एकको वरमाला पहनाती है, उसी तरह ब्रह्मप्राप्ति की इच्छा की बाढ़में असंख्य व्यक्ति कूदते हैं, परन्तु उसके पार जानेवाला एकही होता है । यह गूढ ज्ञान मामूली नहीं, असाधारण है । लेकिन उसके बारे में आगे कहूँगा । अब मैं तुम्हें प्रपंचविषयक ज्ञान के बारेमें बताऊंगा ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४ ॥

हे पार्थ, ध्यान दो । हमारी देह की जैसी परछाईं होती है, वैसेही महदादि तत्त्व मेरी माया है ॥११-१५ ॥ वह प्रकृति नाम से ज्ञात है और उन के आठ भाग हैं । उससे ही ये तीन लोक पैदा हुए हैं । ये आठ भाग कौनसे और कैसे होते हैं, यह तुम पूछोगे तो उसका स्पष्टीकरण सुनो । जल, तेज, वायु, आकाश, पृथ्वी, मन, बुद्धि और अहंकार ये प्रकृति के अलग अलग आठ भाग हैं ।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५ ॥

इन आठ भागों की जो साम्यावस्था है, वह मेरी परा प्रकृति है । इसको जीवभूता कहते हैं । क्योंकि यह जड़ जीवको जीवित करती है, चेतन बुद्धि को ज्ञान देती है, और वही चित्तसे शोक और मोह का अनुभव कराती है ॥१६-२० ॥ देखो, बुद्धि में जो ज्ञान है, वह भी उसके सान्निध्य का फल है । और उससे पैदा हुए

अहंकार और अस्मिता की चालबाजी से यह सब जगत् के व्यापार करवाती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६ ॥

जब यह मेरी सूक्ष्म प्रकृति लीलया स्थूल प्रकृति के साथ संलग्न होती है तब सृष्टि में प्राणियों की उत्पत्ति की टंकसाल शुरू होती है। सृष्टि की इस टंकसाल में चार प्रकार के जीवसृष्टि के सिक्के प्रकट होते हैं। और उन सभी की योग्यता समान होने परभी उनकी जातियाँ भिन्न होती हैं। ये जातियाँ चौरासी लक्ष होती हैं और उनका संग्रह अमाप है। इन प्राणिरूप मुद्राओं से आदिमाया का गर्भगृह भर जाता है। इस प्रकार पंचमहाभूतों की समान पात्रता रखनेवाली मुद्राएँ इतनी विपुल होती हैं कि उनकी गिनती केवल आदि मायाही कर सकती है। ॥२१-२५ ॥ जिन मुद्राओं को वह कसौटी पर परख कर उनका विस्तार करती है, उन को वह उन के द्वारा कर्म और अकर्म की हेराफेरी करवाती है। अब यह रूपक रहने दो। अब मैं जो निरूपण करूँगा वह सुनो। यह प्रकृति ही नामरूप का पसारा फैलाती है और वह मेरी परछाईं होने के कारण मैं ही इस सब विश्व का आदि, मध्य और अंत हूँ ऐसे जानो।

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७ ॥

जिस तरह सोचने पर मालूम होता है कि मृगजल का मूल सूरज की किरणें न हो कर सूरज ही है, उसी तरह इस आदिमाया से पैदा हुई यह दृश्य सृष्टि घुल जाती है और फिर उसमें केवल मैं ही हूँ ऐसा ज्ञान होता है ॥२६-३० ॥ वह जानता है कि इस तरह जो विश्व पैदा होता है, दिखाई देता है और फिर अदृश्य होता है वह मुझमें ही हैं और धागे में गूँथे हुए हीरे के समान इस विश्व को मैंने ही धारण किया है। जिस तरह सोने की गुरियाएँ सोने के तार में पिरोयी जाती हैं, उसी तरह वह साधक अनुभव करता है कि इस बाहर और भीतर के विश्व को मैंने ही धारण किया है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९ ॥

इसलिये हे अर्जुन , तुम जान लो कि जल में जो रस है , समीर में जो स्पर्श हैं, चाँद और सूरज में जो रौशनी है वह मैं ही हूँ । उसी तरह पृथ्वी की स्वाभाविक सुगंध, आसमान का शब्द, और वेद का ॐकार मैं ही हूँ । आदमी का पौरुष, जो अहंकार की जड़ है, वह मैं ही हूँ ॥३१-३५ ॥ यों ही अग्नि नाम का आच्छादन जिस पर है उस तेज का निजी स्वरूप मैं ही हूँ । इन तीनों लोकों में असंख्य प्रकार के प्राणी अनेक योनियों में जन्म लेकर अपना निर्वाह किया करते हैं । कोई हवा पी कर , तो कोई घास खाकर जीवित रहता है । कोई अन्न खाकर और कोई जल पी कर पोसा जाता है । इस तरह हर एक प्राणी का उस की प्रकृति के अनुरूप जो जीने का साधन है, वह मैं ही हूँ ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१० ॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११ ॥

सृष्टि के निर्माण के समय जो बीज अंकुरित होकर आकाश रूप में फैल जाता है और जो प्रलयकाल में ओंकार के अक्षर भी निगलता है, ॥३६-४० ॥जब तक इस दृश्य जगत् को आकार है तब वह जगत् सा दिखाई देता है, लेकिन महाप्रलय के समय पर वह निराकार होता है, ऐसा जो इस जगत् का अनादि और स्वयंसिद्ध बीज है, वह मैं ही हूँ । आज मैं यह ज्ञान तुम्हारे हाथ में सौंप रहा हूँ । जब तुम इस ज्ञान पर सोचकर उसका सांख्य ज्ञान से मेल लगाओगे, तब उसका प्रयोजन तुम्हारी समझ में आयेगा । अब यह बात छोड़ो । अब मैं तुम्हें यह ज्ञान संक्षेप में बताऊँगा । तपोधन का तप भी मेरा रूप है । बलवानों का बल भी मैं हूँ यह तुम निःसंदेह समझो । ऐसे ही बुद्धिमानों की बुद्धि भी मैं ही हूँ । ॥४१-४५ ॥ जिस से धर्म और अर्थ साध्य होते हैं, वह प्राणिमात्रों में विद्यमान काम मैं ही हूँ ऐसा आत्माराम श्रीकृष्ण बोले । यह काम इंद्रियों की इच्छा के अनुसार बर्ताव करता है, फिर भी उन को धर्म के विरुद्ध नहीं जाने देता । यह काम जब निषिद्ध कर्मों की पगडण्डी छोड़ कर

नियमित कर्मों के महामार्ग पर चलता है, तब संयम की मशाल उसके पास होती है। यह काम इस तरह से व्यवहार करता है कि धर्म का आचरण पूर्ण होता है और सांसारिक पुरुष मोक्ष पाता है। उस काम के द्वारा वेदों की महिमा के मंडप पर इच्छारूपी बेल ऐसी बढ़ती है कि कर्मफलरूपी कोंपलें मोक्षतक पहुँच जाती हैं। ॥४६-५० ॥ योगीश्वर श्रीकृष्ण बताते हैं कि ऐसा प्राणिमात्र में बीजरूप में जो नियमित काम है वह मैं हूँ। यह एकएक बात मैं तुम्हें कहाँ तक कहूँ ? बस यह समझ लो कि सब वस्तुजात मुझसे ही विस्तारित हुआ है ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

यह भी जान लो कि जो सात्त्विक, राजस, तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही पैदा हुए हैं। जिस तरह स्वप्नावस्था के दह में जाग्रति डूब नहीं जाती, उसी तरह वे यद्यपि मुझसे उत्पन्न हुए हैं तथापि मैं उनमें नहीं हूँ। जब रसयुक्त दाना अंकुरित होकर आगे चलकर लकड़ी बनता है, तब क्या उसमें कहीं उस दाने का गुण होता है ? ॥५१-५५ ॥ उसी तरह यद्यपि ये सात्त्विकादि गुण मुझसे उत्पन्न हुए दिखाई देते हैं, तो भी मैं उन विकारों में विद्यमान नहीं हूँ। यद्यपि आसमान में बादल आते हैं, तथापि बादलों में आसमान नहीं होता। फिर जब उन बादलों में वर्षा होती है, तब उस वर्षा में बादल नहीं होते। आगे चलकर जब बादलों का घर्षण होकर विद्युल्लता चमक उठती है, तब उसमें क्या जल होता है ? अरे, अग्नि से धुआँ निकलता है, यह बात सही है, किन्तु क्या उस धुएँ में अग्नि होती है ? उसी तरह मुझसे ये विकार उत्पन्न होते हैं, किंतु वे विकार मैं नहीं हूँ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३ ॥

परंतु जिस तरह जल पर होनेवाली काई जल को ढँक देती है, किंवा बादलों से आसमान आच्छादित होता है ॥५६-६० ॥ अथवा स्वप्न मिथ्या होकर भी सचसा भासमान होता है, और जबतक निद्रा की सत्ता होती है, तब क्या वह स्वप्न के झूठेपन की याद भी दिलाती है ? अथवा आँखों के जल से बनी हुई सफेद कौड़ी निगाह बंद कर देती है, उसी तरह यह त्रिगुणात्मक माया, मेरी परछाईं होकर

भी, एक परदे के समान मेरे स्वरूप को ओझल करती है। इसलिये आदमी मुझे नहीं जानते और मुझसे उत्पन्न हो कर भी मद्रूप नहीं होते। जिस तरह जल से पैदा हुए मोती जलमें नहीं पिघलते, किंवा मिट्टीका कच्चा मटका उसमें तुरंत घुल जाता है, फिर यदि उसको अग्नि में भून ले तो वह मिट्टीसे अलग रहता है, ॥६१-६५॥ उसी तरह सब भूतमात्र मेराही अंश होता है और उसने आदिमाया के योगसे जीवदशा पायी होती है। इसलिये वह मुझ्से उत्पन्न होकर भी मुझसे एकरूप नहीं है और 'मैं' और 'मेरा' इस भ्रांति से विषयांध हो गया है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

अब, हे अर्जुन, यह जो महदादि मेरी माया है, उस के पार होकर मुझसे एकरूपता का अनुभव कोई कैसे कर सकता है ? ब्रह्मरूप पहाड़ की चोटी पर परमात्मा का मूल संकल्परूपी जल उछल आया और मायानदी की उत्पत्ति हुई और उसपर पाँच महाभूतों के छोटे बुलबुले आये। यह मायानदी सृष्टि की उत्क्रान्ति के क्रम से और कालगति के खिंचाव से प्रवृत्ति और निवृत्ति के ऊँचे तट के बीच में बहती है। ॥६६-७०॥ फिर त्रिगुणरूपी बादलों की जोरदार वर्षा होने से उसकी मोहरूपी बाढ़ में यमनियमों के शहर भी बह जाते हैं। उसमें द्वेष के भँवर पैदा होते हैं और वह नदी मत्सर के मोड़ लेकर बहती है। उसमें प्रमादरूपी बडी मछलियाँ मचलती हैं। उसमें प्रपंचरूपी टापू होते हैं और उसमें कर्म और अकर्म की बाढ़ आकर उसपर सुख और दुःख की सूखी कचरापत्तियाँ लहराती हैं। उसमें विषयसुख के टापू से कामरूपी तरंग टकराते हैं। और वहाँ प्राणिमात्र का समुदाय विपुल फेन की तरह एकत्रित दिखाई देता है। उसके अहंकार की धारा में विद्या, धन और बल इन तीनों के मद के उबाल से वासनाओं की लहरें उछलने लगती हैं। ॥७१-७५॥ उसमें ज्वारभाटे होकर जन्ममरण के दह बनते हैं और वहाँ पाँच महाभूतों से बने हुए देहरूपी बुलबुले पैदा होते हैं और लुप्त होते हैं। इस नदी में मोह और भ्रांतिरूपी मछलियाँ धैर्यरूपी मांस को चबाती हैं और उसके आसपास

भँवरे भी होते हैं। उसके भ्रांतिरूपी गंदे पानी में जीव वासनाओं के कीचड़में फँस जाता है और रजोगुण की झंकार स्वर्गलोक तक पहुँच जाती है। इस मायानदी में तमोगुणरूपी बड़े प्रवाह और सत्त्वगुणरूपी जल के स्थिर और गहरे दह ज्यादा हैं। क्या कहूँ। यह मायानदी नटखट है। उसमें पुनर्जन्म के जोरदार बहाव में सत्यलोक के तटभी बह जाते हैं और उसके कारण ब्रह्मांडरूपी शिलाखंड भी शीघ्र ही लड़खड़ा कर टूट जाते हैं ॥७६-८०॥ इस तरह की मायानदी के पार कौन जा सकता है ?

यहाँ और भी एक अजीब बात है कि इस मायानदी के पार जाने के लिये जो कोई उपाय हम करते हैं वे सब अपाय ही होते हैं। जो कोई अपनी बुद्धि के भरोंसे पर उसमें डुबकियाँ लेते हैं, उनको उसका पता भी नहीं लगता। और जो कोई ज्ञानरूप दह में कूदते हैं उनका घमंड उन्हें निगल जाता है। जो कोई तीन वेदों के ढाँचे लेकर निकले हैं, वे अहंकार के पत्थर बांध लेने से मदरूपी मछली के मुँह में जा पडते हैं। जो कोई जवानी के जोश में कामदेव का आसरा लेते हैं, उनको विषयरूपी मगर चबचबा कर खाते हैं। ॥८१-८५॥ और जो कोई बुढापे की लहर में फँस जाते हैं, वे बुद्धिभ्रंश के जाल में चारों तरफ से जकड़ जाते हैं। फिर वे शोकरूपी चट्टान पर टकरा कर क्रोध के भँवरे में गिरते हैं और वहाँ जब वे जरासा सिर उठाते हैं तो विपत्ति के गीध उनको नोंचकर खाते हैं। फिर वे दुःखरूपी कूड़े में फँस कर मृत्यु के कीचड़ में गड़ जाते हैं। इस प्रकार जो विषय सुख के पीछे लगते हैं वे निकम्मे होते हैं। जो कोई यज्ञकर्म की पिटारी पेटके नीचे बांध कर चलते हैं, वे स्वर्गसुख के खोंडर में अटक जाते हैं। और जो कोई मोक्षप्राप्ति की इच्छासे कर्मपर भरोसा रखकर निकलते हैं, वे विधिनिषेध के चक्कर में पड़ते हैं। ॥८६-९०॥ जिस के यहाँ वैराग्यरूपी नाव नहीं चलती और विवेक का बल्ला भी नहीं होता, उसको इस मायानदी के पार जाना शायद ही संभव हो पाता है। ऐसी यह मायानदी पार करना मानव के स्वाधीन है यह कहना किस तरह व्यर्थ है यह मैं अब बताऊंगा। यदि पथ्य न पालनेवाला रोगी स्वस्थ हो, या साधु दुर्जन के विचार समझ सके, या लोभी प्राप्त हुई सिद्धि को छोड़ दे, या चोरों की सभा संपन्न हो, मछली काँटा खुशी से निगल ले, या कायर से डर कर पिशाच पीछे हटे, या हिरन का छोना जाल कुतर दे, या चींटी मेरुपर्वत लाँघे, तो ही जीव इस मायानदी के पार

जा सकेगा। ॥९१-९५॥ इसलिये, हे अर्जुन, जैसे विषयासक्त आदमी स्त्री को वशमें नहीं रख सकता, उसी तरह जीव अपने बलपर इस मायानदी को पार नहीं कर सकता। किंतु जो कोई अनन्यभाव से मेरी आराधना करते हैं, वेही इस मायानदी को पार कर सकते हैं। इतनाही नहीं, उनके इस किनारे रहते हुए भी, वह मायारूपी मृगजल अदृश्य हो जाता है। जिन्होंने सद्गुरु के रूप में केवट पाया है, और अनुभव का आसरा दृढ़तासे लिया है, जिनको आत्मबोध की नौका प्राप्त हुई है, और जिन्होंने अहंकार का बोझ फेंक कर, प्रेम की धारा टालकर, ब्रह्मकी और आत्मा की एकताही उतार जानकर, और आत्मज्ञान का तारा गाँठ कर निवृत्ति के परले किनारे पर चल दिया है ॥९६-१००॥ वे ही वैराग्य के तेजी से सटासट हाथ चला कर, सोहंभाव के बलसे तैर कर निवृत्तिरूपी तटपर अनायास पहुँचते है। इस उपायसे जो मेरी उपासना करते हैं, वे मायानदी पार करते हैं, किन्तु ऐसे भक्त विरले होते हैं बहुत नहीं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

क्योंकि उस एकनिष्ठ भक्त के सिवाय दूसरे प्राणियों को अहंकार का पिशाच पछाड़ता है और उससे उनको आत्मस्वरूप का विस्मरण होता है। उस समय नियमों की धोती छूट भी गयी तो उनको सुध नहीं होती, अधःपतन की उन्हें शर्म नहीं आती और वेदोंने जिनको निषिद्ध कहा है वह कर्म करना उन्हें अच्छा लगता है। हे अर्जुन, सोचो, जिस प्रयोजनसे वे इस देहरूपी गाँवमें आये हैं उस को भूल कन ॥१०१-०५॥ वे इंद्रियरूपी मार्गपर 'मैं' और 'मेरी' ऐसी बकबक करते हुए बहुत प्रकार के विकार जोडते हैं। फिर दुःख और शोक की फटकार लगने पर भी उनको उसकी याद नहीं रहती। मेरे कहने का उद्देश्य यह है कि वे माया से ग्रस्त होकर मुझसे वंचित होते हैं। ये मेरे भक्त चार प्रकार के होते हैं। उन चारों में पहले को आर्त, दूसरे को जिज्ञासु, तीसरे को अर्थार्थी और चौथे को ज्ञानी कहते हैं। उनमें से आर्त दुःख दूर करने के लिये, जिज्ञासु ज्ञानकी इच्छासे, अर्थार्थी द्रव्यके लालच से मेरे

भक्त होते हैं ॥१०६-१० ॥ किन्तु जो चौथा भक्त होता है उसको कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता । इस तरह वह ज्ञानी भक्त मेरा सच्चा भक्त होता है । क्योंकि यद्यपि ज्ञान की रोशनी में वह भेदाभेद के अहंकार से मुक्त होकर मुझसे एकरूप हो चुका है, तथापि वह मेरा भक्त बनकर ही रह जाता है । किन्तु साधारण लोगों की निगाह में जैसे स्फटिक जल सा दिखाई देता है, वही प्रकार ज्ञानी के बारे में है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है । जिस तरह समीर शांत होकर आसमान में लुप्त हो जाता है, और तब आसमान से अलग नहीं भाता, उसीतरह मुझसे एकरूप होनेपर भी उसका भक्ति का प्रण समाप्त नहीं होता । जैसे हवा चलने पर आसमान से निराली लगती है, जब कि वास्तव में वे दोनों एकही होते हैं, ॥१११-१५ ॥ वैसेही ज्ञानी शरीर से कर्म करता हुआ भी मेरा भक्त लगता है । किंतु अनुभव के तौर पर वह मद्रूप होकर ज्ञान के प्रकाश में मैं उसकी आत्मा हूँ ऐसा जानता है । इसलिये मैं भी प्रसन्न होकर उस को मेरी आत्मा मानता हूँ । अरे, जीवन, का अंतिम संकेत पहचानकर, जो बरताव करता है, वह देह के कारण निराला होकर भी मुझसे कैसे भिन्न होगा ?

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८ ॥

इसलिये जो अपने स्वार्थ के लिये मुझसे चिपकता है उसे भी मैं चाहता हूँ । लेकिन जिस पर मैं असीम प्रेम करता हूँ वह केवल ज्ञानी भक्त है । देखो, दूधके लालच से सब लोग दुहते समय गौ के पिछले पैरों को रस्सी बांधते हैं, किन्तु यह किये बिना वह अपने बछड़े को दूध कैसे पिलाती है ? ॥११६-२० ॥ क्योंकि तन मन प्राणसे वह बछड़ा माँ के सिवाय दूसरे किसी को पहचानताही नहीं और गौ को देखतेही 'वह मेरी माँ है' ऐसे जानता है । वह बछड़ा गौ का अनन्य भक्त होता है, इसलिये वह गौ भी उसीसे प्यार करती है । इसलिये रमानाथ श्रीकृष्ण ने जो कहा वह सच है । फिर श्रीकृष्ण बोले, और जो दूसरे भक्त हैं, जिन के बारे में मैंने कहा था, वे भी अच्छे हैं । किंतु जो ज्ञान होनेपर मृत्युलोक को लौट आना भूल गये, वे मुझको अत्यंत प्रिय हैं । जिस तरह नदी समुद्र से मिलने के बाद पीछे नहीं मुड़ती, उसी तरह जब अनुभूतिरूपी गंगा जिसके अंतस्तल की दरीसे निकल कर

मुझमें मिलती है, वह भक्त मद्रूप होता है। उसका वर्णन मैं कितना करूं ॥१२१-२५॥ यों जिसको ज्ञानी कहते हैं, वह मेरी आत्माही है। यह कहना नहीं चाहिये, लेकिन संयोग से मैं बता चुका हूँ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

जो योगी विषयरूपी घने जंगल में कामक्रोध की दुर्गम विपत्तियाँ टालकर सद्वासना का पहाड़ चढ़ते हैं, और साथ साथ, हे वीरश्रेष्ठ, जो साधुसंतों की संगति में दुराचार की पगडण्डी छोड़कर सदाचार के राजपथ पर चलने लगता है, और जो फलाशा का जूता न पहने हुए सैकड़ों जन्म भक्ति के मार्ग पर चलता है, ऐसा वह ज्ञानी भक्त क्या फलों के हेतुओं का हिसाब-किताब करने बैठेगा ? इस प्रकार जब वह अनेक देह धारण करता हुआ अज्ञानरूपी रात्रि में उपाधिरहित हो कर यात्रा करता है, तब अनायास उसका कर्मक्षय हो जाता है और ज्ञानकी प्रभात होती है ॥१२६-३०॥ उस समय गुरुकृपा का भोर होकर ज्ञानसूर्य की कोमल धूप में उसकी दृष्टि के सामने समता का ऐश्वर्य प्रकट होता है। वह जहाँ कहीं दृष्टि डालता है, वहाँ उसको मैंही दिखाई देता हूँ। ज्यादा क्या कहूँ, वह मेरे बिना कुछ नहीं देखता। जिस तरह जल में डूबे हुए मटके के अंतर्बाह्य सब जलही होता है, उसी तरह वह मेरे भीतर और मैं उसके अंदर और बाहर विद्यमान हूँ, किंतु यह शब्दों में नहीं कहा जा सकता। इस तरह उसका ज्ञान का भंडार खुल होता है, और वह जहाँ जाता है, वहाँ मैं विश्वरूप हूँ ऐसा वह यक़ीन करता है। ॥१३१-३५॥ तब यह विश्व वासुदेवमय है ऐसी उसकी अनुभवयुक्त श्रद्धा होती है, इसलिये वही भक्त-शिरोमणि, वही ज्ञानी होता है। हे अर्जुन, उसके अनुभव की कोठी में सब विश्व समाया हुआ है, ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है। इसके अलावा, कई ऐसे भक्त हैं जो विषयभोग के लालच से मेरी आराधना करते हैं और फलाशा से अंधे हो जाते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

और कर्मफल की इच्छासे अनेक हृदय में जब कामवासना पैठ जाती है तब ज्ञान का दीप बुझही गया ऐसा समझो। इस रीतिसे वे अंतर्बाह्य अज्ञान के अंधेरे

में फँस कर मुझसे अलग होते हैं, और पूर्ण भक्तिभाव से अन्य देवताओं को भजते हैं। ॥१३६-४० ॥ ऐसे आदमी पहलेही से माया के गुलाम और विषयभोग के लिये व्याकुल होते हैं, फिर क्या पूछिये देखो, विषयासक्त होकर वे अन्य देवताओं को कैसे भजते हैं ? किन नियमों के अनुसार, किन साधनसामग्री से और किन चीज़ों से इनकी आराधना करें यह सोच कर वे शास्त्रोक्त विधि से उनकी यथोचित पूजा करते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१ ॥

किंतु जो भक्त जिस फल की इच्छासे किसी देवता की भक्ति करते हैं, उनकी वह इच्छा मैं ही पूरी करता हूँ। देखो, देवताओं का मैं ही अंतर्यामी हूँ, किंतु उनकी वैसी श्रद्धा नहीं होती। क्योंकि उन भिन्न भिन्न देवताओं के बारे में उनकी विशिष्ट भावना होती है।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥२२ ॥

फिर जिस देवता पर उनकी श्रद्धा होती है, उसकी अपना उद्दिष्ट साध्य होने तक यथाविधि आराधना करते हैं। ॥१४१-४५ ॥ यों इससे वे इच्छित फल पाते हैं, किन्तु वह फल मैंने ही दिया होता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३ ॥

ऐसे भक्त मुझको नहीं जानते, क्योंकि वे संकीर्ण विचारों के चंगुल में फँसे होते हैं। इसलिये यद्यपि उन्हें इच्छित फल प्राप्त होता है, तो भी वे फल नश्वर होते हैं। प्रायः इस प्रकार की भक्ति संसार का साधन बनती है। हाँ, यदि उनका फल प्राप्त होता है, तो भी वे फल नश्वर होते हैं। प्रायः इस प्रकार की भक्ति संसार का साधन बनती है। हाँ, उनका फलभोग स्वप्न सुख के समान क्षणिक है। वे जिस इष्ट देवता की पूजा करते हैं, उसी को वे मरने के बाद पाते हैं। इसके विपरीत जो मुझे तन मन अर्पण करते हैं,वे मेरे ही भक्तिमार्ग पर चल कर मृत्यु के बाद मुझमें

विलीन होते हैं ॥१४६-५० ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४ ॥

किंतु साधारण लोग ऐसा नहीं करते, और तुच्छ फल की अभिलाषा से अन्य देवतों की आराधना करते हुए अपना हित खो बैठते हैं । ये प्रयत्न हथेली में जल लेकर उसमें तैरने के समान है । अमृत के समुद्र में कूद कर क्यों मुँह बंद कर रहें और डूबने के भय से जल को क्यों याद करें ? ऐसा क्यों करे कि अमृत से अमर हो कर सुख से क्यों न रहें उसी प्रकार, हे अर्जुन, इस फलाभिलाषा का पिंजड़ा छोड़ कर अनुभवरूपी परों से चिदाकाश में उड़ान भर कर उसका मालिक क्यों न बने ? और जो चिदाकाश अपने अत्युत्तम प्रभाव से फैला हुआ है, उसमें यथेच्छ उड़ान क्यों न करे ? ॥१५१-५५ ॥ मैं जो अमाप हूँ उस को मापने की चेष्टा क्यों करें ? मैं जो निराकार हूँ तो मुझ को साकार क्यों समझें ? सब प्राणियों में मैं मौजूद हो कर भी मेरी प्राप्ति के किये बाह्य साधन जुटाने के कष्ट क्यों उठायें ? किन्तु, सच कहूँ तो ऐसे सवाल किसी के मन में नहीं उठते ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

क्योंकि ये जीव आदिमाया के पर्दे से ढँके हुए हैं । इसलिये मेरे प्रकाशरूप होते हुए भी देहबुद्धि के कारण वे मुझको नहीं पहचानते । नहीं तो ऐसी क्या कोई चीज है जिसमें मैं नहीं हूँ ? कौनसा जल इस के बिना है ? समीर का स्पर्श किसे नहीं होता ? आसमान कहाँ नहीं फैला हुआ है ? इस विश्व में मैं अकेला भरा हुआ हूँ ॥ १५६-६० ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन, आजतक जो कोई प्राणी जन्मे थे, उनमें मैं था ही । आज इस समय पर जो प्राणी है, उन में भी मैं हूँ । और जो भविष्यमें होनेवाले हैं वे भी मुझ से भिन्न नहीं होंगे । किन्तु यह सब बोलने का ढंग है । सच में यह सब कुछ नहीं होता, या

किसी का नाश नहीं होता । रस्सी से भासमान होनेवाला साँप काला है, भूरा है या गेहूँआ है इस की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह प्राणिमात्र मिथ्या होने से उनके बारे में कल्पना नहीं हो सकती । इस प्रकार, हे अर्जुन, मैं सब प्राणिमात्र में व्याप्त हूँ, फिरभी उनके पीछे जो संसार लगा है उसकी कथा अलग है । वह मैं अब तुम्हें बताता हूँ । जब अहंकार और काया इन दोनों में प्रेम हो गया, ॥१६१-६५ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

तब इस प्यार के फलस्वरूप इच्छा नामक पुत्री का जन्म हुआ । जब वह भर जवानी में आई, तो उस ने द्वेष से प्रीति की । फिर इस दंपति को सुखदुःखरूपी द्वन्द्वमोह नाम का बेटा हुआ, और उसके नानाजी अहंकार ने उसका पालनपोषण किया । यह लड़का मनोधैर्य और इंद्रियनिग्रह इन दोनों को आड़े हाथों लेता है और वह आशारूपी दूध पी कर मोटा होता है । फिर, हे धनुर्धर, वह असंतोषरूपी शराब पी कर उन्मत्त होकर विषयरूपी मकान में विकृति के साथ खुशी से रहने लगता है । उसने शुद्धभक्ति के मार्ग पर संदेह के काँटे बिछाये और दुष्कर्मों की पगडंडियाँ बना दीं ॥ १६६-७० ॥ उससे सब प्राणि भ्रमित होकर संसाररूपी जंगल में पड़े और महादुःख के झपट में कुचल गये हैं ।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता: ॥ २८ ॥

इस तरह जो विकल्प के प्रखर किंतु विफल काँटे देख कर भ्रांति के पास नहीं फटकते, और अनन्य भक्ति के मार्गपर पाँव रख कर विकल्पों के काँटे कुचल कर महापापों के वन टाल देते हैं, वे पुण्य की शीघ्र गति से मेरे पास आते हैं और इस तरह काम और क्रोध इन बटमारों से मुक्त होते हैं ।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदु: कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

फिर, हे अर्जुन, जो यह जन्ममरण की कहानी समाप्त करने की इच्छा से प्रयास

करते हैं, उनका प्रयत्न कभी न कभी सफल होता है ॥१७१-७९ ॥और उनको ब्रह्मप्राप्ति का फल मिलता है, जिस से पूर्णता का रस टपकता है । उस समय वे कृतार्थ होते हैं, इसलिये उनको भाता है कि सब संसार आनंद से भरा हुआ है । उस अवसर पर आत्मज्ञान की अपूर्वता होने के कारण कर्म का प्रयोजन समाप्त होता है और उनका चित्त शांत हो जाता है । हे धनंजय, इस तरह उन को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है । इस आत्मप्राप्ति के व्यवसाय में मैं ही उनका मूलधन होता हूँ । फिर उसकी समदृष्टि बढ़ कर वे एकता के कारण संपन्न हो जाते हैं और भेदभाव का दैन्य महसूस नहीं करते ।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३० ॥

वे मेरा आधिभौतिकरूप अनुभवसे जान कर मेरे आध्यात्मिक रूप के पास पँहुच जाते हैं ॥१७६-८० ॥ फिर जब वे मुझको ज्ञान के बल पर अधियज्ञ की दृष्टि से देखते हैं, तो वे देह के वियोग से दुःखित नहीं होते । यों जब आयु की डोर टूट जाती है, उस समय प्राणियों की जो घबराहट होती है, उसको देख कर जीवित को भी अब युगांत होनेवाला है ऐसा लगता है । किंतु न जाने कैसे, जो मद्रूप हुए हैं वे जीवन के अंतिम क्षण में मुझ से अलग नहीं होते । जो इस प्रकार पूर्ण ज्ञानी हो गये हैं वे ही सच्चे योगी हैं । किंतु जब श्रीकृष्ण यह कह रहे थे, तब उनके वचनरूपी सुरोही के नीचे अर्जुन की ध्यानरूपी अंजली नहीं थी । क्योंकि उसका ध्यान पिछले वचन पर अड़ा हुआ था ॥॥१८१-८५ ॥ वहाँ परब्रह्म के निरूपण में वचनरूपी फल विपुल अर्थरूपी रस से भरे हुए थे और उन की भक्तिरूपी सुगंध चारों ओर महक रही थी । उस समय श्रीकृष्णरूपी पेड़ के वचनरूपी फल श्रीकृष्णरूपी मंद हवा से अर्जुन के श्रवणपुटमें अनायास आ पड़े । तब वे फल ऐसे लगते थे मानो वेदान्त के सिद्धान्तों से बने हुए हैं, ब्रह्मरस के समुद्र में भीगकर निकल आये हैं और परमानंद की चीनी में घोले हुए हैं । उन सिद्धान्तों का निर्मल स्वरूप देख कर अर्जुन को उनको जानने की इच्छा हुई और वह विस्मयरूपी अमृत के घूँट पीने लगा । उस समय जो उसको सुख हुआ उससे वह स्वर्गसुख से भी मुँह बनाने लगा और उसके दिलमें गुदगुदी होने लगी । ॥१८६-९० ॥उन फलों के बाह्य सौंदर्य से अर्जुन का

आनंद बढ़ने लगा और उसका स्वाद चखने की उसको तीव्र इच्छा हुई । इसलिये वह अनुमानरूपी हथेली पर वे वचनरूपी फल लेकर उनको अनुभवरूपी मुंह में फुरती से डालने लगा । किंतु उन को विचाररूपी जिव्हा से चखना या हेतुरूपी दाँतों से तोड़ना उस से नहीं बना, यह जान कर अर्जुन ने उनको मुँह नहीं लगाया । फिर वह विस्मित हो कर मन में कहने लगा, ये तो जल में दिखाई देने वाले नक्षत्र जैसे हैं । इन अक्षरों के सौंदर्य से उन को फल समझ कर मैं कैसे ठगा गया ? ये अक्षरों के पद नहीं हैं बल्कि आसमान की तहें हैं । और इन में हमारी बुद्धि ने कितने ही गोते लगाये, तो भी उनका पता लगना संभव नहीं है । ॥१९१-९५ ॥ फिर उनको जानने की बात तो दूर ही रही । इस तरह सोच कर अर्जुन ने श्रीकृष्ण की ओर देखा । फिर उस वीरशिरोमणि ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि हे भगवन् यह आश्चर्य की बात है कि इन सात पदों का जो गुट है उसका स्वाद किसीने अबतक चखा नहीं हैं । यों ध्यान के अभाव में केवल श्रवण से ही सिद्धान्तों का ग्रहण करना असंभव है, उनको शब्दों से प्रकट कैसे करें ? तिस पर भी, हे देवाधिदेव, आप का कहना सादा नहीं है । आप के वचनों का ठाठ बाट देख कर विस्मय भी चकित होता है । जब आप के शब्दों की किरनें मेरे कानों में पड़ीं तो आश्चर्य से मेरा ध्यान ढल गया । ॥१९६-२०० ॥

आप की बातों का अर्थ समझने के लिये मैं उत्कंठित हूँ । यह कहने में जो देरी हो रही है वह भी मुझ से सहन नहीं होती, इसलिये, हे भगवन्, शीघ्र सब निरूपण कीजिये । इस प्रकार पिछले संभाषण की ओर अनुसंधान और अगले अभिप्राय की ओर दृष्टि दे कर और सुननेकी अपनी उत्कंठा दिखा कर अर्जुनने कैसे खूबी से सवाल किया है देखिये । तिस पर भी अर्जुन ने मर्यादा नहीं छोड़ी । सद्गुरु से कुछ पूछना होता है, तो ऐसे ही अदब से काम लेना पड़ता है इस को सव्यसाची अर्जुन जानता था । अब उसके सवाल और श्रीकृष्ण के जवाब संजय कितने चाव से कहेगा वह देखिये ॥२०१-०५ ॥ अब ध्यान से सुनिये । ठेट देशी भाषा में मैं यह कथा इस तरह कहूँगा कि उससे कानों के पहले दृष्टि काम आयेगी । बुद्धिरूपी जिह्वा से उन शब्दों का स्वाद चखे जानेसे पहले ही अक्षरों का ठाठ इद्रियों को जीत लेगा । देखिये, नाक चमेली की कलियों की सुगंध सूँघती है यह बात सही है, लेकिन उसके

बाह्य सौंदर्य से भी आँखों को क्या सुख नहीं मिलता ? उसी तरह, देशी भाषा के सौंदर्य से इंद्रियों को अधिक सुख होगा और वे सिद्धान्तों का आशय आसानी से ग्रहण करेंगी । ऐसे वे सुंदर बोल सुनिये, जिनको सुनकर जिह्वा अवाक् हो जाती है, ऐसे निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं । ॥२०६-१० ॥

◆ ◆ ◆

॥ आठवाँ अध्याय ॥

अर्जुन उवाच ।

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१ ॥

फिर अर्जुन बोला, हे भगवन्, मैं ध्यान से सुन रहा हूँ । मैं जो पूछूँगा उस का स्पष्ट विवेचन कीजिये । ब्रह्म, कर्म, अध्यात्म किस को कहते हैं ? अधिभूत और अधिदैवत क्या होते हैं । यह सब इस तरह बताइये कि मैं ठीक तरह से समझ सकूँ ।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२ ॥

हे भगवन्, अधियज्ञ क्या है और वह इस देह में कौन है इस की जानकारी तर्क से ठीक नहीं होती । इस तरहसे जिन्होंने चित्त पर संयम किया है वे जीवन के अंतिम क्षण में आप को कैसे जान सकते हैं, यह भी मुझसे कहिये । ॥१-५ ॥ ज्ञानदेव कहते हैं, देखिये, चिंतामणि के महल में अगर कोई भाग्यवान पुरुष सो कर निद्रामें बकवास करता है तो भी वह निरर्थक नहीं होता । इसलिये अर्जुन ने पूछने

की ही देरी थी कि श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन, जो तुमने पूछा उसका जवाब देता हूँ सुनो । पहले ही अर्जुन था कामधेनु का बछड़ा, तिस पर उसके ऊपर था कल्पवृक्ष का शामियाना, फिर उस के मनोरथ पूरे हो गये तो उस में आश्चर्य की बात कौन सी है ? श्रीकृष्ण जिस को गुस्से में मारते हैं, वह भी ब्रह्मपद पाता है । फिर वे जिस को कृपादृष्टि से उपदेश देते हैं, उस को वह पद कैसे अप्राप्य होगा ? अगर कोई श्रीकृष्ण का ध्यान करे, तो उसका मन कृष्णमय हो जाता है और फिर सब सिद्धियाँ खुशी से उसके संकल्परूपी आंगन में सेवा करती हैं ॥६-१० ॥ इस प्रकार का अद्भुत प्रेम अर्जुन का ही था, इसलिये उसके मनोरथ निरंतर सफल होते रहे । अब अर्जुन क्या पूछनेवाला है वह ताड़ कर श्रीकृष्ण ने जवाब की थाली परोस कर उसके सामने रख दी । जब दूधपीता बच्चा स्तनपान करने के बाद मुँह मोड़ लेता है, तब उसका पेट भरा है या नहीं यह माँ भाँप लेती है । नहीं तो वह दूध पिलाने को मुँह खोल कर थोड़े ही कहता है ? ऐसा ही कृपालु गुरु का तरीक़ा होता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं । अब भगवान ने क्या कहा, सुनिये ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३ ॥

फिर सभी के जो मालिक हैं, उन श्रीकृष्ण ने कहा । जो इस फूटे हुए शरीर में रह कर भी कभी टपकता नहीं, ॥११-१५ ॥जो इतना सूक्ष्म है कि उस को आसमान के अंचल में छान लेने पर भी वह शून्य नहीं है और जो पतला और विरल होते हुए भी प्रपंच की खोल हिलाने पर टपकता नहीं, वही परब्रह्म है । और जो साकार होने पर भी जन्म के विकार नहीं जानता और आकार नष्ट होने पर भी लुप्त नहीं होता, ऐसा जो ब्रह्म, निरंतर अपनी निज स्थिति में रहता हैं । फिर निरभ्र आसमान में न जाने कहाँ से एकाएक रंगबिरंगे बादल के पुँज आते हैं, ॥१६-२० ॥वैसे ही उस निराकार ब्रह्म से महदादि भिन्न तत्त्व उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मांड की रचना शुरू होती है । जब निर्विकल्प ब्रह्म के बंजर भूमि में आदिसंकल्प का बीज जम गया, तब उस से अंकुर निकल कर ब्रह्मांड के गोलक आये । हरेक गोलक को ध्यान से देखने पर तुम्हें मालूम होगा कि वह ब्रह्म के आदिबीज से ही भरा हुआ होता है । और उस से जो अपार जीवसृष्टि पैदा होकर नष्ट होती है, उस की गिनती नहीं हो सकती ।

फिर इस ब्रह्मगोलक से अनगिनत संकल्प उत्पन्न होते हैं और इस तरह सृष्टि की लगातार वृद्धि होती है। परंतु इन सभी में अद्वितीय ब्रह्म भरा होता है और उस पर अनेकता या भेदभाव उमड़ी हुई नदी की बाढ़ जैसा दीखता है। ॥२१-२५॥ यों हम नहीं जानते कि इस पृथ्वीतल पर सम और विषम भाव कैसे पैदा हुए। इस चराचर विश्व की रचना यदृच्छा से हुई ऐसा मानें, तो भूतमात्र की लाखों जातियाँ दिखाई देती हैं। अन्यथा इस जीवरूपी कोपलों की संख्या की मर्यादा हम नहीं जान सकते। किंतु यदि हम उसकी जड़ खोजें, तो उस की उत्पत्ति ब्रह्म से ही हुई है ऐसा मालूम होता है। बुनियादी बात यह है कि इसके कर्ता का पता नहीं लगता और इस सृष्टि का कारण भी नहीं दिखाई देता। किंतु बीच में इस सृष्टि में अदलबदल हो जाते हैं। इस प्रकार जो कुछ किये बिना निराकार ब्रह्म के साकार होने पर सृष्टि में जो हेरफेर होते हैं उनको 'कर्म' कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अब अधिभूत किसको कहते हैं वह भी मैं संक्षेप में कहूँगा। जैसे आसमान में बादल आकर तितर बितर होते हैं, ॥२६-३०॥ वैसे ही जो सचमुच झूठ और नश्वर है, जो पाँच महाभूतों के पाँच पाँच अंश एक साथ लेकर बना हुआ है, जो इस तरह पाँच महाभूतों से संयोग होने पर दिखाई देता है, किंतु उनसे वियोग होने पर जिसका नामरूप ग़ायब हो जाता है, उस को अधिभूत कहते हैं। जीवात्मा अधिदैवत है ऐसा समझो। प्रकृति से जो कुछ पैदा होता है, उसका यह जीवात्मा उपभोक्ता है। यह जीवात्मा चेतना का चक्षु, इंद्रियपरगने का शासक, और देहान्त होने पर जिस पर संकल्परूपी पंछी विश्राम करते हैं वह पेड़ है। यह जीवात्मा बुनियादी तौर पर परमात्मा ही है, लेकिन अहंकार रूपी निद्रासे घिरा हुआ जीवनरूपी स्वप्न के उद्योग में मगन होता है और सुख और दुःख का अनुभव करता है ॥३१-३५॥ जिसको जीवात्मा कहते हैं उसको अधिदैवत समझो; वह इस पंचमहाभूतों से बना हुआ है। और इस शरीर में मैं हूँ ऐसी जो संवेदना होती है, उसको मिटानेवाला मैं अधियज्ञ हूँ। और एक बात यह है कि इन अधिभूत और अधिदैवत में मैं ही हूँ। किंतु, क्या पन्द्रह कस के सुवर्ण में हलकी धातु की मिलावट हो तो वह भी अशुद्ध

नहीं होता ? फिर भी वह शुद्ध सुवर्ण मैला नहीं होता अथवा वह उस हीन-कस में हिल मिल कर नहीं रहता । लेकिन जबतक वह सोना उस हल्की धातु के साथ जुड़ा रहता है, तब तक उस को हीन-कस ही कहना पड़ता है । इसीतरह अधिभूत और अधिदैवत जब तक अविद्या के अंचल में ढँके हुए हैं, तब तक उनको परब्रह्म से भिन्न समझना चाहिये । ॥३६-४० ॥ किंतु यह अविद्या का आवरण हट जाने से जब यह भेदभाव मिट जाता है, और अधिभूत और अधिदैवत ब्रह्मरूप हो जाते हैं, तब वे क्या अलग होते हैं ? यदि बालों के गुच्छे पर स्फटिक की शिला रख दी जाए तो वह खंडित हुई सी दिखाई देती है । फिर उसी गुच्छ को वहाँ से हटा देने पर उस शिला की दराव तुरंत ग़ायब होती है । तब क्या वह टाँका से जुड़ी जाती है ? वास्तव में यह बात तो होती नहीं , वह शिला शुरू से ही अखंड थी । किंतु जो वह बालों से संबंध आने पर टूटी सी दिखाई देती थी वह बाल हट जाने पर जैसी की वैसी अखंड दिखाई देती है । उसी तरह अहंभाव मिट जाने पर यह जाना जाता है कि अधिभूत और अधिदैव की परब्रह्म के साथ एकता प्रारंभ से ही रहती है । जिसके साथ उनकी यह एकता होती है, वह अधियज्ञ मैं ही हूँ । ॥४१-४५ ॥ हे अर्जुन, यही आशय मन में रख कर मैंने तुम्हें कहा था कि सब यज्ञ कर्म से पैदा होते हैं । जिसमें जीवात्मा अंत में विश्राम करता है वह मोक्ष की धरोहर मैंने आज तुम्हें प्रकट की है । पहले वैराग्य का इंधन भरपूर डाल कर इंद्रियाग्नि सुलगाना और उसमें विषयों का हवन करना । फिर शरीर के मंडप में वज्रासन की शुद्ध बैठक लगा कर उस पर आधारमुद्रा की यज्ञवेदी ऱचाना । और इंद्रियाग्नि के अग्निकुंड में योगमंत्र से इंद्रियों का हवन करना । ॥४६-५० ॥ पश्चात् मन और इंद्रियों का संयम होम की सामग्री लेकर उससे निर्मल ज्ञानाग्नि को तृप्त करना । इस प्रकार ज्ञानाग्नि में अपना सब कुछ अर्पित करने से ज्ञान ज्ञेयसे एकरूप होता है और अकेला ब्रह्म ही रह जाता है । इस ज्ञेय का ही नाम अभियज्ञ है । यह जब सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने कहा तब वह अर्जुन को तुरंत भाया । यह जान कर श्रीकृष्ण पार्थ से बोले कि हे पार्थ, तुम ठीक सुनते हो । श्रीकृष्ण की यह बात सुन कर अर्जुन को अपनी सफलता पर संतोष हुआ । देखिये, नन्हे बालक की तृप्ति होनेपर माँ को सुख या शिष्य का समाधान होने पर गुरु को संतोष कैसा होता है वह सिर्फ़ माँ या गुरु ही जाने । ॥५१-५५ ॥ इसलिये अर्जुन से पहले ही श्रीकृष्ण में सात्त्विक भावनाओं की इतनी

भीड़ हुई थी कि वे उन को संभाल नहीं सके। फिर भी उन्होंने अपनी बुद्धि को किसी तरह संभाल लिया और वे कमाल सुख की सुगंध या शीतल अमृत की लहरों के समान मृदु और मधुर बातें कहने लगे। उन्होंने कहा, हे सुननेवालों में श्रेष्ठ अर्जुन, ध्यान दे कर सुनो। जब माया जल जाती है, तब उसको जलानेवाला ज्ञान भी जल जाता है।

अंतकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५ ॥

अरे, मेरे वचन के अनुसार जो आरंभ से अंततक मुझ को अधियज्ञ जानते हैं, वे शरीर को बैठक समझ कर आत्मस्वरूप में स्थिर रहते हैं। जिस तरह मठ में भरा हुआ अवकाश आकाश में रहता है, ॥५६-६० ॥ 'उसी तरह जब वह अनुभवरूपी अंतःपुर के दृढनिश्चय रूपी कमरे में प्रवेश करता है, तब उस को बाह्य वस्तुओं की भी सुधि नहीं रहती। इस तरह जो अंतर्बाह्य मुझ से एकरूप हो कर रहा है, उसके शरीर के पाँच महाभूतों के छिलके उसके अनजाने में ही झर जाते हैं। जो शरीर खड़े होते हुए भी उस की चिंता नहीं करता, उस को देहपतन का कैसे दुःख होगा ? इसलिये उसकी अनुभूति जीवन के अंतिम क्षण तक नहीं ढलती, क्योंकि जो अनुभूति एकता के साँचे में डाली हुई, नित्यता के ढाँचे में रखी हुई, और सामरस्य और समता के समुद्र में धोई गयी है, वह विषयोपभोग से मैली नहीं होती। अरे गहरी दह में डूबा हुआ घट अंतर्बाह्य जल से भरा होता है, फिर जब वह एकाएक टूट जाता है तब क्या जल भी खंडित होता है ? ॥६१-६५ ॥ अथवा साँप केंचुकी छोड़ देता है या गरमी की वजह से कोई व्यक्ति वस्त्र उतार देता है, तो क्या उसके अवयव भंग होते हैं ? उसी तरह यदि ऊपरी दिखावटी शरीर नष्ट हुआ, तो उसकी बुद्धि, जो सब जगह भरे हुए ब्रह्म से एकरूप हुई है, कैसे नष्ट होगी ? इसलिये जीवन के अंतिम क्षण में जो मेरा स्मरण कर के देहत्याग करते हैं, वे मद्रूप होते हैं। प्रायः एक साधारण नियम है कि जिस आदमी को जीवन के अंतिम क्षण में जिस वस्तु की याद आती है, वह मरने पर उसी के पास पँहुच जाता है। जिस तरह जब कोई व्यक्ति डर कर वेग से भागता है और सहसा कुएँ में गिर जाता है, ॥६६-७० ॥तब वह सँभालकर अपने को गिरने से बचा नहीं सकता और उसको

विवश हो कर कुएँ में गिरना ही पड़ता है, और जिस तरह जागृति में जिस चीज की रट लगती है, वही आँख लगने पर स्वप्न में दिखाई देती है,

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६ ॥

उसी तरह जिंदगी में जिस बातकी चाह होती है, वही मौत के समय बढ़ कर याद आती है और उसी दशा को वह पहुँच जाता है । इसलिये तुम प्रति दिन मेरा स्मरण करो ॥७१-७५ ॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्यच ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामिवैष्यस्यसंशयः ॥७ ॥

हम जिस को आँखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, मन से सोचते हैं और बानी से बोलते हैं, उसके अंतर्बाह्य मैं ही हूँ ऐसा समझो । इससे तुम विश्वास करोगे कि सब जगह में मैं ही भरा हुआ हूँ । हे अर्जुन, यह ज्ञात होनेपर तुम को मृत्यु का डर नहीं महसूस होगा, फिर युद्ध करने में तुम्हें क्या हिचकिचाहट होगी ? यदि तुम अपना मन और बुद्धि मुझ को अर्पित करोगे, तो तुम मेरे पास पहुँच जाओगे यह मैं सौगंध खा कर कहता हूँ । अगर तुम्हें शक है कि यह कैसे होगा, तो तुम योगाभ्यास से इसका अनुभव करो और ऐसा न हो तो मुझ से रूठ सकते हो ॥७६-८० ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थाऽनुचिन्तयन् ॥८ ॥

फिर योगाभ्यास से चित्त शुद्ध करो । अरे, युक्ति के बल पर पंगु भी पहाड़ चढ़ जाता है । उसी तरह योगाभ्यास से चित्त को अध्यात्म के मार्ग पर ले चलो, चाहे शरीर रहे या न रहे । अनेक दशाओं में ले चलनेवाला यह चित्त अगर आत्मा में मग्न होगा, तो देह गयी या रही इस की चिंता कौन करेगा ? यदि नदी वेग से समुद्र को मिलने जाती है, तो वह पीछे क्या बीता है यह देखने को क्या लौट आती है ? नहीं, वह तो समुद्र से एकरूप हो कर रहती है । उसी प्रकार, यह चित्त आनंदघन आत्मा से एकरूप हो कर रहता है, जिस से उस के जन्ममरण के फेरे समाप्त हो जाते हैं ॥८१-८५ ॥

कविं पुराणमनुशासितारम् अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१० ॥

यह ब्रह्म निराकार हो कर जन्ममृत्यु से परे है और सर्वसाक्षी है, वह आसमान से पुराना और परमाणुसे सूक्ष्म है, और उसके सान्निध्य में दुनिया के सब व्यापार चालू रहते हैं। यह सब दृश्य जगत् उससे पैदा होता है और उसके प्रभाव से जीवित रहता है। उससे घबरा कर कार्यकारण भाव दूर रहता है और वह कल्पना के परे है। जिस तरह दीमक अंगारे में नहीं जाती या अंधेरा प्रकाश में नहीं प्रवेश कर सकता, वह ऐन दोपहर में भी चर्मचक्षु को दिखाई नहीं देता। वह सूर्यकिरणों के पुंज के समान हो कर ज्ञानी जनों को सदा रोशन होता है और उस को ' अस्तंगत' शब्द लक्षणा से भी लागू नहीं होता। ॥८६-९० ॥ ऐसे निर्दोष ब्रह्म को जान कर वह जीवन के अंतिम क्षण में स्थिर चित्तसे स्मरण करता है और पद्मासन लगा कर और उत्तर दिशा में ताक कर कर्मयोग से प्राप्त हुए शाश्वत सुख का स्मरण करता है और एकाग्रचित्त से आत्मप्राप्ति के लिये तत्पर रहता है। फिर शीघ्र आत्मप्राप्ति के लिये साध्य किये योग का आसरा लेकर मध्यमा नाड़ी के मार्ग से अग्निस्थान से ब्रह्मरंध्र में जाने के लिये उद्यत होता है, जहाँ प्राण का चित्त से जोड़ है ऐसा यूँही आभास होता है और प्राण का लय चिदाकाश में होता है ॥९१-९५ ॥ उसके बाद जब वह चित्त में स्थिर और भक्ति की भावना से प्रभावित हो कर योगबल से सज्जित होता है, तब वह प्राण और चित्त इन दोनों को आज्ञाचक्र में विलीन करता है। जैसे घंटी का नाद घंटी में लय पाता है,या बरतन में ढँकी हुई बत्ती कब बुझ जाती है यह मालूम नहीं होता, वैसे ही वह देह का त्याग करता है। जो शुद्ध परब्रह्म है और जो परमपुरुष कहा जाता है, उस तेजःस्वरूप को पा कर वह उस में विलीन होता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११ ॥

सब ज्ञानों की पराकाष्ठा आंत्मज्ञान है और परब्रह्म जो उसकी खान है, उस को ज्ञानी लोग बुद्धिपूर्वक अक्षर कहते हैं। ॥९६-१०० ॥ जो आँधी से भंग नहीं

होता वही सच्चा आसमान है । अगर वह आसमान न हो कर बादल ही है तो वह आँधी के सामने कैसे टिक सकता है ? उसी तरह जिस को ज्ञाता जानते हैं और अपने ज्ञान से नापते हैं, वह 'क्षर'है और जो जानने केलिये अशक्य है वह 'अक्षर' है ऐसा ज्ञाता लोग कहते हैं । इसलिये वेदों के ज्ञाता जिसको अक्षर कहते हैं वह परमात्मस्वरूप है और वह प्रकृति के परे होता है । फिर वे पुरुष विषयों में जो विष है उस को उतार कर सब इंद्रियों का निग्रह करते हैं और देहवृक्ष के नीचे बैठ कर वे विरक्त हो कर उस की उत्कंठा से राह देखते हैं । और जिसको निष्काम पुरुष भी चाहते हैं ॥१०१-०५ ॥ और जिस की चाह से कई ब्रह्मचर्यादि कड़े व्रत ले कर इंद्रियों को वश में करते हैं, ऐसा जो अगम्य और दुर्लभ पद, जिसके किनारे पर ही वेद डूबते रहते हैं, उसको वे ही पाते हैं जो मेरे कथन के अनुसार देहत्याग करते हैं । इसलिये, हे पार्थ, मैं इसको फिर से दुहराऊँगा । तब अर्जुन बोला, हे भगवन्, मैं आपसे यही प्रार्थना करनेवाला था, लेकिन आपने स्वयंही यह कृपा की । अब कहिये, किंतु कृपया आप जो कहेंगे वह सुलभ करके कहें । उस समय त्रिभुवन को रोशन करनेवाले श्रीकृष्ण बोले, अरे, क्या मैं तुम को पहचानता नहीं, सुनो मैं तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ ॥१०६-१० ॥ लेकिन इस चित्त की भटकने की आदत जो है उसको तोड़ कर वह हृदय में स्थिर रहे ऐसा प्रयास करो ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२ ॥

किंतु यह तभी होगा जब इंद्रियों के द्वारा उसको निग्रहरूपी ताले से बंद करोगे । ऐसे करने से चित्त अनायास दब जाएगा और चुपचाप हृदय में स्थिर हो जाएगा । जैसे ठूँठा और पाँव से लंगड़ा आदमी घर से भाग नहीं जा सकता, वैसे ही चित्त स्थिर होने तक प्राणायामपूर्वक ध्यान करो और क्रम से प्राणवायु को ब्रह्मरंध्र तक ले जावो और वहाँ उसको धारणा के बल पर स्थिर रखो कि वह चिदाकाश से मिला या न मिला हो । उसके उपरान्त जबतक अकार, उकार और मकार ये तीन मात्राएँ अर्धमात्रा में विलीन न हों ॥१११-१५ ॥तबतक उस प्राणवायु को चिदाकाश में निश्चल करो । उन दोनों का संयोग होने पर वह प्राणवायु अपने मूल स्वरूप ब्रह्म में मग्न होकर रहता है ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

इस के बाद ओंकार का स्मरण समाप्त होता है और प्राणवायु का ही विलय हो जाता है । फिर ओंकार के जो परे है, वह आनंदघन ब्रह्म शेष रहता है । इस लिये ओंकार ही मेरा एकाक्षर रूप है । इस मेरे स्वरूप के चिंतन में जो देहत्याग करता है, वह निश्चित रूप से मुझे पाता है और फिर उसके लिये पाने लायक कुछ नहीं रहता जो मुझ से परे है । हे अर्जुन, तुम्हारे मन में शायद यह संदेह होगा कि जीवन के अंतिम क्षण में मेरा स्मरण कैसे हो सकेगा ॥११६-२०॥ किंतु जिस समय इंद्रियों पर मौत की साया आती है, जीने का सुख नष्ट होता है, और अंतर्बाह्य मृत्यु की निशानियाँ प्रकट होती हैं, तब उठ कर कैसे बैठे, इंद्रियों का संयम कैसे करे, और किस चित्त से ओंकार की याद करे ? किंतु इस संदेह को चित्त में जगह मत दो । जो मेरी लगातार सेवा करता है, उस के अंतिम क्षण में मैं उसका सेवक बनता हूँ ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

जो विषयों को तिलांजली दे कर प्रवृत्ति को मोड़ लेते हैं और दिल में मुझको क़ायम रख कर आत्मानंद का अनुभव करते हैं, उस समय वे समाधान पाकर भूख प्यास भी भूल जाते हैं, फिर वहाँ आँखें आदि क्षुद्र इन्द्रियों की क्या बात ! ॥१२१-२५॥ इस तरह वे लगातार मद्रूप हो कर मुझ से संलग्न होकर मेरी आराधना करते हैं । फिर उन के जीवन के अंतिम क्षण में मेरा स्मरण करने पर ही मैं उन के पास जाऊँ, तो उनकी उपासना का अर्थ क्या होगा ? देखो, यदि किसी कंगाल ने संकट में मेरा नाम पुकारा तो उसके दुःख से तड़प कर मैं क्या शीघ्र ही उस के पास दौड़ कर नहीं जाता ? यदि मैं अलग अलग तरीक़े से अपने भक्तों से पेश आऊँ तो कोई मेरी भक्ति के कष्ट क्यों उठाये ? अगर मैं उस के स्मरण करने पर ही न पहुँच जाऊं तो मैं उनकी भक्ति का बोझ सह नहीं सकता । इस बोझ से

दब कर मैं उस का ऋण आदा करने के लिये उस के अंतिम क्षण में उसकी सेवामें खड़ा हो जाता हूँ ॥१२६-३० ॥ मैं उस को आत्मबोध के कटघरे में सुरक्षित रखता हूँ ताकि मेरे कोमल भक्त को देह की दुर्बलता की हवा न लगे । बाद में मैं उस पर मेरी स्मृति की शांत और शीतल छाया डालता हूँ । इस प्रकार मैं ऐसी युक्ति करता हूँ कि उस की बुद्धि मुझपर केंद्रित रहे । इससे मेरे भक्त को मृत्यु का डर कभी महसूस नहीं होता और मैं उस को सुख से अपने पास लाता हूँ । फिर मैं उसके बाह्य देह का कवच उतार कर उस के झूठे अहंभाव की गंदगी स्वच्छ करता हूँ । और उस के चित्त में शुद्ध कामनाएँ स्थापित कर उस को अपने स्वरूप में समा लेता हूँ ॥१३१-३५ ॥ उस समय भक्त को देह के लिये अहंभाव नहीं होता, इस लिये देह का त्याग करने में उस को दिक्कत नहीं होती । और तब वह यह भी नहीं सोचता कि मैं वहाँ जा कर उस को अपने पास ले आऊँ क्योंकि इस के पहले ही वह मद्रूप हो चुका है । जैसे जल में चाँदनी दिखाई देती है, किंतु सच में वह चाँद में ही होती है, वैसे ही शरीर में आत्मा की परछाई होती है । इस तरह जो निरंतर योगयुक्त होता है उस के लिये मैं सुलभ हूँ । इस लिये वह मरने के बाद मेरे स्वरूप को पहुँचता है ।

फिर उस को मालूम होता है कि यह शरीर क्लेशरूपी पेड़ों का बन, त्रिविध तापों की अंगीठी, और मृत्युरूपी कौवे को दिया हुआ पिंड़ है ॥१३६-४० ॥ वह दैन्य फैलाता है, मौत का डर बढ़ाता है और यही सब दुःखों का मूलधन है । वह दुष्ट बुद्धि की जड़, कुकर्म का फल और मोह की प्रतिमा है । यह प्रपंच की नींव, विकारों का उद्यान, और सब रोगों के लिये परोसी हुई थाली है । वह मृत्यु का झूठा कौर, आशा का आसरा और जन्ममरण पैदा करनेवाला क्षेत्र है । वह भ्रांति से भरा हुआ पुतला, विकल्पों की ढली हुई मूर्ति, या बिच्छुओं का गड्ढ़ा है ॥१४१-४५ ॥ वह बाघ की गुहा, वेश्या का संग और विषय भोगने का उत्तम यंत्र है । वह डायन की दया, ठंडे जहर का घूंट, ठग की बनावटी दोस्ती, कोढी का आलिंगन, कालसर्प का मार्दव, बहेलिये का गाना, दुश्मन की मेहमानी या दुष्ट व्यक्ति का स्वागत करने के समान है । वास्तव में वह सब अनर्थों का आगार है । वह निद्रा में देखे हुए स्वप्न, मृगजल से भरे हुए बन, या धुएँ के कणों से भरे हुए आसमान के सदृश होता

है ॥१४६-५० ॥ जो मेरे पास पहुँच जाते हैं, वे इस प्रकार का देह नहीं पाते ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६ ॥

अन्यथा अकड़ कर चलने वाले ब्रह्मदेव भी जन्ममरण के फेरे नहीं टाल सकते । किंतु जैसे मरे हुए व्यक्ति के पेट में दर्द नहीं होता, या जाग्रति में स्वप्न में देखी बाढ़ में कोई नहीं डूबता, वैसे ही जो मुझ को पाते हैं वे संसार से लिप्त नहीं होते । योंही चौदह लोकों में प्रमुख, चिरस्थायी वस्तुओं में श्रेष्ठ और त्रैलोक्यरूपी पहाड़ का अत्युच्च शिखर जो सत्यलोक है, उस में इंद्र की आयु दिन का एक प्रहर भी बना नहीं रहता और एक दिन में ही चौदह इंद्रों का अन्त होता है ॥१५१-५५ ॥

सहस्रयुगपर्यंन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७ ॥

जब चार युगों के हजार चौकड़े समाप्त होते हैं, तब ब्रह्मदेवका एक दिन होता है और वैसी ही हजार चौकड़े की रात होती है । इस प्रकार के रात और दिन जहाँ हैं, वहाँ के भाग्यवान पुरुष पृथ्वी पर लौट नहीं आते और वे चिरजीवी हो कर रहते हैं । अन्य देवताओं की बात ही क्या ? उनका मुखिया जो इंद्र है उसकी क्या दशा होती है देखो । ब्रह्मदेव के एक दिन में चौदह इंद्र हो जाते हैं । किंतु ब्रह्मदेव के आठ प्रहर का दिन जो देखते हैं, उन को 'अहोरात्रि के जानकार' कहते हैं ।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९ ॥

उस सत्यलोक में जब दिन उगता है, तब उस निराकार ब्रह्म की अमाप दुनिया बनती है ॥१५६-१६० ॥ जब उस दिन के चार प्रहर पूरे हो जाते हैं, तब इस विश्व का विस्तार एकाएक घट जाता है और फिर सबेरा होते ही पहले जैसा भरने लगता है । शरद् ऋतु के प्रारंभ में बादल आसमान में घुल जाते हैं और ग्रीष्मऋतु के अंत में वापस आते हैं । वैसे ही ब्रह्मदेव के दिन के प्रारंभ में इस भूतसृष्टि का समुदाय इकट्ठा होता है और वह चार युगों के चौकड़े पूरे होने तक रहता है । फिर ब्रह्मदेव

की रात शुरू होते ही विश्व अव्यक्त में विलीन होता है और रात पूरी होने पर वह पहले जैसा साकार होता है। कहने का उद्देश्य यह है कि सत्यलोक के एक दिनरात में विश्व का निर्माण और प्रलय होता है ॥१६१-६५ ॥ इस सत्यलोक की इतनी बड़ी महिमा है कि उस में सब सृष्टि का बीज समाया होता है। किंतु जन्ममरण के माप में सत्यलोक की भी बारी आती है। हे अर्जुन, इस त्रिभुवन का विस्तार सत्यलोक में दिन उगने पर निश्चित रूप से रचा जाता है और रात का समय आने पर वह अव्यक्त से एकरूप होता है। जिस तरह वृक्षपन बीज में छुपा रहता है या बादल आसमान में घुल जाते हैं, वैसे ही इस सृष्टि का विविध रूप अव्यक्त में समाया जाता है, इसलिये इस अवस्था को साम्य कहते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२० ॥

इस साम्य अवस्थामें सम और विषम वस्तु दिखाई नहीं देती, इसलिये उस समय भूतमात्र का नाम या निशान नहीं रहता। जैसे दूध का दही होने पर दूध का नाम रूप नहीं रहता, ॥१६६-७० ॥वैसे ही आकार का लोप होने पर दुनिया का दुनियापन नहीं रहता। किंतु जिस से यह विश्व उत्पन्न हुआ है वह जैसा था वैसा ही रहता है। तब उस का 'अव्यक्त' ऐसा स्वाभाविक नाम होता है। और जब वह साकार होता है तब उसको 'व्यक्त' कहते हैं। एक दूसरे से अलग सूचित होता है, किंतु ये दो वस्तुएँ नहीं होते। अटे हुए सुवर्ण को छड़ी कहते हैं, फिर उसके जब गहने बनते हैं तब वह छडी ग़ायब होती है। ये दो रूप जैसे सुवर्ण के होते हैं वैसे ही व्यक्त और अव्यक्त ये दो रूप एक परब्रह्म के होते हैं। परंतु वह परब्रह्म न व्यक्त, न अव्यक्त, न नित्य, न नश्वर, वह तो इन दोनों विकारों के परे अनादिसिद्ध है ॥७१-७५ ॥

यह परब्रह्म विश्वाकार हो कर रहता है, लेकिन विश्व नष्ट होने पर भी उस का नाश नहीं होता उसी तरह, जिस तरह अक्षर पोंछे जाने पर भी उन का अर्थ नहीं गुम होता। देखो, जलपर लहरें आती हैं और अदृश्य होती हैं, किंतु जल अखंड ही रहता है। जैसे जल अखंड रहता है, वैसे ही प्राणी नष्ट हो जाने पर भी वह परब्रह्म अक्षय रहता है। किंवा जैसे गहने गलाने पर सोनापन नहीं गलता किंतु जैसे का

वैसा ही रहता है, उसी तरह देह का नाश होने पर भी ब्रह्म अमर रहता है ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२ ॥

उस को हम कुतूहल से अव्यक्त कहते हैं, लेकिन इस से उस की प्रशंसा नहीं होती । क्योंकि वह मन और बुद्धि पर निर्भर नहीं होता । और साकार होने पर भी उसका निराकारपन मिट नहीं जाता और आकार का लोप होने पर भी उस की नित्यता नहीं बिगड़ती ॥१७६-८० ॥ इसलिये उस को अक्षर कहते हैं और इस नाम से भी उस के अक्षयत्व का ज्ञान होता है । उस के परे कुछ नहीं होता, इस लिये उस को परमगति कहते हैं । किंतु वह इस देहरूपी शहर में सोया सा रहता है, कारण वह कुछ काम नहीं करता या करवाता है । तो भी, हे अर्जुन, इसकी वजह से किसी का काम बंद नहीं होता और दस इंद्रियों के लिये उन की राहें खुली रहती हैं । इसलिये चित्त के चौराहे पर विषयों का हाट खोल जाता है, और उस में से बड़ा हिस्सा उस को पहुँचता है । किंतु राजा सुख से सो जाने पर जैसे उस के राज्य के व्यवहार बंद नहीं होते, बल्कि उस की प्रजा स्वेच्छा से व्यवहार करती रहती है ॥१८१-८५ ॥, वैसे ही बुद्धि की समझ, मन के व्यापार, इंद्रियों की चेष्टाएँ, और प्राणों की हलचल आदि देह के व्यवहार, उसने कुछ न करते हुए भी ठीक से चालू रहते हैं, जिस तरह संसार के व्यापार सूरज न चलाने पर भी चालू रहते हैं । वह इस देह रूपी पुर में स्वस्थ रहता है, इस लिये उसको पुरुष कहते हैं, यह तुम अच्छी तरह समझो । और ऐसा भी हो सकता है कि उसने अपने प्रकृतिरूप साध्वी के साथ एकपत्नीव्रत लेने के कारण वह पुरुष कहा जाता है । वेद अपनी सर्वगामी बुद्धि से जिस का आंगन भी नहीं देख सकते, और जो आसमान में व्याप्त रहता है ॥१८६-९० ॥ और यह जान कर जिसको योगिराज परात्पर कहते हैं, वह स्वयं एकनिष्ठ भक्तों के घर की खोज में आता है । जो तन-मन-धन से अन्य बातों का विचार न करते हुए उस के भक्त होते हैं, उन की एकनिष्ठता का फल देनेवाला वह उपजाऊ खेत है । यह त्रिभुवन ही भगवान का रूप है ऐसी जिन की श्रद्धा है उन भक्तों का

वह आसरा है । वह निरभिमानियों का धन, गुणातीतों का ज्ञान, निःस्पृहों के सुख का स्थान, संतुष्ट भक्तों के सामने परोसी हुई थाली, और संसार के प्रति जो इच्छा-रहित है उन शरणागतों का शरणस्थान है, और भक्ति उस के धाम को पहुँचानेवाला सीधा मार्ग है ॥१९१-९५ ॥ हे धनंजय, योंही एक एक बात कह कर कितना बयान करूँ ? सारांश कि वहाँ पहुँच कर जीव तद्रूप हो कर रहता है । जाड़े में जैसे हलके झोंके से गरम पानी ठंडा हो जाता है, किंवा सूरज सम्मुख आते ही अंधेरा प्रकाश बनता है, वैसे ही उस अवस्था को पहुँच ने पर संसार मोक्षमय हो जाता है । जैसे काष्ठ अग्नि लगते ही अग्नि बना रहता है, और चुनने से भी फिर वह हाथ नहीं लगता, किंवा हे पांडुपुत्र, गन्ने की चीनी बनते ही कोई बडी कुशलतासे भी फिर चीनी को गन्ना नहीं बना सकता ॥१९६-२०० ॥ अथवा पारसमणि के स्पर्श से लोहे का सुवर्ण बनते ही, उस का बीता हुआ लोहापन क्या फिर से आता है ? जैसे दूध का घी होने पर वह फिर से दूध नहीं बनता, वैसे ही आत्मप्राप्ति के बाद पुनर्जन्म नहीं होता । वही मेरा सच्चा और श्रेष्ठ धाम है, यह मेरा रहस्य तुमको मैंने प्रगट किया ।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३ ॥

देहत्याग के बाद योगी जिस गति को अनायास पाता है वह एक प्रकार से मालूम होता है । कभी कभी ऐसा होता है कि योगी को असमय देह त्याग करने से फिर से देहधारण करना पड़ता है ॥२०१-०५ ॥ इसलिये शुद्ध समय जान कर यदि वह देह का त्याग करे तो वह उसी क्षण ब्रह्मरूप होता है । किंतु देहत्याग असमय पर हुआ, तो वह फिर संसार में पड़ता है । वास्तव में मोक्ष और पुनर्जन्म ये दोनों मृत्यु के समय पर निर्भर होते हैं । वे समय कौनसे होते हैं वह मैं तुम्हें संयोग से कहता हूँ । इसलिये, हे अर्जुन, अच्छी तरह ध्यान दे कर सुनो । जब मृत्यु की तन्द्रा आती है, तब देह में जुटे हुए पंचमहाभूत अपनी अपनी राह पर चलने लगते हैं । लेकिन इस तरह मौत होने पर भी योगी की बुद्धि भ्रमित नहीं होती, उसकी स्मृति अंधी नहीं होती और उस का मन भी मृत नहीं होता । बल्कि ब्रह्मानुभव का कवच पाने से उस का सब चेतनवर्ग प्रफुल्लित दिखाई देता है ॥२०६-१० ॥ उस चेतनवर्ग को जीवन के अंतिम क्षण तक सजग रखने के लिये अग्नितत्त्व की

सहायता अवश्य होती है । देखो, हवा या जल से दीप बुझ गया तो क्या उस समय दृष्टि कुछ देख सकती है ? उसी तरह मृत्यु के समय अगर उस का शरीर वात के प्रकोप से या अंतर्बाह्य कफ़ से भर गया, तो उस में गरमी नष्ट हो जाती है । उस समय चेतना में प्राण नहीं रहता, फिर बुद्धि कैसे काम आयेगी ? इसलिये, गरमी के बिना देह में चेतना नहीं रहती । देखो, अगर देह का अग्नितत्त्व चला गया, तो वह देह कहाँ रहा ? वह कीचड़ का गोला ही है । तब साधक अपना शेष जीवन अंधेरे में टटोलता हुआ बिताता रहता है ॥२११-१५ ॥ उस समय पिछली बातों की याद रख कर देहत्याग के बाद आत्मरूप हो जाना कैसे संभव होगा ? क्योंकि उस समय कफ़ के कीचड़ में चेतना डूब जाती है और उस को अगली पिछली बातों की स्मृति नहीं होती । इसलिये जैसे निधि नजर आने से पहले दीप बुझ गया होता है वैसे ही प्रारंभ में किया हुआ योगाभ्यास मृत्यु के पहले ही लुप्त हो जाता है । इस के माने यह है कि आत्मप्राप्ति के लिये शरीर में अग्नितत्त्व का सहारा अवश्य चाहिये । इसलिये प्रयाण के समय इस अग्नितत्त्व का बल पूरी तरह होना आवश्यक है ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४ ॥

उस समय शरीर में अग्नि और लौ की रोशनी हो और बाहर उत्तरायण के छः मास के शुक्ल पक्ष का एक दिन हो ॥२१६-२२० ॥ ऐसे सुयोग पर जो देहत्याग करते हैं वे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मपद पाते हैं । अर्जुन, इस योग में ऐसी अजीब शक्ति है कि वह मोक्ष के मुक़ाम को पहुँचाने वाली सीढ़ी है । इस सीढ़ी में शरीर का अग्नि पहला, अग्नि की ज्वाला दूसरी, दिन का समय तीसरा, और शुक्लपक्ष चौथा पायदान होते हैं । और उत्तरायण के छः मास में एक दिन यह इस सीढ़ी का आखिरी पायदान है ।इस सीढी से जो जाता है वह ईश्वरके साथ एकता की सिद्धि पाता है । तो जान लो कि मृत्यु के लिये यही उत्तम समय है ।इसकोही अर्चिरादि मार्ग कहते हैं ।अब मृत्यु के लिये असमय कौनसा होता है यह भी सुनो ॥२२१-२५ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निर्वतते ॥२५ ॥

जिस समय मरणकाल में वात और कफ़ का जोर होता है, तब हृदय में अंधेरा छा जाता है, इंद्रियाँ मंद होती हैं, स्मृति विकल होती है, मन बावला होता है, प्राण चक्कर काटने लगता है, अग्नि की उष्णता चले जानेसे चारों ओर धुँआ ही धुँआ होता है, और उसकी वजहसे चेतना ढँकी जाती है। जिस तरह जलसे भरा हुआ घना बादल चाँदकी ओटमें आनेसे झिलमिला होता है, उसीतरह वह अधमरासा होकर उसका शरीर निश्चेष्ट होता है और वह मरने की घड़ी गिनता है ॥२२६-३० ॥ और इस तरह उस का मन, बुद्धि और इंद्रियाँ दम घोंटने लगती हैं और आजन्म की हुई साधना व्यर्थ होती है। और इस प्रकार जब हासिल हुई चीज खो जाती है, तब फिरसे नया कुछ जुटाना कैसे संभव होगा ? इसीलिये मौत के समय ऐसी बुरी हालत होती है। यह हुई शरीर की अंदरूनी अवस्था और बाहर कृष्ण पक्ष, रात का समय और दक्षिणायन का एक मास ऐसे पुनर्जन्म देनेवाले कुयोग जिसके जीवन के अंतिम क्षणमें एकत्र हो जाते हैं उसको मोक्षप्राप्ति की आहट कैसे सुनाई देगी ? इस अवस्थामें जिसकी मृत्यु होती है, वह योगी होने के कारण चंद्रलोक में जाता है और वहाँ कुछ समय तक रहकर फिरसे वह संसार में लौट आता है ॥२३१-३५ ॥ इसलिये, हे अर्जुन, जिसको हम मौत के लिये कुसमय कहते हैं वह यही है। पुनर्जन्मरूपी गाँवमें ले जानेवाला यह धूम्रमार्ग है, इसके अलावा जो अर्चिरादि मार्ग है। वह बहुत घनी बस्तीवाला सरल, सुखकर और उत्तम होकर मोक्षकी ओर ले जाता है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६ ॥

ऐसे ये दो मार्ग अनादिकाल से चले आये हैं, उसमें एक महामार्ग है, दूसरी पगडंडी है। मैंने तुम को ये दो मार्ग सोच समझ कर बताये हैं। मेरा उद्देश्य यह है कि कौनसा मार्ग भला है या बुरा है यह तुम समझोगे, सच झूठ पहचानोगे और अपना हित और अहित किसमें है यह जानकर स्वहित अपनाओगे। देखो, नाव देखकर क्या कोई अथाह दह में कूद पड़ेगा ? किंवा अच्छा रास्ता छोड़कर कोई घने जंगल में जायेगा ? ॥२३६-४० ॥ विष और अमृत पहचान कर क्या कोई अमृत फेंक देगा ? उसी तरह सरल और प्रशस्त मार्ग देखकर कोई भी पगडंडी से जाना पसंद नहीं करेगा। इसलिये सच और झूठ को परखना होगा, ताकि ऐसी जाँच

करने से ऐन समय पर गड़बड़ घोटाला न हो । नहीं तो मृत्यु के समय इस मार्ग के बारे में संभ्रम होगा और आजीवन किया हुआ योग व्यर्थ होगा । प्राणी यदि अर्चिरादि मार्ग को भूल कर धूम्रमार्ग से चल पड़ा तो वह संसार में चक्कर काटता रहता है । इसमें जो क्लेश हैं उनको ध्यान में रखते हुए तुम सोच सकते हो कि इनको कैसे टाल देना चाहिये । इसी उद्देश्य से मैंने तुमको ये दो मार्ग स्पष्ट बताये हैं ॥२४१-२४५ ॥ इन दोनों में एक मार्ग पकड़ कर योगी ब्रह्मरूप होता है और दूसरे मार्ग पर चलने से वह जन्ममरण के फेरे में फँस जाता है । किंतु मृत्यु के समय जो मार्ग भाग्यसे प्राप्त होता है वही उसका मार्ग है ।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७ ॥

यह बात जाने दो । क्योंकि एकाएक कौनसे समय पर कौनसा मार्ग प्राप्त होगा यह कोई निश्चित नहीं है । इसलिये देहत्याग करने पर ब्रह्मरूप होने के लिये मार्ग क्यों चाहिये ? देह जाए अथवा रहे, हम वास्तव में ब्रह्मस्वरूप ही हैं । क्योंकि रस्सी से सर्प का आभास हुआ तोभी वह रस्सीही होती है । जलपर लहरें आती हैं और ग़ायब होती हैं, तो क्या इसकी जल को कभी सुधि होती है ? क्योंकि वह तो हमेशा जलही होता है । वह जल लहरोंके साथ पैदा नहीं होता और लहरें ग़ायब होनेपर नष्ट नहीं होता। वैसे ही जो देह में रहते हुए भी ब्रह्मस्वरूप हुए, ॥२४६-५० ॥उनमें देह के अभिमानका नामोनिशान भी नहीं रहता । फिर उस समय कभी और काहे का विलय होता है ? यदि देश, काल इत्यादि वे स्वयं बनकर रहे, तो वे ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग कहाँ खोजें और वे कहाँ से कहाँ और कब चलें ? जिस समय घट फूटता है, तब उसमें जो अवकाश है वह क्या ठीक चलनेपर ही आसमान से मिलता है, नहीं तो क्या वह भूल कर दूसरे स्थान पर जाता है ? देखो, तब घट का सिर्फ़ आकार ही नष्ट होता है, वास्तव में घट के पैदा होतेही वह घटाकाश प्रारंभसे आकाशही है । आत्मज्ञान से जिस ने ब्रह्म का अनुभव किया है, उस योगी को अच्छे और बुरे मार्ग का संकट महसूस नहीं होता ॥२५१-५५ ॥ इसलिये, हे अर्जुन, तुम योगयुक्त बनो । ताकि इस योगमार्ग से तुम ब्रह्मस्वरूप हो जाओगे । फिर किसी भी जगह और किसी भी समय पर देह जाए या रहे, उस योगी के अनिर्बंध और नित्य ब्रह्मस्वरूप होने में रुकावट नहीं होती । वह सृष्टि के प्रारंभ में जन्म नहीं

लेता और न कल्पांत में मोक्ष ही पाता है । इस तरह वह बीचमें स्वर्ग और संसार के मोहसे धोखा नहीं खाता । यह आत्मज्ञान जिस योगी को हुआ है वह उसको सचमुच लाभदायी है । क्योंकि विषयभोगों को वशमें रखकर वह आत्मस्वरूप को पहुँचा चुका है । अरे, इंद्रादिक देवताओंका मशहूर राजवैभव को तुच्छ मान कर वह उससे परे हो जाता है ॥२५६-२६० ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८ ॥

यदि किसी ने वेदों का अध्ययन किया, यज्ञ के खेतमें बोया, या तप और दान करके पुण्य जुटाया, और ऐसे पुण्यका उद्यान फलोंसे भी भरपूर लद गया, तो भी उसको विशुद्ध ब्रह्म की योग्यता नहीं प्राप्त होती । जिस स्वर्गसुख के लिये वेदपठन, यज्ञ आदि साधन जुटाने पड़ते हैं, जो सुख ब्रह्मानंद की तुलनामें कम नहीं लगता, जो खराब या खतम नहीं होता और उपभोक्ता की अभिलाषाएँ पूर्ण करता है, जो ब्रह्मानंद का छोटा भाईसा लगता है, जो सौ यज्ञ करने से भी प्राप्त नहीं होता, ॥२६१-६५ ॥और जो इंद्रियजन्य सुख की वजहसे ब्रह्मानंद की जगह लेने के लिये लायक समझा जाता है, उस स्वर्गसुख को जब योगी अपनी दिव्य दृष्टि से निहारता है और उसके प्रभाव का अंदाज लगाता है, तो उसको वह स्वर्गसुख ब्रह्मसुख की तुलनामें हलका लगता है । फिर वह उस स्वर्गसुख के सिरपर पैर रखकर परब्रह्म की गद्दी पर विराजमान होता है । जो चराचर सृष्टि का बड़ा भाग्यस्थान, ब्रह्मदेव और शंकर का आराध्य, योगियों का उपभोग्य धन, सकल कलाओं की कला, परमानंद का पुतला, जगत् के प्राणिमात्र की आत्मा, और सब ज्ञानों का सार है, वे यादवों के कुलदीपक श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले ॥२६६-२७० ॥ इस तरह कुरुक्षेत्र का वृत्तान्त संजय ने धृतराष्ट्र से कहा । ज्ञानदेव कहते हैं, वह कहानी आगे सुनिये ॥२७१ ॥

◆ ◆ ◆

॥ नौवाँ अध्याय ॥

सज्जनों, यदि आप मेरे विवेचन पर ध्यान देंगे, तो आप सब सुखों के मालिक बनेंगे, यह मैं शपथपूर्वक कहता हूँ। आप सर्वज्ञों की सभा में मैं यह शेखी बधारने के लिये नहीं कहता हूँ। किंतु मैं आपसे प्यार के साथ प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे कहने पर ध्यान दें। आप जैसा संपन्न मायका पाने से मेरे सब लाडप्यार पूर्ण होंगे और मेरे मनोरथ भी सफल होंगे। आपकी कृपादृष्टि की सहानुभूति पाकर मेरी प्रसन्नता का उद्यान फूला हुआ है। और उसकी शीतल छाया में थका हुआ मैं विश्राम कर रहा हूँ। महाराज, आप आनंदामृतके दह है, इस लिये उस में यथेच्छ खेल-कूद कर हम सुखसमाधान प्राप्त कर सकते हैं। इस समय मैं लगाव से आपसे पेश आने में संकोच करूँ तो मैं तृप्ति कैसी पा सकूँगा ? ॥१-५॥ माँ जब अपने नन्हे बच्चे के तोतले शब्द सुनती है और उसकी टेढ़ी चाल देखती है तब वह प्यार से निहाल हो जाती है। मैं आपसे इसलिये लगाव से पेश आता हूँ और इस तमन्ना से बातें करता हूँ कि उससे आप संतसज्जनों का प्यार पा सकूँ। आप जैसे सर्वज्ञ श्रोताओं के सामने गीता का आशय कहने के लिये मैं योग्य नहीं हूँ। यह तो ऐसा ही है कि सरस्वतीपुत्र से पाठ कंठस्थ कराकर उसको पढ़ाये। देखिये, जुगनूं कितना ही बड़ा

क्यों न हो, वह क्या सूरज के सामने अपनी चमक दिखा सकता है ? वैसेही अमृत के थाली में परोसनेलायक स्वादिष्ट व्यंजन कोई पका सकता है ? अजी, चाँद को पंखा झलना, स्वर को गाना सुनाना, या गहनों को अलंकारों से मढ़ाना, ऐसा कभी हो सकता है ? ॥६-१० ॥ कहिये तो सुगंध किसको सूँघे, समुद्र कहाँ स्नान करे और आसमान किस वस्तु में समाये ? इतना वक्तृत्व किस के पास है जो आप का ध्यान खींचकर आप को तृप्त करे और आप से वाह कहलाये ? तथापि सब विश्व को रौशन करनेवाले सूरज को क्या दीप की आरती नहीं की जाती ? किंवा समुद्र को चुल्लू भर पानी से अर्घ्य नहीं दिया जाता ? सज्जनो, आप साक्षात् श्रीशंकर की मूर्ति हैं और मैं गरीब आपकी भक्तिभाव से आराधना करता हूँ। अगर मेरे वचन निर्गुडी वृक्ष के पत्तों के समान हैं, तो भी आप उनका स्वीकार करेंगेही। अजी, जब बेटा पिता की थाली में भोजन करने बैठता है और उसको खिलाने लगता है, तब वह पिता संतोष से मुँह आगे बढ़ाता है। ॥११-१५ ॥ उसी तरह यदि मैं बालबुद्धि से बकबक कर रहा हूँ, तो भी आप को उससे संतोष होगा, यही प्यार की रीत है। आप संतसज्जनों ने जिस स्नेहभाव से मुझ को हरप्रकार से अपनाया है, उसका लगाव भुगतान करके मैं आप का बोझ नहीं बनूंगा। अजी, जब बछड़ा दूध पीने के समय पर मुँह से टक्कर लगाता है, तब गाय के स्तन में प्रेम से दूध भर आता है। उसी तरह प्रिय व्यक्ति के क्रोध से प्यार दुगुना होता है। इसलिये मुझ को ऐसा लगता है, कि मुझ बालक के तोतले बोल सुनकर आप की सुप्त कृपा जाग्रत होगी। इसलिये यह गीतार्थ कहने का साहस कर रहा हूँ। यों क्या कोई चांदनी पाल में डालकर पकाता है ? किंवा हवा को बहने के लिये कोई गति देता है ? अथवा आसमान को कोई बांध सकता है ? ॥१६-२० ॥ देखिये, जल को पतला नहीं बनाना पड़ता है, अथवा मक्खन निकाल लेने पर न कोई उस को मथता रहता है ? उसी तरह इस गीतार्थ को देख कर मेरा वक्तृत्व लज्जासे लौट आता है। जिस के सामने शब्द कुंठित होने से वेद स्तंभित हो गये हैं, वह गीतार्थ कहने के लिये मेरी क्या बिसात है ? किंतु मैंने यह साहस इस आशा से किया है कि उसकी वजह से मैं आप जैसे सज्जनों के प्रेम के योग्य बनूँ।अब चांद से भी ज्यादा शीतल और अमृतसे भी ज्यादा जीवनदायी अवधान देकर मेरे मनोरथ को बढ़ावा दीजिये। क्योंकि आपकी कृपादृष्टि मुझ पर बरसेगी और मेरी बुद्धिरूपी भूमि में गीता के

भावार्थ की फसल आयेगी। किंतु यदि आप उदास रहेंगे तो मेरे ज्ञान का निकला हुआ अंकुर भी सूख जायेगा। ॥२१-२५॥ आप ध्यान में रखिये कि जब मेरे वक्तृत्व को आप के अवधान का पौष्टिक खाद्य मिले, तो मेरे बोल गीता के सिद्धान्तों का बोझ उठा सकेंगे। अर्थ शब्दों को बाहर निकलने की राह देखता है, उसके बाद अर्थ से अर्थ निकलता है और बुद्धि में भावों की बहार आती है। वार्तालाप में अनुकूल परिस्थिति हो तो वक्तृत्व रसीला होता है और श्रोताओं का अनवधान हो तो वह नीरस होता है। अजी, चंद्रकांत मणि पिघलता है यह बात सच है, किंतु वह चाँद का चातुर्य होता है।इस लिये श्रोताओं के बिना वक्ता की क़द्र नहीं होती। किंतु चावल क्या मिन्नतें करता है कि हम को चावसे खाइये किंवा कठपुतलियाँ क्या सूत्रधार से प्रार्थना करती हैं कि हमें नचाइये ॥२६-३०॥ वह सूत्रधार उनको नचाता है तो उनके काम के लिये नहीं बल्कि अपना हुनर दिखाने के लिये। किंतु हम यह झमेला किस लिये करें ? इस पर सद्गुरु ने कहा कि, इस में क्या है ? तेरा उद्देश्य हम समझ गये। अब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से क्या कहा वह बताओ। तब निवृत्तिदास ज्ञानदेव संतुष्ट होकर बोले, महाराज, सुनिये, श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले।

श्रीभगवानुवाच।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्रीभगवान ने कहा, हे अर्जुन, मेरे हृदय में जो ज्ञान का बीज छिपा हुआ है वह मैं तुमको फिरसे बताऊँगा। लेकिन तुम्हें संदेह होगा कि यह मेरा रहस्य मैं तुमको क्यों कह रहा हूँ, तो भाई, सुनो। ॥३१-३५॥ हे सुजान अर्जुन, तुम श्रद्धा की मूर्ति होकर मेरे कथन का कभी अनादर नहीं करते। इसलिये अगर मेरा रहस्य खुल गया या अकथनीय बात कहनी पड़ी, तो कोई चिंता नहीं, किंतु मैं सोचता हूँ कि मेरे हृदय की बात तुम्हारे हृदय में पड़ी रहे। अरे, स्तन अपने दूध का स्वाद नहीं लेता, किंतु यदि कोई एकनिष्ठ बछड़ा दूध पीकर तृप्त हो, तो उसको अच्छा लगता है। यदि बीज धान्य के खत्तीसे निकाल कर जोती हुई जमीन में बोये तो क्या वह व्यर्थ हो गये, ऐसे हम कह सकते हैं ? वैसेही स्वच्छ मन और शुद्ध बुद्धिवाला, अनिंदक और एकनिष्ठ भक्त मिल गया, तो उसको अपनी हृदय की बात खुशी से

कहनी चाहिये । ॥३६-४० ॥और इस समयपर इन गुणों से तुम्हारे बिना संपन्न और कोई नहीं है, इस लिये यह रहस्य मैं तुमसे छिपा नहीं सकता । अब बार बार मेरे 'रहस्य' 'रहस्य' कहनेसे तुम ऊब गये होंगे, सो मैं तुम्हें विज्ञान से युक्त ज्ञान को प्रकट करूँगा । अगर खरी और खोटी मुद्राएँ मिल भी जाएँ, तो उनको परख कर अलग किया जा सकता है । जैसे राजहंस चोंच से दूध और पानी अलग कर देता है, उसी तरह ज्ञान और विज्ञान मैं तुम्हें स्पष्ट बताता हूँ । फिर जिस तरह हवा के झोंकेसे भूसा अलग होकर सिर्फ अनाज का ढेर नीचे पड़ता है, ॥४१-४५ ॥उसी तरह ज्ञान जन्ममरण से संसार की गाँठ खोलकर मोक्ष के मुक़ाम पर पहुँचाता है ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२ ॥

सभी ज्ञानों में ऊँचा पद पानेवाला यह ज्ञान सब गुह्यों में गुह्य, पवित्र चीजों में श्रेठ, सब धर्मों का अधिष्ठान और सबसे अच्छा ज्ञान है । उसकी प्राप्ति होनेपर पुनर्जन्म का कोई कारण नहीं रहता । वह गुरुमुख से बाहर आतेही शिष्य को अपने हृदय में छिपा हुआ स्वयंसिद्ध ब्रह्मज्ञान अपने आप प्राप्त हो जाता है । वह सुखदायी सीढ़ी से चढ़ता हुआ ज्ञान प्राप्त करता है और उससे उसका भोक्तृत्व ही मिट जाता है ॥४६-५० ॥ और अनुभव के इस किनारे खड़े होने पर उसका अंत:करण सुख से भर जाता है, ऐसा यह सुगम और आसान परब्रह्म है । इसके अलावा इस ज्ञान का और एक गुण है कि वह प्राप्त होने पर नष्ट नहीं होता और अनुभव से कम या खराब नहीं होता । अब, हे अर्जुन, तुम शंकायुक्त आदमी की तरह पूछोगे कि इतनी अनुपम वस्तु लोगों की अप्राप्य कैसी हो गयी ? जो लोग एकोतरा सूद कमाने के लिये अग्नि में ही कूदते हैं, उन्होंने अपने पास विद्यमान यह सुख कैसे त्याग दिया ? तो भी यह पवित्र और रम्य धर्मसे अविरुद्ध ज्ञान सुखकर उपायों से अपनेमेंही प्राप्त होता है, ऐसी सब बातें अनुकूल होनेपर भी वह लोगों को मयस्सर क्यों नहीं होता ? ॥५१-५५ ॥यह संदेह उचित है, परंतु ऐसा संदेह मत करो ।

अश्रद्दधाना: पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।३ ॥

देखो, गाय का दूध शुद्ध, मधुर, नजदीक परंतु त्वचा की आड़ में होता है,

किंतु उसको छोड़कर किलनी क्या गंदा रक्त नहीं चूसती ? किंवा कमल का कंद और मेंढ़क एकही जगह में रहते हैं, लेकिन कमल का केसर भ्रमर खाता है और मेंढ़क के हिस्से में सिर्फ कीचड़ ही रह जाता है । नहीं तो जैसे किसी अभागे के घर में हजारो मुहरें गड़ी होने पर भी वह कंगाल की तरह भूखाही रहता है, वैसेही सब सुख देनेवाले मुझ आत्मारामका अस्तित्व उसके हृदयमें होने परभी आदमी वासना के अधीन होता है ॥५६-६० ॥ जिस तरह कोई बहुत मृगजल देखकर मुँहसे अमृत का घूँट थूक देता है, या सीप मिलने पर गले में लटकाया हुआ पारसमणि फेंक देता है, उसी तरह अहंता और ममता की हड़बड़ी में वे बेचारे लोग मेरे पास आने के बदले जन्ममरण के चक्कर काटते रहते हैं । अगर तुम पूछोगे कि मैं कैसा हूँ तो मैं कहता हूँ कि मैं सूरज की तरह सभी के सम्मुख हूँ, किंतु सूरज कभी दिखाई देता है और कभी नहीं ऐसा जो उस में दोष है वह मुझ में नहीं ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४ ॥

यदि तुम पूछोगे कि मेरा विस्तार क्या है, तो मैं क्या विश्वरूप नहीं हूँ ? जिस तरह दूध जम जाने से उसका दही होता है, बीज का वृक्ष होता है और सोने के गहने होते हैं, उसी तरह यह विश्वही मेरा विस्तार है । ॥६१-६५ ॥ मेरा निराकार अव्यक्त स्वरूप इस विश्वरूप में साकार हुआ है । मैं निराकार हूँ, फिर मैंने साकार होकर इस त्रैलोक्य के प्रपंच को रचा है । महत्तत्त्व से लेकर देहतक जो भूत हैं वे मुझसे उत्पन्न हुए हैं । किंतु जिस तरह पानीसे फेन पैदा होनेपर भी फेन में पानी नहीं देखने में आता, अथवा जाग्रत होनेपर स्वप्न के भिन्न भिन्न नज़ारे नहीं दिखाई देते, उसी तरह मैं भूतों में मौजूद नहीं होता । इस का स्पष्टीकरण मैंने पहलेही किया है । किंतु अब इतनाही पर्याप्त है, क्योंकि पहले कही हुई बात की पुनरुक्ति न हो । किंतु तुम अपनी दृष्टि मेरे दिल में समाये रखो ॥६६-७० ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५ ॥

अगर तुम मेरा स्वरूप जो माया के परे है वह कल्पना के बिना देखोगे तो

तुम को मालूम होगा कि जो मैंने कहा, कि सब प्राणिमात्र मुझ में है वह मिथ्या है। क्योंकि मैंही यह सब हूँ। योंही संकल्प के झुटपुटे में ज्ञानचक्षु मंद हो जाते हैं और उस संधिप्रकाश में मेरे अखंडित होते हुएभी सब भूतमात्र मुझसे भिन्न है ऐसा आभास होता है। जब वह संकल्प का संधिप्रकाश नष्ट होता है, तब यक़ीन होता है कि मेरा स्वरूप अखंड है, जैसे जान लेने पर माला में हुआ साँप का आभास नहीं रहता। वैसेही मिट्टी से क्या गगरा, मटका आदि के स्वयंसिद्ध अंकुर निकलते हैं? सच में वे कुम्हार की बुद्धि से ही आकार लेते हैं किंवा समुद्र में क्या लहरों की खान है ? वह सब समीर की ही करामात है न ? ॥७१-७५॥ वैसेही रुई के अंदर क्या कपड़ों के गठ्ठर होते हैं? वे कपड़े पहननेवालों की दृष्टि मेंही होते हैं न ? यदि सोने के गहने बनवायें तो उनका सोनापन क्या नष्ट होता है ? जो देखने में वे गहने लगते हैं उसकी वजह पहननेवालों का विचारही है। हम जो शब्दों की गूँज सुनते हैं या आईनेमें अपना रूप देखते हैं, वह हमने किया है या वहाँ पहलेही था ? उसी तरह मेरे विशुद्ध स्वरूप पर भूतोंकी मिथ्या कल्पना का अध्यारोप होता है और उन भूतों के आभास के लिए वह कल्पनाही कारण होती है। यदि वह माया नष्ट हुई, तो मुझ में होनेवाला भूतों का आभास नष्ट हो जाता है, फिर जो मेरा शुद्ध स्वरूप है वही केवल रहता है ॥७६-८०॥ अस्तु, चक्कर आनेपर जैसे अपने आसपास के पहाड़ आदि मँडराते से दीखते हैं, उसी तरह अपनी कल्पना के कारण अखंड ब्रह्म स्वरूप में भूतों का आभास होता रहता है। मगर उस कल्पना को त्याग देने पर भूतों में मैं हूँ और भूत मुझमें है यह विचार स्वप्न में भी नहीं आयेगा। इसलिये मैं भूतों को धारण करता हूँ या मैं भूतों में विद्यमान हूँ ऐसे कहना संकल्परूप संनिपात की बीमारी में बकने के बराबर है। अत: हे अर्जुन, मैं इस विश्व की आत्मा हूँ या भूतों का आधार हूँ यह कल्पना मिथ्या है। जिस तरह सूरज की किरणों से अविद्यमान मृगजल का आभास होता है, उसी तरह मुझ में भूत हैं और भूतों में मैं हूँ ऐसी वह कल्पना करता है। इस प्रकार मैं भूतों का उत्पत्तिकर्ता हूँ, किंतु जैसे सूरज और उसकी रोशनी एकही है, वैसे ही मैं भूतोंसे भिन्न नहीं हूँ। ॥८१-८५॥ इस मेरे ऐश्वर्ययोग को क्या तुमने अच्छी तरह जान लिया है ? अब तुम्हीं बताओ कि मुझ में और प्राणिमात्र में क्या कोई भेदभाव है ? इसलिये मुझ से सब प्राणी भिन्न नहीं हैं और मुझ से उनका भेदभाव है ऐसा तुम मत सोचो।

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६ ॥

आसमान जितना फैला हुआ है उतना ही उसमें समीर भरा हुआ है । परंतु उसको यूँही हिलाया तो वह भिन्न भाता है, किन्तु वास्तव में वह आसमानही है । उसी तरह प्राणिमात्र मुझमें है ऐसी कल्पना करने पर वैसाही आभास होता है । किन्तु निर्विकल्प समाधि में वह आभास मिट जाता है और योगी को यक़ीन होता है कि मैं अकेला ही विद्यमान हूँ । ॥८६-९० ॥ अत: भूतों के भाव और अभाव कल्पना पर निर्भर होते हैं, और कल्पना मिट जाने पर उनका आभास नहीं होता । जब अज्ञान, जो इस कल्पना की जड़ है, नष्ट होता है, तब भूतों का भाव या अभाव कहाँसे भासमान होगा ? मैंने जो तुम से अपना ऐश्वर्ययोग याने अद्भुत करनी कही वह समझ लो । इसी तरह तुम इस आत्मानुभवरूपी समुद्र में एक लहर बनकर रहो । फिर तुमको महसूस होगा कि इस चराचर विश्व में तुमही भरे हुए हो । हे अर्जुन, इस ज्ञान से तुम सचेत हो गये हो न ? फिर तुम्हें द्वैत का स्वप्न मिथ्या प्रतीत हुआ न ? फिरसे शायद तुम्हारी बुद्धि में कल्पना की ग्लानि आने से यह अभेदज्ञान नष्ट होगा और तुम द्वैत के स्वप्न देखोगे ॥९१-९५ ॥ इसलिये तुम इस कल्पनारूपी निद्रा की राह छोड़कर विशुद्ध ब्रह्मज्ञान के मार्गपर चलो । इसलिये मैं तुम्हें यह रहस्य बताता हूँ । हे धैर्यवान् धनुर्धर, तुम ध्यान में रखो कि इस सब प्राणिमात्र को जन्म देनेवाली और उनका विनाश करनेवाली सिर्फ़ मायाही है ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७ ॥

इस माया का ही दूसरा नाम प्रकृति है । वह दो प्रकार की है यह मैंने तुम को पहलेही (अध्याय ७ श्लोक ४,५ में) बताया है । उनमें एक अष्टधा रूपों से भिन्न है और दूसरी जीवरूपा है । हे पांडव, इस प्रकृति के बारे में मेरा कहना तुम पहले ही सुन चुके हो, इसलिये उसको फिर दुहराने का कारण नहीं । फिर भी महाप्रलय में यह भूतमात्र मेरी प्रकृति में अव्यक्त रूप से विलीन होता है ॥९६-१०० ॥ ग्रीष्म ऋतु के अंत में घास बीज के साथ भूमि में मिल जाता है, वर्षा ऋतु में बादलों की हलचल समाप्त होनेपर और शरद ऋतू के आगमन पर सब बादल आसमान में

लुप्त हो जाते हैं, आसमान की पोल में समीर निश्चल होकर विलीन हो जाता है, जल में पैदा हुई तरंगें जल मेंही मिल जाती हैं, अथवा जाग्रति आनेपर स्वप्न मन मेंही मिट जाता है, उसी तरह महाप्रलय के अंत में प्रकृति के विकार प्रकृति मेंही विलीन होते हैं। फिर सृष्टि के आरंभ में मैं उनको उत्पन्न करता हूँ ऐसी जो मेरी कीर्ति है उसकी असली युक्ति मैं अब तुम्हें बताता हूँ ॥१०१-०५॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनःपुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

हे अर्जुन, जब मैं प्रकृति का आश्रय लेता हूँ, तब वह पाँच महाभूतों में साकार हो जाती है, जैसे जुलाही की सहायतासे धागे का कपड़ा बनता है। जैसे दूध जमाने पर गाढ़ा होने लगता है, वैसेही प्रकृति भी जगत् के रूप में साकार बनती है। जिस तरह बीज का जल से स्पर्श होने पर उसमें शाखाएँ और टहनियाँ फूट आती हैं, उसी तरह मुझसे भूतों की उत्पत्ति होती है। अरे, राजा ने कोई शहर बसाया है यह कहना एक तरहसे सत्य है, मगर उससे क्या सचमुच राजा के हाथ थक जाते हैं ? ॥१०६-१०॥ अब तुम पूछोगे कि मैं प्रकृति का आश्रय कैसे लेता हूँ ? तो मैं कहूँगा, जैसे हम स्वप्नावस्थासे जाग्रतावस्थामें आते हैं। हे अर्जुन, जब कोई स्वप्नावस्था से जाग्रतावस्थामें आता है तो क्या उसके पैरों को कष्ट होता है, या उसको कोई यात्रा करनी पड़ती है ? यह सब कहने का उद्देश्य यह है कि इस भूतसृष्टि के निर्माण में मुझे कुछ करना नहीं पड़ता। जैसे राजा की सत्तामें प्रजा अपनी इच्छासे व्यवहार करती है, वैसेही प्रकृति का और मेरा संबंध है। वास्तव में यह सब कर्तृत्व उसका ही है। देखो, पूनम के चाँदसे भेंट होतेही समुद्र को अपार ज्वार आती है, तब क्या चाँद को कष्ट होते हैं ? ॥१११-१५॥ भारी लोहा चुंबक के पास आने पर हिलने लगता है, तो चुंबक को कौनसे परिश्रम करने पड़ते हैं ? इस तरह मैं जब प्रकृति का स्वीकार करता हूँ, तब इस भूतसृष्टि का विस्तार अपने आप होने लगता है। हे अर्जुन, इस तरह यह सब प्राणिजात प्रकृति के अधीन है। जिस तरह बीजसे बेल, कोंपलें इत्यादि पैदा करनेमें जमीन समर्थ है, बचपन आदिअवस्थाओं की देह के साथ संयोगही मुख्य कारण होता है, अथवा आसमान में जो बादल आते हैं उनका कारण बरसात ही है, उसी तरह प्रकृति ही इस भूतसमुदाय की स्वामिनी है ॥११६-१२०॥ स्थावर और जंगम, स्थूल और सूक्ष्म

भूतमात्र का मुख्य कारण प्रकृति ही है। इसलिये भूतसृष्टि का निर्माण और पश्चात् उस का पालनपोषण इनका कर्तृत्व मेरा नहीं होता। देखिये, जल में चाँद की किरनें बेलों के समान फैली हुई दिखाई देती हैं परंतु उनकी चाँदसे उत्पत्ति नहीं हुई है। उसी तरह ये कर्म यद्यपि मेरी प्रकृति सेही हुए हैं तथापि वे मुझसे भिन्न हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९ ॥

जैसे नमक का बांध नदी के जोरदार बहाव को रोक नहीं सकता, वैसे ही जो कर्म अंत में मुझमें विलीन होते हैं वै मुझको कैसे बांध सकते हैं? वैसेही जैसे धुएं की छत सनसनाती समीर को 'ठहरो' ऐसे कहकर रोक नहीं सकती किंवा अंधेरा सूर्यमंडल में प्रवेश नहीं कर सकता, ॥१२१-२५ ॥ पहाड़ के अंदर विद्यमान द्रव्यों को मूसलधार वर्षा चुभ नहीं सकती, वैसेही प्रकृति के कर्मों से मुझे बाधा नहीं पहुँचती। सुनो, इस प्रकृति के कार्य के लिये यदि मैंही कारण हूँ तो भी मैं उदासीन हूँ और मैं कुछ नहीं करता हूँ, या करवाता हूँ। जिस तरह घरमें रखा हुआ दिया किसी को यह करो या न करो ऐसे नहीं कहता, किंवा घरमें किसके और कौनसे व्यवहार होते हैं यह नहीं जानता, और वह जैसे साक्षी बनकर सब व्यवहारों का निमित्त होता है, उसीतरह मैं भूतों में रहकर भी उन के कर्मों के प्रति उदासीन रहता हूँ। और कितने प्रकार से यह एक अभिप्राय तुम्हें कहूँ ? इसलिये हे अर्जुन, तुम एक बात ध्यान में रखो ॥१२६-३० ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥१० ॥

इस संसार में जो कुछ लौकिक व्यवहार होते रहते हैं उनके लिये सूरज निमित्तमात्र होता है। उसी तरह मैं भी इस जगत् के निर्माण में कारणभूत हूँ ऐसा समझो। क्योंकि जब मैं प्रकृति का आश्रय लेता हूँ, तब इस चराचर विश्व की उत्पत्ति होती है। इस लिये लोगों को यह युक्तियुक्त लगता है कि मैं इस जगत् के निर्माण का हेतु हूँ। यदि ज्ञान के प्रकाश में तुम मेरा यह ऐश्वर्ययोग देखोगे तो तुम्हें यक़ीन होगा कि यद्यपि भूतजात मुझ में है तो भी मैं भूतों में नहीं हूँ। अथवा यह प्राणिमात्र मुझमें नहीं है, मैं भी उनमें नहीं हूँ। यह मेरा रहस्य मत भूलो। यह गहरा ज्ञान, जो

मेरा सर्वस्व है, मैंने तुम्हारे सामने प्रकट किया है । इस लिये इंद्रियों के किवाड़ बंद करके अपने अंतःकरण में इस का अनुभव करो ॥१३१-३५ ॥ जबतक वेदान्त के इस मर्म की जानकारी नहीं होती तबतक मेरा निजी स्वरूप नहीं प्राप्त होता, जैसे भूसे से अनाज । किसी को अनुमान के द्वारा मेरे स्वरूप का ज्ञान हुआ है ऐसा कभी कभी महसूस होता है । किंतु क्या मृगजल की नमी से कभी जमीन गीली होती है ? जब मछली पकड़ने के लिये जाल फैलाया जाता है, तब उसमें चाँद की परछाई दिखाई देती है । मगर उस जाल को किनारे पर लाकर झिड़का तो वह चंद्रमंडल उसमें क़हाँ होता है ? इसी तरह कोई शब्द और वाणी के द्वारा इस अनुभव का वर्णन करके चकमा देते हैं । किंतु उनका ज्ञान परखने पर यह मालूम होता है कि उनको यह अनुभूति नहीं हुई है और आगे भी होनेवाली नहीं है ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११ ॥

अगर तुम इस संसार के प्रति भय और मेरे प्रति आकर्षण अनुभव करते हो, तो तुम यह रहस्य अवश्य ध्यान में रखो । ॥१३६-४० ॥ जैसे काँमला की बीमारी होने पर आदमी चांदनी को पीली कहता है, वैसे ही कई लोगों को मेरे विशुद्ध स्वरूप में दोष दिखाई देते हैं । किंवा जिस तरह बुखार से मुँह स्वादहीन होने पर रोगी को दूध भी विष जैसा कडुआ लगता है, वैसे ही मुझ पुरुषोत्तम को कई लोग आदमी ही समझते हैं । इस लिये, हे धनंजय, मैं तुम को बार बार कहता हूँ कि तुम यह सब मत भूलो । अगर तुम मेरे स्वरूप को स्थूल दृष्टि से देखोगे, तो तुम्हारा देखना व्यर्थ होगा । जैसे स्वप्न में अमृत पी कर कोई अमर नहीं होता, उसी तरह मुझे स्थूल दृष्टि से देखनेवाला मुझ को सचमुच नहीं जानता । ऐसे ही नासमझ लोग मुझ को स्थूल दृष्टि से देख कर बकते हैं कि उन को मेरे स्वरूप का ज्ञान हुआ है, परंतु उन का यही उथला ज्ञान सही ज्ञान के आंड़े आता है । ॥१४१-४५ ॥ सितारों की जल में परछाईं देखकर हंस उनको मोती समझता है और उन को चुगने के लिये जल में कूद कर मर जाता है, किंवा मृगजल को गंगा मान कर कोई उस को हाथ में लेता है किंवा रत्न समझ कर चकमक पत्थर प्राप्त करता है । पर उस को इससे क्या प्राप्त होगा ? अथवा बबूल को कल्पवृक्ष समझ कर कोई उस की देखभाल

करे तो उस को क्या लाभ होगा ? अगर कोई सर्प को नीलमणि समझ कर, या खैर के अंगारों को निधि समझ कर झोलीमें रख लेता है, या जल में अपनी परछाईं देख कर सिंह कुवे में कूद पड़ता है, तो क्या होगा ? उसी तरह, मैं देह हूँ इस निश्चय से जो संसार में फँस जाता है, उस की अवस्था चांद के बदले में उस की परछाईं पकड़नेवाले के समान होती है ॥१४६-५० ॥ जैसे कोई काँजी पीकर अमृत से होनेवाले सुख की कामना करता है, वैसे ही उस का निश्चय व्यर्थ होता है । उसी तरह जो मुझ अविनाशी को विनाशी देह में देखते हैं, उन को मैं कैसे प्रकट हो सकता हूँ ? देखो, जो पश्चिमी समुद्र को जाने के लिये पूर्व दिशा को चलने लगा, तो क्या वह वहाँ पहुँच सकता है ? किंवा, हे वीरश्रेष्ठ, क्या कोई केवल भूसा कूट कर उस में से अनाज के दाने निकाल सकता है ? वैसे ही इस विकारी जगत् को समझ कर कोई मुझ को जो कि मैं अविकारी हूँ, क्या जान सकता है ? क्या फेन पीना पानी पीने के समान होता है ? इस लिये कई लोग भ्रांति के वश हो कर मुझे मानव समझते हैं और मेरी जन्ममरण आदि अवस्थाएँ हैं ऐसा मानते हैं । ॥१५१-५५ ॥ इस लिये मुझ नामरहित पर नाम, क्रियारहित पर कर्म, विदेह पर देहधर्म, निराकार पर आकार, निरुपाधि पर उपचार, निष्क्रिय पर व्यवहार और आचार, जातिरहित पर जाति, गुणातीत पर गुण, चरणरहित पर चरण, हस्तरहित पर हस्त, अमेय पर परिमाण, सर्वव्यापक पर स्थान का अध्यारोप करते हैं । जिस तरह बिछौने पर सोया हुआ आदमी स्वप्न में बन देखता है, उसी तरह मेरे कर्ण, नेत्र, गोत्र और रूप न होते हुए भी वे हैं, ॥१५६-६० ॥और अव्यक्त, इच्छारहित और स्वयंतृप्त होते हुए भी मुझ में अभिव्यक्ति, इच्छा और तृप्ति की कल्पना करते हैं । मैं वस्त्रहीन और भूषणातीत होते हुए भी वे मुझ को कपड़े और गहने पहनाते हैं और सब जगत् का निर्माता होते हुए भी मेरा मूल खोजते हैं । मैं स्वत: सिद्ध होते हुए भी मेरी मूर्ति बनवाते हैं, मैं स्वयंभू होते हुए भी वे मेरी प्राणप्रतिष्ठा करते हैं और मैं सर्वव्यापक होते हुए भी वे मेरा आवाहन और विसर्जन करते हैं । मैं स्वयंसिद्ध और एकरूप होते हुए भी मुझ में बचपन, जवानी, बुढ़ापे की कल्पना करते हैं । मैं अद्वय होते हुए भी वे मुझ पर द्वैत का अध्यारोप करते हैं । और मेरे निष्क्रिय और उपभोगरहित होते हुए भी वे मुझे कर्ता और भोक्ता कहते हैं ॥१६१-६५ ॥ मेरे कुल गोत्र न होने पर भी वे मेरे खानदान का वर्णन करते हैं, अविनाशी होने पर मेरी मौत की कल्पना से शोक

करते हैं और मैं सभी का अंतर्यामी होते हुए भी मैं किसी का दुश्मन और किसी का दोस्त हूँ ऐसी कल्पना करते हैं । आनंदघन होने पर भी मुझ को सुखेच्छु और सब जगह में एक जैसा होने पर भी मुझे एकदेशीय याने एक स्थान में रहनेवाला ऐसा मानते हैं । मैं सब चराचर सृष्टि की आत्मा होने पर भी मैं किसी की तरफदारी करता हूँ और किसी दूसरे को कोपयुक्त हो कर मारता हूँ ऐसी मेरी ख्याति फैलाते हैं । और क्या कहूँ ऐसे जो मानवधर्म हैं वे मुझ को चिपकाते हैं, इस प्रकार उन का ज्ञान विपरीत होता है । जिस समय जो मूर्ति सामने आती है, उस को देवता मान कर उसकी पूजा करते हैं और जब वह मूर्ति भग्न होती है तब उस को फेंक देते हैं ॥ १६६-७० ॥ इस तरह मैं देहधारी मानव हूँ ऐसा मुझ को समझते हैं और यह उन का विपरीत ज्ञान सच्चे ज्ञान के आड़ में आता है ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

सारांश यह कि जिन की मेरे विषय में ऐसी कल्पना है, उन की जिंदगी निरर्थक है । जिस तरह वर्षाकाल छोड़ कर अन्य समय पर आये हुए बादल व्यर्थ होते हैं, किंवा मृगजल की लहरें दूरसे ही देखने के योग्य होती हैं, अथवा मिट्टी के चित्र में के घुड़सवार या आसमान में बादलों के महल, बिलकुल न होने पर भी भासमान होते हैं, या नागफनी का पेड़ लहलहाने पर भी अंदर पोला और निष्फल होता है, या बकरी के गलस्तन में दूध नहीं होता, उसी तरह मूर्ख की जिंदगी होती है । जैसे सोमल पेड़ का फल दे या ले नहीं सकते, वैसे मैं उस मूर्ख के जीने और कर्म करने का धिक्कार करता हूँ ॥१७१-७५ ॥ फिर उसका शास्त्र का अध्ययन निष्फल होता है, जैसे बंदर द्वारा तोडा हुआ नारियल या अंधे को मिला हुआ मोती । उन का शास्त्र का अध्ययन लड़की के हाथ में दिये हुए शस्त्र या अपवित्र आदमी को कहे हुए बीजमंत्र के समान निरर्थक होता है । वैसे ही, हे धनंजय, जिस का चित्त पर संयम नहीं है, उस के ज्ञान और आचारविचार व्यर्थ हैं । इस प्रकार यह तमोगुणरूपी आसुरी प्रकृति सद्बुद्धि को मिटा कर ज्ञान का नामोनिशान नष्ट कर देती है । इस प्रकृति से जो ग्रस्त होते हैं, वे निरंतर चितायुक्त हो कर तामसी बुद्धि के वश में आ जाते हैं । ॥१७६-८० ॥ वह आसुरी प्रकृति अपनी हिंसारूपी जिह्वा से

आशारूपी लार से असंतोषरूपी माँस के गोले निगलती हैं । वह हिंसारूपी जिह्वा अनर्थरूपी कान तक ओंठ चाट कर बाहर आती है । वह तामसी प्रकृति प्रमादरूपी घाटी में मतवाली होकर रहती है । उसकी द्वेषरूपी दाढ़ें ज्ञान को खसकन् चबाकर उसको चकनाचूर कर देती हैं । जैसे अगस्त्य ऋषि को कुंभ का आच्छादन था वैसेही उस प्रकृति का स्थूलबुद्धि के लोगों पर आवरण है । इस तरह जो आसुरी प्रकृति का शिकार बनते हैं, वे मोहरूपी कुंड में डूब जाते हैं । ऐसे जो तमोरूपी गढ़े में पडते हैं, उनको विवेकरूपी हाथसे कोई उठा नहीं सकता । इतनाही नहीं वे कहाँ जाते हैं, इसका सुराग भी नहीं मिलता । ॥१८१-८५ ॥ मगर ये बेकार बातें रहने दो । उन नादानों का वर्णन करनेसे वाणीको व्यर्थ कष्ट होगा । श्रीकृष्ण के इस कथनपर अर्जुनने हाँ में हाँ मिलाई । फिर श्रीकृष्ण बोले, अब जिस का वर्णन करनेसे ज़बान को सुख होता है, उस साधुपुरुष के लक्षण सुनो ।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३ ॥

उस साधुपुरुष के विशुद्ध अंतःकरण में मैं क्षेत्रसंन्यासी होकर आजन्म निवास करता हूँ । और स्वप्न में भी विरक्ति उसकी सेवा करती है । (याने स्वप्न में भी विषयवासना उसके चित्त को छू नहीं सकती) । साधुओंकी सद्वासना से धर्म का राज्य फैल जाता है और उनका चित्त सदैव विवेक को बढ़ावा देता है । वे ज्ञानगंगा में नहा कर अंतर्बाह्य पवित्र होते हैं और पूरी तरह ब्रह्मरूप होकर प्रसन्न होते हैं, मानों वे शांतिके अंकुरित पत्ते हैं ॥१८६-९० ॥ वे अंतिम लक्ष्य के अंकुर और धैर्यरूपी मंडप के स्तंभ हैं । और वे आनंदरूपी समुद्र में डुबो कर निकाले हुए और पूर्ण भरे हुए कुंभ हैं । उनकी भक्ति यहाँतक बढ़ जाती है कि वे मुक्ति की भी क़दर नहीं करते । उनके आचारविचार नीतियुक्त होते हैं । उनकी सब इंद्रियाँ विषयवासनाओंसे विमुख़ होकर शांत हो चुकी हैं और उनका चित्त मुझ सर्वव्यापक से भरा हुआ है । ऐसे वे दैवी प्रकृतिवाले भाग्यवान् महात्मा मेरा पूर्ण स्वरूप जानते हैं । फिर प्रेम की उमंगसे वे मेरी आराधना करते हैं और उनके चित्त को द्वैत का स्पर्श नहीं होता ॥१९१-९५ ॥ इसीतरह, हे अर्जुन, जो मद्रूप होकर मेरी उपासना करते हैं, उनकी अपूर्वता मैं तुमको बताता हूँ सुनो ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता: ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४ ॥

वे हरिकीर्तन में उमंग से नाचते हैं, इस लिये उनको प्रायश्चित्त के उपाय नहीं करने पड़ते और उनसे पापों का नामोनिशान भी नहीं रहता । उनके कारण आत्मसंयम और इंद्रियनिग्रह की हालत बुरी होती है, तीर्थ वीरान होते हैं और यमलोक के सब व्यापार बंद पड़ते हैं । आत्मसंयम कहता है कि अब किसका नियमन करूँ, इंद्रियनिग्रह कहता है कि अब किसपर मात करूँ, और तीर्थ कहते हैं कि हम किस पाप का क्षालन करें ? क्योंकि उनमें अब दोष नामके लिये भी नहीं होते । इस तरह मेरे नामघोष से सब प्राणिमात्र के दुःख मिट जाते हैं और सब संसार ब्रह्मसुख से गूँज उठता है ॥१९६-२०० ॥ ये साधुसंत भोर होनेसे पहले ही प्राणियों को ज्ञानका प्रकाश देते हैं, अमृत के सिवाय जीवन प्रदान करते हैं, और योग के बिना मोक्ष दिखाते हैं । वे राजा और रंक में भेदभाव या छोटे बड़े की छानबीन नहीं करते और एकसाथ सब संसार के लिये आनंद का अहाता बनते हैं । वैसे तो शायद ही कोई व्यक्ति वैकुंठ को पहुँच पाता है, परंतु इन साधुसंतों ने इस विश्वको ही वैकुंठ बना दिया है । इस तरह उन्होंने नामसंकीर्तन के महात्म्य से संसार को पवित्र किया है । उन संतों का तेज सूरज के समान निर्मल है, मगर सूरज में बड़ा दोष है कि वह अस्त होता है । चाँद किसी समयपर पूर्ण होता है, लेकिन ये सदा परिपूर्ण होते हैं । मेघ उदार होता है, परंतु वह रीता हो जाता है, इस लिये उसकी भी उपमा ठीक नहीं । मानों ये संत कृपाछत्र देनेवाले शिवजी ही हैं । ॥२०१-२०५ ॥ जिस मेरे नाम को ज़बानपर लानेके लिये हजारों जन्म मेरी उपासना करनी पड़ती है, वह उनके मुँह में प्यार से नाचता रहता है । वास्तव में मैं वैकुंठ में नहीं रहता, सूर्यमंडल में भी दिखाई नहीं देता, और इतनाही नहीं, योगियों के चित्त भी मैं लाँघ जाता हूँ । और हे अर्जुन, अगर मैं अन्य जगह नहीं पाया गया, तो जहाँ मेरा नामघोष होता रहता है वहाँ मैं अवश्य मिल जाता हूँ । वे संत मेरे गुणोंसे इतने प्रसन्न होते हैं कि वे स्थल और काल भूलकर मेरे नामसंकीर्तन से सुखी होते हैं । ये भक्त कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंद इन नामों का अखंड घोष और कभी कभी अध्यात्म की चर्चा करते हुए सदैव मेरे गुण गाते हैं । ॥२०६-१० ॥ हे पांडुपुत्र, इसतरह मेरे गुण गाते हुए कई साधुपुरुष दुनिया में संचार करते हैं ।और दूसरे भक्त पंचप्राण और

चित्त को जीतकर अपने वश में रखते हैं। बाहर से यमनियमों की तह लगाकर और मूलबंध का कोट बनाकर वहाँसे प्राणायाम के तोप चलाते हैं। फिर ऊर्ध्वमुख हुई कुण्डलिनी की रोशनी में मन और प्राणवायु की सहायता लेकर चंद्रामृत की तलैया वश में लाते हैं। उस समय प्रत्याहार की पराकाष्ठा होने से विकार पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं और इंद्रियाँ अंतर्मुख होती हैं। ॥२११-१५॥ तभी धारणारूपी घुड़सवारों का हमला होतेही पाँच महाभूत सबके सब विलय पाते हैं और संकल्प की मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारवाली चतुरंगिणी सेना तहसनहस हो जाती है। बादमें जयघोष होता है, ध्यानरूपी डंका बजता है और एकता का छत्र झिलमलाने लगता है। इसके पश्चात् अखंड और बढ़िया समाधि द्वारा आत्मानुभव के सिंहासन पर उनका राज्याभिषेक होता है। हे अर्जुन, जो ऐसी मेरी तीव्र उपासना करते हैं उन की बात मैंने तुमसे कही। इसी प्रकारसे और भी जो मेरा भजन करते हैं उनके बारे में मैं बताता हूँ। वस्त्र में जैसे तंतु भरे होते हैं, वैसेही इस चराचर विश्व में मैं व्याप्त हूँ ऐसा वे साधक जानते हैं ॥२१६-२०॥ ब्रह्मदेव से घुरघुरे तक सब मेराही स्वरूप है ऐसा उनको यक़ीन होता है। फिर वे छोटा बड़ा, सजीव निर्जीव ऐसा भेदभाव न करते हुए जो कोई चीज दिखाई देती है वह मद्रूप है इस भावनासे उसको दंडवत प्रणाम करते हैं। अपना बड़प्पन भूलकर सामने आई हुई वस्तु योग्य है या अयोग्य है इसका विचार न करते हुए उसको अभिवादन करना उनको सुहाता है। जैसे टीले से जल सहजही तल की तरफ़ बहता है, वैसेही भूतमात्र को नमन करना उनकी आदत हो जाती है। किंवा फलों से लदी हुई पेड़ की डाली जैसे जमीनपर झुकती है, वैसेही वे प्राणिमात्र के सामने विनम्र होते हैं ॥२२१-२५॥ वे सदा गर्वरहित होकर जयघोष से अपने सब कर्म मुझको अर्पण करते हैं। इस तरह विनीत होने से उनकी मानापमान की भावना मिट जाती है और वे मद्रूप होकर निरंतर मेरीही उपासना करते रहते हैं। इस प्रकार मैंने यह परा भक्ति का वर्णन किया।

अब ज्ञानयज्ञ से जो मेरी आराधना करते हैं उन मेरे भक्तोंके बारेमें सुनाता हूँ। उनका भजन करने का तरीक़ा तुम्हें मालूम होगा, क्योंकि उसका वर्णन पहलेही हो चुका है। तब अर्जुन बोला, जी हाँ, यह दैवी प्रसाद मुझे एक बार प्राप्त हुआ है। मगर अमृत के भोजन को बस, अब पर्याप्त हुआ, ऐसे कोई कहता है क्या?

॥२२६-३० ॥ अर्जुन की यह बात सुनकर श्रीकृष्ण ने ताड़ लिया कि उसको इस विषय में रुचि पैदा हुई है और वे आनंद से झूमने लगे । उन्होंने कहा, क्या खूब कहा । एक बार कही हुई बात दुहराना अप्रासंगिक है, परंतु तुम्हारी उत्कंठा देखकर कहना पड़ता है । तब अर्जुनने कहा, भगवन्, क्या चांदनी सिर्फ़ चकोर पंछी के लिये होती हैं, दूसरों के लिये नहीं ? सारे विश्व को शांत करनाही तो उसका स्वभाव है । जैसे चकोर पंछी अभीष्टप्राप्ति के लिये चाँदकी ओर चोंच करता है, वैसेही मैं आपसे एक अल्पसी प्रार्थना करता हूँ । क्योंकि हे भगवन्, आप दयाके सागर हैं । बादल अपने बड़प्पनसे दुनिया की इच्छाएँ पूरी करता है, नहीं तो उसकी तुलना में चातक पंछी की प्यास कितनी होती है ! ॥२३१-३५ ॥ मगर गंगाजल के एक चुल्लू जल पाने की इच्छा हो तो गंगानदी पर जाना पड़ता है । उसी तरह सुनने की इच्छा कम हो या ज्यादा, तो भी आप कहने की कृपा करें । उस समय भगवान ने कहा, हे अर्जुन, यह तुम्हारी बात पर्याप्त है । हमको जो संतोष हुआ है, उसपर तुम्हारी प्रशंसा सहन करने की गुंजाइश नहीं है । तुम जो इतना ध्यान देकर सुनते हो, उससे मेरे ववतृत्व का सम्मान हो चुका । इस तरह अर्जुन को बधाई देकर श्रीकृष्ण ने बोलना शुरू किया ।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५ ॥

इस ज्ञानयज्ञ का रूप ऐसा है । इस यज्ञ में ब्रह्मका विपुल हो जाने का आदिसंकल्प है यज्ञस्तंभ, पंचमहाभूत है मंडप, द्वैत पशु है, पंचमहाभूतों के विशेष गुण, इंद्रियाँ और पंचप्राण यज्ञ का साहित्य, और अज्ञान घी होता है ॥२३६-४० ॥ उस यज्ञमें मन और बुद्धि दो अग्निकुंड हैं, और उनमें ज्ञानरूपी अग्नि सुलगाई जाती है । सुखदुःख के विषयमें जो चित्त की समता होती है वही इस यज्ञ की वेदी है । आत्मानात्मविवेक में जो बुद्धि का कौशल होता है, वही इस यज्ञ का मंत्र है । शांति इस यज्ञ में स्रुक् और स्रुवा नामके यज्ञपात्र है और जीवात्मा यह यज्ञ करनेवाला यजमान है । यह जीवात्मा अनुभवरूपी पात्र, विवेकरूपी महामंत्र और ज्ञानरूपी यज्ञकर्मसे द्वैत का हवन करता है । उस समय अज्ञान मिट जाता है और यज्ञकर्ता और यज्ञविधि सिर्फ शेष रहते हैं । फिर यह जीवात्मा आत्मैक्यरूपी जल

में यज्ञसमाप्ति का अवभृथ स्नान करता है । तब वह पंचमहाभूत, इंद्रियाँ और उनके विषय अपनेसे अभिन्न हैं ऐसाही समझता है और ब्रह्मरूपी होनेसे सब एक है ऐसा वह मानता है ॥२४१-४५ ॥ हे अर्जुन, जब आदमी सोकर जागृत होता है, तब वह सोचने लगता है कि मैंने जो नींद में अडबंगे स्वप्न देखे थे वे सब मैं ही हुआ था न ? वहाँ सेना ही नहीं थी, बल्कि मैंही सेना बना हुआ था । उसी तरह उस पहुँचे हुए पुरुष को यह विश्व ब्रह्मरूप में महसूस होता है । और कई दूसरे लोग हैं जो समझते हैं कि ये सब पदार्थ अनेक और अनादि हैं । और वे पदार्थ एक दूसरेसे भिन्न होकर उनके नामरूप भी भिन्न हैं । इस लिये यद्यपि विश्व में भेदभाव है तथापि उनके ज्ञान में भेद नहीं होता । जिस तरह भिन्न भिन्न अवयव एकही देह के होते हैं, ॥२४६-५० ॥ या छोटी बड़ी शाखाएँ एकही पेड़की होती हैं, या असंख्य किरनें सूरज की होती हैं, उसी तरह व्यक्ति अनेक और उनके नाम और स्वभाव भिन्न होते हुए भी उन सभी में मेरा अस्तित्व होता है यह वे जानते हैं । हे पांडव, इस तरह प्राणिमात्र को भिन्न समझते हुएभी वे बढ़िया ज्ञानयज्ञ करते हैं । वे ज्ञानी होनेसे ब्रह्मज्ञान में भेदभाव महसूस नहीं करते । जब और जहाँ भी वे जो वस्तु देखते हैं उसमें मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है ऐसा वे जान चुके हैं । देखो, जलमें जो बुलबुला होता है, वह जलरूपही होता है, अगर वह चाहे रहे या घुल जाये वह जल मेंही होता है । ॥२५१-५५ ॥ अथवा हवा से अगर धूल के कण ऊपर उड़ते हैं तो वे भी पृथ्वी से अलग नहीं होते । जब वे गिरते हैं तो पृथ्वी पर ही गिरते हैं । उसी तरह कोई भी पदार्थ कहीं भी हो सब में मैंही हूँ ऐसी उन ज्ञानियों की समझ होती है । जैसा मैं सर्वव्यापक हूँ वैसाही उनका अनुभव भी सर्वव्यापी होता है । इस तरह ऐसे व्यक्ति अनेक होते हुए भी वे मुझसे एकरूप हो गये हैं । हे अर्जुन, जिस तरह यह सूर्यमंडल सबको सामने दिखाई देता है, उसी तरह ये भक्त भी जगत् को सदा प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । हे अर्जुन उनके ज्ञान में अंदर एक बाहर दूसरा ऐसा भेदभाव नहीं होता । जैसे समीर आसमानमें सब जगह भरा होता है, ॥२५६-६० ॥ वैसे ही मैं सर्वत्र हूँ और उसी तरह उनका सद्भाव व्यापक है । इसलिये, हे पांडुपुत्र कुछ न करने पर भी उनसे मेरा भजनही होता है । मैं तो सब जगह में व्याप्त हूँ फिर किसी से मेरी उपासना नहीं होती यह कैसे हो सकता है ? परंतु पूर्ण ज्ञान के बिना मेरी प्राप्ति नहीं होती, इस तरह जो ज्ञानयज्ञ से मेरी उपासना करते हैं उनके

बारेमें मैंने बताया। भिन्न भिन्न साधनों से लोग जो कर्म करते हैं, वह सब मुझ को पहुँचते हैं। परंतु नादान लोग यह नहीं समझते, इसीलिये वे मुझको नहीं पाते।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६ ॥

यह ज्ञान होने पर मालूम होता है कि वास्तव में मैं वेद हूँ और उनमें जो विधि बतायी गयी हैं वे क्रतु मैं ही हूँ ॥२६१-६५ ॥ उन विधियों से जो अंग और उपांग के साथ यज्ञ प्रकट हुआ है, वह भी मैं हूँ। देवताओं को हवि देने का मंत्र भी मैं हूँ। सोमवल्ली इत्यादि अनेक प्रकार की बूटियाँ भी मैं हूँ। घी, समिधा, मंत्र, हवनद्रव्य, और होता भी मैं ही हूँ, जिसमें हवन किया जाता है वह अग्नि भी मेराही रूप है, और अग्नि में हवन किये जानेवाले द्रव्यभी मैं ही हूँ।

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेवाच ॥१७ ॥

और जिसके लगाव से यह अष्टधा प्रकृति जगत् को पैदा करती है, उस विश्व का पिताभी मैं ही हूँ। अर्धनारीश्वर में जो पुरुष है वह स्त्री भी है, इसलिये चराचर संसारकी माता भी मैं हूँ ॥२६६-७० ॥ जिस का आसरा लेकर यह जगत् बना रहता है और प्राणियों की वृद्धि होती है, वह भी मेरे सिवाय और कोई नहीं है। ये प्रकृति और पुरुष जिसके मनरहित संकल्प से जन्मे हैं, उन तीन लोकों का पूर्वज भी मैं हूँ। हे अर्जुन, सब ज्ञानों के मार्ग आकर जहाँ मिलते हैं, जिस चौराहे पर वेद मिलकर मेरा वर्णन करते हैं, जिसमें भिन्न मतों की एकवाक्यता हुई है, जिसमें शास्त्रों की अपरिचितता दूर हुई, और जिसमें गलत सिद्धान्त आ पहुँचे, जिसको पवित्र वस्तु कहते हैं, वह भी मैं हूँ।ब्रह्मबीज से जो वाणी का अंकुर निकला, उस नादरूपी अंकुर का मूलस्थान जो ॐकार है वह भी मैं हूँ ॥२७१-७५ ॥ उस ॐकार से जो अ, उ, म्, अक्षर पैदा हुए, उनसे तीन वेद उत्पन्न हुए, इस लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद भी मैं हूँ और इन वेदोंकी परंपरा भी मैंही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८ ॥

यह चराचर विश्व जिस प्रकृति में समाया हुआ है, वह प्रकृति जहाँ थककर

विश्राम करती है, उसका परमधाम भी मैं हूँ। जिसका आसरा लेकर प्रकृति जीवित रहती है और विश्वको निर्माण करती है और जो इस प्रकृति के सहवास में उसके गुणों का उपभोग लेती है, उस विश्वलक्ष्मी का पति भी मैंही हूँ और हे अर्जुन, इन तीनों लोकों का मालिक भी मैं हूँ ॥२७६-८० ॥ आसमान सब जगह में हो, वायु क्षणभर भी निश्चल न रहे, अग्नि जलाये, बादल बारिश करे, पहाड़ अपनी जगह छोड़कर न जाये, समुद्र अपनी मर्यादा न लाँघे, और पृथ्वी सब भूतों का बोझ उठाये, यह सब मेरी आज्ञा से होता है। मेरे कहने पर वेद बोलते हैं, सूरज घूमता है और सब विश्व का संचालक जो प्राण है वह भी मेरे हिलाने परही हिलता है। और मेरे ही आदेश से मृत्यु प्राणिमात्र का संहार करती है। हे अर्जुन, इस तरह सब मेरेही कहनेपर अपने अपने कार्य करते हैं। ऐसा सर्वशक्तिमान् विश्व का नाथ मैं हूँ। ॥२८१-८५ ॥ हे पांडुपुत्र, इस नामरूपात्मक जगत् में मैंही व्याप्त हूँ, और उसका आत्माभी मैं हूँ। जिस तरह लहरें जल में पैदा होती हैं और लहरों में जल होता है, उसी तरह यह जगत् मुझमें है और मैं जगत् में हूँ। जो भक्त एकनिष्ठ होकर मेरी शरण में आता है, उसको मैं जन्ममरण से मुक्त करता हूँ, इसलिये मैं शरणागतों का आसरा हूँ। मैं अकेला प्रकृति के विविध गुणों के संयोग से अनेक होकर इस जगत् में भूतमात्र में जीवरूप में रहता हूँ। जैसे यह समुद्र है और वह डबरा, ऐसा भेदभाव न मानकर सूरज उनके जल में प्रतिबिंबित होता है, वैसेही ब्रह्मदेव से घुरघुरे तक सब के साथ मैं समभाव से पेश आता हूँ। ॥२८६-९० ॥ हे पांडुपुत्र, इस त्रिभुवन का अस्तित्व और उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय इनका मूलकारण मैंही हूँ। जैसे बीज से पेड़ और शाखाएँ पैदा होती हैं, और बादमें पेड़ उसके बीज में समाया होता है, वैसेही आदिसंकल्प से यह समूचा जगत् पैदा होता है और अंत में उसमेंही विलीन होता है। इस तरह वासनारूपी जगत् का अव्यक्त बीज जो संकल्प है, वह कल्पान्त में जहाँ रहता है, वह स्थान मैं हूँ। जब नामरूप, वर्ण, व्यक्ति, जातिभेद, और आकार इनका विलय होता है, तब फिर इस चराचर विश्व को पैदा करनेवाला जो वासनात्मक संकल्प है, उसके सूक्ष्म संस्कार जिस स्थान में रहते हैं वह स्थान भी मैं हूँ। ॥२९१-९५ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९ ॥

मैं जब सूर्यरूप में तपता हूँ, तब सब जलाशय सूख जाते हैं, और जब मैं इंद्ररूप में पानी बरसाता हूँ तब वे जलाशय भर जाते हैं। जब अग्नि लकड़ी जलाती है, तब वह लकड़ी अग्निरूप हो जाती है, वैसेही मरनेवाला और मारनेवाला ऐसे दो रूप मेरे ही होते हैं । इस लिये जो मरे हुए हैं वे मेरेही रूप हैं, और जो जीवित हैं वे भी मेरे रूप हैं। अब तुम्हें एक वाक्य में कहता हूँ कि व्यक्त और अव्यक्त ये दोनो मेरेही रूप हैं। हे अर्जुन, क्या ऐसा कोई स्थान है जहाँ मैं नहीं हूँ ? किन्तु दुर्भाग्य से आदमी मुझको पहचानता नहीं ॥२९६-३०० ॥ जैसे लहरें जलके बिना सूख जायें या सूरज की किरण दिये के बिना न दिखाई दें, वैसे ही सब मेरे रूप होते हुए भी आश्चर्य की बात है कि लोग मुझको नहीं जानते । मैं इस विश्व में अंतर्बाह्य भरा हुआ हूँ और यह जगत् मुझसेही बना हुआ है । किंतु प्राणियों का कर्म आड़े आता है, इसलिये वे मेरा अस्तित्व स्वीकार नहीं करते । अमृत के कुएँ में गिरा हुआ अभागा बाहर निकल आता है तो उसको क्या करें ? अन्न के एक कौर के लिये दौड़धूप करनेवाला अंधा जब चिंतामणि पाकर उसको ठुकराता है, तब उसकी जो हालत होती है वैसी ही दुर्दशा ज्ञान को त्यागनेवालों की होती है । इसलिये जो ज्ञान के बिना कर्म करते हैं, उनके कर्म न किये जैसेही होते हैं ॥३०१-०५ ॥ अंधेको गरुड के पंख होने से क्या फायदा ? वैसेही ज्ञान के बिना किये हुए कर्म व्यर्थ होते हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२० ॥

हे अर्जुन, देखो, वर्णाश्रमधर्म के अनुसार आचरण करते हुए जो योग्य आचार क्या है इसके बारेमें कसौटी बनते हैं, जिनके किये हुए यज्ञों पर तीन वेद संतोष से सिर नवाते हैं, और जिनके यज्ञ सफल होते हैं, ऐसे जो सोमपान करनेवाले और साक्षात् यज्ञरूप हैं, वे पुण्य के नाम से पापही जुटाते हैं, ऐसा समझो । क्योंकि वे तीनोंही वेदों का अध्ययन और सौ यज्ञ करके मेरी पूजा करते हैं यह बात सही है, किंतु वे मुझसे ज्यादा स्वर्गलोक को पसंद करते हैं ॥३०६-१० ॥ हे अर्जुन, जैसे कोई कल्पवृक्ष के नीचे बैठा हुआ अभागा झोली लटकाकर भिक्षा माँगने जाता है, वैसे ही सौ यज्ञों से मेरी पूजा करके वे स्वर्गसुख की कामना करते हैं । इसको

हम पुण्य कैसे कहें ? क्या वह पाप नहीं है ? इस लिये मुझे छोड़कर स्वर्ग चाहनेवाले नादान लोग इसको शायद पुण्यमार्ग समझें, किंतु ज्ञानी लोग उसको मोक्षमार्ग में हानिप्रद रुकावट समझते हैं। वैसे नरकवास के दुःख की तुलना में स्वर्गवास सुखकर है ऐसा हम कह सकते हैं। किंतु मेराही स्वरूप सचमुच निर्दोष और सदा आनंदमय है और मेरे पास पहुँचने के लिये जो मार्ग है, उसमें दो पगडंडियाँ हैं। स्वर्ग और नरक ये दोनो चोरों के रास्ते हैं ॥३११-१५॥ आदमी पुण्यात्मक पाप से स्वर्गलोक और पापात्मक पापसे नरक पाता है, और जिस मार्गसे वह मुझको पाता है वह विशुद्ध पुण्यमार्ग है। हे पांडुपुत्र जिस कर्म से आदमी मुझमें होते हुए भी, मुझसे अलग हो जाता है, उसको पुण्य कहनेवालों की वाणी क्यों नहीं झड़ जाती ? वे याज्ञिक इस प्रकार मेरे लिये यजन करके स्वर्गसुख चाहते हैं। फिर जिससे मेरी प्राप्ति नहीं होती, वे पापरूपी पुण्य कमाकर स्वर्गलोक में जाते हैं, जहाँ अमरत्व जैसे सिंहासन, ऐरावत जैसे वाहन और अमरावती जैसी राजधानी है, ॥३१६-२०॥ जहाँ महासिद्धियों के और अमृतके भांडार और कामधेनुओं के झुंड हैं, जहाँ सेवा के लिये देवदूत, चिंतामणियों से बने हुए मार्ग और क्रीडा के लिये कल्पवृक्ष के उपवन हैं, जहाँ गंधर्व गाते हैं, रंभा जैसी परियाँ नाच करती हैं और ऊर्वशी जैसी अप्सराएँ आमोद-प्रमोद के लिये होती हैं, जहाँ शय्यागृह में कामदेव सेवा करता है, चाँद झाडू लगाता है और वायु जैसे दौड़धूप करनेवाले सेवक हैं, जहाँ आशीष देने के लिये बृहस्पति जैसे गुरुदेव हैं और देवगण स्तुतिगायक हैं, ॥३२१-२५॥ जहाँ कतार में लोकपाल, विजयी अश्वारोही सैनिक और उच्चैःश्रवा नाम का कोतवाल घोड़ा है, उस स्वर्गलोक को वे सुखसे जाते हैं । इस तरह, जबतक पुण्य शेष है तबतक वे इंद्रसुख जैसे भोगविलास का उपभोग लेते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं । क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना । गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

बादमें पुण्यका लोप होतेही उनका इंद्रपद का तिलक मिट जाता है और उनको मृत्यु लोकमें लौट आना पड़ता है। जैसे गणिका पर सब दौलत खर्च हो जानेपर उसका दरवाजा खटखटाने का भी किसी को हक़ नहीं होता, वैसी उस याज्ञिक की

दशा कितनी लज्जास्पद होती है, यह मैं कैसे बताऊँ ? इस प्रकार मैं जो अक्षय हूँ उसको छोडकर वे पुण्यकर्मों के द्वारा स्वर्गलोक चाहते हैं और अमर न होकर लौट आते हैं। ॥३२६-३० ॥ फिर वे माँकी कोंख में विष्ठा के स्तर में नौ माह उबल कर जन्म लेते हैं और मरते हैं। अरे, जैसे स्वप्न में मिली हुई निधि जाग्रत होनेपर लुप्त होती है, वैसाही वैदिकों का यह सुख है। जिस तरह अनाज से अलग किये हुए भूसे को हवा में पछोरना व्यर्थ होता है, वैसेही वेदपंडित होकर जो मुझको नहीं जानता उसका जन्म निरर्थक है। मेरे ज्ञान के बिना ये वेदोक्त कर्म बेकार हैं। तुम मुझको ही जान लो, जिससे तुमको दूसरा ज्ञान न हो तो भी तुम सुखी होगे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२ ॥

देखो, जिन्होंने लगाव के साथ अपना मन मुझ को सौंप दिया है, जिनको मेरे सिवा कुछ अच्छा नहीं लगता, जैसे कोंख में गर्भ कुछ उद्यम नहीं जानता, ॥३३१-३५ ॥ और मुझपर जिन्होंने जी लगाया है और जो एकनिष्ठ अंतःकरण से मेरा चिंतन और उपासना करते हैं, मैं उनकी सेवा करता हूँ। जब वे एकचित्तसे मेरा भजन करने लगते हैं, उसी वक्त मुझे उनकी चिंता होने लगती है। फिर वे जो कुछ करना चाहते हैं, वह मुझको करना पड़ता है। जिस तरह बिना पाँखवाले छौनों को जिलाने के लिये चिड़िया जीवित रहती है, किंवा भूखप्यास भूलकर माता अपने नन्हे बालक के सुख के लिये कष्ट उठाती है, उसी तरह जो प्राण की बाज़ी लगाकर मेरे पीछे आता है, उनका मैं हरतरहसे पालन करता हूँ ॥३३६-४० ॥ अगर उन्होंने सायुज्य मोक्ष चाहा, तो मैं उनकी इच्छा पूरी करता हूँ। अथवा उन्होंने मेरी सेवा करना पसंद किया, तो मैं उनके मन में मेरे लिये प्रेम पैदा करता हूँ। और वे जो कुछ चाहते हैं, वह मैं उनको देता हूँ और जो कुछ मैं प्रदान करता हूँ उसकी रक्षा भी मैं करता हूँ। इस लिये, हे पांडुपुत्र, जो सर्वभावसे मेरी शरण आये हैं, उनका योगक्षेम मैं चलाता हूँ।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ॥
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३ ॥

अब अन्य संप्रदाय के लोग मुझको सर्वव्यापक ऐसा नहीं जान कर अग्नि, इंद्र, सूर्य और चंद्र आदिके लिये यज्ञ करते हैं। वे यज्ञ मुझकोही पहुंचते हैं, क्योंकि मैं ही यह सारा विश्व हूँ। किंतु उनकी आराधना सीधी नहीं, टेढ़ी होती है ॥३४१-४५ ॥ देखो, पेड़ की शाखाएँ, पत्ते इत्यादि क्या एकही बीज से पैदा नहीं होते ? किंतु उसकी जड़ें ही जल लेती हैं, इस लिये, जल पेड़के तले में डालना चाहिये। दस इंद्रियाँ एक देह में होती हैं और उनके सेवन किये हुए विषय एकही जगह जाते हैं। किंतु अच्छा खाना पका कर कोई कान में डाले या फूल लेकर उसको आँखों से सूँघे, ऐसा क्या कभी होता है ? अन्न तो मुँह से ही खाना पड़ता है और सुगंध नाक सेही सूँघनी पड़ती है। उसी तरह मेरा स्वरूप जानकर यजन करना चाहिये। वास्तव में मुझको न जानकर की हुई उपासना व्यर्थ होती है। उसके लिये ज्ञान की दृष्टि आवश्यक है और वह ज्ञान भी निर्दोष होना चाहिये ॥३४६-५० ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४ ॥

नहीं तो, अर्जुन, तुमही सोचो इन यज्ञों के उपचारों का मेरे सिवाय और कौन उपभोक्ता है ? मैं सब यज्ञों का आदि और उनका अंत भी हूँ। किंतु ये नासमझ लोग मुझको छोड़कर इंद्रादि देवताओं को भजते हैं। जिस तरह देवता और पितर के नामसे गंगाजी को गंगाजल अर्पण करते हैं, उसी तरह वे मेरी ही पूजा करते हैं, मगर उनका भाव भिन्न होता है। इस लिये, हे पार्थ, वे मुझको कभी नहीं पाते, क्योंकि वे उसी के पास जाते हैं, जिसके लिये उनके चित्त में श्रद्धा हो।

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५ ॥

तनमनसे जो देवताओंकी उपासना करते हैं वे देवतारूप होते हैं ॥३५१-५५ ॥ और जो पितरों के व्रत में मग्न होते हैं उनको मौत के बाद पितृलोक प्राप्त होता है। कई लोग वेताल आदि पिशाच और क्षुद्र देवताओं को परम देवता समझ कर जारणमारण आदि कर्मों के लिये उनकी आराधना करते हैं ।उनका देह का पर्दा हट जाने पर वे पिशाचयोनि पाते हैं। इस प्रकार उनको अपने अपने संकल्पों के अनुसार अपने कर्मों का फल मिलता है। इसके विपरीत मेरे भक्त आँखों से मेरा

दर्शन करते हैं, कानों से मेरा नाम सुनते हैं, चित्त से मेरा चिंतन करते हैं और वाणी से मेरा कीर्तन करते हैं । वे सब जगह मुझको दंडवत प्रणाम करते हैं और दान, पुण्य इत्यादि कर्म मेरे लिये ही करते हैं ॥३५६-६० ॥ वे मेरे विषय में ग्रंथ पढ़कर और अंतर्बाह्य मद्रूप होकर तृप्त होते हैं और अपना जीवन मुझपर निछावर करते हैं । अगर उनको अहंकार है तो वह मेरी महिमा बढ़ाने के लिये होता है और उनको लोभ है, तो वह मेरी प्राप्ति के लिये होता है । वे मेरी कामना करके सकाम और मेरे प्यार में पागल बनते हैं और वे मेरे लिये बावले बनकर संसारसे विमुख होते हैं । मुझे जानने के लिये ही उनके शास्त्र होते हैं, और मेरी प्राप्ति के लियेही उनके मंत्र होते हैं । इसलिये वे मरने के पहलेही मद्रूप होते हैं, फिर वे मौत के बाद दूसरी जगह कैसे जायेंगे ? ॥३६१-६५ ॥ इसलिये जो मेरे वास्ते य़ज्ञ करते हैं, वे मुझसे एकरूप होते हैं । क्योंकि उपासना के निमित्त से उन्होंने मुझे अपना सब कुछ अर्पण किया है । हे अर्जुन, आत्मसमर्पण के बिना मेरे लिये सच्चा प्रेम पैदा नहीं होता, इसलिये मैं अन्य साधनों से प्राप्त नहीं होता हूँ । जिसको मेरे ज्ञानका गर्व है, वह नादान है, जो अपनी योग्यता पर अक़ड़ कर चलता है वह अधूरा है और जो अपने को कृतार्थ समझता है वह सचमुच वैसा नहीं होता । उसी तरह जो यज्ञ, धर्म और तप करने पर शान दिखाते हैं, उनके कर्मों का तिनके का भी मूल्य नहीं हैं । देखो, ज्ञानके बलमें वेदों के सिवाय क्या और कोई अधिक जानकार है ? अथवा क्या शेषनाग से और कोई ज्यादा मुँहवाला और बातें करने में चतुर है ? ॥३६६-७० ॥ वह शेषनागभी मेरी शय्या के नीचे छिपा हुआ है, वेदभी 'नेति, नेति' कहकर पीछे खिसक गये हैं और सनक जैसे महाज्ञानी भी चक्कर में पड़े हैं । क्या तपस्वियों में कोई महादेव की बराबरी कर सकता है ? लेकिन उन्होंने अभिमान छोड़कर मेरा चरणोदक (भागीरथी) अपने माथे पर धारण किया है । किंवा दौलतमंदों में लक्ष्मीदेवी से कोई श्रेष्ठ है ? उसके महल में श्रीदेवी जैसी दासियाँ हैं । वे दासियाँ खेल में जो घरौंदे बनाती हैं, उनको लोग अमरलोक कहते हैं, तब क्या इंद्रादि देव उस खेल में गुड्डियाँ नहीं होते ? फिर जब वे घरौंदे पसंद नहीं होते तब वे दासियाँ उन्हें तोड़ देती हैं, और वे देवता रंक बनते हैं । जिन पेड़ों पर वे दासियाँ दृष्टि डालती हैं, वे सब कल्पवृक्ष बनते हैं ॥३७१-७५ ॥ इस तरह जिसके घर की दासियाँ भी शक्तिशालिनी हैं, उस मेरी पटरानी लक्ष्मीदेवी को भी यहाँ सम्मान नहीं मिलता ।

जब उसने अभिमान छोड़कर मेरी सेवा की तब मेरे पाँव धोने का भाग्य उसको प्राप्त हुआ। इसलिये जो कोई संसार में अपना गौरव और विद्वत्ता भूलकर अपने को नगण्य समझता है, उसको मेरी प्राप्ति होती है। हे अर्जुन, जहाँ चांद सूरज के सामने फीका पडता है, वहाँ जुगनू अपनी शान क्यों दिखाये ? जहाँ लक्ष्मीदेवी का वैभव और श्रीशंकर का तप भी पर्याप्त नहीं होते, वहाँ साधारण नासमझ आदमी मुझे कैसे जान सकता है ? ॥३७६-३८० ॥ इसलिये आदमी को चाहिये कि वह अभिमान और धनदौलत को छोड़कर अपने देह और गुण मेरे ऊपर निछावर कर दे।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६ ॥

अनंतर जब मेरा भक्त भक्तिपूर्वक कुछ फल मेरे सामने रखता है, तब मैं मेरे दोनों हाथ आगे बढ़ा कर उस फल का डंठलसहित आदर से सेवन करता हूँ। हे अर्जुन, अगर कोई मुझको फूल देता है तो मैं उसको सूंघने के बदले मुँहमें डालता हूँ। सिर्फ फूल ही नहीं, मुझको पेड़ का पत्ता भी प्रिय है, फिर वह किसी भी पेड़ का हो, ताजा हो या सूखा हो ॥३८१-८५ ॥ उसको प्रेमभाव से भरा हुआ देखकर मैं उसको अमृततुल्य मानकर खाता हूँ, जैसे भूखा आदमी अमृत पीकर तृप्त होता है। अथवा यदि किसी समय पर पत्ता भी नहीं मिला, तो जल पानेमें तो कोई अड़चन नहीं होती। वह तो हर जगह बिना कष्ट के और बिना मूल्य मिलता है। यदि मेरा भक्त वह जल मुझको तनमनसे अर्पण करता है, तो मैं समझता हूँ कि उसने मेरे लिये वैकुंठ से भी विशाल मंदिर बनवाया है, किंवा कौस्तुभ मणि से भी निर्दोष गहना मुझे प्रदान किया है, अथवा क्षीरसागर जैसी मनोहर असंख्य शय्याएँ तैयार की हैं ॥३८६-९० ॥ किंवा उसने कपूर, चंदन और अबीर आदि सुगंधियों का मेरु पर्वत बनाकर और उसको सुलगा कर सूरज की दीपमाला जलायी हो या उसने गरुड जैसे वाहन, कल्पवृक्षोंका उपवन या कामधेनू के झुंड मुझे अर्पित किये हैं, या अमृतसे भी स्वादिष्ट व्यंजन पका कर मुझ को परोसे हैं। इन सब से जो मुझे संतोष होगा उससे कहीं जादा भक्त के दिये हुए जल की बूंदसे होता है। हे अर्जुन, तुमने अपनी आँखोंसे देखा कि मैंने चिऊड़ा के लिये सुदामा की पोटली की गाँठ खोली। उसको

क्या दुहराऊं ? इसलिये मैं सिर्फ भक्ति को पहचानता हूँ। मेरे भक्तों के बारे में मैं छोटा बड़ा ऐसा नहीं सोचता और किसीने भक्तिपूर्वक की हुई मेहमानी स्वीकार करता हूँ ॥३९१-९५॥ योंही फल और पत्ते भक्ति के साधन मात्र हैं और वे भक्तिभाव के बिना व्यर्थ हैं। इसलिये, हे अर्जुन, मैं तुम्हें एक सरल उपाय बताता हूँ, सुनो। तुम अपने मनरूपी मंदिर से मुझे मत निकालो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

तुम जो कारबार करोगे, या जिन चीजों का उपभोग लोगे, या विविध यज्ञ करोगे, या सत्पात्र को दान और सेवकों को वेतन दोगे, या जो तपादि व्रत और साधना करोगे, वे सब कर्म मेरे लिये भक्तिपूर्वक करो ॥३९६-४००॥ और अपने किये की याद न करते हुए निष्काम होकर वे कर्म मुझ को अर्पित करो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

फिर जैसे भुना हुआ बीज अंकुरित नहीं होता वैसेही मुझको अर्पित किये हुए शुभ और अशुभ कर्म, फल नहीं देते। अरे, अगर कर्म शेष रहा तो उसका सुखदुःखरूपी फल भुगतना पड़ता है और इसके लिये किसी देह का आश्रय लेना पड़ता है। कोई यदि वही कर्म मुझको अर्पित करे, तो उसके जन्म और मरण टल जाते हैं और जन्म के साथ आनेवाले कष्ट सेभी वह बचता है। हे अर्जुन, तुम कर्म कलतक टाल सकते हो, इससे फलप्राप्ति सिर्फ देरी से होगी। इसलिये फलत्याग करने का सरल उपाय मैंने तुम्हें बताया ॥४०१-०५॥ इसलिये देहबंधन में मत पड़ो, दुःख के सागर में मत डूबो और इस सुगम मार्ग से मेरे आनंदमय स्वरूप में मिल जाओ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

यदि तुम पूछोगे कि मैं कैसा हूँ, तो मैं कहूंगा मैं सब भूतों में सम हूँ और मुझमें अपना और पराया ऐसा भेदभाव कभी नहीं होता। मेरा यह स्वरूप जानकर और अहंकाररहित होकर जो कर्म करते हैं और साथही साथ मुझको अत्यंत प्यार

से भजते हैं, वे देहमें होते हुएभी विदेह होकर मुझमें रहते हैं और मैं भी उनके हृदय में वास करता हूँ । जिस तरह वट का फैला हुआ पेड़ उसके बीज में छिपा रहता है और उस बीज का भी पेड़ में रूपांतर होता है, ॥४०६-१० ॥ उसी तरह मुझमें और मेरे भक्त में केवल नामका ही अंतर होता है । हाँ, यदि अंत:स्थिति का विचार करोगे, तो हम दोनों एक हैं । जैसे उधार लाये हुए गहने देखने में अपने जैसे मालूम होते हैं वैसेही उनको देह होते हुए भी वे उसके प्रति उदासीन रहते हैं । जिस तरह समीर फूलों की सुगंध ले जाता है, और फिर सुगंधरहित फूल डंठल पर रहता है, उसी तरह जीवन के अंततक उसका देह रहता है । हे अर्जुन, वह मद्रूप होने से उसका अहंकार जो शेष रहता है वह मेरे स्वरूप में विलीन हो जाता है ।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स: ॥३० ॥

ऐसे प्यार से जो मुझको भजता है, वह शरीर नहीं पाता, फिर वह कैसा भी हो ॥४११-१५ ॥ और, हे वीरश्रेष्ठ, उसने पूर्वावस्था में बड़ा पाप भी किया क्यों न हो, क्योंकि उसने अपना शेष जीवन भक्ति में बिताया है । अरे, मौत के समय आदमी की जैसी बुद्धि होती है, वैसी अवस्था उसको अगले जन्म में मिलती है । इस लिये जीवन का अंतिम काल जिसने मेरी भक्ति में बिताया, अगर वह जीवन के प्रारंभ में दुराचारी भी रहा हो तो भी वह सब लोगों में उत्तम होता है ऐसा समझो । जैसे कि बाढ़ में फँसा हुआ आदमी डूबते डूबते किनारे जा लगा, और मरनेसे बच गया, वैसेही युवावस्था में किया हुआ पाप अंतिम भक्ति से नष्ट हो जाता है । इस लिये कोई दुरात्मा क्यों न हो वह भी तनमन से अनुतापरूपी तीर्थ में नहा कर मुझसे एकरूप हो सकता है । ॥४१६-२० ॥ फिर उसका कुल पवित्र होता है, वह कुलीन और निर्दोष बनता है और उसका जन्म सफल होता है । उसको वेदाध्ययन, तप और अष्टांग योग करने का श्रेय प्राप्त होता है । जो मुझमें अखंड श्रद्धा रखता है, वह सब कर्म के परे चला जाता है । हे अर्जुन, जो मन और बुद्धि के सब व्यापार एकनिष्ठता के संदूक में भरकर वह संदूक मेरे पास रखता है,

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति ॥३१ ॥

वह कुछ समय में मद्रूप होता है ऐसा शायद तुम समझोगे । किंतु सोचो तो, जो अमृत में रहता है उसको मृत्यु कैसी आयोगी ? ॥४२१-२५ ॥ जबतक सूर्योदय नहीं होता, उस समय को रात कहते हैं । उसी तरह क्या भक्ति के बिना किया हुआ कर्म पाप नहीं होता ? इस लिये हे अर्जुन, जब मेरे भक्त का मुझसे लगाव होता है, तब वह सचमुच मेरे स्वरूप में मिल जाता है । जिस तरह दीप से दीप सुलगाने पर उनमें पहला दीप कौनसा था यह हम पहचान नहीं सकते, उसी तरह जो मुझे तनमन से भजता है, वह मद्रूप होकर ही रहता है । फिर मेरी दो अवस्थाएँ कांति और नित्य शांति उसको प्राप्त होती हैं । वह मुझमेंही जीवित रहता है । हे पार्थ, यह बात तुम्हें कितनी बार दुहराऊं ? जो मेरी प्राप्ति चाहता है उसको मेरी भक्ति नहीं भूलना चाहिये ॥४२६-३० ॥ अरे, (मेरी भक्ति के लिये) अच्छे वंश या उंची जात की आवश्यकता नहीं, फिर विद्वत्ता की वासना भी क्यों चाहिये ? रूप और यौवन का गर्व क्यों या धनदौलत का डंका क्यों ? मेरी भक्ति के बिना वह सब निरर्थक है । बुट्टे घने होकर भी यदि पोले हैं, किंवा शहर सुंदर होकर भी वीरान हो, तो उससे क्या फायदा ? अथवा जिस तरह झील सूखी हुई हो, या अरण्य में किसी अभागे को दूसरा भाग्यहीन आदमी मिल जाये, या कोई पेड़ बांझ फूलों से लदा हुआ हो, उसी तरह धनदौलत, खानदान, और श्रेष्ठ जात सब भक्ति के बिना व्यर्थ है । ॥४३१-३५ ॥ जैसे बदन में सब अवयव होनेपर भी जान न हो, वैसे ही भक्ति के बिना जीवन है, गोली मारो उसको । अरे, पृथ्वी की पीठपर क्या पत्थर नहीं होते ? जैसे हिवर की छाया संतसज्जनों ने निषिद्ध मानी हैं, वैसे भक्तिहीन से पुण्य घृणा करता है । नीम का पेड़ जब फलों के भार से झुक जाता है, तब कौव्वों के लिये समृद्धि के दिन आते हैं । उसी तरह भक्तिहीन आदमी पाप जुटाने के लियेही धनवान् होता है । किंवा षड्रसवाला भोजन खपरे में परोस कर यदि चौराहे पर रख दें, तो वह कुत्तों के ही काम आता है, वैसे जो स्वप्न में भी पुण्य जुटाना नहीं जानता, उस भक्तिहीन की जिंदगी मानो प्रापंचिक दुःख की परोसी हुई थाली है ॥४३६-४० ॥ इस लिये श्रेष्ठ कुल न हो, या जाति से अंत्यजभी हो, या जानवर का देह प्राप्त किया हो (तो भी भक्ति अवश्य चाहिये) । देखो, जब नक्र से पकड़े जाने पर गजेंद्र ने गिड़गिड़ाहट से मेरा स्मरण किया, तब उसने मुझे पाया और उसका पशुत्व खत्म हो गया ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

ऐसे कई लोग हैं जिन्होंने हीनयोनि में जन्म लिया है, जिनका नाम लेनाभी अशुभ है । वे पापयोनि में जन्म लेने पर ज्ञान के नामसे केवल पत्थर हैं, मगर वे मुझमें दृढ भाव रखते हैं । जिनकी वाणी मेराही नाम लेती है, जिनकी दृष्टि मेराही रूप निहारती है, जिनके मनमें मेरे सिवा कुछ भी संकल्प नहीं होता, ॥४४१-४५॥ जिनके कान मेरा यशोगान सुनने के लिये खुले होते हैं, जिनके शरीर को मेरी सेवाही अच्छी लगती है, जिनकी बुद्धि को विषयों की सुधि भी नहीं होती, जो केवल मुझको जानते हैं, और यदि वे यह नहीं कर पाते तो जीनेसे मृत्यु पसंद करते हैं, और इस प्रकार हे अर्जुन, जो अपना तन मन मुझको अर्पण करते हैं, वे पापयोनि में क्यों न पैदा हुए हों और शास्त्रों से अनपढ क्यों न रहे हो, वे मेरी तराजू के माप में कम नहीं उतरते । देखो, भक्ति के बलपर असुरों ने देवों को पीछे छोड़ा और भक्ति का महत्त्व बचाने के लिये मैंने नृसिंहावतार लिया ॥४४६-५०॥ और जिसका मेरे लिये छल हुआ उस प्रल्हाद की सब माँगे मैंने पूरी कीं । वास्तव में उसका दैत्यकुल में जन्म हुआ था, मगर देवेंद्र भी उसकी बराबरी नहीं कर सका । इसलिये मेरी प्राप्ति के लिये भक्ति ही पर्याप्त है, जाति का कुछ महत्त्व नहीं । एक चाम के टुकड़े पर राजाज्ञा के अक्षर अंकित होने से उसके बदले में सब चीजें मिल सकती हैं । उन अक्षरों के सिवाय सुवर्ण या रजत को भी कुछ कीमत नहीं होती, यह तो वह राजाज्ञा की ही महिमा है । राजा की मुद्रा होने से लोग उस चाम के टुकड़े के बदले में सब चीजें खरीद सकते हैं । उसी तरह जब मन और बुद्धि मेरे प्रेम से युक्त हैं, तभी उसकी श्रेष्ठता और सर्वज्ञता शोभा देती हैं । ॥४५१-५५॥ । इस लिये कुल, जात और वर्ण सब व्यर्थ हैं । मेरी भक्ति से ही, हे अर्जुन, जन्म सार्थक होता है, फिर वह कोई भी हो । एक बार उसका भक्तिभाव से मुझमें लगाव हुआ, तो उसका जीवन के प्रारंभ का संचित कर्म मिट जाता है । जब तक नाले गंगाजीमें नहीं मिलते तबतक उनको झरने कहते हैं, परंतु वे उसमें मिल कर गंगारूप हो जाते हैं । अथवा लकड़ी अग्नि में डाल देने तक उसको खैर, चंदन इत्यादि कहते हैं । उसी तरह वह जबतक कोई मेरे स्वरूप में नहीं मिलता, तब तक वह क्षत्रिय है, वैश्य है, औरत है, शूद्र, अत्यंज है ऐसे विचार मनमें आते हैं ॥४५६-६०॥ जैसे नमक समुद्र के जल में

पिघल जाता है, वैसे ही मेरा भक्त तनमन से मुझ में हिलमिल जाता है, तब जातिभेद और व्यक्तिभेद मिट जाते हैं। जबतक नदियाँ समुद्र से मिलती नहीं, तबतक नद, नदी, पूर्वगामिनी, पश्चिमगामिनी ऐसे भेद हम कर सकते हैं। वैसेही बस किसी तरह मेरे भक्तों का चित्त मुझमें लग जाए यहीं पर्याप्त है। फिर वे अनायास मुझमें एकरूप हो जाते हैं। हे अर्जुन, पारसमणि को तोड़ने के लिये उस पर लोहे से प्रहार किया किन्तु स्पर्श से वह लोहा सोना बन जाता है। देखो, प्यार के निमित्तसे गोपियाँ मुझमें अनुरक्त होकर क्या मद्रूप नहीं हुई ? ॥४६१-६५॥ किंवा मथुरानरेश कंसने भय के निमित्त से मुझको नहीं पाया ? अथवा लगातार बैर करके शिशुपाल आदि मेरे पास नहीं पँहुचे ? अरे योंही यादव सगेपन की वजहसे एकरूप नहीं हुए ? जैसे भक्ति से नारद, ध्रुव, अक्रुर, शुक और सनत्कुमार ने मुझको पाया, वैसेही प्रेमभाव से गोपियोंने, डर से कंस ने और विरोध से शिशुपाल आदिने मुझको पाया। हे अर्जुन, मैं आदमी की जिंदगी का अंतिम मुक़ाम हूँ, फिर वे भक्ति, वैराग्य या बैर जैसे किसी भी मार्गसे मेरे निकट आयें। ॥४६६-७०॥ इस लिये, हे पार्थ, मेरी ओर आने के लिये उपायों की कमी नहीं है, फिर वे किसी भी जाति में जन्म लें, भक्त बनें या बैरी बनें। मगर भक्त या दुश्मन जो भी होना है, तो वह मेराही हों। अरे, किसी भी नाते से वे मेरे हुए, तो वे मद्रूप होही गये समझो। इसलिये, हे अर्जुन वे पापयोनि में जन्म क्यों न पायें हो, किंवा वैश्य, शूद्र और स्त्री क्यों न हों, वे मेरे भक्त बनने पर मेरे पासही आते हैं और मुझसे एकरूप होते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

जो ब्राह्मण चार वर्णों में श्रेष्ठ, स्वर्ग के जागीरदार और मंत्रविद्या के जन्मस्थान हैं, ॥४७१-७५॥ वे धरती पर भूदेव और तपश्चर्या के साक्षात् अवतार है। उनके जरिये सब तीर्थों का भाग्य खुलता है, उनमें यज्ञ निरंतर निवास करते हैं और वेद उनके मजबूत कवच हैं। उनकी भावुक दृष्टिसे मांगल्य बढ़ता है, उनकी श्रद्धारूपी सहानुभूति से सत्कर्म फैलता है और उनके संकल्प से सत्य टिकता है। उनके मंत्रों से अग्नि की आयु बढ़ गयी और उनका स्नेह पाने के लिये समुद्र ने उनको आसरा दिया। एक ब्राह्मण के तलवे की धूल पाने के लिये मैंने लक्ष्मीजी

को हटा दिया, कौस्तुभमणि गले से निकाला और सीना आगे बढ़ाया ॥४७६-८० ॥ हे नरोत्तम, मेरे सौभाग्य से मिला हुआ यह चरणलांछन मैंने अपने सीनेपर सुरक्षित रखा है । हे वीरश्रेष्ठ, जिनका क्रोध यमराज के समान है, और अग्नि और रुद्र जिनका निवासस्थान हैं, वे पुण्यश्लोक ब्राह्मण भक्ति से मुझे पाते हैं यह क्या सिद्ध करना आवश्यक है ? देखो, चंदन के पेड़ को पार कर आये हुए समीर का स्पर्श होनेपर निकट के क्षुद्र नीम को भी ईश्वर के माथेपर स्थान मिलता है । फिर क्या वहाँ चंदनको स्थान नहीं मिलेगा यह संदेह क्यों ? किंवा इस को यह प्रमाणित करने पर ही हम क्यों सच मानें ? ॥४८१-८५ ॥ विषप्राशन करनेपर श्रीशंकर ने अपने माथे पर अर्धचंद्र धारण किया ताकि विष का दाह शांत हो सके । फिर चाँद सेही परिपूर्ण और सुगंधसे दाह अधिक शांत करनेवाला चंदन सारे शरीर पर क्यों नहीं लगाते ? किंवा जिससे मिलकर नालियाँ समुद्र से जाकर मिलती है, उस गंगा को क्या समुद्र के सिवाय कोई अन्य गति है ? वैसेही जिनके लिये मैं तीर्थयात्रा, मनन और आश्रय का स्थान हूँ उन राजर्षि और ब्राह्मणों का मैंही मुक्तिदाता और स्थितिदाता हूँ । फिर जिसमें सैंकड़ों छेद हैं, उस नौका में निश्चिंत होकर लोग क्यों बैठते हैं ? किंवा शस्त्रों का हमला होते समय नंगे शरीर क्यो घूमते हैं ? ॥४८६-९० ॥ अथवा जब देह पर पत्थर गिरते हैं तब ढाल क्यों नहीं आगे रखते ? बीमारी बढ़ने पर दवा लेने में चिन्ता क्यों नहीं करते ? हे अर्जुन, चारों ओर धधकते हुई दावाग्नि से बाहर क्यों नहीं निकल आते ? उसी तरह विपत्तियों से घिरे हुए इस मृत्युलोक में जन्म लेकर मेरी आराधना क्यों नहीं करते ? किसके बूते पर आदमी मेरी उपासना करना नहीं चाहते ? उनका महल भोग्यवस्तुओं से समृद्ध होने से क्या वे चिन्ता रहित हो गये हैं ? क्या बिना मेरे भजन के विद्या और जवानी की वजहसे उनको सुखप्राप्ति का भरोसा हुआ है ? यह सही है कि सब भोग्यपदार्थ देह के सुख के लिये होते हैं, मगर यह देह तो काल के मुख में पड़ा हुआ है ॥४९१-९५ ॥ भाई, इस मृत्युलोक की हाटमें दुःख का माल भरा हुआ है और यहाँ मौत के गठ्ठे बांधे जाते हैं । इस मृत्युलोक में हाट उठने के पहलेही उनका आगमन हुआ है । तो हे अर्जुन, इस समय, जिससे सुख बिना चुके प्राप्त हो ऐसी कौनसी चीज वह खरीद सकता है ? राख फूँककर, कभी कोई दीप जला सकता है ? जैसे कोई विष का कंद पीस कर और उस का रस निकालकर अमर होने के

लिये उसको अमृत समझकर पिये, वैसेही विषयसुख एक बड़ा भ्रम है । परंतु क्या किया जाए ? नादान आदमी उसका उपभोग लेने के सिवाय नहीं रह सकता । सिर तोड़कर पैर के जख्म पर पट्टी बांधना जितना अच्छा होगा, उतनी ही अच्छी इस मृत्युलोक की बातें हैं । ॥४९६-५०० ॥ इस मृत्युलोक में क्या किसीने सुख की कहानी सुनी है ? अंगारों की शय्या पर सुख की नींद कैसे आ सकती है ? जिस मृत्युलोक में चाँद क्षय से बीमार है, जहाँ सूरज अस्त होने के लिये ही उगता है, जहाँ दुःख सुख की खाल ओढ़ कर लोगों को सताता है, जहाँ मांगल्य का अंकुर उगतेही उसपर अमंगल की छाया पड़ती है, जहाँ मृत्यु उदर के गर्भ की खोजमें आती है, जहाँ जो नहीं करना चाहिये उसकी रट लगती है, फिर जब यमदूत उस प्राणी को ले जाते हैं तब वह कहाँ जाता है उसका पता नहीं लगता । सब राहें ढूंढने पर भी उसके लौटते हुए पग देखने में नहीं आते ? मगर जहाँ मृत लोगों की कहानियाँ सुनने में आती हैं, ॥५०१-५०५ ॥ जहाँ की नश्वरता का वर्णन यदि सर्जनहार ब्रह्मदेव की दीर्घ आयुतक भी करें तो भी समाप्त नहीं होता, ऐसी जिस मृत्युलोक की हालत है, वहाँ जन्मे हुए लोगों की लापरवाही देखकर मुझे आश्चर्य होता है । देखो, वे इस लोक में या परलोक में जो योग्य बातें हैं, उन पर कौड़ी भी खर्च नहीं करते, किंतु सब प्रकार की हानिकारक बातों पर विपुल धन खर्च करते हैं । जो बहुत विषयसुख में फँसा हुआ है, उसको सुखी मानते हैं, और जो वासनाओं के बोझ के नीचे दबा हुआ है उसको ज्ञानी कहते हैं । जिसकी उम्र समाप्त होने लगी है और जिसकी शक्ति और बुद्धि कम हो चुकी है, उसको बुजुर्ग समझकर उसके चरण छूते हैं ॥५०६-१० ॥ जब बेटा बड़ा होने लगता है तो आनंद से उसके लाड़प्यार करते हैं, किंतु उसकी आयु बीती जा रही है इसपर खेद नहीं करते । जन्म से ही मुन्ना काल के अधीन होता है, यह न सोचते हुए वे उसकी वर्षगाँठ आनंद से मनाते हैं । अरे, ये लोग मौत शब्द को बरदाश्त नहीं कर सकते । अगर किसीने दम तोड़ा तो वे रोते हैं, मगर अपनी जिंदगी समाप्त हो रही है, इसकी वे नासमझी से चिंता नहीं करते । साँप जब मेंढ़क को खाने लगता है तब वह मेंढ़क भी मक्खियों को अपनी जिव्हा से पकडकर निगले रहता है, उसी तरह प्राणी लोभी होकर अपनी वासनाएँ बढ़ाते रहते हैं । हाय, इस मृत्युलोक में सब बातें कैसी बुरी और विपरीत हैं ? हे अर्जुन, अगर तुमने यहां प्रभुकी इच्छा से जन्म पाया है, ॥५११-१५ ॥

तो भी शरीर झिड़क कर बंधनरहित हो जाओ। और जिससे तुम मेरे अक्षय पद को पहुँचोगे, उस भक्तिमार्ग पर डँटे रहो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥३४॥

मुझमें मन लगा कर मेरे भजन की ओर रुचि रखो, और सभी प्राणिमात्र में मुझको देखकर उनको प्रणाम करो। जो मेरे ध्यान से सब संकल्प जलाता है, उसीको मद्याजी याने मेरा आराधक कहते हैं। इस योगसे जब तुम संपन्न होगे, तब मेरे स्वरूप को पाओगे । यह मेरा आंतरिक रहस्य मैंने तुमको बताया है। हे पार्थ, सबसे छिपा हुआ यह रहस्य जानकर तुम सुख से परिपूर्ण होगे ॥५१६-२० ॥ इस प्रकार भक्तोंकी कामना पूरी करनेवाले कल्पवृक्ष जैसे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश किया। श्रोताओ, सुनिये। जैसे भैंसा बाढ आनेपर भी पानीमें बैठा रहता है, वैसेही वह बूढ़ा राजा चुप बैठा हुआ था। तब संजयने गरदन हिलाकर मन में कहा, "यहाँ, अमृत की वर्षा हो रही है, किंतु ऐसा लगता है कि यह बूढ़ा यहाँ होकर भी दूसरे गाँव गया हुआ है। यह हमारा अन्नदाता है, इसलिये, इसके बारेमें बुरा कहने से ज़बान दूषित होगी। मगर क्या करूँ ? इसके स्वभाव का रुख ऐसाही है। लेकिन, कितना यह मेरा सौभाग्य है कि यह समाचार कहने के लिये व्यास मुनि ने मुझे तैनात किया। ॥५२१-२५ ॥ ऐसा निश्चय करके जब संजय सोच रहा था, तब उसके मन में आठों सात्त्विक भाव पैदा हुए, जिससे वह अपने को सँभाल नहीं सका। उस वार्तालाप में उसका चित्त मग्न होनेसे वह स्थिर हुआ और उसके शरीर पर एड़ी से चोटी तक रोम खड़े हो गये। अधखिली आँखों से आनंदाश्रु बहने लगे और अंतरंग में सुख की लहरें आने से उसका शरीर कांपने लगा । उसके रोमरोम से पसीने की बूंदें बाहर टपकने लगी, मानों मोतियों के फंदे वह पहना है। उस महासुख की बाढ़ में वह अपने आपको भूल गया और जो कार्य व्यासमुनि ने उसको सौंपा था वह संपन्न नहीं हुआ ॥५२६-३० ॥ इतनेमें श्रीकृष्ण के भाषण की आवाज की गरज उसके श्रवण में आयी, तब वह होश में आया और उसने शरीर का पसीना पोंछकर धृतराष्ट्र से कहा, महाराज सुनिये। अब श्रीकृष्णके वचनरूपी बढ़िया बीज और संजय की सात्त्विक वृत्ति की हरी खाद से श्रोताओं

को सिद्धान्तरूपी समृद्ध फ़सल मिलेगी। सज्जनो, इस वार्तालाप पर यदि आप तनिक भी ध्यान देंगे तो आप आनंद की राशि पर बैठेंगे। क्योंकि आज श्रवणेंद्रियों के लिये भाग्य अनुकूल हुआ है। इसलिये ईश्वर की जो विभूतियाँ हैं वे सब सिद्धों के राजा श्रीकृष्ण अर्जुन को बतायेंगे। निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं, यह कथा आगे सुनिये ॥५३१-३५॥

॥ दसवाँ अध्याय ॥

हे गुरुवर्य, आप ब्रह्मज्ञान स्पष्ट करने में कुशल हैं। विश्वरूपी कमल को खिलाने में निपुण हैं और परावाणीरूपी युवति के साथ क्रीड़ा करते हैं। आपको मेरे प्रणाम। संसाररूपी अज्ञान के अंधेरे को मिटानेवाले आप सूरज हैं। आप बहुत समर्थ हैं और जो अंतिम विकसित तुर्यावस्था याने समाधिस्थिति है, उसको पाना आपका खेल है। मैं आपको वंदन करता हूँ। आप दुनिया के पालक, कल्याणरूपी रत्नोंकी खान, सज्जनरूपी बन में चंदनवृक्ष, हमारे आराध्य देवता हैं। आप को मेरे नमस्कार। रसिकरूपी चकोर पंछियों को आनंद देनेवाला चंद्रमा, आत्मानुभववालों के राजा, वेदज्ञान के सागर, मदन का नाश करनेवाले श्रीशंकर आपही हैं, मैं आपको अभिवादन करता हूँ। आप विशुद्ध भावसे आराधना करने योग्य हैं, संसाररूपी हाथी का गंडस्थल तोड़नेवाले हैं और विश्व की उत्पत्ति का स्थान हैं, मेरे आप को प्रणाम। ॥१-५॥ आपके अनुग्रहरूपी गणेशजी का प्रसाद पाकर बालक भी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करता है। जब श्रीगुरु की उदार वाणी का अभयवचन मिलता है, तब हम नवरसरूपी अमृतसागर का सुराग पाते हैं। आप की प्यार से भरी हुई जबान जब गूँगे को अपनाती है, तब वह ग्रंथ की रचना में देवगुरु से भी

बाजी मारता है। इतनाही नहीं, जिसको आप कृपादृष्टि से देखते हैं या जिसको आप वरदान देते हैं, वह मानव होकर भी ईश्वर की बराबरी करता है। ऐसी जिस गुरुकृपाकी महिमा है, उसका मैं किस वाणी के बलपर वर्णन करूँ ? सज्जनों, सूरजके शरीरको कोई उबटन कैसे लगाये ? ॥६-१० ॥ कल्पवृक्ष को फूलमाला कैसी चढ़ाये ? क्षीरसागर की आवभगत कैसे करे ? कपूर को किस महक से सुगंधित करे ? अमृत के लिये कौनसा व्यंजन पकाये ? आसमान को क्या कोई ऊँचा कर सकता है ?उसी तरह श्रीगुरु की महिमा पूरी तरह जानने के लिये कौनसा साधन है ? इस लिये मैंने उनको चुपचाप अभिवादन किया। अगर बुद्धि के बलपर कोई उनके सामर्थ्य का वर्णन करना चाहता है, तो वह मोतीपर अबरक चढ़ाने के समान होगा। यदि कोई श्रीगुरु की स्तुति करना चाहे, तो वह शुद्ध सोनेपर चांदी का गिलट लगाने के समान होगा। इस लिये नम्र होकर श्रीगुरु के चरणोंपर सिर रखनाही अच्छा होगा ॥११-१५ ॥ फिर ज्ञानदेव कहते हैं, 'महाराज, आपने प्यारसे जो मुझपर कृपाकटाक्ष डाला, उससे मैं कृष्णार्जुन के वार्तालापरूपी संगम में प्रयागवट हो गया हूँ। पुरातन काल में जब उपमन्यु ने दूध की माँग की, तब श्रीशंकर ने उसको क्षीरसागर की कटोरी दी। किंवा ध्रुव के रूठ जानेपर उसको अटल पद का मिष्टान्न देकर भगवान विष्णु ने उसको मना लिया। उसी तरह जो ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठ और शास्त्रों का विश्रामस्थान है, उस भगवद्गीता का ओवीछंद में निरूपण करने के लिये श्रीगुरु ने मुझे शक्ति प्रदान की। शब्दों के जंगल में जब मैं भटक रहा था, तब एक भी अक्षर सुनने में नहीं आता था। किंतु उस मेरी वाणी को गुरुदेव ने विचारों की कल्पलता कर दी ॥१६-२० ॥ जो मेरी बुद्धि की मंज़िल देहभाव के परे नहीं गयी थी, वह बुद्धि आपकी कृपासे ब्रह्मानंदरूपी भंडार का कोठार हो गयी और मेरा मन गीतार्थरूपी क्षीरसागर में जलमंदिर बना। मेरे गुरुदेव की ऐसी अगाध करनी है। उनके अपार सामर्थ्य का वर्णन मैं कैसे कर सकता हूँ ? फिर भी मैं जो कहने का साहस करता हूँ उसको क्षमा कीजिये। अबतक आपके कृपाप्रसाद से मैंने भगवद्गीता के पूर्वार्ध का निरूपण आनंदसे ओवीबद्ध किया।

पहले अध्यायमें (स्वजनों से युद्ध का समय आनेपर) अर्जुन को जो खेद हुआ उसका वर्णन है। दूसरे अध्याय में योग का स्पष्ट विवरण है किंतु उसको सांख्ययोग

से भिन्न दिखाया है। तीसरे अध्याय में केवल कर्म का ही प्रतिपादन है और वही कर्म, चौथे में ज्ञान के साथ विशद किया है। पाँचवे अध्याय में योग का अभिप्राय बताने का प्रारंभ किया है ॥२१-२५ ॥ वही योग आसनविधि से लेकर जीव और आत्मा का ऐक्य होनेतक स्पष्ट बताया है। उसी प्रकार योगावस्था और योगभ्रष्ट को मिलनेवाली गति इनका प्रतिपादन छठे अध्याय में किया गया है। तदनंतर सातवे अध्याय के आरंभ में प्राणी प्रकृति का त्याग कैसे कर सके यह कहकर बादमें ईश्वर के चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया है। आगे सात सवालों का जिक्र करके अध्याय के अंत में जीवन के अंतिम क्षण में बुद्धि कैसी होनी चाहिये यह बताया गया है। फिर वेदों में जितने अनगिनत अभिप्राय हैं वे एक लक्ष श्लोकवाले महाभारत ग्रंथ में ग्रथित हुए हैं ॥२६-३० ॥ और जो भारत में कथित सब आशय कृष्णार्जुन के वार्तालाप में याने गीता के सात सौं श्लोकों में मौजूद हैं, वे नौवें अध्याय में प्रस्तुत हैं। इसलिये मुझे बहुत आशंका थी कि मैं नौवें अध्याय का अभिप्राय कथन कर सकूँगा या नहीं ? तो मैं व्यर्थ गर्व क्यौं करूँ? सज्जनों गुड़ और चीनी के ढेले गन्ने के रस से बनते हैं, परंतु उनका स्वाद भिन्न होता है। उसी तरह गीता के कुछ अध्याय ब्रह्मतत्त्व का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। कुछ अध्याय ब्रह्म को सूचित करते हैं और कुछ जानने के प्रयास में ज्ञान के साथ ब्रह्मरूप हो जाते हैं। ऐसे ये गीता के अध्याय हैं, किंतु नौवाँ अध्याय ऐसा है कि उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। महाराज, अगर मैं उसका अनुवाद कर सका तो वह आपकी ही सामर्थ्य की वजहसे है।३१-३५ ॥ सज्जनो, वसिष्ठ ऋषि ने अपनी कफनी से सूरज की रोशनी डाली, विश्वामित्र ने प्रतिसृष्टि निर्माण की, श्रीरामप्रभु ने पत्थरों का पुल बांधकर अपनी सेना के साथ समुद्र पार किया, हनुमान ने जन्म लेतेही सूरज को फल समझकर हाथ में पकड़ना चाहा और अगस्त्य ऋषि ने एक ही आचमन में समुद्र का पान किया। उसी तरह आपने मुझ जैसे गूँगे की वाणी से दुर्बोध ब्रह्म का बखान करवाया। खैर, क्योंकि जो राम और रावण का संग्राम हुआ उसको रामरावण के संग्राम जैसा कहना पड़ता है। उसी तरह श्रीकृष्ण का नौवे अध्याय में किया गया बखान नौवे अध्याय जैसा ही है यह मैं कहता हूँ। जिन्होंने गीता का भावार्थ जान लिया है, वे तत्त्वज्ञही इसका फैसला कर सकते हैं। इसप्रकार नौ अध्यायों का मैंने यथामति निरूपण किया है।

अब यहाँसे गीता का उत्तरार्ध शुरू होता है ॥३६-४० ॥ उसमें पहले श्रीकृष्ण अपनी प्रधान और घटिया विभूतियोंके बारेमें कहेंगे । वह सुरस और सुंदर कथा मैं आपको सुनाता हूँ । इस देशी भाषा की सुंदरता से शांत रस शृंगार रसपर मात करेगा और उसकी वजहसे ये ओवियाँ साहित्य को ऐसा भूषण बनेंगी कि मूल संस्कृत ग्रंथ कौन था यह मालूम नहीं होगा । जिस तरह सुंदर शरीरपर गहना सुहावना लगता है, और फिर किसने किस को शोभा दी इसका निर्णय नहीं हो सकता, उसी तरह देशी और संस्कृत भाषाएँ गीता का भावार्थ कहने में कैसे परस्पर शोभा देती हैं, यह स्वस्थ चित्तसे सुनिये ॥४१-४५ ॥ कोई भी भाव प्रकट करने से रस उत्कर्ष पाते हैं और उस समय जो कौशल दिखाया जाता है वह सराहनीय होता है । वैसेही देशी भाषा का सौंदर्य और यौवन उधार लेकर मैंने इस गहरे गीतातत्त्व को सजाया है । अब वे चराचर जगत् के परमगुरु और रसिकों के चित्त को चकित करनेवाले यादवेश्वर कृष्ण क्या बोले वह बताता हूँ सुनिये, ऐसे निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं । श्रीहरिने कहा, हे अर्जुन, मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह तुम सुन रहे हो न ?

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१ ॥

जब मेरा पिछला निरूपण कहाँतक तुम्हारे ध्यानमें है इसका मैंने अंदाजा लगाया । तब मुझे यक़ीन हुआ कि तुम्हारा ज्ञान अधूरा नहीं बल्कि परिपूर्ण है ॥४६-५० ॥ जैसे मटके में पानी डालकर हम पहले देखते हैं कि वह टपकता है या नहीं और फिर उसको पानीसे भर देते हैं, वैसेही तुमको कुछ बता कर देखा कि तुम ध्यान से सुनते हो या नहीं । अब मुझे विश्वास हुआ कि तुमको ज्यादा सुनाने में कोई आपत्ति नहीं । अभी अभी नियुक्त किये हुए सेवक को सामने कुछ चीजें रखकर पहले उसको परख लेते हैं और बादमें उसको भंडार का कब्ज़ा देते हैं । उसी तरह अब तुम मेरे ज्ञानभंडार के हक़दार बन गये हो । जैसे पहाड़ को देखकर बादल उमड़ आता है, वैसेही श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ प्यार से बोल रहे थे । फिर कृपानिधि श्रीकृष्णने कहा, हे महाबाहो, मैंने जो कुछ अभिप्राय पहले कहा था उसको दुहराता हूँ, सुनो । खेत बोने पर अच्छी फसल आती है, फिर भी बोआई में टालमटोल

नहीं करनी चाहिये। ॥५१-५५॥ अथवा सोने को बार बार शुद्ध करने से उसमें चमक आती है, इसलिये उसको अधिकाधिक शुद्ध करना पड़ता है। उसी तरह, हे पार्थ, इस कथन से मैं तुम्हें उपकृत करना नहीं चाहता, बल्कि इसमें मेरा स्वार्थ है। अगर बालक को गहने पहनाये गये, तो उस सजधज को वह कैसे जान पायेगा ? किंतु माँ की दृष्टि में वह एक सुख का समारोह होगा। वैसेही जैसे जैसे तुम को आत्महित का लाभ होता रहेगा तो मेरा सुख दुगुना होगा। हे अर्जुन, अब इतना अलंकारिक वर्णन पर्याप्त है। मैं सच कहता हूँ कि तुम मेरे दुलारे हो, इसलिये तुम्हारे साथ कितनी ही गपशप करूँ तो भी मेरी तृप्ति नहीं होती ॥५६-६०॥ इसलिये मैं वही बात और एक बार दुहराता हूँ, उसको एकाग्र चित्त से सुनो। हे मर्मज्ञ अर्जुन, मेरा यह अत्युत्तम वचन सुनो। यह मामूली वचन नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष परब्रह्म शब्दों के रूप में तुमसे भेंट करने आया है। परंतु मेरा सही ज्ञान तुमको अबतक नहीं हुआ है। अरे जो मैं तुमको मानवरूप में दिखाई देता हूँ, वह मेरा असली रूप नहीं है, मैं तो विश्वरूप हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरा स्वरूप जानने में वेद मूक हो गये, मन और प्राणों की गति रुक गयी और मेरे प्रकाश के सामने रात दिन न होते हुए भी सूर्य और चंद्र अस्त हो गये। हे पार्थ, जैसे माँ की कोंख में जो गर्भ होता है, वह माँ की उम्र नहीं जान सकता, वैसेही मेरा ज्ञान सब देवताओं का नहीं होता। ॥६१-६५॥ जिस तरह जलचरों को सागर की थाह नहीं लगती, किंवा घुरघुरे आसमान को लाँघ कर नहीं जा सकते, वैसेही महर्षियों की बुद्धि मुझे पहचान नहीं सकी। मैं कौन हूँ, किससे और कहाँसे हुआ हूँ इन सवालों का हल करने में हजारों युग बीत गये। क्योंकि हे, अर्जुन, देव, महर्षि और सब प्राणिमात्र का मैंही मूलकारण हूँ, इसलिये मुझे जानना उनको मुश्किल होता है। यदि पहाड़ से गिरा हुआ पानी ऊपर जाये, पेड़ बढ़ते बढ़ते जड़ से सट जाये, तो मुझ से पैदा हुआ यह जगत् मुझे जान लेगा। अगर वटवृक्ष का गूदा उसको और बन को ढक सकेगा, किंवा लहरों में समुद्र या परमाणु में भूगोल समा जायेगा, ॥६६-७०॥ तो मुझसे जन्मे हुए जीव, महर्षि और देवताओं को

मुझे जानना संभव होगा। ऐसे होने पर भी जो प्रवृत्ति की राह छोड़कर इंद्रियों से मुँह मोड़ता है, और देहाभिमान त्यागकर पंचमहाभूतों को वश में लाता है

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३ ॥

ऐसी चित्त की अवस्था में, जो निर्मल आत्मप्रकाश में आँखों के सामने मेरा अनादि स्वरूप देखता है और मुझको कारण के परे सब लोगों का परमेश्वर है ऐसा जो जानता हैं, ॥७१-७५ ॥ पत्थरों में जैसा पारस, रसों में जैसे अमृत, वैसे वह सब मनुष्यों में मेरा अंश है ऐसा समझता है। वह ज्ञान की चलती-फिरती मूर्ति है, उसके अवयव मानों सुख के अंकुर हैं, और वह जो लौकिक दृष्टि में मनुष्य सा लगता है वह वास्तव में भ्रम है। अरे कपूर में अचानक हीरा भी मिल जाय तो उस को भिगाने पर वह नहीं गलता, उसी तरह यद्यपि वह मनुष्यलोक में अज्ञ आदमी सा दिखाई दे, तो भी उसको माया के बंधन नही होते। आप ही आप पाप उसको छोड़कर दूर चले जाते हैं। जिस प्रकार जलते हुए चंदन के पेड़ को छोड़ कर साँप हट जाता है, उसी प्रकार वह सब संकल्पों से छुटकारा पाता है ॥७६-८० ॥ अगर मेरा ज्ञान कैसे पाऊं यह विचार तुम्हारे मन में आया हो, तो मैं कैसा हूँ और मेरे भाव कौनसे हैं यह मैं तुम्हें बताता हूँ। ये मेरे भाव भिन्न भिन्न प्राणियों में उनके स्वभाव के अनुसार होकर त्रैलोक्य में बिखरे हुए हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५ ॥

इन भावों में बुद्धि प्रथम है। उसके बाद निःसीम ज्ञान, मोह का अभाव, सहनशीलता, क्षमा, सत्य, आगे मनःसंयम और इंद्रियनिग्रह, साथ साथ संसार का सुखदुःख और जन्ममरण ये मेरे भाव हैं। हे पांडुपुत्र, भय और निर्भयता, अहिंसा और समता, संतोष और तप येही मेरे भाव हैं ऐसे समझो। ॥८१-८५ ॥ साथही साथ, दान, बदनामी, ये जो भाव चारों ओर देखने में आते हैं, वे सब मुझसेही भूतों में पैदा होते हैं। ये भाव भी भिन्न भिन्न हैं, उनमें से कुछ भावों को मेरा ज्ञान होता

है, अन्य को नहीं होता। रोशनी और अंधेरा सूरजसे ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उसका उदय होतेही उजाला होता है, और उसका अस्त होने पर अंधेरा छा जाता है। इसलिये मेरा ज्ञान होना या न होना प्राणियों के प्रारब्ध पर निर्भर होता है, इसलिये उनमें पृथक् भाव पैदा होते हैं। इस तरह, हे अर्जुन, यह जीवसृष्टि मेरे ही भावों में फँस गयी है ॥८६-९० ॥ और जो इस सृष्टि के पालक है, और जिनकी सत्ता से सब लोग बर्ताव करते हैं, वे ग्यारह भाव हैं, वे मैं अब बताता हूँ।

महर्षय: सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा: प्रजा: ॥६ ॥

जो सब गुणोंसे संपन्न और महर्षि में ज्ञाता हैं वे कश्यप आदि सात प्रसिद्ध ऋषि हैं। वैसेही चौदह मनुओंमें स्वयंभू आदि चार प्रमुख मनु हैं। हे धनुर्धर, ऐसे ये ग्यारह भाव सृष्टि के निर्माण के लिये मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं। उसके पहले लोगों का प्रबंध नहीं हुआ था, त्रैलोक्य की रचना नहीं हुई थी और पांच महाभूतों का समुदाय भी स्तंभित था ॥९१-९५ ॥ फिर ये मेरे ग्यारह भाव उत्पन्न हुए और उन्होंने लोगों को पैदा किया और उनमेंसे कुछ लोगों को प्रमुख तैनात किये। इसलिये ये ग्यारह भाव राजा जैसे हैं और सब लोक उनकी प्रजा हैं। इस प्रकार इस विश्व का विस्तार मुझसे हुआ है ऐसा समझो। देखो, पहले एक बीज होता है, फिर वह बढ़कर उसका पेंदा बनता है, फिर उससे अंकुर निकलकर उसकी शाखाएँ बनती हैं। बादमें उन शाखाओं के बूटे निकलकर उनसे कोमल कोंपलें आती हैं और फिर उनको पत्ते, फूल और फल लगते हैं। इस तरह उसका पेड़ बनता है, लेकिन वे सब बीजरूपही है ॥९६-१०० ॥ उसी तरह मैं पहले अकेला ही था, फिर मेरे मनमें संकल्प पैदा हुआ, और उस संकल्प से सात महर्षि और चार मनु उत्पन्न हुए। उनसे लोकपाल बने और उन्होंने असंख्य प्रकार के लोग निर्माण किये और उन लोगों से प्राणी उत्पन्न हुए। इस प्रकार इस विश्व का विस्तार मैंही बना हूँ। किंतु इन भावों की उत्पत्ति मुझसे ही हुई है यह जो जानते हैं, उन्ही को मेरा ज्ञान होता है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वत:।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशय: ॥७ ॥

इसलिये हे सुभद्रापति, इन मेरे भावों से और विभूतियों से यह सब विश्व

व्याप्त है। इस तरह ब्रह्मदेव से लेकर चींटी तक मेरे सिवाय कुछ नहीं है। ॥१०१-१०५ ॥ यह जो सचमुच जानता है, उसमें ज्ञान जाग्रत है और फिर यह भक्त और वह बुरा, इस प्रकार का प्राणियों में भेदभाव वह स्वप्न में भी नहीं देखता। फिर वह मैं, मेरी विभूतियाँ और मेरी विभूतियों से युक्त प्राणी एकही हैं, इसका योगसे अनुभव पाकर मुझे से हिलमिल जाता है इसमें तनिक भी संदेह नहीं। इसलिये, हे अर्जुन, जो मुझको अभेददृष्टि से देखता है, मैं उसकी भक्ति की धुनमें उसके अधीन होकर रहता हूँ। इसलिये यह जो मैंने अभेदज्ञान का भक्तियोग कहा उसमें कभी रुकावट नहीं होती और इस समय पर मौत आ जाये तो उसमें भलाई है यह मैंने छठे अध्याय में कहा है। ॥१०६-१० ॥ यह अद्वैतभक्ति कैसी होती है, यह जानना चाहते हो तो मैं बताता हूँ, सुनो।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८ ॥

हे अर्जुन, इस दुनियाकी उत्पत्ति और पालन मुझसे ही होता रहता है। अरे, जलमें लहरें पैदा होकर जलका आश्रय लेती हैं और उनका जल ही जीवन होता है। जैसे वे इस प्रकार जलही होती हैं, उसी तरह इस विश्व में मेरे बिना कुछ नहीं है। इस तरह जो ज्ञानी मेरा व्यापक स्वरूप जानकर मुझको सच्चे प्यार से भजते हैं, ॥१११-१५ ॥और स्थान, समय और वर्तमान इनसे मैं भिन्न नहीं हूँ यह विश्वास करते हैं, जैसे हवा आकाशरूप होकर आसमान में संचार करती है, वैसेही जो मेरे विश्वरूप को मन में जानकर त्रिभुवन में रमते हैं और जो प्राणी दृष्टिगोचर होता है उस को भगवान समझते हैं, उनका भक्तियोग सच्चा है ऐसे समझो।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९ ॥

जिनका चित्त मद्रूप होनेसे संतुष्ट हो गया है, वे इस ज्ञान की धुन में जन्ममृत्यु भूल जाते हैं । फिर वे ज्ञान से प्रभावित होकर संवादसुख के लगाव से नाचने लगते हैं और उनका आपसमें आत्मज्ञान का लेन-देन का व्यवहार होता है। ॥११६-२० ॥ जो तालाब बहुत नजदीक होते हैं और लबालब भर जानेपर उनका जल आपसमें मिलने लगता है और फिर एककी लहरें दूसरे की लहरों पर चढ़ने लगती

हैं उसी तरह भक्त इकठ्ठा होनेपर उनकी ब्रह्मानंदरूपी तरंगें परस्पर मिल जाती हैं, और आत्मज्ञान के द्वारा आत्मज्ञान के गहने पहनकर उनका आत्मज्ञान बहुत सुहावना हो जाता है। जिस तरह सूरज सूर्य को आरती उतारे, किंवा चाँद चंद्रको गले लगाये, अथवा जलके समान प्रवाह आपसमें मिल जायें उसी तरह भक्तोंका मिलन होनेपर वे परस्पर हिलमिल जाते हैं और उनके दिलमें सात्त्विक भाव आने लगते हैं। उस समय वे वार्तालाप के चौराहे पर गणेश हो जाते हैं। फिर वे ब्रह्मानंद की उमंग में बेहोश होकर मेरी प्राप्ति से उनका संदेह पूरी तरह मिट गया है ऐसा घोष करते हैं ॥१२१-२५॥ एकान्त में गुरु शिष्य को जिस मंत्रका उपदेश करते हैं वही वे मेघ के समान तीनों लोक में गरज गरज कर कहते हैं। जिस तरह कमल की कली खिलनेपर अपनी सुगंध ढंकी नहीं रख सकती, बल्कि वह उससे राजा और रंक को निहाल करती है, उसी तरह वे कीर्तन करने में इतने तल्लीन होते हैं कि वे कीर्तन करनाभी भूल जाते हैं और उस विस्मृति में अपना होश खो बैठते हैं। और इस प्रेम की उमंग में उनको दिनरात की भी सुध नहीं रहती। इस तरह जिन्होंने मेरा पूर्ण सुख पाया है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

फिर, हे अर्जुन, हम जो कुछ उनको देना चाहते हैं, उसका बडा अंश वे पहले ही ले चुके हैं ॥१२६-३०॥ क्योंकि वे जिस मार्ग से मेरे पास आने के लिये निकले, उस मार्ग की तुलना में स्वर्ग और मोक्ष पगडंडियों के समान मालूम होते हैं। उनकी मेरे बारे में जो भक्ति है वही मेरी उनको देन है। और जो कुछ मैं उनको देना चाहता हूँ, वह उन्होंने खुद आत्मसात् किया है। अंब मैं यही चाहूँगा कि यह प्रेम का सुख बढ़ता रहे और उसपर समय की बुरी नज़र न पड़े। हे अर्जुन, जिस तरह माँ अपने लाड़ले बेटे के पीछे दौड़ती है और उसका माँगा हुआ खेल उसके सामने रखती है, उसी तरह मैं उनकी भक्ति का दर्जा बढ़ाता हूँ ॥१३१-३५॥ मुझे लगता है कि जिस उपासना से मेरे भक्त अनायास मेरे निकट आयेंगे, उसको ही विशेषतया बढ़ावा देना चाहिये। इन भक्तों का मुझसे लगाव होने से वे मुझसे एकनिष्ठ होते हैं और इस लिये मेरे प्रेम के पात्र होते हैं। क्योंकि मेरे घर में भक्तों की कमी है। हे पार्थ,

जो मेरी दिखाऊ भक्ति करते हैं, उनके लिये मैंने स्वर्ग और मोक्षके द्वार खुले किये हैं और लक्ष्मी जी को उनके हवाले किया है। किंतु देहसे भिन्न जो कमनीय आत्मसुख है वह मैंने अपने प्रेमी भक्तों के लिये बचा रखा है। हे अर्जुन, मैं अपने प्यारे भक्तों को इतना अपनाता हूँ, लेकिन ये बातें नहीं करनी चाहिये। ॥१३६-४० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११ ॥

ये मेरे प्रेमी भक्त भक्ति से मेरे आत्मस्वरूप का आसरा लेकर अन्य चीज़ों को नगण्य समझते हैं। हे वीरश्रेष्ठ, इन भक्तों के लिये ऐन दोपहर में कपूर जला कर मैं उनका मशालची बनता हूँ और उनके आगे चलता हूँ। अज्ञान की रात में जो अंधेरा छाया हुआ था उसका नाश करके मैं भक्तों के लिये सदैव ज्ञानका उषःकाल करता हूँ। जब प्रेमी भक्तों के प्यारे पुरुषोत्तम ऐसे बोले, तब अर्जुनने कहा "आज मेरे सब मनोरथ सफल हो गये। हे प्रभो, मेरे ऊपर जो संसार का कूडाकचरा जमा हुआ था, वह अब साफ हुआ और उससे मैं जन्ममरण से मुक्त हूँ। ॥१४१-४५ ॥ हे भगवन्, आज मैंने अपना जन्म आँखों से देखा और मुझे महसूस हुआ कि जीने की कला मुझको प्राप्त हुई है। हे प्रभो, अपने पवित्र वचन सुनाने की जो आपने कृपा की, उससे मेरा जीवन कृतार्थ हुआ और मेरा भाग खुल गया।

अब आपकी वाणी की रोशनी में मेरा अज्ञानरूपी अंधेरा नष्ट हो गया और उससे आप का सच्चा स्वरूप मालूम हुआ।

अर्जुन उवाच :

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२ ॥

आपही परब्रह्म है। हे जगन्नाथ, आप परम पवित्र है और महाभूतों के विश्रामस्थान हैं। आपही ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन देवों के अधिदेवता हैं, पचीसवाँ जो तत्त्व है वह पुरुष आप ही हैं और माया के परे जो भाव है वह भी आप हैं। ॥१४६-५० ॥ हे मालिक, आप अनादिसिद्ध हैं और जिसको जन्मादि उपाधि नहीं

है वह आपही हैं, यह सब मुझे मालूम हुआ। आपही तीनों कालों के संचालक होकर जीवों का मुख्य देव और ब्रह्मांड के आधारभूत हैं, यह अब मुझे यक़ीन हुआ।

आहुस्त्वामृषय: सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यास: स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३ ॥

और अन्य प्रकार से भी इस बातकी सच्चाई का अनुभव मिलता है। पहले बहुतसे महर्षियों ने आपके बारेमें ऐसी बातें कही थीं, लेकिन उनका कहना सच है यह मुझे अब ज्ञात हुआ। भगवन् यह आपकीही कृपा है। नहीं तो महर्षि नारद हमारे यहाँ आकर सदा यही गाया करते थे। फिर उसका भावार्थ न समझकर हम उसका गायन संतोष से सुनते थे ॥१५१-५५ ॥ महाराज, अंधों के गाँव में सूरज प्रकट हुआ तो वे गरमी ही महसूस करते हैं, वे प्रकाश कैसे देख पायेंगे ? जब नारद गाकर अध्यात्म का उपदेश करते थे, तब उनका गाना मधुर लगता था। लेकिन समझमें कुछ नहीं आता था। वैसेही असित और देवल इनकी जबानसे मैं आपका यशोगान सुनता था। लेकिन उस समय मेरी बुद्धि विषयरूपी विष से व्याप्त हुई थी। इस विषयरूपी ज़हर की यही महिमा है, कि परमार्थ मीठा होकर भी कडुआ लगता है और विषय कडुए होकर भी मधुर जान पड़ते हैं। और इतरोंके बारेमें मैं क्या कहूँ ? व्यासमुनि भी हमारे यहाँ पधारकर आपके स्वरूप का ऐसेही वर्णन करते थे। ॥१५६-६० ॥मगर अंधेरे में किसी को चिंतामणि प्राप्त हुई तो अनजाने में उसकी ओर अनदेखी करता है और दिन उगने पर उसको पहचानता है। उसी तरह, हे कृष्ण, व्यास की वाणी ज्ञानरूपी रत्नोंकी खान थीही, किंतु आपके उपदेश का प्रकाश न होने से हमने उसपर ध्यान नहीं दिया।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवा: ॥१४ ॥

अब आपके वचनरूपी किरणें मेरे हृदय में फैल गयी हैं। उससे ऋषियों ने जो मार्ग बताये थें, उनके बारे में मेरा अज्ञान सब मिट गया। हे प्रभो, उनके वचन ज्ञानके बीज थेही, लेकिन वे मेरे हृदयरूपी भूमि में पूर्ण गड़े हुए थे। फिर अब आप की कृपा की नमीं पहुंचतेही उनपर संवादरूपी फल निकल आये हैं। हे अनंत, अब नारद आदि ऋषियों की वचनरूपी नदियों का और आपके संवादरूपी नद का, मैं

सागर बन गया हूँ ॥१६१-६५॥ हे प्रभो, मैंने जो पूर्वजन्मों में पुण्य कर्म किये थे, उनसे यह काम नहीं बना, वह, हे सद्गुरु, आपने किया। वरना बड़ों के मुँह से आपकी महिमा मैंने कई बार सुनी थी। लेकिन जब तक आपकी कृपा नहीं हुई थी, तब तक मैं कुछ नहीं जानता था। जब भाग्य खुलता है, तब किये हुए सब प्रयत्न सफल होते हैं। उसी तरह अगर सद्गुरु कृपालु हो गये तो सुने और पढ़े हुए ज्ञान का हम अनुभव करते हैं। माली जान लगाकर पेड़ों को पानी देता है, लेकिन वे पेड़ वसंतऋतु मेंही फल देते हैं। विषम ज्वर कम हो जाने परही स्वादिष्ट चीज़ें मधुर लगती हैं, बीमार को स्वस्थ होने पर रसायन अच्छा लगता है ॥१६६-७०॥ अथवा इंद्रियाँ वाणी और प्राण में जब आत्मा संचार करती है, तब वे उपयुक्त होते हैं। उसी तरह गुरु की कृपा सेही वेदाध्ययन या योगाभ्यास सफल होता है। इस प्रकार आत्मानुभूति से अर्जुन संदेहरहित होकर नाचने लगा, और उसने कहा, हे भगवन्, अब आप के वचन मुझको जँचे। हे मोक्षदाता, आज मैं सचमुच अनुभव कर रहा हूँ कि आप देवदानवों को अज्ञेय हैं। हे देवाधिदेव, बिना आपके उपदेश का अनुभव लिये जो कोई अपनी बुद्धि के बलपर निर्भर हो कर आपको जानना चाहेगा, उसको ज्ञान होना संभव नहीं, अब यह मुझे विश्वास हुआ ॥१७१-७५॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे श्रीपते, आपही अपना अपार सामर्थ्य जानते हैं, जैसे आसमान का विस्तार आसमान ही जानता है, या पृथ्वी का तौल पृथ्वी को ही मालूम होता है। वेद, शास्त्र, और पुराण योंही अपनी बुद्धि की डींग हाँकते हैं। हे भगवन्, मन को वेगमें कौन पीछे डाल सकता है ? अपनी भुजा के बलपर मायानदी को कौन पार कर सकता है ? अत: आपका ज्ञान मुश्किल है, इसलिये, वह किसी को भी नहीं होता, आपको ही होता है। आप अपने को स्वयं जानते हैं और इतरोंको समझाने के लिये आपही समर्थ हैं। इसलिये मेरे मनमें जो बैचेनी पैदा हुई है, उसको आप दूर कीजिये ॥१७६-८०॥ हे सृजनहार, संसाररूपी हाथी का संहार करनेवाले मृगराज, सब देवताओं के पूज्य जगन्नायक, आप सुन रहे हैं न ? आपकी महिमा ध्यान में ला कर आप के सामने खड़ा रहने के भी मैं योग्य नहीं हूँ। लेकिन इस तरह दीन

होकर अगर आपसे प्रार्थना करने में संकोच करूँ तो आप की प्राप्ति का अन्य उपाय नहीं है । यद्यपि नदियाँ और समुद्र जल से लबालब भरे हुए हैं, तथापि उनसे चातक पंछी को क्या लाभ होगा ? क्योंकि जब बादल से बूँदें गिरेंगी, तभी तो पीने के लिये उसको जल मिलेगा । उसी तरह हे कृष्ण यद्यपि सब जगह पर अनेक गुरु हैं तथापि आपही हमारे सर्वस्व हैं । अब आपकी कौन सी विभूतियाँ हैं वे मुझको बताइए ।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय: ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६ ॥

हे देव, आपकी विभूतियों में जो कुछ दिव्य, व्यापक और शक्तियुक्त हैं वे मुझे बताइए ॥१८१-८५ ॥ हे अनंत, जिन विभूतियों से आप इस विश्व में व्याप्त हैं , उनमें ख्यातनाम और प्रधान विभूतियाँ मुझे कहिये ।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७ ॥

हे प्रभो, मैं आप को कैसे जानूँ और आप का कैसे चिंतन करूँ ? यदि हम सोचें कि आप सभी जगह व्याप्त है, तो चिंतन ही नहीं बनेगा । इसलिये जो विभूतियाँ आपने पहले कहीं थी, वे अब थोडे विस्तार से एक बार फिर से कहिये । आप इस तरह योग स्पष्ट कीजिये, जिस से विभूतियों के द्वारा हम आप का चिंतन अनायास कर सकें ?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूय: कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८ ॥

हे भूतेश, जिन विभूतियों के बारे में मैंने आप से पूछा, वे मुझे बताइए । अगर आप कहेंगे कि एक ही बात दुहराने से क्या लाभ होगा, ॥१८६-९० ॥तो, हे जनार्दन, ऐसा संदेह आप मन में मत लाइए । क्यौं कि साधारण आदमी भी अमृतपान करने पर अब पर्याप्त हुआ ऐसे नहीं कहता । फिर वह अमृत ज़हर का भाई है और मृत्यु के डर से यदि फिर देवों ने उसका पान किया भी, तो ब्रह्मदेव के एक दिन में चौदह इंद्र मर जाते हैं । इस क्षीरसागर से निकले हुए अर्क को अमृत याने अमरत्व देने वाला ऐसा नाम व्यर्थ हुआ है । फिर उस मधुर रस को भी कोई पर्याप्त है ऐसे

नहीं कहता। उस तुच्छ अमृत के स्वाद का भी इतना महत्त्व है, फिर आपका यह संभाषण सचमुच ज्ञानामृत है। वह मंदार पर्वत से क्षीरसागर को मथ कर नहीं निकाला है, वरना वह स्वभावत: अनादि और स्वयंसिद्ध है ॥१९१-९५ ॥ वह कभी नहीं गलता और न कभी पतला या घना होता है। उसका स्वाद या सुगंध नहीं जाना जाता, मगर उसका स्मरण करते ही वह प्राप्त होता है। वह सुन कर सब संसार मिथ्या सा लगता है, और उससे अखंड नित्यत्व हासिल होता है। उसके जरिये जन्ममृत्यु की बात जड़ से मिट जाती है और अंतर्बाह्य आत्मसुख का लाभ होता है। अगर वह किसीको प्राप्त हुआ तो वह उसको आत्मरूप बना देता है। इस प्रकार का ज्ञानामृत आप मुझे पिलाते हैं और मैं यह नहीं कह सकता कि मैं तृप्त हो गया हूँ। हे देव, पहले मैं आपका नाम चाहता हूँ, फिर आपकी भेंट हो कर आपका सहवास प्राप्त हुआ और तिस पर भी अब आप मेरे साथ बातचित कर रहे हैं ॥१९६-२०० ॥ यह सुख किस प्रकार का है यह मैं कह नहीं सकता, लेकिन मैं बहुत संतुष्ट हो गया हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि आपकी जबान से फिर एक बार विभूतियों के बारे में सुन लूँ। (ऐसी बातें कभी बासी नहीं होतीं) क्या सूर्यप्रकाश कभी बासी हुआ है ? क्या अग्नि को कोई कभी अपवित्र कह सकता है ? किंवा सदा बहनेवाला गंगाजी का प्रवाह बासी हुआ है ऐसा कोई कह सकता है ? आपने अपनी जबान से जो ज्ञान कहा है उसको सुन कर ऐसा लगा कि हम प्रत्यक्ष नादब्रह्म सुन रहे हैं और चंदन की सुगंध ले रहे हैं। अर्जुन की यह बात सुन कर श्रीकृष्ण डोलने लगे और उन्होंने मन में कहा कि अब पार्थ भक्ति और ज्ञान का खजाना बन चुका है। इस अनुभव के संतोष से उनका प्रेम उछल पड़ा और उसको बडे कष्ट से सँभल कर वे बोलने लगे ॥२०१-०५ ॥

श्रीभगवानुवाच :

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतय: ।
प्राधान्यत: कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९ ॥

श्रीकृष्ण भूल गये कि वे स्वयं ब्रह्मदेव के पिता थे और अर्जुन से बोले, "भाई, अर्जुन, क्या खूब कहा।" इस अवसर पर भगवान ने अर्जुन को भाई कहा इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। क्यों कि वे खुद नंद के पुत्र हुए थे न ? असीम प्यार

होने पर ऐसे प्रकार होते रहते हैं। फिर भगवान ने कहा, हे अर्जुन, तुम ने जिनके बारे में पूछा वे मेरी विभूतियाँ अनगिनत हैं। और यद्यपि वे मेरी ही विभूतियाँ हैं तो भी उनका बोध मेरी बुद्धि को नहीं होता। जैसे अपने शरीर पर कितने बाल हैं यह कोई गिन नहीं सकता ॥२०६-१० ॥ इसी तरह मैं कैसा हूँ, कितना हूँ यह मुझे मालूम नहीं होता। इसलिये जो मेरी विभूतियाँ प्रधान और प्रसिद्ध हैं वे मैं बताता हूँ, सुनो। हे अर्जुन, उनको जान लेने से तुम्हें सब विभूतियों का ज्ञान होगा। जैसे पेड़ का बीज प्राप्त होने पर पेड़ हाथ लगता है, अथवा उद्यान का कब्जा मिलने पर उनके फूल और फल हाथ में आते हैं, वैसे ही उन विभूतियों को जान कर सब विश्व का ज्ञान तुम्हें प्राप्त होगा। वास्तव में, हे अर्जुन, मेरे विस्तार का अंत नहीं है। अरे, आसमान जैसी विशाल वस्तु भी मुझ में समाई हुई है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित: ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२० ॥

हे कुंचित केशवाले और धनुर्विद्या में श्रीशंकर जैसे अर्जुन, हर एक प्राणि में जो आत्मा है वह मैं हूँ ॥२११-१५ ॥ प्राणियों के अन्त:करण में मैं हूँ और उस के बाहर भी मैं ही व्याप्त हूँ। और प्राणिमात्र के आरंभ, अंत और बीच में मैंही हूँ। बादलों के नीचे, ऊपर और बाहर सभी जगह आसमान ही होता है और वे आसमान में पैदा होकर वहीं रहते हैं और जब वे लुप्त होते हैं तब भी वे आसमान में ही रहते हैं। उसी तरह मैं प्राणियों का आदि, स्थिति, अंत और परमगति हूँ। इस प्रकार मेरा विस्तार और व्यापकता मेरी विभूतियों के द्वारा मालूम होती है। लो ध्यान देकर सुन लो। हे अर्जुन, जो विभूतियाँ मैं तुम से कहनेवाला था, किन्तु नहीं कह सका, उनमें से प्रधान विभूतियाँ अब कहता हूँ, सुनो ॥२१६-२० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१ ॥

यह कह कर कृपानिधि श्रीकृष्ण बोले, बारह आदित्यों में मैं विष्णु हूँ। उज्ज्वल पदार्थो में मैं ही किरणवाला सूरज हूँ। कुल पचास मरुद्गणों में मैं मरीचि हूँ और आसमान में जो सितारे हैं उनमें मैं चंद्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२ ॥

वेदों में मैं सामवेद हूँ । देवताओं में मरुतों का मित्र इंद्र मैं ही हूँ । इंद्रियों में जो ग्यारहवां मन है वह भी मैं हूँ ऐसा समझो । वैसे ही प्राणिमात्र में जो चेतना है वह भी मैं हूँ ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३ ॥

सब रुद्रो में कामदेव का बैरी जो श्रीशंकर वह मैं हूँ इस में संदेह मत करो ॥२२१-२५ ॥ यक्ष और राक्षसों में श्रीशंकर का दोस्त जो धनवान कुबेर है वह भी मैं हूँ ऐसा श्रीअनंत ने कहा । आठ वसुओं में जो अग्नि है वह भी मैं हूँ और शिखरवाले पहाड़ों में जो ऊंचा मेरुपर्वत है वह भी मैं हूँ ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५ ॥

इंद्र के सिंहासन का आधार सब ज्ञानों का आदिपीठ और गुरुदेवों का चूड़ामणि जो बृहस्पति है वह मैं ही हूँ । हे अर्जुन, जिस का श्रीशंकर के वीर्य का अग्नि से संयोग होकर कृत्तिका के कोंख में जन्म हुआ, और जो त्रिभुवन में सेनानायकों में श्रेष्ठ है, वह कार्तिकेय मैं ही हूँ । सब जलाशयों में जलनिधि जो समुंदर है वह मैं हूँ । महर्षियों में महान् तपस्वी भृगु मैं हूँ ॥२२६-३० ॥ सब शब्दों में सत्य अधिक प्रकट करनेवाला एकाक्षर ओम् मैं ही हूँ ऐसे वैकुंठ के लाल बोले । सब यज्ञों में कर्मत्याग से जो ओंकार आदि मंत्रों में परिणत होता है, वह जपयज्ञ मैं हूँ । इस श्रेष्ठ नामजपरूपी यज्ञ के लिये स्नान आदि क्रियाकर्मों की आवश्यकता नहीं होती । उस नाम से ही धर्म और अधर्म पवित्र होते हैं और नाम ही वेदों का इष्ट परब्रह्म है । स्थावर पहाड़ों में पुण्यस्थल जो हिमालय है वह भी मैं हूँ ऐसे लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण बोले ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७ ॥

कल्पवृक्ष, परजाता और चंदन के पेड़ ये अपने गुणों से अधिक प्रसिद्ध हैं, फिर भी मैं सब वृक्षों में पीपल हूँ ॥२३१-३५ ॥ और सब देवर्षियों में मैं नारद हूँ यह जान लो । सब गंधर्वों में मैं चित्ररथ हूँ । हे बुद्धिमान् अर्जुन, सब सिद्धों में मैं कपिलमुनि हूँ और ख्यातनाम घोड़ों में उच्चैःश्रवा हूँ । सम्राटों को शोभा देनेवाले जो हाथी हैं उन में मैं ऐरावत हूँ । देवताओंने क्षीरसागर मथ कर जो अमृत निकाला था वह मैं ही हूँ और जिसकी सेवा प्रजा करती है वह नरेश भी सब पुरुषों में मेरी असाधारण विभूति है ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९ ॥

हे अर्जुन, सब आयुधों में सौ यज्ञ करनेवाले इंद्र के हाथ में जो वज्र है वह मैं हूँ ॥२३६-४० ॥ सब गायों में कामधेनु मैं हूँ ऐसे श्रीकृष्ण ने कहा । जिस के द्वारा प्रजा की उत्पत्ति होती है, वह कामदेव मैं हूँ । हे अर्जुन, सांपों के वंश में प्रमुख वासुकि मैं हूँ और सब नागों का मुखिया शेष वह भी मैं हूँ । श्रीकृष्ण ने कहा कि सब जलदेवताओं में जो पश्चिम का दिक्पाल है वह वरुण मैं हूँ और सब पितृगणों में जो पितृदेवता अर्यमा है वह भी मैं हूँ यह मैं तुमको सच कहता हूँ । नियमन करनेवाले आदमियों की शुभ और अशुभ कर्मों की जानकारी पा कर ॥२४१-४५ ॥ और उनके अर्थों की जाँच करके जो कर्म के अनुसार फल देता है, वह कर्म का साक्षी यमधर्म भी मैं हूँ । ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३० ॥

अरे, दैत्यों के कुल में जो प्रल्हाद जन्मा था वह मैं ही हूँ यह ध्यान में रखो ।

इस लिये वह दैत्य के स्वभावदोषों से युक्त नहीं हुआ। श्रीगोपाल ने कहा कि छीननेवालों में मैं महाकाल हूँ और रक्तपिपासु जानवरों में 'मैं' शेर हूँ। अर्जुन, सुनो, सब पंछियों में मैं (विनता का पुत्र) गरुड़ हूँ, इस लिये वह मुझे अपनी पीठ पर बैठा कर चल सकता है।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जान्हवी ॥३१॥

हे धनुर्धर, जो एक घंटे में एक ही कूद में पृथ्वी के ईर्दगीर्द सात समुद्रों की प्रदक्षिणा करता है ॥२४६-५०॥ ऐसे शीघ्रगामियों में श्रेष्ठ जो वायु है वह मैं हूँ और सब शस्त्रधर योद्धाओं में मैं राम हूँ। उन्होंने त्रेतायुग में संकट में फँसे हुए धर्मका पक्ष लेकर और अपने जैसा धनुष बना कर विजयश्री को अपने पास खींच लिया था। सुवेल पर्वत पर खड़े हो कर उन्होंने लंकेश रावण के सिर आसमान में स्तुतिपाठक भूतों को बलि दिये। उन्होंने देवताओं की इज्जत बचाई, धर्मका जीर्णोद्धार किया और इस तरह वे सूर्यवंश के प्रतिसूर्य बन गये। ऐसे जो शस्त्रधरों में श्रेष्ठ सीतापति राम हैं वे मैं ही हूँ ॥२५१-५५॥ सब त्रिभुवन में बहनेवाली नदियों में, जिस को भगीरथ ले आने पर जन्हुने निगल लिया और फिर जंघा से बाहर निकाल दिया, वह जान्हवी नदी मैं हूँ ऐसे समझो। हे पार्था, इस तरह इस सृष्टि में मेरी भिन्न भिन्न विभूतियों में हर एक का वर्णन करने लगूँ, तो हज़ारो जन्मों में आधी विभूतियों का भी कथन समाप्त नहीं होगा।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

यह तो सब सितारे चुन लेने की इच्छा होने पर आकाश का बटुवा बांधना होगा, किंवा पृथ्वी पर जो परमाणु हैं उनकी तलाशी लेने के लिये भूगोल बगल में दबा लेना होगा, उसी तरह मेरा विस्तार देखने के लिये मुझको जानना होगा ॥२५६-६०॥ जिस तरह शाखाएँ, फूल और फल लपेट लेने के लिये पेड़ को ही जड़ से उखाड़ना पड़ता है, उसी तरह मेरी असाधारण विभूतियाँ समझने के लिये मेरा निर्दोष

स्वरूप जानना चाहिये । नहीं तो तुम मेरी भिन्न भिन्न विभूतियों के बारे में क्या क्या सुनोगे ? इस लिये जो सब कुछ है, वह मैं ही हूँ यह एक बार समझ लो । हे अर्जुन, इस समस्त सृष्टि का मैं आदि, मध्य और अंत हूँ । जिस तरह कपड़े में सीधे और टेढ़े धागे होते हैं, वैसे ही मैं सर्वव्यापक हूँ यह जान लो । इस का ज्ञान होने पर भिन्न भिन्न विभूतियों को समझ लेना आवश्यक नहीं होता । ॥२६१-६५ ॥ किंतु अभी तुम इस के योग्य नहीं हुए हो । हे अर्जुन, अब तुमने विभूतियों के बारे में पूछा है, तो सुनो । समस्त विद्याओं में मैंने अभी जो विद्या कही है, वह अध्यात्मविद्या मैं हूँ । अरे, तत्त्वज्ञान में जो वाद है वह भी मैं हूँ । वह वाद सब शास्त्रों का मेल होकर खत्म नहीं होता, मगर सिद्धान्त प्रस्तुत करने पर उलटे बढ़ जाता है । इसमें तर्क में आवेश आता है और वक्ताओं की दिलचस्प बातें होने लगती हैं । इस तरह जिस में स्वमत का प्रतिपादन किया जाता है, वह वाद मैं ही हूँ ऐसा श्रीगोविंद ने कहा । अक्षरों में जो अकार है वह मैं ही हूँ । समासों में मैं द्वंद्वसमास हूँ ऐसा समझो । फिर मच्छर से ब्रह्मदेव तक सब को नाश करनेवाला काल मैं ही हूँ ॥२६६-७० ॥जो प्रलय काल में मेरुमंदार आदि पर्वतों के साथ पृथ्वी को नष्ट करता है, जलमय हुए जगत् को सोख लेता है, तेज को भी मुठ्ठी में पकड़ लेता है, वायु को हड़प करता है, और आकाश को पेट में समा लेता है, ऐसा जो अमर्याद काल है वह मैं हूँ ऐसा लक्ष्मीजी के साथ भोगविलास करनेवाले श्रीकृष्ण बोले । उन्हों ने आगे कहा कि सृष्टि का सर्जनहार मैं ही हूँ ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४ ॥

जन्मे हुए सब प्राणियों का पालन करने वाला मैं ही हूं । उनका जीवन समाप्त होने पर उनका संहार करनेवाला मृत्यु भी मैं हूँ यह जान लो । अब मेरी और सात स्त्रीलिंगी विभूतियाँ हैं उनको भी मैं तुम्हे बताना चाहता हूँ ॥२७१-७५ ॥ हे अर्जुन, जो नित्य नयी कीर्ति है, वह मेरी ही मूर्ति है, और औदार्य के सहित जो संपत्ति है वह भी मैं हूँ । और न्याय के सुखासन पर बैठ कर विवेक के मार्गपर चलने वाली जो वाणी है वह भी मैं हूँ । कोई भी चीज देखनेपर मेरी याद दिलानेवाली स्मरण-शक्ति भी मैं हूँ ऐसे समझो । वैसे ही इस संसार में स्वहित करने वाली बुद्धि मैं हूँ

और इस त्रिभुवन में धृति और क्षमा भी मैं हूँ । इस प्रकार ये सात स्त्रीलिंगी शक्तियाँ मैं हूँ ऐसा संसार रूपी गजेंद्र का नाश करनेवाले सिंह श्रीकृष्ण बोले ॥२७६-८० ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५ ॥

श्रीरमापतिने कहा, हे प्रियतम, वेदों के सामों में जो बृहत्साम है वह मैं हूँ । छंदों में जो गायत्री छंद है वह भी मेरा स्वरूप है, यह तुम निस्सन्देह समझो । श्रीकृष्ण ने कहा, सब मासों में मैं मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में जो फूलों की खान है वह वसंत ऋतु भी मैं हूँ ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७ ॥

हे चतुर अर्जुन, भुलावे के प्रकारों में मैं जुआ हूँ । इस लिये जब जुआरी चौराहे पर जुआ खेल कर किसी को लूटता है, तो उस को कोई भी रोक नहीं सकता । अरे, सब उज्ज्वल पदार्थों में जो प्रकाश है, वह मैं ही हूँ ऐसा समझो । शुरू किये गये सब कामों में जो कामयाबी हासिल होती है, वह भी मैं हूँ । ॥२८१-८५ ॥देवाधिदेव श्रीकृष्ण बोले कि सब व्यवहारों में नीति से किया हुआ व्यवसाय मैं हूँ । श्रीअनंत ने आगे कहा, सत्त्ववानों का जो सत्त्व है वह मैं हूँ और यादवकुल में वैभवशाली पुरुष भी मैं हूँ । मैं ने वसुदेव और देवकी के लिये जन्म लिया और यशोदा की बेटी के बदले में गोकुल में गया । वहाँ स्तनपान देने के बहाने से जो पूतना आई थी उस को प्राणदंड दिया और जब बचपन की कली खिल भी नहीं पायी थी तब धरती को दैत्यरहित किया । फिर गोवर्धन पर्वत को हाथ पर उठा कर इंद्र का महत्त्व कम किया । मैं ने कालिया नाग को हटा कर यमुना जी का दुःखदर्द दूर किया और अग्नि को निगल कर गोकुल को जलने से बचाया । जब ब्रह्मदेव गोकुल के बछड़े चुरा कर ले गये, तब मैं ने दूसरे बछड़े उत्पन्न करके उन को बावला बना दिया ॥२८६-९० ॥ मैंने बचपन में भी कंस, चाणूर जैसे बड़े असुरों का सहज वध किया । ऐसी कितनी बातें तुम से कहूँ ? तुम ने ही ऐसी कई बातें देखी और

सुनी होंगी, इसलिये मैं यादवों में विभूति हूँ। और सोमवंश के पांडवों में जो तुम हो वह भी मैं हूँ ऐसा समझो। इस लिये तुम्हारे और मेरे बीच जो प्यार है, उसमें रुकावट नहीं आती। तुम संन्यासी हो कर मेरी बहन सुभद्रा को भगा कर ले गये तो भी मेरे दिल में तुम्हारे प्रति विकल्प नहीं हुआ। क्योंकि तुम्हारा और मेरा स्वरूप एक ही है। सब मुनियों में श्रेष्ठ व्यास मुनि और सब कवियों में जो श्रेष्ठ शुक्राचार्य है वे भी मैं हूँ ॥२९१-९५ ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८ ॥

हे पार्थ, दमन करने वालों में चींटी से ब्रह्मदेव तक सभी का जो अनुशासन करता है, वह असीम दंड मैं हूँ। सोचविचार से जो धर्म और ज्ञान का पक्ष लेते हैं, उन सब शास्त्रों में मैं नीतिशास्त्र हूँ। हे वीर अर्जुन, सब गुह्यों में मैं मौन हूँ, इसलिये जो मौन पालते हैं उनके सामने ब्रह्मदेव भी नासमझ सिद्ध होते हैं। अरे, ज्ञानवानों में जो ज्ञान है वह भी मैं हूँ ऐसा समझो। अब यह पर्याप्त हुआ क्योंकि बातें बढ़ने से विभूतियों का वर्णन समाप्त नहीं होगा।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४० ॥

हे अर्जुन, वर्षा की धारोओं की गणना हम नहीं कर सकते। अथवा क्या कोई धरती पर के घास के तिनके गिन सकता है? ॥२९६-३०० ॥ जैसे समुंदर की लहरों का शुमार निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता, वैसे ही मेरे असाधारण लक्षणों को कोई नाप नहीं सकता। हे अर्जुन, तो भी मैंने तुम को मेरी पचहत्तर विभूतियाँ कहीं। किंतु जिस विचार से तुमने यह सवाल किया था वह निरर्थक हुआ ऐसा मुझे लगता है। मेरी अन्य विभूतियों की कोई भी सीमा नहीं है उनके कथन से और श्रवण से क्या लाभ होगा? इसलिये मैं एक बार इसका रहस्य बताऊंगा। जिस बीज से जगदंकुर निकलता है, वह बीज मैं हूँ, इसलिये छोटे बड़े ऊँचे नीचे ऐसे भेदभाव न मानते हुए सब वस्तुजात मैं हूँ ऐसा समझो ॥३०१-०५ ॥ इस से

बढ़ कर एक सर्वसाधारण लक्षण मैं बताऊंगा उस को ध्यान से सुनो । उससे तुम मेरी विभूतियाँ पहचान लोगे ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१ ॥

हे धनंजय, जिस प्राणी में संपत्ति और दया एकत्रित होती है वह मेरी विभूति है, ऐसा समझो ।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाऽर्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२ ॥

आसमान में सूर्यमंडल एकही है, मगर उसकी रोशनी त्रिभुवन में फैल जाती है । उसी तरह जिस की आज्ञा सब मानते हैं उसको तुम अकेला और निर्धन मत समझो । देखो, (आदमी की इच्छा पूरी करने के लिये) कामधेनु को क्या सामग्री जुटानी पड़ती है ? उसके पास जो कोई चीज माँगेगा, तो वह उसको तुरंत देती है । वैसे ही मेरी विभूतियों में सब प्रभुत्व भरा हुआ है ॥३०६-१० ॥ मेरी विभूतियों की पहचान के लिये यही एक संकेत है, समझो । सब संसार विनम्र होकर जिन के आज्ञाकारी होते हैं, वे विभूतियाँ मेरे अवतार होते हैं । मेरे विभूतियों में साधारण और असाधारण ऐसा भेदभाव मानना महापाप है । इस प्रकार भेदभाव की कल्पना करके हम अपनी बुद्धि कलंकित क्यों करें ?हम घीको व्यर्थ क्यों मथें ? अमृत उबाल कर आधा क्यों करे ? और समीर को क्या कोई बायाँ या दाहिना हाथ होता है ?सूर्यमंडल का कोई अगला और पिछला भाग देखने लगेगा, तो वह केवल अपनी दृष्टि खो बैठेगा । उसी तरह मेरे स्वरूप में साधारण और असाधारण ऐसा भेद नहीं है ॥३११-१५ ॥ और, हे अर्जुन, जो मेरी असंख्य विभूतियाँ हैं, उन में से तुम कितनी गिनोगे ? इसलिये मेरी विभूतियाँ जानने की कोशिश मत करो । मेरे एक अंश से यह सब विश्व व्याप्त है, इसलिये भेदभाव की कल्पना त्याग कर मुझ को समबुद्धि से भजो । इस तरह ज्ञानरूपी बन को वसंत ऋतु जैसा आनंद देनेवाले और विरक्तों को एकांत में साथ देनेवाले वैभवशाली श्रीकृष्ण बोले । तब अर्जुन ने कहा, हे प्रभो, यह आपने बिना सोच समझ कर कहा ऐसा मुझे लगता है । आपने सलाह दी कि भेदभावना छोड़ देनी चाहिये । देखिये, क्या सूरज कभी दुनिया को

कहता है कि यह अंधेरा हटा दो ? लेकिन इस के बारे में आपको नासमझ कहूँ तो वह अनुचित होगा ॥३१६-२० ॥ आप का नाम कोई मुँह से कहे या कान से सुने तो यह भेदभाव सचमुच मिट जाता है । फिर आप जो परब्रह्म हैं भाग्य से हम को मिले हैं, तो भेदभाव कैसे रहेगा ? देखिये, किसीने चंद्रमंडल में प्रवेश किया तो क्या उस को गरमी महसूस हो सकती है ?हे श्रीकृष्ण आप बड़े हो, इस लिये कुछ भी बोलने की तुम्हें छूट है । यह अर्जुन की बात सुनते ही श्रीकृष्ण निहाल हो गये और उन्होंने उस को गले लगा कर कहा, मेरे कहने पर रूठो मत । मैंने विभूतियों के जो प्रकार बताये हैं उनका अभेद तुम्हारे दिल में जँचा या नहीं ॥३२१-२५ ॥ यह परखने के लिये मैं ने ऊपरी भाव से यह कहा । अब तुम को मेरी विभूतियों का अच्छा ज्ञान हुआ है ऐसा मुझे यक़ीन हुआ है । इस पर अर्जुन ने कहा, यह जो कुछ है आप ही समझ लीजिये । लेकिन मेरा ऐसा खयाल हुआ कि आप से यह सारा विश्व व्याप्त है ।

हे राजन्, इस प्रकार अर्जुन ब्रह्म का अनुभव करने के लिये योग्य हुआ । जब संजय यह कह रहा था, तब धृतराष्ट्र चुप बैठा था । तब संजय को खेद हुआ और उसने सोचा, भाग्य से जो प्राप्त हुआ है वह गवाँ बैठना आश्चर्य की बात है, नहीं तो क्या ? इसकी बुद्धि साबुत है ऐसा मैं समझता था । मगर यह जैसा बाहरसे अंधा है, वैसा अंदर से भी है । यह अर्जुन मात्र अपना हित बढ़ा रहा है । क्योंकि इस के बाद उसके मन में एक और उत्कंठा पैदा हुई ॥३२६-३० ॥ उसने कहा, यह सब संसार ईश्वरमय है ऐसा मैं ने अनुभव किया । लेकिन मेरी यह इच्छा है कि यह आपका विश्वरूप मैं आँखों से देख सकूँ । अपनी दो आखों से भगवान् का विश्वरूप देखने की इच्छा भाग्यवान होने से अर्जुन करने लगा । अब अर्जुन कल्पवृक्ष की डाली था, इस लिये उस पर बांझ फूल कभी नहीं लग सकते । क्योंकि उसके मुँह से जो बात निकलती थी, उसको श्रीकृष्ण पूरी करते थे । जो श्रीकृष्ण प्रल्हाद के कहने पर स्वयं ज़हर बना, वह अर्जुन को सद्गुरु के नाते प्राप्त हुआ था । इस लिये मैं निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहता हूँ, इस विश्वरूप के विषय में अर्जुन क्या सवाल करेगा, वह कथा अगले अध्याय में कहूँगा ॥३३१-३५ ॥

◆ ◆ ◆

॥ ग्यारहवाँ अध्याय ॥

अब ग्यारहवें अध्याय में जो कथा आयी है उसमें दो रसों को बढ़ावा मिला है। इसमें भगवान् के विश्वरूप का दर्शन अर्जुन को प्राप्त होगा। इस अध्याय में शांतरस के घर में अद्भुतरस मेहमान आया है। और अन्य रसों को भी इन दोनों रसों के साथ बैठने का सम्मान मिला है। सज्जनो, विवाह के समारोह में क्या बारात में लोग अच्छे कपड़े और गहने पहन कर शान नहीं दिखाते? उसी तरह सब रस देशी भाषा की डोली में बैठकर चमक रहे हैं। परंतु उन सब में शांत और अद्भुत रस इतने सुहावने लगते हैं कि जी चाहता है कि उनको आँखों से स्पर्श करें। इससे हमें ऐसा लगता है कि मानो विष्णु और शंकर एक दूसरे को मिलने आये हैं। अथवा जैसे चाँद और सूरज अमावस के दिन एकसाथ आते हैं वैसे ये दो रस मिल कर आये हैं ॥१-५॥ अथवा, जिस तरह गंगाजी और यमुनाजी का संगम हुआ है, उसी तरह यह ग्यारहवाँ अध्याय इन दोनों रसों का प्रयागतीर्थ बना है। इस लिये इस अध्याय के श्रवण से सब संसार पवित्र होता है। यहाँ ये दोनों रस प्रकट रूप से हैं, मगर गीतारूपी सरस्वती नदी गुप्त है; इस लिये, सज्जनो, यहाँ त्रिवेणीसंगम हुआ है ऐसा समझो। मेरे सद्गुरु निवृत्तिनाथ ने ऐसी सुविधा की है कि कोई भी

श्रवणेंद्रियों के द्वारा इस तीर्थ में आसानी से प्रवेश कर सकता है। इस तीर्थ में संस्कृत भाषा के कठिन तट थे, उनको तोड़ कर वहाँ देशी भाषा के सुगम घाट धर्म के आगार निवृत्तिनाथ ने बनाये हैं। इस लिये जैसे हम प्रयाग तीर्थ में विष्णु का दर्शन करते हैं, वैसे कोई भी इस संगम में नहाकर और विश्वरूप का दर्शन ले कर संसार को तिलांजली दे सकता है ॥६-१० ॥ इस अध्याय में रसों के भाव ऐसे उमड़ आये हैं कि उनसे दुनिया को श्रवणसुख का सारा राज हासिल हुआ है। यहाँ शांत और अद्भुत रस प्रकट हुए हैं, परंतु अन्य रसों को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। यहाँ थोड़ासा क्यों न हो मोक्ष का द्वार खुला है। सो यह ग्यारहवाँ अध्याय भगवान् का विश्रामस्थान है। लेकिन अर्जुन भाग्यवानों का चूड़ामणि था, इसलिये वह यहाँ पहुँच गया। मगर यहाँ अर्जुन अकेला आ पहुँचा, ऐसे हम कैसे कह सकते हैं? क्योंकि गीता के भावार्थ का अनुवाद देशी भाषा में होने से कोई भी यह सुख भली भाँति पा सकता है। इसलिये आप सज्जनों से प्रार्थना करता हूँ कि आप इस पर ध्यान दें ॥११-१५ ॥

आप संतसज्जनों के समाज में मैं इतनी लगन से बात कर रहा हूँ यह उचित नहीं है। लेकिन आप मुझ को बेटा मान कर प्यार से बर्ताव करे। सज्जनो, हम तोते को खुद पढ़ाते हैं और जब वह पढ़ी हुई बात करने लगता है तो क्या हम उसकी प्रशंसा में गरदन नहीं हिलाते? किंवा माँ अपने बेटे से कुछ करा लेने पर उसकी सराहना नहीं करती? उसी तरह मैं जो कुछ कहता हूँ उसको मैंने आपसे ही सीखा है। इस लिये जो आपने मुझको शिक्षा दी है, वही आप सुनिये। आपने यह जो साहित्य का पेड़ लगाया है, उस पर अवधान का जल सींच कर उसको फैला दीजिये। फिर यह पेड़ रसरूपी फूलों से खिल उठेगा, कई प्रकार के अर्थरूपी फलों से लद जायेगा, और आपके पुण्यप्रभाव से सब संसार समृद्ध होगा। ॥१६-२० ॥ इस बात पर वे सज्जन प्रसन्न हो कर बोले, "तुम्हारे इस कथन से हम प्रसन्न हुए, अब अर्जुन ने क्या कहा वह बताओ।" तब निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने जवाब दिया, "यह श्रीकृष्ण और अर्जुन का वार्तालाप मुझ जैसा साधारण व्यक्ति कैसे कह सकता है? लेकिन आप मुझ से कहलवायेंगे तो मैं बोलूँगा। अजी, वन में पत्ते खानेवाले बंदरों की सहायता ले कर श्रीराम ने लंकाधीश रावण को क्या पराजित

नहीं किया ? उसके बाद क्या श्रीकृष्ण ने अकेले अर्जुन के द्वारा कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी पर विजय नहीं दिलवायी ? इसलिये जो समर्थ कर सकता है, वह साधारण व्यक्ति के बस में नहीं होता । आप सज्जन समर्थ हैं, इसलिये आप मुझ से गीतार्थ कहलवाइये । अब वैकुंठनायक श्रीकृष्ण के मुँह से जो सच्चा गीतार्थ निकला वह मैं आप को बताता हूँ, ध्यान दीजिये । ॥२१-२५ ॥ धन्य धन्य वह गीता जिसका वक्ता वेदों का प्रतिपाद्य विषय स्वयं परमात्मा है । जो गीतार्थ श्रीशंकर आकलन नहीं कर सके, उसका महत्त्व वर्णन करना कैसे संभव है ? इसलिये उसको तन-मन से प्रणाम करना ही अच्छा है ।

इस के बाद अर्जुन ने विश्वरूप देखने की इच्छा श्रीकृष्ण से कैसे प्रकट की वह सुनिये । उस को बडी उत्कंठा हुई कि जिस विश्वरूप का उसने अनुभव किया था वह अपनी आँखों से देख लूँ । मगर यह भगवान् से कहने की भी अड़चन थी । क्योंकि वह उनसे कैसे कहे कि अपना गहरा विश्वरूप दिखाइयें ? ॥२६-३० ॥ उसने सोचा कि जो सवाल आज तक किसी प्यारे भक्त ने नहीं किया, उसके बारे में मैं अचानक कैसे पूछूँ कि वह रूप मेरे लिये प्रकट करें ? यद्यपि मेरा भगवान् से मेलजोल है, तो भी मैं क्या यशोदा मैय्या से ज्यादा उनके नजदीक हूँ ? उसने भी यह पूछने की हिम्मत नहीं की थी ।अगर मैंने भी भगवान् की मनपसंद सेवा की है, तो भी मैं क्या गरुडजी की बराबरी कर सकता हूँ ? फिर उन्होंने भी इसके लिये रट नहीं लगायी । फिर क्या मैं गोकुल की भावुक गोपगोपियों से उनको अधिक प्रिय हूँ ? मगर उन्हो नें बच्चे का रूप धारण कर उन गोकुल के बाशिंदो को चकमा दिया । राजा अंबरीष के लिये उन्होंने दस दफ़ा गर्भवास सहन किया, लेकिन उससे अपना विश्वरूप छिपा रखा ॥३१-३५ ॥ ऐसा जो श्रीकृष्ण का अंतस्थ रहस्य है उस के बारे में सहसा कैसे पूछूँ । लेकिन पूछे बिना भी मुझे चैन नहीं पड़ेगा । इतनाही नहीं मेरा तो जीना भी मुश्किल होगा । अतः यह सवाल मैं सहज पूछूँगा, उस पर प्रभु की इच्छा जैसी होगी वैसा करूँगा । इस विचार से अर्जुन ने हिम्मत कर के बड़े तकल्लुफ़ से इस खूबी से पूछा कि भगवान ने एक दो प्रश्नोत्तर में ही अपना विश्वरूप प्रकट कर दिया । अजी बछड़े को देख कर गाय हड़बड़ा कर उठती है और फिर जब बछड़ा थन को मुँह लगाता है, तब क्या वह उससे दूध चुराती है ? ॥३६-४० ॥

देखिये, जो पांडवों के बचाव के लिये अरण्य में दौड़ कर गये, वे अर्जुन को जवाब देना कैसे टाल सकते हैं ? श्रीकृष्ण तो प्रत्यक्ष प्रेमरूप थे और उसपर अर्जुन के प्यार का दबाव पड़ा था। उन दोनों का मेल होने पर भी उनमें भेद बना रहा यही आश्चर्य की बात है। इस लिये अर्जुन के प्रार्थना करने पर ही भगवान् विश्वरूप दिखायेंगे। वह घटना पहले से सुनिये।

अर्जुन उवाच।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

फिर अर्जुन ने कहा, हे दयानिधे, जो अवर्णनीय है वह आपने प्रकट किया। जब पाँच महाभूतों का विलय होता है, और जीव और माया इनका नामोनिशान नहीं रहता, उस समय जो आप का रूप होता है वह आपका विश्राम स्थान है ॥४१-४५ ॥ जो यह आपका स्वरूप वेदों से भी चुरा कर अपने दिल में छिपा रखा था, वह आज आपने मेरे सामने प्रकट किया। जिस पर श्रीशंकर अपना ऐश्वर्य निछावर करते हैं, वह आत्मज्ञान मुझको एक क्षण में दे दिया। लेकिन आपसे मिल कर भी ऐसे भेदभाव की बात कैसे करें ? मगर मोह की बाढ़ में मैं जब डूब रहा था तब आपने स्वयं कूद कर मुझको बाहर निकाला। इस संसार में आप के सिवा कोई भी वस्तु नहीं है। फिर हमारा बदनसीब यह है कि हम ऐसी बातें करते हैं कि हम आपसे अलग है ॥४६-५० ॥ इस दुनिया में मैं कोई अर्जुन नामक व्यक्ति हूँ, ऐसा देहाभिमान मुझको सताता था और मैं कौरवों को अपने रिश्तेदार समझता था। इतना ही नहीं, इनका वध करने पर किये गये पापों से मुझे कौनसी गति प्राप्त होगी इस प्रकार का बुरा स्वप्न मैं देख रहा था। इतने में आपने मुझे जगा दिया। हे श्रीकृष्ण, गंधर्वनगरी की बस्ती छोड़ कर मैं ऐसे ही प्यास बुझाने के लिये मृगजल के पीछे दौड़ रहा था। जो कपड़े का कीड़ा था उसके काटने का मुझे भ्रम हो कर बदन में ज़हर की लहरों का अनुभव मैं कर रहा था और अज्ञान के मारे मेरी जान को ख़तरा है ऐसा सोच रहा था। मुझे जिलाने का आपको ही श्रेय है। कुएं में अपनी ही परछाई पड़ी है यह न जान कर सिंह उसमें कूदने ही वाला था कि इतने में उसको किसीने रोका, वैसे ही हे अनंत, आपने मुझ को बचाया ॥५१-५५ ॥नहीं

तो मैंने अब तक निश्चय किया था कि अगर सात सागर एकत्रित हों, यह दुनिया डूब जाये या आसमान भी टूट पड़े, तो भी वंशजों के साथ युद्ध का मौक़ा न आये। इस दुर्दम्य अहंकार के मारे जब मैं दुराग्रहरूपी पानी में डूब रहा था तब आप मेरे पास थे, यह अच्छा हुआ। नहीं तो मुझको कौन बाहर निकाल सकता था? वास्तव में मैं कुछ न होकर भी कोई हूँ ऐसे समझता था और जिनसे मेरा कोई रिश्ता नहीं है उनको आप्त मानता था। इस तरह मेरा जो ज़बर्दस्त पागलपन था उससे आपने मुझको बचाया। और जब हम लाक्षागृह में जलनेवाले थे तो आपने हमको बाहर निकाला। मगर उस समय देहनाश का ही भय था, और जबकि अब मोहरूपी अग्नि में मेरे चैतन्यका विध्वंस हो रहा था ॥५६-६०॥मानों दुराग्रहरूपी हिरण्याक्ष दैत्यने मेरी बुद्धिरूपी पृथ्वी को बगल में दबाकर मोहरूपी समुद्र के तले में ले गया था। उस बुद्धि को आपने अपने सामर्थ्य से ठीक किया, लेकिन इसके लिये आपको दूसरी बार वराह का रूप लेना पड़ा। ऐसी आपकी अगाध करनी है। उसको मैं एक वाणी से कैसे वर्णन कर सकूँगा। मैं सिर्फ इतना ही कहूँगा कि आपने मेरी जान बचाई। इसलिये, हे भगवन्, आप के परिश्रम असफल नहीं हुए, और मेरा अज्ञान मिट गया और आपको यश मिला। हे प्रभो, आप की आँखें आनंद सरोवर के कमल के समान हैं, उन कृपापूर्ण आँखों से जिसको आप देखते हैं, वह मोहयुक्त होता है, यह कँहना भी ठीक नहीं ॥६१-६५॥ मृगजल की वर्षासे वडवानल पर क्या असर होगा? और, हे दाता, मैं आपकी कृपा के गर्भगृह में पैठ कर ब्रह्मज्ञान का पूर्ण अनुभव कर रहा हूँ। फिर मेरा मोह नष्ट हुआ इसमें क्या आश्चर्य है? हे भगवन्, आपके चरणस्पर्श से आज सचमुच मेरा उद्धार हुआ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

हे कमलनयन, हे असंख्य सूरज के समान प्रकाशमान परमेश्वर, आज मैंने आप की ये सब बातें सुनी। यह सब प्राणिजात जिससे पैदा होता है और जिसमें विलय पाता है, उस प्रकृति का स्वरूप आपने स्पष्ट रूप से बताया ॥६६-७०॥ फिर उस प्रकृति की तलाशी ले कर परमात्मा का मूल स्थान बताया। आपके चरणों का आश्रय लेने पर ही वेद बढ़ गये, चिरस्थायी बने और उनसे

नीतिधर्मरूपी रत्न निकले। ऐसी आप की अगाध महिमा है जो सब मार्गों से जानने योग्य है, और जिस का अनुभव रम्य है, वह आप ने मुझ को बताया। जिस तरह बादल हट जाने पर सूर्यमंडल अथवा काई दूर करनेपर स्वच्छ जल स्पष्ट दिखाई देता है, या साँपोंसे लिपटे हुए चंदन के पेड़ से साँप कों अलग करने से हम चंदन के पेड़ से लिपट सकते हैं, अथवा पिशाच निकल जाने पर गाड़ा हुआ धन हासिल होता है, ॥७१-७५॥ उसी तरह ज्ञान की आड़ में जो प्रकृति थी उसको हटा कर आपने ब्रह्मतत्त्व से मेरी भेंट करायी। अतः भगवन्, आपके कहने से मुझको उसके बारे में यक़ीन हुआ। मगर मेरी एक इच्छा है। अगर मैं आपसे पूछने में संकोच करूँगा, तो फिर किस से पूछूँ? क्योंकि आपके सिवा हमको किस का सहारा है? जलचर ने तकल्लुफ़ से पानी के बाहर निकलने का सोचा, या नन्हे ने माता से स्तनपान माँगने में संकोच किया, तो वे जियेंगे कैसे? इस लिये मेरा जी चाहता है कि संकोच छोड़ कर मेरे मन की बात आपसे कहूँ। ऐसा अर्जुन के कहते ही भगवान बोले, अब तुम्हारी तमन्ना क्या है, बोलो ॥७६-८०॥

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

तब अर्जुन ने कहा, आप के कथन पर मैं ने आत्मा का अनुभव किया, और उससे मुझको शांति मिली। अब जिस के संकल्प से इस विश्व का विस्तार उत्पन्न हो कर लय पाता है, जिसको आप अपना निजी रूप कहते हैं, जिससे आप द्विभुज, चतुर्भुज रूप धारण कर के देवकार्य के लिये बार बार अवतार लेते हैं, और क्षीरसागर में शेषशयन, मत्स्य, कूर्म इत्यादि रूपों का अवतारकार्य समाप्त होने पर आप जिस निजी रूप में रहते हैं, जिसके गुण उपनिषद गाते हैं, जिसका योगी अंतर्मुख हो कर ध्यान करते हैं, और जिसको सनकादिक मुनि लिपट जाते हैं ॥८१-८५॥, जिसकी प्रतिष्ठा हम आजतक सुनते आये हैं, ऐसा जो आपका अगम्य विश्वरूप है उसको देखने के लिये मेरा जी तरस रहा है। चूंकि आपने मेरा संकोच दूर कर के मेरी इच्छा क्या है ऐसे पूछा है, तो मैं कहता हूँ कि यही मेरी उत्कट इच्छा है, मुझ को यही धुन लगी है कि मैं आपका विश्वरूप इन आँखों से देख सकूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

आपका विश्वरूप देखने के लिये मेरी योग्यता है या नहीं यह मैं नहीं जानता। अगर आप पूछेंगे कि यह तुम क्यों नहीं जानते, तो मरीज़ क्या अपनी बीमारी जान सकता है? ॥८६-९०॥ और हे भगवन् इच्छा प्रबल होने पर आदमी अपनी औकात भूल जाता है, और प्यास से तड़पता हुआ व्यक्ति महसूस करता है कि उसकी प्यास बुझाने के लिये समुद्र भी पर्याप्त नहीं होगा। इस लिये प्रबल इच्छा से भ्रांत हो कर आदमी अपनी मर्यादा नहीं जानता। अतः जिस तरह माता अपने बेटे की योग्यता जानती है, उसी तरह आप मेरी पात्रता जान कर विश्वरूप दिखाना शुरू करें। लेकिन मेरी योग्यता होने पर ही यह कृपा कीजिये, नहीं तो साफ़ इनकार कर दीजिये। प्रभो, पंचम स्वरका गायन भी बहरे को क्या सुख दे सकता है? बादल चातक की प्यास बुझाने के लिये वर्षा करता है, तो क्या वह दुनिया के लिये पर्याप्त नहीं होती? मगर वही वर्षा यदि चट्टान पर हुई, तो व्यर्थ होती है ॥९१-९५॥ चांदनी चकोर को उपलब्ध होती है, लेकिन वह शपथ लेकर अन्य लोगों को मना नहीं करती। मगर उस की रोशनी अंधे पर पडती है तो व्यर्थ होती है। लेकिन मुझको आप बहुधा विश्वरूप दिखायेंगे ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि आप जानकारों और अनजानों के लिये नये नये रूप धारण करते हैं। आपकी उदारता इतनी असीम है कि आप किसी को कोई भी चीज देना चाहते हैं तो आप उसकी क्षमता या अक्षमता का विचार नहीं करते। क्योंकि मोक्ष के समान पवित्र वस्तु आपने दुश्मनों को भी दी है। सच में मोक्ष दुर्लभ हो कर भी आप की चरणसेवा करता है, इसलिये आप उसको जहाँ भेजते हैं वहाँ वह चाकर बन कर जाता है। आपके वध के लिये जो पूतना स्तन को ज़हर पोत कर आयी थी, उसको आपने सनकादि ऋषियों की बराबरी में सायुज्य मुक्ति प्रदान की ॥९६-१००॥ हे भगवन् पांडवों के राजसूय यज्ञ में, जहाँ त्रिभुवन के देव, ऋषि और नरेश आये थे, वहाँ जब शिशुपाल ने गालियाँ दे कर आप की बदनामी की थी, तब उस अपराधी शिशुपाल को भी आपने मोक्षपद दिया। और उत्तानपाद राजा के पुत्र ने क्या ध्रुवपद की कामना की थी? वह सिर्फ पिता की गोद में बैठने की इच्छा से बन में गया था। मगर आपने उसको चंद्रसूर्य से भी बड़ा सम्मान प्रदान किया। इस तरह दुःखी लोगों को तसल्ली देने वाले आप ही हैं। जब जीवन के अंतिम क्षण में अजामिल ने बेटे को नारायण कह कर पुकारा, तब आपने उसको मुक्त किया। भृगऋषि ने आपके सीने पर लात मारी थी, मगर

उसके पैर का चिन्ह आपने भूषण मान कर अब तक सीने से लगा रखा है । और आप का दुश्मन जो शंखासुर था, उस का मुख याने शंख आपने हाथ में धारण किया है ॥१०१-१०५ ॥ इस तरह आप अपराधियों का भी उद्धार करते हैं और नालायक लोगों को भी मोक्ष प्रदान करते हैं । बली दैत्य के पास आप दान माँगने गये और आप उसका रखवाला बनकर रहें । वह जो गणिका आपकी भक्त नहीं थी, न आपका गुणगान सुनती थी, लेकिन उसने जब तोते को आपके नाम से पुकारा, तो आपने उसको वैकुंठ में सुखद निवास प्रदान किया । इस तरह आप किसी भी बहाने से लोगों को अपनाते हैं । फिर मुझ से आप कैसे विपरीत बर्ताव करेंगे ? जो कामधेनु दूध देकर दुनिया की कठिनाईयाँ दूर करती है, उसके बछड़े भूखे कैसे रहेंगे ? सो यह बात असंभव है कि मेरी प्रार्थना पर भगवान अपना रूप मुझे नहीं दिखायेंगे । मगर उसको देखने के लिये मुझको क्षमता हासिल करनी होगी ॥१०६-११० ॥ अगर आपको यक़ीन हो कि मैं आपका विश्वरूप आँखों से देख सकूँगा, तो यह मेरी इच्छा पूर्ण कीजिये । अर्जुन की ऐसी योग्य प्रार्थना करने पर जो छः गुणों का राजा है वे श्रीकृष्ण विलंब बरदाश्त नहीं कर सके । उस समय अर्जुन वर्षा ऋतु और श्रीकृष्ण कृपामृत से लबालब बादल, या अर्जुन बसंत और श्रीकृष्ण कोयल जैसे शोभित हुए । पूनों का चांद देखने पर जिस मात्रा में क्षीरसागर में ज्वार आता है, उससे भी दुगुने प्यार से श्रीकृष्ण उल्लसित हो उठे और उल्लास की उमंग से कृपालु हो कर उन्होंने जोर से कहा, "हे पार्थ लो ये मेरे अनगिनत रूप देखो ॥१११-१५ ॥ अर्जुन ने सोचा था कि भगवान् का एक रूप देख पाऊं, तो उन्होंने सब विश्व अपना रूप है ऐसे दिखाया । प्रभु की इतनी असीम उदारता है कि वे याचक की इच्छा से सहस्रगुना दान सदा देते हैं । हे राजन्, जो रहस्य उन्होंने शेष से चुरा रखा था, वेदों को भी झाँसा दिया था, और लक्ष्मी देवी से भी छिपाया था, वह अपना विश्वरूप अर्जुन के सामने प्रकट करने को उद्यत हुए । जैसे कोई स्वप्नावस्था में जो कुछ देखता है वह खुद बनता है, वैसे ही श्रीकृष्ण स्वयं ब्रह्मांड बन गये ॥११६-२० ॥ फिर उन्होंने अपना पार्थिव रूप त्याग कर स्थूल दृष्टि का पर्दा हटा दिया और अपना सब योगैश्वर्य प्रकट किया । तब उन्होंने यह नहीं सोचा कि अर्जुन यह रूप देखने के लायक है या नहीं । और प्यार की उमंग में उन्होंने एकदम कहा कि अब मेरा रूप देखो ।

श्रीभगवानुवाच :-

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५ ॥

हे अर्जुन, तुमने मुझसे एक ही विश्वरूप दिखाने को कहा था और यदि मैंने तुम्हें वही बताया, तो इस में मेरी शान क्या रही ? अब तुम देखोगे कि मेरे रूप में सारा विश्व समाया हुआ है । लो ये मेरे रूप देखो । कुछ कृश, कुछ स्थूल, कुछ नाटे, कुछ लंबे, कुछ मोटे, कुछ पतले, कुछ असीम, कुछ उद्दण्ड, कुछ सरल, कुछ उद्यमी, कुछ निश्चेष्ट, कुछ उदासीन, कुछ प्रेमी, कुछ बुद्धिमान्, ॥१२१-२५ ॥ कुछ अचेत, कुछ सचेत, कुछ सुंदर, कुछ गंभीर, कुछ उदार, कुछ कंजूस, कुछ गुस्सैल तो कुछ शांत, कुछ अकड़ू, कुछ सरल, तो कुछ हँसमुख, कुछ चिल्लानेवाले, कुछ मितभाषी, कुछ सौम्य, कुछ लोभी, कुछ विरक्त, कुछ जागृत, कुछ सोये हुए, कुछ संतुष्ट, कुछ दुःखी, तो कुछ प्रसन्न, कुछ सशस्त्र, कुछ निहत्थे, कुछ उग्र, कुछ स्नेहपूर्ण, कुछ भयानक, कुछ विचित्र तो कुछ समाधिस्थ, कुछ लोककार्य में मग्न, कुछ प्यारपूर्वक पालन करनेवाले, कुछ क्रोध से संहार करने वाले, तो कुछ साक्षीभूत ॥१२६-३० ॥ ऐसे अनेक प्रकार के असंख्य रूप हैं। वैसे ही वे कांतिमान और अलग अलग रंग के होते हैं । कुछ तपाये सोने जैसे हैं, ज्यादा करके भूरे रंग के हैं, तो कुछ सूर्यास्त के समय सुहावने आकाश जैसे सिंदुरी रंग के हैं । कुछ रूप सहज सुंदर मानो ब्रह्मांड माणिकों से ठसाठस भरा हुआ है, कुछ अरुणोदय जैसे फीके लाल, कुछ रूप बिल्लौर जैसे शुभ्र, तो कुछ नीलमणि जैसे नीले, कुछ रूप काजल जैसे कजरारे, तो कुछ माणिक जैसे लाल, कुछ रूप चमकते हुए सुवर्ण जैसे पीले, कुछ नये मेघ जैसे साँवले, कुछ चंपाकली जैसे सफ़ेद, कुछ हरे, ॥१३१-३५ ॥ तो कुछ तपे हुए ताँबे जैसे सुर्ख, कुछ श्वेत चाँद जैसे शुभ्र, ऐसे रंगबिरंगे रूप देखो । जैसे ये रंग भिन्न हैं वैसे ही मेरे आकार इतने सुहावने हैं कि उनको देख कर कामदेव भी लज्जित हुए और उन्होंने दांतों तले तिनका दबाया । कुछ रूपों का गठन मोहक है तो कुछ के बदन मनोहर है, मानों शृंगारश्री के भंडार खुले हुए हैं। कुछ रूप सुंदर, कुछ विकराल, कुछ लम्बी गर्दनवाले, कुछ

बड़े सिरवाले, तो कुछ प्रचंड, ऐसे मेरे रूपों के जो विविध देह के कद हैं वे गिने नहीं जा सकते, और इस हर एक रूप के हर एक अवयव में जगत् भरा हुआ है, वह देखो ॥१३६-४० ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौमरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६ ॥

मेरी आँखें खुलने पर आदित्यादि देवों की उत्पत्ति होती है, और उनको मूँद लेने पर उनका विलय होता है । मेरे मुँह से जो गरम श्वास निकलती है, उसमें से अग्न्यादि आठ वसु पैदा होते हैं । और जब मेरी भौहों के छोर क्रोध से परस्पर मिलते हैं, तब उन में से ग्यारह रुद्रगण उत्पन्न होते हैं । मेरी सौम्य मुद्रा से असंख्य अश्विनीकुमर और कानों से पवन पैदा होते हैं । इस तरह मेरे हर एक अवयव से देव और सिद्धों के कुल जन्म लेते हैं । ऐसे ये मेरे अगणित और विशाल रूप देखो ॥१४१-४५ ॥ जिन रूपों के विषय में वेद भी तुतला कर बोलते हैं, जिनको देखने के लिये महाकाल की उम्र पर्याप्त नहीं होती, और जिनकी गहराई ब्रह्मदेव भी नाप नहीं सके और जिनके नाम वेदों ने भी कभी नहीं सुने थे, वे मेरे असंख्य रूप अब सामने देखो । और उनको देख कर मेरी जो आश्चर्यकारक लीलाएँ और महासिद्धियाँ हैं उनका अनुभव करो ।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७ ॥

हे पार्थ, जैसे कल्पवृक्ष के नीचे उगा हुआ हरा घास दिखाई देता है, वैसे ही मेरे रूप के हर एक रोम से पैदा हुई एक विश्वसृष्टि तुम देखोगे । जिस तरह घर के झरोखे से आनेवाली किरनों में असंख्य उड़ते हुए धूल के कण दिखाई देते हैं, उसी तरह मेरे इन रूपों के प्रत्येक अवयव में ब्रह्मांड के जत्थे घूमते हुए तुम देख पाओगे । मेरे हर एक अवयव में जो ब्रह्मांड भरा हुआ है, उस पर तुम नज़र डालो । और उस के परे जाकर तुम और कुछ देखना चाहते हो, ॥ १४६-५० ॥ तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है । इस मेरे शरीर में जो तुम देखना चाहते हो, वह तुम सुख से देख सकते हो, ऐसा वे विश्वरूप श्रीकृष्ण प्यार से बोले । मगर जब उन्होंने निहारा कि अर्जुन विश्वरूप देख रहा है या नहीं, तब उन्होंने देखा कि वह चुपचाप

बैठा हुआ है । वह जैसा पहले था वैसा ही इस उत्कंठा से बैठा हुआ था कि मैं अब विश्वरूप देखूँगा ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

फिर भगवान ने देखा कि विश्वरूप देखने की उसकी इच्छा कम नहीं हुई है और देख कर उसको संतोष भी नहीं हुआ है । मैंने तो इसको विश्वरूप दिखाया सही, लेकिन इसको कुछ बोध नहीं हुआ । यह सोच कर भगवान ने मज़ाक से कहा, मैंने तुमको विश्वरूप दिखाया, किंतु तुम उसे देखते ही नहीं । ॥१५१-५५॥ इस पर वह बुद्धिमान अर्जुन बोला, हे प्रभो, यह गलती किसकी है ? आपने (चकोर पंछी के बदले) बगुले को चाँदनी का अमृत पीने को दिया, किंवा दर्पण स्वच्छ पोंछ कर अंधे के सामने रख दिया, अथवा बहरे के सामने गाया, किंवा, हे शार्ङ्गधर (भौरें के बदले) मेंढ़क को मकरंद खिलाया और, अब वह व्यर्थ हुआ देख कर क्यों रूठते हो ? यह विश्वरूप इंद्रियों के लिये अगम्य है ऐसा शास्त्र कहते हैं और वह ज्ञानचक्षु से ही देखा जा सकता है । और आपने अब अपना रूप मेरे चर्मचक्षु के सामने रख दिया, तो मैं उसको कैसे देख सकूँगा ? लेकिन मैं आपकी त्रुटि बता नहीं सकता, इस लिये चुपचाप बैठना ही मुझे अच्छा लगता है । यह सुन कर श्रीकृष्ण ने कहा, यह तुम्हारी बात मुझको एकदम उचित लगी ॥१५६-६०॥ तुमको विश्वरूप दिखाने के पहले, उसे देखने के लिये सामर्थ्य देना आवश्यक था, किंतु प्यार की उमंग में उसका ध्यान नहीं रहा । ज़मीन में हल चलाने से पहले बेल बोई तो वह व्यर्थ होती है, यह भी वैसा ही हुआ । अब विश्वरूप देखने के लिये तुमको दिव्यदृष्टि देता हूँ । हे अर्जुन, फिर, उस दृष्टि से तुम मेरे ऐश्वर्ययोग का पूर्ण अनुभव करो । जो वेदों को जानने योग्य है और सब विश्व को वंदनीय है वे विश्व के आदिपुरुष श्रीकृष्ण बोले ।

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय ने कहा, हे कौरव सम्राट्, मुझे इस बात का बार बार आश्चर्य होता है ।

इस त्रिभुवन में लक्ष्मीजी से क्या कोई अधिक भाग्यशाली है ? ॥१६१-६५ ॥ इस संसार में लक्षणों से परमात्मा का वर्णन करनेवाला वेदों के सिवा दूसरा और कोई है ? किंवा सच्ची सेवकाई जिस को कह सकते हैं वह शेष की ही है न ? हे राजन्, भगवान के अनुराग से योगी के समान आठ पहर सेवा करनेवाला गरुड के सिवा क्या और कोई है ? फिर उसका कुछ असर नहीं पड़ा । जिस दिन पांडवों ने जन्म लिया, तब से श्रीकृष्ण का प्यार उनको ही प्राप्त हुआ । और उन पांच पांडवों में श्रीकृष्ण अर्जुन के अधीन हुए हैं, जैसे कामासक्त आदमी स्त्री के वश होता है । वे उसके इतने अधीन हुए है कि पढ़ाया हुआ तोता भी ऐसी बातें नहीं कर पाता किंवा खिलवाड़ करने वाला पालतू जानवर भी इतना आज्ञाकारी नहीं होता । अर्जुन को ऐसा भाग्य कैसे प्राप्त हुआ यह मैं नहीं जानता ॥१६६-७० ॥ लेकिन परब्रह्म का योगैश्वर्य अनुभव करना उसकी आँखों को प्राप्त हुआ था । देखिये, उसकी लाड़ली बातें श्रीकृष्ण कितने प्यार से झेलते हैं । अगर उसने गुस्सा किया तो भगवान शांति से सह लेते हैं और वह रूठ गया तो उसको मना लेते हैं । भगवान अर्जुन पर कैसे पागल हो गये हैं ! जिस शुकाचार्य ने जन्म से ही सब विषयों पर विजय पाई थी, वह उनकी रासक्रीडा का वर्णन करने वाला भाट बना । हे राजन्, यह आश्चर्य की बात है कि जो श्रीकृष्ण योगियों का समाधिधन है, वे पार्थ के अधीन हुए । फिर से संजय ने धृतराष्ट्र से कहा, 'इसमें आश्चर्य की बात कौनसी ? श्रीकृष्ण जिस को अपनाते हैं, उसका भाग्य ऐसा ही खुल जाता है ॥१७१-१७५ ॥ फिर वे देवाधिदेव पार्थ से बोले, " मैं अब तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ । जिससे तुम मेरा अखंड रूप देख सकोगे " । श्रीकृष्ण के मुँह से ये शब्द निकलते ही अर्जुन का अज्ञानांधकार नष्ट होने लगा । किंतु वे शब्द नहीं थे, बल्कि परब्रह्म का योगैश्वर्य दिखाने के लिये भगवान कृष्ण ने ज्ञानदीप जलाये थे । फिर उस दिव्यदृष्टि की रोशनी में अर्जुन के ज्ञानचक्षु चारों ओर फैल गये, और बाद में श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूप का ऐश्वर्य अर्जुन को दिखाया ।भगवान के अवतार जिस विश्वरूप सागर के तरंग हैं, किंवा जिस की रोशनी से यह सब जगत् मृगजल जैसा महसूस होता है, ॥१७६-१८० ॥ जिस की अनादिसिद्ध भूमिका पर चराचर के चित्र मुद्रित होते हैं, वह अपना विश्वरूप श्रीकृष्ण ने बचपन में जब मिट्टी खाई थी और डरते हुए, "मैया, मैं ने मिट्टी नहीं खाई " यह दिखाने के लिये मुँह खोला था, तब यशोदाजी

को चौदह भुवन आराम से दिखाये थे । किंवा मधुबन में ध्रुव के गाल को जब उन्होंने शंख से स्पर्श किया तब वह वेदों के लिये भी अगम्य ऐसी बातें चटपट कहने लगा। उसी तरह जब श्रीकृष्ण ने पार्थपर कृपा की, तब माया लुप्त हो गयी ॥१८१-८५ ॥ अचानक उस योगैश्वर्य की रोशनी में उसको सब अजीब सा दिखाई देने लगा और वह चकित हो गया। जिस तरह ब्रह्मलोक तक लबालब भरे हुए जल में मार्कंडेय ऋषि तैर रहा था, उसी तरह आज विश्वरूप के कुतूहल में अर्जुन मग्न हुआ था। वह कहने लगा हे भगवन्, यहाँ कितना बड़ा आसमान था, वह कहाँ गायब हो गया ? साथही जो स्थावर जंगम सृष्टि थी वह कहाँ चली गयी ? दिशाएँ कहाँ लापता हो गयीं और आकाश पाताल कहाँ गये, यह मालूम नहीं होता। जागृत होनेपर जैसे स्वप्न अदृश्य होते हैं, वैसेही यह दृश्य सृष्टि लुप्त हो गयी। अथवा जिस तरह सूरज की रोशनी में चाँद और सितारे दिखाई नहीं देते, वैसेही इस सृष्टि की रचना विश्वरूप में अदृश्य हो गई। ॥१८६-९० ॥ उस समय मनका ममत्व मिट गया, बुद्धि विवश हो गयी और इंद्रियवृत्तियाँ पीछे हटकर मन में विलीन हो गयीं। तब निश्चेष्टता और एकाग्रता की हद हो गयी, मानों सब विचारों पर मोहनास्त्र छोड़ा गया हो। फिर जब वह भौंचका होकर इधर उधर देखने लगा, तब उसने देखा कि उसके सामने जो चतुर्भुज मूर्ति थी, वह बढ़कर असंख्य रूपों से सर्वत्र फैली हुई है। जिस तरह वर्षा में बादलों की या प्रलयकाल में सूरज के प्रकाश की वृद्धि होती है, वैसेही भगवान ने अपने सिवा कुछ शेष नहीं रखा। पहले, श्रीकृष्ण का रूप देखकर अर्जुन को प्रसन्नता हुई, लेकिन झट आँखें खोलने पर विश्वरूप उसके दृष्टिपथ में आया ॥१९१-९५ ॥ इस तरह उसका जो शौक था कि विश्वरूप इन्हीं आँखों से देख लूँ, वह श्रीकृष्ण ने पूरा किया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१० ॥

तब उसने वहाँ असंख्य मुख देखे, मानों लक्ष्मीपति के महल, या लावण्य-लक्ष्मी के खुले हुए भंडार, या लहलहाते हुए आनंद के बन, या फैला हुआ सौंदर्य का साम्राज्य हो। ऐसे श्रीहरि के मनोहर मुँह उसने देखे। उनमें कुछ डरावने भी थे, मानो कालरात्रि की सेना उछल पड़ी हो, या मौत को मुँह फूट आये हों, या डरके

गढ़ रचे हुए हों, या प्रलयाग्नि के बड़े कुंडे जल रहे हों ॥१९६-२०० ॥ इस तरह अर्जुन ने वहाँ ग़जब के और डरावने मुख देखे । वैसेही उसने कुछ अपूर्व सजे हुए और सौम्य मुखभी देखे । सचमें उसके ज्ञानचक्षु को इन मुखों का अंत नहीं दिखाई देता था । फिर वह कुतूहल से उस रूप की आँखें देखने लगा । तब उसने नयनों की कतारें देखीं, जो विविध रंगों से खिले हुए कमलबन के समान थीं । और सूरज जैसी रोशनी से चमक रही थीं । काली घटाओं के गाढ़े जमघट में जैसी कल्पान्त के समय विद्युत् चमकती है, वैसेही उनके भौंहों के नीचे अग्नि के सरीखे भूरे नयन चमक रहे थे । बाद में उस अकेले विश्वरूप में इस प्रकार के हर एक चमत्कार देखकर, उसमें जो असंख्य दृश्य थे, उसका अर्जुन ने अनुभव किया ॥२०१-५ ॥ फिर उस विश्वरूप के पाँव कहाँ, मुकुट कहाँ और भुजाएँ कहाँ यह देखने की उसकी उत्कंठा बढ़ गयी । उस भाग्यवान पार्थ की इच्छाएँ कैसे असफल होतीं ? देखो, श्रीशंकर के माथे में क्या फ़िज़ूल बाण होते हैं ? किंवा ब्रह्मदेव की ज़बान से क्या असत्य शब्द निकल सकते हैं ? अर्जुन ने उस अपार रूप के आरंभ और अंत देखे । जिस रूप का सुराग़ वेदों ने भी नहीं पाया था, उसका प्रत्येक अंग अर्जुन नें अपनी आँखोंसे देखा । विविध रत्नों से बने हुए गहनों से सजे हुए विश्वरूप की महिमा उसने देखी ॥२०६-१० ॥ जो परब्रह्म अपने शरीर पर पहने हुए गहने स्वयं बना था, वे गहने किस प्रकार के थे यह मैं कैसे कह सकता हूँ ? जिसके तेज से चाँद और सूरज के मंडल प्रकाशित होने पर यह विश्व प्रकट होता है, उस दिव्य तेज का स्वरूपही इस विश्वरूप का बनाव-सिंगार होता है, यह किसकी बुद्धि जान सकती है ? फिर भगवान ने खुद गहने बनकर उनको पहना है, ऐसा अर्जुन ने देखा । फिर वह ज्ञानचक्षु से विश्वरूप के हाथ देखने लगा, तो उसको महसूस हुआ कि वे सीधे हैं और उनमें कल्पान्त की लपटों के समान शस्त्र चमक रहे हैं । स्वयंही अवयव, गहने, हाथ, हथियार, जीव और शरीर बनकर भगवान इस स्थावर जंगम विश्व में व्याप्त हैं ऐसा उसने देखा ॥२११-१५ ॥ उनकी प्रखर किरणों से सितारों के भुने हुए चने बने और उसकी रोशनी के सामने अग्नि भी चकाचौंध हो गयी और उसने समुद्र में प्रवेश किया । उस समय अर्जुन ने असंख्य शस्त्र धारण करनेवाले हाथ देखे, मानो वे कालकूट विष के उछले हुए तरंग हैं, या प्रलयकाल की विद्युल्लताओंसे बने हुए घने बन है ।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११ ॥

फिर घबराकर अर्जुनने वहाँसे दृष्टि हटाई और वह भगवान का गला और मुकुट देखने लगा । तब उसको ऐसा आभास हुआ कि कल्पवृक्ष उनसेही पैदा हुआ है । उसने देखा कि जिसमें लक्ष्मीजी, जो महासिद्धियों का अधिष्ठान है, थककर विश्राम करती है, वह अपूर्व कमल भगवान ने सिर पर धारण किया है । मुकुट पर फूलों के गुच्छ, शरीरपर फूलों के गजरे और गले में दिव्य फूलों के हार उन्होंने धारण किये हैं ॥२१६-२० ॥ जैसे स्वर्गलोक सूरज की रोशनी से घिरा हुआ हो, या मेरु पर्वत सुवर्ण से मढ़ा गया हो, वैसे उनका कमर में पहना हुआ पीतांबर चमक रहा था । जिस तरह महादेव को कपूर का उबटन लगाये, कैलास को पारद से पोते, क्षीरसमुद्र को दूधसे ढंके, या चांद की तह सुलझा कर उससे आसमान को खोल डाले, उसी तरह उन्होंने अपने बदनपर चंदन का लेप लगाया है ऐसा उसने देखा । जिस चंदन से प्रकाश का तेज बढ़ता है, ब्रह्मानंद की जलन शांत होती है और स्वभाव सेही गमकीली पृथ्वी सुगंधित होती है, जिसकी निर्दोष सौरभ के सामने अन्य सुगंध फीके पड़ते हैं, जिसको अनंग कामदेव ने अपने शरीरपर धारण किया है, उस चंदन की महती मैं कैसे वर्णन करूँ ? ॥२२१-२५ ॥ ऐसे एक एक करके उनके अनेक बनाव सिंगार की शोभा देखकर अर्जुन इतना चकाचौंध हुआ कि वह नहीं जानता था कि भगवान बैठे हैं, खड़े हैं या सोये हुए हैं । फिर वह आँखें खोलकर देखने लगा तो उसके चारों ओर विश्वरूप दिखाई दिया । फिर वह आँखें मूँदकर बैठ गया तो फिर भी उसने भीतर भी वही विश्वरूप देखा । सामने असंख्य मुख देखकर जब डरसे वह मुँह मोड़कर देखने लगा, तब वहाँ भी वैसे ही विश्वरूप के मुख, हाथ और पाँव दिखाई दिये । आँखे खोलकर देखने पर सब जगह विश्वरूप दिखाई दिया तो उसमें क्या आश्चर्य है ? लेकिन आँखें मूँद लेने पर भी उसने वही रूप देखा तो उसमें क्या आश्चर्य नहीं ? प्रभृकृपा की यह करनी कैसी है देखो कि पार्थ में देखने और न देखने की दोनों क्रियाएँ श्रीकृष्णने व्याप्त कीं ॥२२६-३० ॥ अतः जैसेही वह एक आश्चर्य की बाढ़में फँसा हुआ किनारे लग जाता तो दूसरे चमत्कार के महासागर में गिर जाता था । इस प्रकार अपना असाधारण विश्वरूप चातुर्य से दिखाकर भगवान ने अर्जुन को अपने असंख्य रूपों से लपेट लिया । वे

स्वभावतः सर्वतोमुख और विश्वव्यापक थे और ऐसे समय में अर्जुन ने विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना की थी, इसलिये सहज में भगवान विश्वरूप बन गये। उन्होंने जो अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान की थी वह सूरज या दीप की रोशनी में ही वह देख सकता था और आँखें बंद करनेपर नहीं, ऐसी बात नहीं थी। इस लिये अर्जुन आँखें खोलकर, या मूँदकर, इतनाही नहीं अंधेरे में भी वह विश्वरूप देख सकता था, ऐसा हस्तिनापुर में संजय ने धृतराष्ट्र को कहा ॥२३१-३५॥ उसने पूछा, हे राजन्, आपने यह क्या ठीक सुन लिया है ? वहाँ पार्थने जिसको चारों ओर मुख हैं और जो विविध गहनों से सजा हुआ है, उस विश्वरूप को देखा।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

इस विश्वरूप का तेज किस प्रकार का था यह मैं कैसे कहूँ ? प्रलयकाल में जैसे बारह सूरज एकत्रित होते हैं, वैसे हजारों सूरज उदय पानेपर भी उस तेज की बराबरी नहीं कर सकते। सब विद्युल्लताएँ एकत्रित करके, उनमें प्रलयकाल की अग्नि की सामग्री और महातेज का दशक भी मिलाया, तो भी उनका तेज विश्वरूप की रोशनी के सामने फीका पड़ेगा और वह निश्चित रूप से उसके समान शुद्ध नहीं होगा ॥२३६-४०॥ इस प्रकार की श्रीहरि की महिमा है। उनके विश्वरूप का तेज जो चारों ओर फैला हुआ था, उसको, हे राजन्, मैं व्यासमुनि की कृपा से देख पाया।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

उस विश्वरूप में सारी दुनिया अपने विस्तार के साथ दिखाई देती थी। जिस तरह महासागर में भिन्न भिन्न बुदबुदें, या आसमान के बादलों में गंधर्वनगर, धरती पर चींटियों की बाँबी, या पहाड़पर धूल के कण देखने में आते हैं, उसी तरह उन देवाधिदेव श्रीकृष्ण के शरीरपर अर्जुन ने पूरा सम्पूर्ण जगत् देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

उस समय जगत् और अर्जुन इन दोनों में जो द्वैत था वह मिटकर उसका मन पिघल गया ॥२४१-४५॥ उसके अंतःकरण में आनंद की लहरें उठने लगी, बाह्य

अवयव ढीले पड़ गये और पैर से सिरतक सारे रोम खड़े हो गये । वर्षा के आरंभ में जैसे पहाड़पर पानी बरसने पर घास उगती है, वैसे अर्जुन के सारे शरीरपर रोमांच हो आये । चाँद की किरनों का स्पर्श होतेही जैसे चंद्रकांत मणि पिघलने लगती है, वैसे अर्जुन के शरीर से पसीने की बूँदे गिरने लगीं । कमल की कली में भ्रमर बंद होनेपर कली जैसे हिलने लगती है, वैसेही उसका शरीर सुख की लहरों से कांप रहा था । कपूर घना होतेही केले के पेड़की छालें अपने आप खुलकर उनसे उसके कण बाहर आते हैं, वैसे अर्जुनकी आँखों से आनंदाश्रु बहने लगे ॥२४६-५० ॥ चंद्रोदय के बाद समुद्र में जैसा ज्वार आता है, वैसेही उसके अंदर सुख की लहरें आने लगीं और उसका मन उमड़ पड़ा । इसप्रकार आठों सात्त्विक भावों की आपसमें होड़ लग गयी और अर्जुन को ब्रह्मानंद का साम्राज्य प्राप्त हुआ । मगर उस ब्रह्मानंद में भी भगवान् और भक्त इन दोनों में तनिक अलगाव रहा था और अर्जुन आह भरकर चारों ओर देखने लगा । फिर भगवानके सामने सिर नवा कर और हाथ जोड़कर कहने लगा ।

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५ ॥

अर्जुनने कहा, हे प्रभो आपकी जय हो । आपने मुझ जैसे साधारण व्यक्ति पर बहुत कृपा की, जिससे मैं यह विश्वरूप देख सका । ॥२५१-५५ ॥ आपने और एक बात अच्छी की जिससे मुझे बहुत संतोष हुआ । मैंने स्पष्ट देखा कि इस सृष्टिको आपकाही सहारा है । हे भगवन् पहाड़ की चोटीपर जैसे जंगली जानवरों के बन होते हैं, वैसेही आपके शरीरपर अनगिनत भुवन दिखाई देते हैं । हे भगवन् जिस तरह आसमान की पोल में ग्रहों के समुदाय या बड़े पेड़ पर पंछियों के घोंसले होते हैं, उसी तरह आपके विश्वरूप के शरीरपर देवताओंके साथ स्वर्गलोक दिखाई देते हैं । हे प्रभो, मैं आपके शरीर में पांच महाभूत और उनसे पैदा हुए भूतसृष्टि के प्राणी भी देख रहा हूँ ॥२५६-६० ॥ साथही आपके शरीर में सत्यलोक भी है और क्या यह वहाँ का ब्रह्मदेव नहीं ? दूसरी तरफ कैलास दिखाई दे रहा है । पार्वती के साथ श्रीमहादेव भी आप के शरीरके एक हिस्से में देखनेमें आते हैं । हे श्रीकृष्ण, इतनाही

नहीं अपितु इस शरीरमें मैं आपको भी देख रहा हूँ। कश्यप और सब ऋषियों के कुल और नागों के साथ पाताल भी आपके विश्वरूप में हैं। ज्यादा क्या कहूँ ? ऐसा लगता है कि हे जगन्नाथ आपके प्रत्येक अवयवरूपी दीवार पर चौदह भुवन चित्रित हुए हैं। और उन भुवनों में जो असंख्य लोग हैं वे भी उन चित्रों में नज़र आ रहे हैं। इस प्रकार का आपका असाधारण रूप मैं देख रहा हूँ ॥२६१-६५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६ ॥

हे जगत् के स्वामी, मैं आपको अनेक बड़ी बड़ी भुजाओं, बड़े बड़े पेटों, बड़े बड़े मुखों और बड़ी बड़ी आँखों से युक्त देखता हूँ। मैं चारों ओर अनन्तरूपवाले आपकोही देखता हूँ । हे विश्वरूप, इस रूपमें न कोई आपका आदि, न मध्य और न कोई अंत है।

इस दिव्य दृष्टि की सहायता से जब मैं चारों ओर देखता हूँ, तो आसमान के कल्ले के समान आपके बाहु नज़र आते हैं। तब ऐसा दिखाई देता है कि एकही समय आप के हाथ सब व्यवहार कर रहे हैं। फिर जैसे परब्रह्म में ब्रह्मांड के भंडार पैदा होते हैं, वैसेही आपकी काया में असंख्य पेट देखने में आते हैं। आपकी काया में हजारों सिर हैं, मानो यह ब्रह्मवृक्ष फलों से लदा हुआ है। साथही आपके विश्वरूप में असंख्य मुख और अनगिनत आँखों की लड़ियां मैं देख रहा हूँ। ॥२६६-७० ॥ इतनाही नहीं बल्कि स्वर्ग, पाताल, धरती, दिशाएँ और अंतरिक्ष ये सब भेद लुप्त होकर आपके शरीरपर सारी दुनिया दिखाई दे रही है। आपका अस्तित्व जिसमें नहीं ऐसा तनिकसा स्थल भी देखने में नहीं आता, इतना यह सब आपसे भरा हुआ है। इस दुनिया में जो विविध प्रकार के प्राणी हैं, वे सब आप से व्याप्त हैं ऐसा मैं देखता हूँ। वैसे आप कहाँसे आये, आप यहाँ बैठे हैं या खड़े हैं, आप किस माता के पेट में थे, आपका स्थल, रूप और उम्र क्या है, आपके परे क्या है, आपको आधार किस का है, यह सब मैं देखने लगा, ॥२७१-७५ ॥ तो मैं जान गया कि आपको अपनाही सहारा है, आपकी उत्पत्ति और किसीसे नहीं हुई है, और आप अनादि स्वयंसिद्ध है। आप लम्बेभी नहीं, नाटेभी नहीं, और आपके ऊपर और नीचे आपही हैं। आपका रूप और आयु किसके समान है ऐसा यदि कोई पूछे, तो वे आपकेही

सरीखे हैं। ज्यादा क्या कहूँ, मैं जो कुछ देखता हूँ वह सब आपही हैं। परंतु आपके विश्वरूप में मुझको एक त्रुटि महसूस होती है; वह यह कि आपके आदि, मध्य और अन्त नहीं है ॥२७६-८० ॥ मैंने इनकी चारों ओर तलाश की, मगर कुछ पता नहीं लगा। इस लिये ये तीन आपके रूपमें नहीं हैं, यह निःसंदेह है। हे अपरिमित जगदीश, जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, उस आपके विश्वरूप को मैंने देखा। आपके विश्वरूप में असंख्य मूर्तियाँ अंकित हुई हैं, उससे आपने तीन रंगोंवाला अंगरखा पहना है ऐसा आभास होता है। पहाड़ों में फलफूलों से लदे हुए पेड़ और बेल जैसे मनोहर दिखाई देते हैं, वैसेही आपके विश्वरूप में जो अनेक ढंग की मूर्तियाँ हैं वे गहनों से सुंदर दिखाई देती हैं। हे देवाधिदेव, आप महासागर हैं और आपपर मूर्तिरूपी तरंगें उठती हैं। अथवा आप एक सुहावना वृक्ष होकर आप मूर्तिरूपी फलों से लदे हुए दिखाई देते हैं ॥२८१-८५ ॥ जैसे पृथ्वी प्राणियों से भरी हुई है या आसमान सितारों से व्याप्त है, वैसेही आपका विश्वरूप मूर्तियों से भरा हुआ है। जिस एक एक मूर्ति से त्रिभुवन पैदा होता है और लोप पाता है, उतनी मूर्तियाँ आपके शरीरपर रोमांच जैसे हैं। फिर जिन्होंने इस दुनिया का विस्तार रचा है, ऐसे आप कौन हैं और किसके हैं यह जब मैं सोचता हूँ तब मुझे मालूम होता है कि आप मेरे सारथी हैं। हे मुकुंद, आप सर्वव्यापक होनेपरभी भक्तोंपर कृपा करने के लिये आपने यह सुंदर चतुर्भुज रूप धारण किया है। आपका वह साँवला रूप देखकर मन और नयन तृप्त होते हैं और मैं चाहूँ तो दोनों हाथोंसे आपको आलिंगन दे सकता हूँ ॥२८६-९० ॥ हे विश्वमूर्ते, ऐसा यह मनोहर रूप आपने भक्तोंपर कृपा करने के लिये धारण किया था, मगर हम उसको साधारण समझते थे। अब आपसे दिव्य चक्षु पानेपर यह दृष्टि का दोष मिट गया है और आपकी सही महिमा मालूम हुई है। लेकिन आप रथ के मकराकृति जुए के पीछे बैठे थे, इससे मैंने सही पहचाना कि आपनेही यह विश्वरूप धारण किया है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७ ॥

हे श्रीहरि, आपके सिर पर जो मुकुट है, क्या यह वही नहीं है ? लेकिन उसकी आजकी प्रभा और आकृति अनूठी है। और ऊपर के हाथ में जो घूमनेवाला चक्र

है, सो भी क्या वही नहीं है ? क्योंकि आपने उसको सँभाला है यह चिन्ह मौजूद है ॥२९१-९५ ॥ दूसरे हाथ में जो गदा है, सोभी क्या वही नहीं है ? क्योंकि, हे गोविंद, आपके नीचे के दो हाथ खाली हैं और वे घोडों की बागडोर सँभालने के लिये आगे बढ़ रहे हैं। हे जगदीश, मेरी इच्छा पूरी करने के लिये आप विश्वरूप बने यह मैं जानता हूँ। मगर यह क्या चमत्कार है ? यह आपका रूप देखकर चकित होनेकी भी मेरी योग्यता नहीं है। यह चमत्कार देखकर मेरा मन सन्नाटे में आ गया। आपका यह रूप यहाँ है या नहीं ऐसा सोचने को भी मेरे पास समय नहीं है। आपके इस रूप की प्रभा इतनी अनूठी है कि वह सब जगह लबालब भरी हुई दिखती है। वह प्रभा इतनी अद्भुत और प्रचंड है कि वह अग्नि को भी झुलसा सकती है और उसके सामने सूरज भी जुगनू के समान फीका दिखाई देता है ॥२९६-३०० ॥ ऐसा आभास होता है कि गोया सृष्टि महातेज के महासागर में डूब गयी हो, या कल्पान्त के समय विद्युल्लताओं से सब आसमान ढका हुआ हो, प्रलयाग्नि की ज्वालाओं से अंतरिक्ष में एक उंचा मकान बांधा हुआ हो। ऐसा वह आपका तेज मेरी दिव्य दृष्टि भी नहीं देख सकती, इतना वह अधिकाधिक प्रखर और दाहक हो रहा है। उसको देखकर मेरी दिव्य दृष्टि को भी कष्ट हो रहा है। हे भगवन् मुझे ऐसा लगता है कि श्री महादेव के तीसरे नेत्र की पलक खुल गयी है और उसमें छिपी हुई प्रलयाग्नि बाहर आयी है। वैसेही आपके विश्वरूप के धधकती हुई पंचाग्नि की लपेट में फँसकर ब्रह्मांड के कोयले बन रहे हैं ॥३०१-०५ ॥ ऐसा यह आप का अद्भुत तेजोमय रूप इस जन्म में मैंने देखा है। इस रूपके व्यापक तेज का अंत नहीं।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८ ॥

हे देवाधिदेव, जिनका स्थान वेद खोजते हैं वे आप अक्षर परब्रह्म हैं और साढ़े तीन मात्रावाले ओंकार के परे हैं। आप सब आकारों का आरंभ, और विश्व का लयस्थान होकर अक्षय, अगाध और अविनाशी हैं। आप धर्म का जीवन और अनादिसिद्ध होते हुए भी नित्य नये हैं और इस दुनिया के स्वामी होकर छत्तीस तत्त्वों के परे सैंतिसवाँ तत्त्व हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

आपका न तो आदि है न मध्य न अन्त और आपका सामर्थ्य अपार है। आपके चारों ओर हाथ और पैर हैं ॥३०६-१०॥ चंद्रमा और सूर्य आपके नेत्र हैं और वे क्रोध और कृपा की लीलाएँ दिखाते हैं। आप तमोरूप दृष्टि से किसी को दंड देते हैं और कृपादृष्टि से दूसरों का पालन करते हैं। हे भगवन् सचमें मैं आपका इस प्रकार का विश्वरूप देख रहा हूँ। प्रलयाग्नि जल ज़ानेपर जैसी उसकी ज्वाला धधक उठती है, वैसा आपका मुँह है। पहाड़ों पर दावानल लगने पर जैसे उनमें के पदार्थ जलकर उछलते हैं, वैसी आपके दाँत और डाढ़े चाटने से आपकी जिव्हा रेंगती है। आपके मुँह की गरमी से और आपके रूप के तेज से यह सब विश्व जलकर परेशान हो रहा है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

और मैं यह भी देख रहा हूँ कि स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी, अंतरिक्ष, दिशाएँ और क्षितिज, ॥३११-१५॥ ये सब अकेले आपसे व्याप्त हो गये हैं। मानो आपके इस भयानक रूप में आसमान के साथ सब विश्व डूब रहा हो, अथवा आपके विश्वरूप के अद्भुत रसों की लहरों में चौदह भुवन फँसे हुए हों। ऐसा आपका आश्चर्यजनक रूप मैं कैसे जान सकता हूँ ? मैं इस आपके भव्य और व्यापक रूप की कल्पना भी नहीं कर सकता और आपका उग्र तेज भी बरदाश्त नहीं कर सकता। इस विश्वरूप के दर्शन से सुख की प्राप्ति तो दूर रही, मगर जीना भी मुश्किल हो गया है। हे भगवन् आपका यह अद्भुत रूप देखकर भय की कैसी हद हो चुकी है यह मालूम नहीं होता, परंतु इस भय से जो पीड़ा हो रही है उसकी लहरों में त्रिभुवन डूब रहा है। वास्तव में आप परमात्मा हैं, तो आपके दर्शन से डर और पीड़ा क्यों होनी चाहिये ? मगर आप के विश्वरूप से सुख नहीं होगा ऐसे मुझे जँचता है ॥३१६-२०॥ जब तक आप का रूप मैंने नहीं देखा था, तब तक संसारसुख बढ़िया लगता था। मगर आप का यह रूप देखनेपर विषयसुख से घृणा हो गई है और डर भी लगता है। अगर मैं आपको गले लगाना चाहूँ तो यह कैसे संभव

है ? और मैं ऐसा नहीं कर सकूँ, तो इस विपत्ति में मेरा बचाव कैसे होगा ? यहाँ से पीछे मुड़ने लगूँ तो यह अनिवार्य संसार आड़े आता है। और आगे चलूँ तो आपके अमर्याद रूप को छाती से नहीं लगा सकता हूँ। इस प्रकार इन दो संकटों में फँस कर बेचारे त्रैलोक्य का होला हो रहा है। इसलिये विश्वरूप देखने का मेरा शौक अच्छी तरह पूरा हो चुका है। जैसे अग्नि की ज्वाला में झुलस कर कोई आदमी समुद्र के पास दौड़े, और समुद्र की लहरें देखकर सहम जाये, ॥३२१-२५॥ वैसेही आपका रूप देखकर सारी दुनिया व्याकुल हो रही है।

अमी हि त्वा सुङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अब उस तरफ देवताओं के समूह हैं, उनको देखिये। कई आपके तेज से अपने कर्मों के बीज जलाकर सद्भाव से आपके रूप में विलीन हो रहे हैं। मगर दूसरे कोई डरकर आपके सामने हाथ जोड़ कर इस तरह प्रार्थना कर रहे हैं। "हे भगवन् अज्ञानसुमद्र में गिर कर हम विषयों के जाल में उलझे हुए हैं और स्वर्गसुख और संसार इन दोनोंके चंगुल में फँस गये हैं। ऐसे संकट से आपके बिना हमें कौन मुक्त करेगा ? इसलिये, हे भगवन्, हम तनमन से आपके शरण में आये हैं" ॥३२६-३०॥ और यहाँ कश्यप आदि महर्षि, कपिल आदि सिद्ध पुरुष और विद्याधरों का समुदाय 'स्वस्ति' कह कर आपकी स्तुति कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

ये ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु और साध्य नामक देव, अश्विनीकुमर, और मरुद्गण, ये सब अपने विभव के साथ तथा पितृ, गंधर्व, असुर, इंद्र आदि देव और सब सिद्ध अपने अपने लोकों के सहित बड़ी उत्कंठा से आपका यह दिव्य रूप निहार रहे हैं। और आपको देखकर हर पल में विस्मित होकर अपने सिर नवाते हैं ॥३३१-३५॥ उनके मधुर जयघोष से स्वर्ग गूँज रहा है और मस्तक पर हाथ जोड़कर वे आपको प्रणाम कर रहे हैं। अब उनके विनयरूपी वृक्षों के उद्यान में सात्त्विकभावरूपी बसंत ऋतु आई है और उनको करसंपुटरूपी कोपलें निकलने से आपके रूपके द्वारा उनको फलप्राप्ति हुई है।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३ ॥

इस तरह उनके नेत्रों का भाग्य खुल गया है और आपका यह अगाध विश्वरूप देखकर उनके सुख का मंगल दिन उदित हुआ है । आपके रूप ने जो त्रिभुवन को व्याप्त किया है, उसको देखकर देवताओं को भी डर लग रहा है । क्योंकि उस रूपको कहींसेभी देखें, तो वह सामनेही दिखाई देता है । वह रूप एकही है, किंतु उसके विचित्र और भयानक मुख, नेत्र और असंख्य हथियारबंद हाथ है ॥३३६-४० ॥ इस रूपको असंख्य बाहें, पैर, पेट और विविध वर्ण हैं और प्रत्येक मुख जोश से मतवाला दिखाई देता है । मानों महाप्रलय के अंत में कोपयुक्त यम ने चारों ओर होलियाँ जला दी हैं । अथवा श्रीशंकर के संहारक शस्त्र, या प्रलय करनेवाले भैरवों का समूह, या युगान्त करनेवाले आदिशक्ति के अनुचर भूतों का नाश करने आगे बढ़ रहे हैं । वैसेही आपके जो प्रचंड मुख हैं उनमें आपके भयंकर दाँत घाटी में जैसे सिंह, समाये नहीं जाते हैं । कालरात्रि के अंधकार में जैसे संहारक पिशाच उन्माद से बाहर निकलते हैं, वैसेही संहार के रक्त से लथपथ हुई आपकी दाढ़े देखने में आती हैं ॥३४१-४५ ॥ ज्यादा क्या कहूँ ? मानों महाकाल ने जैसे युद्ध के लिये बुलावा भेजा हो या सबके संहारकाल में प्राणियों की मौत आ पड़ी हो, वैसेही आपके मुँह भयानक और उग्र दिखाई दे रहे हैं । गरीब बेचारी यह जीवसृष्टि ! उसपर दृष्टि डालोगे तो वह यमुनाजी के तटपर (कालिया नागके विषसे सूखे हुए) पेड़ के समान दुःख से सूखी हुई दिखाई देती हैं । आपके इस महामृत्युरूपी समुद्र में त्रिभुवन के जीवन की नौका शोक के तूफान में हिलोरे ले रही है । इसपर, हे भगवन् आप शायद क्रुद्ध होकर कहेंगे कि अन्य लोगों से मेरा क्या लेना देना है ? तुम इस विश्वरूप का मनमें ध्यान करो और परमसुख का अनुभव करो । परंतु, हे भगवन्, मैंने जो लोगों के बारेमें कहा था, वह सिर्फ छिपाव था, सच कहूँ तो मेरा ही कलेजा काँप रहा है ॥३४६-५० ॥ जिसके सामने प्रलयकाल का रुद्र भी दबता है और मृत्यु भी मुझसे डरकर छिप जाती है, वह मैं यहाँ अंतर्बाह्य सिहर रहा हूँ । आपने मेरी ऐसी हालत कर दी है । जिसके भयंकर तेजके सामने डर भी हार मानता है, उसको विश्वरूप कहना यह कितनी आश्चर्य की बात है ? यह विश्वरूप नहीं, महामारी है ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४ ॥

आपके कई मुख महाकाल को चुनौती देकर लड़ रहे हैं और उनकी वृद्धि की तुलना में आसमान नाटा दिख रहा है । हे भगवन्, वे आकाश के विस्तार से भी कसे नहीं जा सकते और त्रैलोक्य की आंधी भी उनको घेर नहीं सकती । उलटे उनकी गरम साँसें अग्नि को जलाकर सब जगह धधक रही हैं । वैसेही आपके मुख एक जैसे न होकर रंगरूप से भिन्न हैं । मानो प्रलयकाल की अग्नि संहार करने में इनकी सहायता ले रही हो ॥३५१-५५ ॥ इसका निजी तेज इतना प्रखर है कि उससे त्रैलोक्य की राख हो रही है । उस तेजको भी मुख हैं और उन मुखों में दाँत और डाढ़ें हैं । मानों वायु को धनुर्वात हो गया हो, या समुद्र तेज की बाढ़ में फँसा हुआ हो, या वडवाग्नि की सहायता लेकर विषाग्नि संहार करने को प्रवृत्त हुई हो, या अग्नि ने कालकूट ज़हर को पी लिया हो, या मृत्युही संहार करने पर उतारू हुई हो, वैसेही इस विश्व के सर्वसंहारक तेज से मुख निकले हुए हैं । और ये मुख भी इतने बड़े हैं कि आसमान बीच में टूटकर उसमें बड़ा गड्ढा पड़ गया है, या पृथ्वी को बगल में दबाकर पाताल में गये हिरण्याक्ष दैत्य के लिये महादेवने गुहा खोल दी है, ऐसा प्रतीत होता है ॥३५६-६० ॥ इसतरह आपके मुख खुले हुए हैं और उनमें आपकी जिव्हाएँ लपलपा रही हैं । यह विश्व उनके एक कौर के लिये पर्याप्त नहीं होगा यह जानकर वे जिव्हाएँ कुतूहल से भी इस विश्व को नहीं चखतीं । पाताल में जैसे साँपों की फुफकारों से ज़हर की लपटें आसमान को छू जायें, वैसे आपकी जिव्हाएँ आपके मुखरूपी घाटियों में फैली हुई हैं । जिस तरह प्रलय काल के विद्युत् के समूह इकट्ठा होकर आसमान के किले सजायें, उस तरह ओठों की दोनों तरफ दाढ़ों की प्रखर नोकें नजर आती हैं । और माथे के गढ़े में जो आँखें हैं वे भय को डराती हैं, मानो महामृत्यु की लहरें अंधेरे में छिप कर बैठी हों । इस प्रकार भय का स्वाँग रचाने में आपका मतलब क्या है यह मेरी समझ में नहीं आता । परंतु मुझको अब मौत का डर हो रहा है ॥३६१-६५ ॥ आपका विश्वरूप देखने का मुझे शौक हुआ था । वह अब अच्छी तरह पूरा हो गया । आपका यह रूप देखकर मेरे नयन शांत हो गये हैं । हे भगवन् अगर यह पार्थिव शरीर नष्ट हुआ तो उसकी कौन चिंता करेगा ? परंतु अब मेरा चैतन्य बचा रहेगा या नहीं इसका मुझे संदेह हो रहा है ।

डर से मेरा शरीर काँप रहा है, मुझे कुछ कुछ मानसिक पीड़ा भी हो रही है, मेरा जी घबराया हुआ है और मैं अभिमान खो बैठा हूँ। इतना ही नहीं मेरी जो आनंदमय आत्मा है वह भी काँप रही है। हे भगवन्, मैंने विश्वरूप के दर्शन की अवश्य इच्छा की थी, लेकिन उसके दर्शन से मेरा रहा सहा ज्ञानभी नष्ट हो गया। अब हम दोनों में जो गुरु-शिष्य का रिश्ता है वह कैसे बचेगा कौन जाने ॥३६६-७० ॥ हे भगवन् आपके विश्वरूप के दर्शन से मुझे जो परेशानी हुई है उसको मिटाने के लिये मैंने धीरज बांध रखा है। प्रारंभ से ही मैं धैर्य खो बैठा था और फिर मैंने आपका यह विश्वरूप आँखों से देखा। आपके उपदेश से मैं बहुत असमंजस में पड़ा हुआ हूँ। मेरा जी विश्राम के लिये छटपटा रहा है, मगर उस बेचारे को कहीं भी सहारा नहीं मिलता। अब आपके विश्वरूप की महामारी से यह स्थावर जंगम विश्व खतरे में पड़ा है। फिर मैं यह न कहूँ तो जीवित कैसे रहूँगा ?

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५ ॥

आपके ये प्रचंड मुख मेरी आँखों के सामने फैल गये हैं, मानो महाभय का मटका फूट गया हो ॥३७१-७५ ॥ और उनमें दाँत और डाढ़ों की इतनी गिचपिच हो गयी हैं कि वे ओटों से ढंक नहीं पाते। उससे यह महसूस होता है कि प्रलय काल के शस्त्रों का घना घेरा बना हुआ है। जिस तरह तक्षक नाग का मुँह जहर से भर गया हो, या अमावस्या की अंधियारी रात्रि में भूतों का संचार हुआ हो, या प्रलयाग्नि आग्नेयास्त्र को चमका रही हो, उसी तरह आपके ये मुख प्रचंड हैं और उनमेंसे जोश छलक रहा है। इससे मुझको लगता है कि मृत्युरूपी जल के प्रवाह बह रहे हैं।यदि महाप्रलयकी आंधीसे अग्नि मिल गयी हो तो क्या नहीं जलेगा ? सो आप के संहारक मुख देखकर मैं हिम्मत हार गया हूँ, मुझे भ्रम होकर दिशाएँ सूझ नहीं रही हैं और मैं अपने आपको भूल गया हूँ ॥३७६-८० ॥ आपका विश्वरूप जरासा आँखों से देखा तो सुख का अकाल पड़ा इस लिये, आपके इस मोटेताजे रूप को समेट लीजिये। अगर मुझे मालूम होता कि आप ऐसा कुछ करेंगे, तो क्या मैं इसके बारे में आपसे कुछ कहता ? अब इस विश्वरूप के प्रलय से एक दफ़ा हमारे प्राणों की रक्षा कीजिये। हे अनंत, अगर सचमुच आप हमारे मालिक हैं, तो

हमारे प्राणों की ओट में कुछ लाकर इस महामारी को रोक लीजिये । हे देवाधिदेव, सुनिये । आप भूल गये हैं कि आप इस समस्त विश्वके चैतन्य और आश्रयस्थान हैं और अब आप उसका संहार करने पर तुले हुए हैं । इसलिये, हे देवराज, अब शीघ्रही प्रसन्न हो जाइये और अपनी माया को समेटकर मुझे इस महाभय से मुक्त कीजिये ॥३८१-८५ ॥ इतनी बार मैं आपके सामने गिड़गिड़ा रहा हूँ, क्योंकि इस विश्वरूप को देखकर मेरे होश उड़ गये हैं । जब दानवों ने अमरावती को घेर लिया था, तब मैंने अकेले उनको परास्त करके देवताओं का बचाव किया था । मैं साक्षात् यमधर्म से भी नहीं डरता । लेकिन, हे भगवन् आपका यह विश्वरूप ऐसी वैसी बात नहीं है । क्योंकि आपने मृत्यु पर भी मात की है, और मुझे ऐसा लगता है कि विश्व के साथ हमारा घूँट पीने का आपका इरादा है । देखिये, यह प्रलयकाल का समय नहीं है, और आप बीच मेंही कालरूपमें टपक पड़े हैं । इसलिये यह बेचारा त्रैलोक्य अल्पायु हो गया । हाय, हाय ! भाग्य का फेरा कैसा विपरीत है । मैंने शांति पानेके लिये विश्वरूप का दर्शन माँगा था और यह बला आ पड़ी । हाय ! यह दुनिया अब आरपार डूब जायेगी, जो आप उसको निगल रहे हैं ॥३८६-९० ॥ क्यों जी, आप अपने अनेक मुख फैलाकर चारों ओरसे इन सेनाओं का अंत नहीं कर रहे हैं ?

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६ ॥

अब ये कौरव वंशके वीर और अंधे धृतराष्ट्र के पुत्र अपने परिवार के साथ आपके मुख में घुस रह हैं । और जो देशविदेश के नरेश उनकी सहायता करने यहाँ आये थे, उनका संदेसा ले जाने के लिये भी कोई नहीं बचा । आप उन सब को चबा रहे हैं । आप मदोन्मत्त हाथियों के झुंड गपागप खा रहे हैं और रणक्षेत्र में सज्जित सेना को निगल रहे हैं । यंत्रों से मारनेवालों के और पैदल सेना के झुंड आपके मुँह में घुस रहे हैं ॥३९१-९५ ॥ यम के सदृश शस्त्र, जिनमें एक भी सारे विश्व का संहार करनेके लिये पर्याप्त है, उन करोड़ों को आप हड़प रहे हैं । और चतुरंग सेनाएँ और घोड़ों से जुड़े हुए रथ इन सबको दाँत न लगा कर आप निगल रहे हैं । हे भगवन् इससे आपको संतोष कैसे होता है ? भीष्म के समान सत्यवादी और शूर दूसरा

कौन है ? परंतु आप उसको और द्विज द्रोणाचार्य को भी खा गये । हाय, सूर्यपुत्र महावीर कर्ण भी आप के मुख में चला गया और हमारे पक्ष के सब योद्धा तिनके के समान उड़ा दिये गये हैं । हे ब्रह्मदेव, इस भगवान् की कृपा से कैसी ये विपरीत घटनाएँ हो रही हैं ? विश्वरूप के दर्शन के लिये भगवान् से प्रार्थना करके मैं इस दुनिया के नाश का निमित्त हुआ हूँ ॥३९६-४०० ॥ पहले थोड़े बहुत प्रकारों से भगवान् आपने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया था । लेकिन वैसा सर्वव्यापक परमात्मा मुझको दिखाई नहीं दिया था, इस लिये मैंने विश्वरूप दिखाने के लिये प्रार्थना की । मगर जो भोगना है, वह कभी टल नहीं सकता और जो होनहार है उसके सदृश ही बुद्धि होती है ।मेरे सिर पर अभियोग लगना था यह कैसे टलेगा ? पुराने जमाने में समुद्र के मंथनसे अमृत प्राप्त हुआ, परंतु देवता चुप नहीं रहे और अंतमें उससे कालकूट ज़हर पैदा हुआ । फिरभी वह एक प्रकार इससे कम था, उसका प्रतिकार करना संभव था और उस विपत्ति को श्रीशंकर ने दूर किया । परंतु अब का जो तरीक़ा है, वह अलग है । यह सुलगा हुआ समीर है, उसको नियंत्रण में कौन ला सकता है ? ज़हरसे भरा हुआ आसमान कौन पी सकता है ? और महाकाल से लड़ने का बल किसमें है ? ॥४०१-४०५ ॥ (ज्ञानदेव कहते हैं) इस तरह दुःख से परेशान होकर अर्जुन व्याकुल हो रहा था । उस समय भगवान् का इरादा उसकी समझमें नहीं आया था । क्योंकि मैं मारनेवाला और कौरव मेरे हाथों मरनेवाले हैं इस महामोहसे वह व्याप्त था । उसकी ग़लतफहमी दूर करनेके लिये श्रीकृष्णने अपना विश्वरूप दिखाया । कोई किसी को नहीं मार डालता, यहाँ संहार करनेवाला मैंही हूँ, यह विश्वरूप के बहाने उन्होंने सूचित किया । परंतु यह बात अर्जुन नहीं जानता था, इसलिये वह यूंही बेचैन होकर डर रहा था ।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७ ॥

इस अवसर पर अर्जुन बोला, "देखिये, जैसे बादल आसमान में ग़ायब होते हैं, वैसे ही तलवार और कवच के साथ साथ दोनों सेनाएँ एकही समय आपके मुँह में जा रही हैं ॥४०६-१० ॥ जैसे यमराज क्रोध में एक्कीस स्वर्गो को पाताल के साथ निगल लेता है, अथवा भाग्य उलट जानेपर कंजूस की धनदौलत नष्ट होती है, वैसे ही यहाँ जमा हुई सेनाएँ आपके मुँह में यकायक प्रवेश कर रही हैं और उसके

चँगुल से कोई भी बाहर नहीं आ सकता । जैसे ऊँट अशोकवृक्ष की डालें चबा जाते हैं, वैसे आपके मुँह इन लोगोंको निगल रहे हैं ।आपकी डाढ़ों के बीच उनके मस्तक मुकुट के साथ चले जाकर चूर चूर हो रहे हैं ऐसा मैं देख रहा हूँ ॥४१०-१५ ॥ उन मुकुटों में जो रत्न हैं वे दाँतों की दरार में चूर्ण होकर आपकी जिव्हा के तले चिपके हुए हैं और कुछ डाढोंकी नोक भी उस चूर्ण से सने हुए हैं । इस विश्वरूप महाकाल से यद्यपि लोगों के शरीर और बल ग्रस्त हो गये हैं, तथापि उनके शरीर के कंकाल अवश्य कायम हैं । उसी तरह उनके सिर, जो शरीर के उत्तम अवयव हैं, वे महाकाल के मुँह में चले जानेपर भी जैसे के वैसेही रहे हैं । अर्जुन ने पूछा, यह बात क्या है ? जन्मे हुए प्राणी को क्या दूसरा चाराही नहीं है ? यह सारी सृष्टि विश्वरूप के मुख चली जा रही है और आप परमात्मा जहाँ खड़े हैं वहीं उसको सहज निगल रहे हैं ॥४१६-२० ॥ ब्रह्मदेवके साथ सब देवता उस विश्वरूप के सबसे बड़े मुख में तेजी से जा रहे हैं, तो अन्य लोग इस ओर के मुख में घुस रहे हैं । और कई मुख प्राणियों का जन्म होतेही उनको हड़प रहे हैं । इस विश्वरूप के चँगुल से कोई भी छुटकारा नहीं पा रहा है ।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगा: समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८ ॥

जैसे महानदियोंके प्रवाह समुद्र की ओर मुड़ जाते हैं, वैसे ही यह विश्व चारों ओरसे आपके मुंखों में प्रवेश कर रहा है । और सब प्राणिजात आयु की राहसे रात और दिनरूपी सीढ़ियों से उतरकर आपके मुखों में संयोग से जा रहे हैं ।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगा: ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगा: ॥२९ ॥

धधकते हुए पहाड़ की घाटी में जैसे पतिंगे कूदते हैं, वैसे ये सब लोग आपके मुखों में चले जा रहे हैं ॥४२१-२५ ॥ किंतु गरम लोहा जिस तरह जल सोख लेता है, उस तरह जो लोग आपके मुखों में जाते हैं, उनका नामोनिशान भी नहीं रहता ।

लेलिह्यसे ग्रसमान: संमताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भि: ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्रा: प्रतपन्ति विष्णो ॥३० ॥

इस प्रकार सब विश्व को निगल जानेपर भी आपकी भूख कम नहीं हुई है ।

आपकी जठराग्नि इतनी कैसे बढ़ गयी ? जिस तरह बुखार हटने पर रोगी या अकाल समाप्त होने पर भिखारी बड़ा भूखा होता है, होंठ चाटते समय आपकी ज़बान उसी तरह लपलपाती हैं। वैसे खानेकी जितनी चीजें हैं, उनमेंसे एक भी आपके मुखसे बची नहीं हैं। यह आप की क्षुधा की अपूर्वता है। समुद्र का घूँट लेना, पहाड़ का कौर करना, या यह संपूर्ण विश्व डाढ़ों में चबाना, ॥४२६-३०॥ सब दिशायें निंगल जाना, या सितारों को चाटकर हड़प लेना, ऐसे आप स्वभावत: पेटू हैं। जैसे विषयभोग से काम बढ़ जाता है, या इंधनसे ज्वाला भड़कती है, उसीतरह आप सबको निगलते हुए भी आपके मुख तृप्त नहीं हुए हैं । यह आपका एक मुँह कितना फैला हुआ है ? जैसे कि वडवाग्नि में कवीठ फेका गया है, वैसे यह त्रिभुवन आपके जिव्हाग्र पर टिका हुआ है। और फिर आपके अनगिनत मुख हैं। तो इतने मुखेंाके लिये कहाँसे अन्य त्रिभुवन लायें ? बिना उनके खाने पीने का प्रबंध किये आपने इतने मुख क्यौं बढ़ाये ? यह ब्रेचारी दुनिया आपके मुख से निकली हुई ज्वालाओं से घिरी हुई है। जैसे दावानल में हिरन फँस जाता है, ॥४३१-३५॥ वैसी इस जगत् की हालत हो गयी है। आप भगवान् नहीं बल्कि हम सभी का कर्मभोग हैं। अथवा जगद्रूप जलचरों के लिये महाकाल का फैला हुआ जाल है। अब इस विश्वरूप के तेज के पाश से ये स्थावर जंगम पदार्थ कैसे बाहर निकलेंगे ? ये मुख न होकर धधकती हुई आगकी खाई हैं। अपनी दाहकता से दूसरे लोग कैसे झुलस जाते हैं यह अग्नि नहीं जानती, लेकिन वह जिसको लगती है, वह जीवित नहीं रहता। जैसे तलवार की पैनी धार से दूसरों की हत्या होती है यह तलवार नहीं जानती, ज़हर अपना प्राणांतक स्वरूप महसूस नहीं करता, वैसेही आपको अपनी उग्रता का ध्यान नहीं रहता। परंतु आपके इस तरफ के मुख की खाई में सारी दुनिया नष्ट हो रही है। ॥४३६-४०॥ हे भगवन् आप तो अकेले विश्वव्यापक ब्रह्म हैं, फिर आप महाकाल कैसे हुए ? अब मैं जीने की आशा भी खो बैठा हूँ। आप अपना इरादा क्या है यह स्पष्ट रूपसे कह दीजिये। मेरा लिहाज़ मत कीजिये। आप अपना यह उग्र रूप कितना बढ़ाना चाहते हैं ? हे देवाधिदेव, आप भगवान् है इसका ख़याल रखिये, कमसे कम मुझ पर तो दया कीजिये।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे भगवन, जो आप वेदों से जानने और सब विश्व को पूजने को योग्य हैं और त्रैलोक्य का मूल कारण हैं, मेरी यह प्रार्थना सुन लीजिए । ऐसा कह कर अर्जुन ने भगवान् के चरणों में सिर नवाया और कहा, "हे देवाधिददेव, ध्यान दीजिये । ॥४४१-४५ ॥ मैंने संतोष पाने के लिये आप से प्रार्थना की थी कि मुझ को आपका विश्वरूप दिखाइये, मगर आप अचानक त्रिभुवन का ग्रास लेने पर उतारू हुए, आप कौन हैं ? इतने भयंकर रूप आपने कहाँ से पाये और इन सब हाथों में इतने शस्त्र क्यौं लिये हैं ? वैसे ही बार बार क्रुद्ध हो कर, आसमान से ज्यादा बढ़ कर, और आँखें तरेरकर हम को क्यों डरा रहे हैं ? हे भगवन्, क्या आप महाकाल से ईर्षा कर रहे हैं ? ऐसा करने में आपका मतलब क्या है, वह बताइये" । अर्जुन के इस बयान पर श्रीकृष्ण ने कहा, "मैं कौन हूँ और किस लिये इस उग्र रूप को बढ़ा रहा हूँ यह तुमने पूछा है तो लो मेरा जवाब सुनो ॥४४६-५० ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्त: ।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिता: प्रत्यनीकेषु योधा: ॥३२ ॥

श्री भगवान् ने कहा,

मैं सचमुच महाकाल हूँ और इस विश्व के संहार के लिये बढ़ रहा हूँ । मेरे मुख चारों ओर फैले हुए हैं और वे इन सब लोगों को निगल जायेंगे । यह सुन कर अर्जुन ने सोचा, हरे राम, एक संकट (वंशजों का वध) टालने के लिये मैंने श्रीकृष्ण की प्रार्थना की थी, तो उन्होंने यह भयंकर रूप प्रकट किया । किन्तु अपने इस कठोर भाषण से अर्जुन निराश हो कर दु:खी होगा यह जानकर श्रीकृष्ण तुरन्त बोले, " हे अर्जुन एक बात और है । आप सब पांडव इस विपत्ति से सुख से बाहर निकलेंगे ।" यह सुनकर अर्जुन जो चेतना-रहित हो रहा था सचेत हो गया । मौत की महामारी में अर्जुन जो फँस गया था वह होश में आया और श्रीकृष्ण का भाषण ध्यान से सुनने लगा ॥४५१-५५ ॥ भगवान् ने उस समय कहा, " हे अर्जुन, आप सब पांडव मेरे सगे हैं इसका खयाल रखो । इस लिये मैं अन्य लोगों को निगल रहा हूँ । इस जगत् को तुमने मेरे मुख में गिरा हुआ देखा । मानो विद्युत् की प्रखर ज्वाला में मक्खन का गोला डाल दिया हो । इनमें से निश्चित ही कुछ नहीं बचेगा । देखो, ये

सेनाएँ जो बढ़ बढ़ कर बक रही हैं, उनका सब बकवास व्यर्थ है। यहाँ जमा हुए सेनाओं के समुदाय जो शेखी बधा रहे हैं कि उनकी गजसेना यमधर्म से भी बढ़कर हैं, वह निरर्थक है। वे चतुरंगिणी सेना के बल पर मृत्यु से भी स्पर्धा कर रहे हैं और अपने पराक्रम से मग़रूर हो गये हैं। वे कहते हैं कि हम दूसरी सृष्टि निर्माण करेंगे, चुनौती देकर मृत्यु पर मात करेंगे, और इस विश्व को घूँट घूँट पी जायेंगे ॥४५६-६० ॥ हम सारी पृथ्वी नष्ट कर देंगे, आसमान को ऊपर ही जला देंगे, इतना ही नहीं वायु को भी बाणों से एक स्थल पर कील कर रखेंगे। इन सेनाओं के जत्थे अपने शौर्य के बल पर चुलबुला रहे हैं और अपनी सेना यमराज से भी भयानक हैं ऐसा दावा करते हैं। उनकी बातें शस्त्रों से भी तीखी और अग्नि से भी दाहक हैं और वे इतनी घातक हैं कि उनकी तुलना में जहर को भी मधुर कहना पड़ेगा । मगर मान लो कि ये योद्धा गंधर्वनगर के बादल हैं, पोल के गोले हैं या चित्रों में बनाये हुए फल हैं । यह सेना नहीं, मानो मृगजल की बाढ आई हो, कपड़ों के बनाये हुए सांप हों या खिलौने सजा कर रख दिये गये हों ॥४६१-६५ ॥

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३ ॥

जिस बल पर इन के शरीरों की चेष्टाएँ होती हैं, उसको मैं पहले ही नाश कर चुका हूँ । अब ये सब वीर कुम्हार के घर में जो मिट्टी के पुतले होते हैं उनके समान निर्जीव हैं । जैसे कठपुतलियों को नचानेवाली रस्सी टूट जाने पर कोई भी उनको गिरा सकता है, वैसे ही कौरव सेना के जत्थे भंग करने में कोई देर नहीं लगेगी । इसलिये अर्जुन, होश में आओ और शीघ्र खड़े हो जाओ । गोग्रहण के समय दुश्मन् की सेना पर मोहनास्त्र छोड़कर विराट पुत्र कायर उत्तर के द्वारा उनके कपड़े तुमने छीन लिये थे । अब यह सेना उससे भी ज्यादा घटिया हो गयी है और ठीक समय पर युद्ध करने आई है। उस का संहार करके अकेले अर्जुन ने दुश्मनों को हरा दिया ऐसा यश कमाओ ॥४६६-७० ॥ और यह यश मामूली नहीं है, बल्कि इस यश के साथ राज्य का भी लाभ होगा। अर्जुन, तुम सिर्फ नाम के लिये निमित्त बनो।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान् ॥३४ ॥

तुम द्रोण की परवाह मत करो, भीष्म से मत डरो और कर्ण पर शस्त्र चलाने में हिचकिचाहट मत करो । जयद्रथ का वध कैसे करूं इस पर मत सोचो । और भी जो कोई नामवर योद्धा हैं वे दीवार पर रंगे हुए चित्र के समाने हैं, जो गीले हाथ से पोंछे जा सकते हैं । हे अर्जुन, युद्ध करने के लिये जो वीर समुदाय यहाँ इकठ्ठा हुआ है, वह आभासमय है । क्योंकि मैं उनको पहले ही निगल चुका हूं ॥४७१-७५ ॥ जब तुमने उनको मेरे मुख में जाते हुए देखा, तब उनका जीवन समाप्त हो चुका । अब वे केले के पेड़ की खोखले छिलके के समान हैं । इसलिये तुम शीघ्र उठकर खड़े हो जाओ और जिनको मैं पहले ही मार चुका हूँ उनका वध करो और अकारण शोक संकट में मत पड़ो । स्वयं ही लक्ष्य खड़ा करो और उसको बाण से मार गिराओ, इस तरह तुम निमित्तमात्र बनों । भाई, तुम्हारे जो दुश्मन हैं, उनको जन्म लेते ही बाघ ले गया ऐसा समझो । अब राज्य के सहित यश पा कर उनका उपभोग करो । तुम्हारे दायाद, जो स्वभावतः मग़रूर, बलवान् और उन्मत्त थे, उनका नाश तुमने बिना सायास किया, ॥४७६-८० ॥ऐसा लेख तुम दुनिया की वाणी के पटपर लिखवावो और विजयी बनो ।

संजय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५ ॥

ज्ञानदेव कहते हैं कि संजय यह किस्सा कुरुराज धृतराष्ट्र को बता रहा था, जिसके सारे मनोरथ अधूरे रह गये थे । श्रीकृष्ण गंभीर जबान से बोल रहे थे, जैसे सत्यलोक से निकला हुआ गंगाजी का प्रवाह 'खल खल' आवाज कर आ रहा हो । जिस तरह बादल गड़गड़ाता हुआ मूसलधार बरसता है, या क्षीरसागर मंदर पर्वत से मथ जाने पर गूँज रहा था, उसी तरह अगाध, अनंत और विश्वके निर्माता श्रीकृष्ण गंभीर वाणी से बोल रहे थे ॥४८१-८५ ॥ वह अर्जुन ने कुछ कुछ सुन लिया, किंतु वह नहीं समझ सका कि उससे उसका सुख बढ़ा या दुःख । उसका सारा बदन काँप रहा था । वह सिर झुका कर और हाथ जोड़ कर बारबार प्रभु के चरणों में सिर

रख रहा था। जब वह कुछ बोलने का प्रयल करता, तो उसका गला भर आता था। फिर यह उस की हालत सुख की थी या दुख की इसका आप ही अनुमान कीजिये। लेकिन भगवान् के उस समय के भाषण को सुन कर ही अर्जुन की यह अवस्था हुई थी ऐसे मैं ऊपर के श्लोक से जान गया हूँ। फिर वैसे ही डरता हुआ श्रीकृष्ण के चरणोंपर सिर नवा कर अर्जुन बोला, "आपने ऐसा ही कहा था न कि ॥४८६-९० ॥

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६ ॥

"हे अर्जुन, मैं महाकाल हो कर सब का संहार करने के लिये आया हूँ, यह मेरी लीला है। यह आप का कहना अटल है ऐसा मैं मानता हूँ। परंतु, आप काल हो कर भी जगत् के स्थितिकाल में उसका संहार कर रहे हैं इसको मैं उचित नहीं समझता। किसी के शरीर में जवानी हटा कर उसको बुढ़ापे में डालना कैसे संभव होगा? इस लिये आप जो करना चाहते हैं, वह अक्सर नहीं होगा। हे अनंत, देखिये। दिन के चार प्रहर न होने पर दोपहर में कभी सूरज अस्त होता है? और, हे भगवन्, आप अखंडित होने पर भी आपकी तीन अवस्थाएँ होती है और उनका अपने अपने समय पर ज़ोर होता है ॥४९१-९५ ॥ जिस समय उत्पत्ति होती है, तब स्थिति और प्रलय नहीं होते। और स्थितिकाल में उत्पत्ति और प्रलय की गुंजाइश नहीं होती। फिर प्रलय काल में उत्पत्ति और स्थिति दोनों ही ग़ायब होती हैं। इसलिये यह अनादि काल से आयी हुई व्यवस्था कोई भी रोक नहीं सकता। अब तो जगत् का स्थितिकाल होने से उपभोग का ऐन समय है। अतः आप उस का संहार करेंगे यह मुझे बिल्कुल नहीं भाता। तब श्रीकृष्ण ने कहा, अरे, मैंने यही तो तुम को प्रकट किया कि इन दोनों सेनाओं का जीवन ख़त्म हो चुका है। अन्य लोगों की मौत समय पर होगी ऐसा समझो। जब इस बात को श्रीकृष्ण इशारे से कह रहे थे, तब अर्जुन ने देखा कि जगत् व्यवस्थित हुआ है ॥४९६-५०० ॥ फिर उसने कहा कि हे भगवन् आप इस विश्व के चालक और सूत्रधार हैं। आपकी वजह से यह जगत् पहले जैसा था वैसा हो गया। हे श्रीहरि, दुःखसागर में डूबे हुए प्राणियों

को आप बाहर निकालते हैं ऐसी आपकी कीर्ति है उसका मुझे स्मरण है । उसका बारबार स्मरण कर के मैं महासुख का अनुभव कर रहा हूँ और आनंद समुद्र की लहरों पर लोट रहा हूँ । हे भगवन्, आपसे जीवदान पा कर आपके प्रति इस जगत् का प्रेम बढ़ गया है । परंतु आप दुर्जनों का नाश करने पर तुले हुए हैं, इस लिये त्रिभुवन में राक्षसों को डर लग रहा है और वे दस दिशाओं में भाग रहे हैं ॥५०१-०५ ॥ इधर देव, मानव, सिद्ध, यक्ष, ज्यादा क्या कहूँ, सब स्थावर जंगम आपको देख कर सहर्ष अभिवादन कर रहे हैं ।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७ ॥

हे नारायण, आप की शरण में आने के बदले किस कारण से ये भाग रहे हैं ? यह आपसे पूछने की आवश्यकता नहीं है, वह आप को मालूम है । देखिये, सूर्यादय होने पर अंधेरा कैसे रहेगा ? आप आत्मप्रकाश की खान हैं और खुद प्रकट हुए हैं । इस लिये दानव तिनके के समान उड़ गये हैं । हे श्रीराम, इतने दिनोंतक यह बात हम नहीं जानते थे, किंतु आज आप की असाधारण महिमा हमें दृष्टिगोचर हुई । ॥५०६-१० ॥जिससे सृष्टि की अनेक पंक्तियाँ और प्राणिमात्रों की बेलें दुनिया में फैल गयी हैं, वह माया आप के संकल्प से उत्पन्न हुई है । आप अमर्याद तत्त्वरूप होकर सनातन हैं, अंतरहित होकर असंख्य गुणों से संपन्न हैं । आप चारों ओर समदृष्टि हो कर देवताओं के अधिदेव हैं । हे सदाशिव, आप इन तीनों लोकों का आश्रय हो कर अविनाशी हैं, और आप ही व्यक्त और अव्यक्त हो कर उनके परे जो ब्रह्मतत्त्व है वह आप ही हैं ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८ ॥

आप प्रकृति और पुरुष इन दोनों के आदि हैं और माया के परे हैं । आप सनातन हैं, इस लिये आपके पहले कोई हुआ ही नहीं । आप इस जगत् का जीवन और आश्रय हैं और आपको भूत और भविष्य का ज्ञान भी है ॥५११-१५ ॥ हे अद्वितीय भगवन्, वेद आपके स्वरूप से सुख पाते हैं और त्रिभुवन का जो लयस्थान है उस माया के भी आप आश्रयंदाता हैं । इस लिये हे भगवन्, आपको परमधाम कहते हैं और प्रलयकाल के अंत में यह माया भी आप के स्वरूप में विलीन होती

है। ज्यादा क्या कहूँ ? आप से ही इस विश्व का विस्तार हुआ है। आप अनंतरूप हैं, आप का वर्णन कौन कर सकता है ?

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमाऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४० ॥

हे भगवन्, ऐसी कौनसी वस्तु है, जिस में आपका अस्तित्व नहीं है ? ऐसी कौनसी जगह है, जहाँ आप नहीं है ? अब यह वर्णन काफ़ी है। आप जहाँ भी हो, आप को मेरा नमस्कार है। हे अनंत, आप वायु हैं, शासक यमराज आप ही हैं। प्राणिमात्र में जो जठराग्नि है, वह आप ही हैं ॥५१६-२० ॥ आप वरुण, चंद्र और सृष्टि के निर्माता ब्रह्मदेव भी हैं, और उस ब्रह्माजी के आप आदि जनक भी हैं। हे जगन्नाथ, और जो कई आप की विभूतियाँ हैं, उनका रूप हो या नहो, उनको मेरा प्रणाम। ऐसे प्रेमयुक्त चित्त से अर्जुन ने भगवान् को प्रणाम किया और फिर से बोला कि आपको मेरा नमस्कार, आपको मेरा नमस्कार। फिर श्रीकृष्ण की मूर्ति ठीक निहार कर उसने कहा कि ' हे प्रभो, आप को मेरा प्रणाम, आप को मेरा प्रणाम '। फिर उस मूर्ति के प्रत्येक अवयव देख कर वह प्रसन्न हुआ और बोला, आपको मेरी वंदना, आप को मेरी वंदना। स्थावर जंगम पदार्थों में उस अखंड रूप को देख कर उसने फिर कहा, ' हे प्रभो, आप को नमस्कार, आप को नमस्कार।' ऐसे जो अनंत और अद्भुत रूप अर्जुन के सामने प्रकट हो रहे थे, उनको देख कर वह बोला, हे प्रभो, आप को मेरा प्रणाम। इस से अधिक प्रशंसा कैसी करनी चाहिये यह वह नहीं जानता था। इस प्रकार से उस ने हजारों दफ़ा प्रणाम किया और उसने श्रीकृष्ण से कहा, 'जो आप सामने दिखाई दे रहे हैं, आपको मेरा प्रणाम। भगवान को लौटपौट है या नहीं इस का ख़याल करने से क्या फायदा ? यह जान कर वह बोला, 'हे मालिक, जो आप मेरे पीछे खड़े हैं, आप को मेरा प्रणाम ॥५२६-३० ॥ (आप विश्वरूप होने से) आपके विश्वरूप के पीछे रहना या आगे जाना संभव नहीं है। मैं यह नहीं जानता कि आप के भिन्न भिन्न अवयवों का वर्णन कैसे करूँ, परंतु सब में आप जो अन्तर्यामी हैं, आपको मेरा नमस्कार है। हे भगवन्, आप अनंत सामर्थ्य का भंडार है, आपका पराक्रम अमाप है, आप सब समय पर समरूप होते हैं, आपको

मेरा अभिवादन। जैसे पोला आसमान भरा रहता है, वैसे आप सभी में व्याप्त हैं। जिस तरह क्षीरसमुद्र में दूध की लहरें आती हैं, उस तरह आप सब स्थल में हैं ॥५३१-३५ ॥ इसलिये, हे भगवन्, मुझे प्रतीत हुआ, कि आप इस दुनिया से अलग नहीं हैं, आप ही सब कुछ हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि ॥४१ ॥

लेकिन हे प्रभो, आपकी महिमा न जान कर आपसे मित्र के नाते व्यवहार किया। हाय, मैंने यह ग़लती की। मैं अमृत को आंगन सींचने के काम में लाया। कामधेनु दे कर उसके बदले में घोड़े का बछड़ा पाया। पारस का पर्वत प्राप्त हुआ था, उसको फोड़ कर मकान की नींव भर दी। कल्पवृक्ष को काटकर उससे खेतकी मेंड़ बना दी। चिंतामणियों की खान हाथ लगी थी, उनका उपयोग ढोर भगाने के लिये किया। साथ ही आप की मित्रता का अनुचित लाभ उठाया। ॥५३६-४० ॥आज की ही बात देखिये। यह युद्ध क्या बड़ी बात थी, परंतु आप जो साक्षात् परमात्मा है, उनको सारथी बनाया। हे दातार, कौरवों के साथ सुलह करने के लिये आपको उनके यहाँ राजदूत के नाते भेजा। आप जाग्रत देवता हो कर भी आपको हमने अपने काम में लगा दिया। आप योगियों का समाधिसुख हैं, किंतु मैं यह नहीं जानता था और आपसे उलटी बातें करता था।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रयेयम् ॥४२ ॥

आप विश्व के आदिपुरुष हैं, लेकिन आप जब सभा में बैठते थे तो आपके रिश्तेदार के नाते मैं आपके साथ हँसी-दिल्लगी करता था। कभी कभी आपके महल में जा कर आपकी बराबरी में सम्मान लेता था और यदि वह नहीं मिलता तो रूठ जाता था ॥५४१-४५ ॥ मैं बहुत दफ़ा हठ करता था कि आप मेरे पाँव पकड़ कर मुझे समझाते थे। बुद्धि के घमंड में मैं आपसे मुँह मोड़ कर बैठता था। हे श्रीकृष्ण, यह क्या मेरी योग्यता थी ? वह तो मेरी बड़ी ग़लती थी। मैं आपके साथ गतका फ़री खेलता था, अखाड़े में कुश्ती लड़ता था और शतरंज के खेल में आप को फटकारता था। जो कुछ बढ़िया चीज़ देखता था उसको एकदम माँगता था।

आप सर्वज्ञ होते हुए भी आपके साथ ज्ञान की बातें करता था और कभी कभी हमारा आप से क्या वास्ता है ऐसा भी पूछता था। यह मेरा कसूर इतना बड़ा है कि वह त्रिभुवन में समा नहीं सकता। किंतु आपके चरणों की सौगंध खा कर कहता हूँ कि यह सारा अपराध मेरे अनजाने में हुआ है ॥५४६-५० ॥ भोजन के समय आप प्यार से मेरी याद करते थे, पर मैं निरर्थक घमंड में रूठ कर बैठता था। मैं आपके अंतःपुर में बेशक खेला करता था और मैं मज़े में आप के बिछौने पर सो जाता था। आपको मैं कृष्ण नाम से पुकारता था, यादव कुल के वीर समझता था और आप जाने लगते तो आप को शपथ दे कर मना करता था। आप के साथ आसन पर बैठना, आपका वचन न सुनना ऐसी बहुतसी बातें मुझसे अतिपरिचय के कारण हुई हैं। हे अनंत, ऐसे मैं ने बहुत अपराध किये हैं ॥५५१-५५ ॥ इसलिये, हे प्रभो, आपके सामने या आपके पीछे मैंने जो बुरी बातें कहीं हैं उनको माँ की ममता से क्षमा कीजिये। नदी कभी गंदा पानी लेकर समुद्र से जा मिलती है, तो समुद्र को उसको स्वीकार करना ही पड़ता है। इसलिये प्यार से या प्रमाद से मैं ने जो ऊटपटांग बातें कहीं है, उसके लिये मैं, हे मुकुंद, क्षमा चाहता हूँ। हे देव, आपके इस क्षमाशील स्वभाव से ही यह क्षमा याने पृथ्वी प्राणिमात्र को धारण करने के लिये सक्षम हो सकी है। इसलिये, हे कृष्ण मैं जो भी आपकी प्रशंसा करूँ, वही थोड़ी है। हे अतुलनीय श्रीकृष्ण, मैं आपकी शरण में आया हूँ, मेरे सब अपराध क्षमा कीजिये ॥५५६-६० ॥

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३ ॥

हे श्रीकृष्ण, अब आपकी सच्ची महिमा मुझे मालूम हुई। आप ही इस स्थावर जंगम विश्व के उत्पत्तिस्थान हैं और हरिहर इत्यादि देवताओं के परम देवता हैं। वेदों को भी वेद पढ़ाने वाले आदिगुरु आप ही हैं। हे श्रीराम, आप गंभीर हो कर भी सब प्राणियों को समान हैं। आप सब गुणों में अनुपम और अद्वितीय हैं। आपकी बराबरी का कोई भी नहीं, यह कहना क्या आवश्यक है? आपसे पैदा हुए आसमान में सब समाया हुआ है। अब आपके समान कोई है यह कहना लज्जास्पद होगा, और आप से कोई बड़ा है यह कैसे हो सकता है? ॥५६१-६५ ॥ इस त्रिभुवन

में आप अकेले हैं, और आपके समान या अधिक कोई भी नहीं हैं । यह जो आपकी अलौकिक महिमा है, उसका वर्णन करना मैं नहीं जानता ।

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४ ॥

ऐसा कह कर अर्जुन ने भगवान् को दंडवत् प्रणाम किया । उस समय उसका चित्त आठों सात्त्विक भावों से भरा हुआ था । फिर उसने गद्‌गद हो कर कहा, "हे देव, प्रसन्न हो जाइये। प्रसन्न हो कर मुझको इस अपराधरूपी समुद्र से बाहर निकालिये । आप जगन्मित्र हैं, किन्तु रिश्तेदार होने के नाते मैं आपका सम्मान नहीं करता था । आप देवाधिदेव के सामने मैं अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन किया करता था । आप प्रशंसा के योग्य थे, परंतु आप ही सभा में प्यार से मेरी तारीफ़ करते थे । उस समय मैं ऐंठ कर बेतुकी बातें करता था ॥५६६-७० ॥ हे मुकुंद, ऐसे जो मैंने अनगिनत अपराध किये हैं, उनको आप क्षमा कीजिये । हे भगवन्, यह प्रार्थना करने की योग्यता मुझमें कहाँ है ? मगर पुत्र जैसे पिता से लाड़ से बातें करता है और पिता उसके गंभीर अपराधों को सहन करता है, वैसेही मेरे अपराध आप सह लीजिये । अपने प्रिय व्यक्ति से कोई सम्मान की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी, आप को हमारे घर में बरतन माँजने के लिये मजबूर किया, इसके लिये क्षमा कीजिये ॥५७१-७५ ॥ जिस तरह मित्र से भेंट होते ही उसको बिना संकोच अपनी मुसीबतों के बारे में कहता है, किंवा पत्नी, जिसने प्यार से अपना तन मन पति को अर्पित किया है वह पति की भेंट होते ही उससे खुले दिल से बातें करती हैं, उसी तरह हे प्रभो, मैंने आपसे प्रार्थना की है । अब एक बात और पूछना चाहता हूँ ।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५ ॥

मैंने मित्रता से आपका विश्वरूप दिखाने के लिये हठ किया था । वह आपने माँबाप की ममता से पूर्ण किया । मानो आपने मेरे आंगन में कल्पवृक्ष लगाया । खिलाड़ी की तरह कामधेनु का बछड़ा दिया, ॥५७६-८० ॥ खेलने के लिये पासों के बदले सितारे दिये और गेंद के बदले चांद दिया । इस प्रकार आपने मेरे सारे

आग्रह माँ की ममता से पूरे किये। जिस अमृत की बूंद के लिये प्रयास करने पड़ते हैं, उसकी आपने चारों माह वर्षा की और जमीन में क्यारियाँ बना कर चिंतामणि बोये। इस प्रकार, हे देव, बहुत लाड़-प्यार के साथ मेरी मंशा पूरी की और मेरे सामने अपना विश्वरूप प्रकट किया। श्रीशंकर और ब्रह्मदेव ने भी इस विश्वरूप के बारे में नहीं सुना था, फिर वह उनको दृष्टिगोचर कैसे होता? जिस का दर्शन उपनिषदों को भी नहीं हुआ, वह अपना निजी स्वरूप आपने मुझको दिखाया। कल्प के आरंभ से आज तक जितने मेरे जन्म हुए ॥५८१-८५॥ उन सब की तलाशी लेने पर मैं याद नहीं कर पाता कि इस रूप के बारे में मैंने कभी सुना था या इस रूप को देखा था। बुद्धि जिसके आंगन तक भी नहीं पहुँचती, उसके निजी स्वरूप की कल्पना हम कैसे कर सकते हैं? ऐसी हालत में मैं उस रूप को देख सका यह क्या ज़बान से कहना पड़ेगा? इस रूप को पहले किसी ने देखा भी नहीं था या उसके विषय में सुना भी नहीं था। वह रूप हे देव, आपने मुझे प्रत्यक्ष दिखाया और उससे मेरा मन प्रसन्न हुआ। परंतु, अब मैं चाहता हूँ कि आपके साथ गपशप करूँ, आपके प्यार का अनुभव करूँ और आपको गले लगाऊँ ॥५८६-९०॥ यदि यह मैं आपके विश्वरूप के साथ करना चाहूँ, तो आपके किस मुख से बातें करूँ, और आपके अमर्याद रूप को कैसे आलिंगन दूँ? हवा के साथ दौड़ना या आसमान को गले लगाना ये अनहोनी बातें हैं। वैसे ही समुद्र में जलक्रीड़ा कैसे की जा सकती है? इस लिये, हे देव, मुझको इस विश्वरूप का डर लग रहा है। इसलिये आप उसको समेट लीजिये। इतनी मेरी मंशा पूरी कीजिये। जैसे इस स्थावर-जंगम धरती पर कुतूहल से घूम आने के बाद घर में आराम करना अच्छा लगता है, वैसेही आप का चतुर्भुजरूप हमारा विश्रामस्थान है ऐसी मेरी समझ है। सब प्रकार के योगाभ्यास करने पर जिसका अनुभव प्राप्त होता है वह यही रूप है। शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी वही सिद्धान्त भाता है ॥५९१-९५॥ सब यज्ञों का और तीर्थयात्राओं का यही फल है। और जो हम दानपुण्य करते हैं, उसका फल भी यही चतुर्भुज रूप है। इसलिये वह मुझे अच्छा लगता है और वह देखने को मैं उतावला हो रहा हूँ। इसलिये यह मेरी अड़चन दूर कीजिये। अजी, दूसरों के मन की गुप्त बात ताड़नेवाले और सब विश्व को बसानेवाले परम पूजनीय देवाधिदेव, मुझ पर प्रसन्न हो जाइये।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६ ॥

आपका नीला रंग कैसा नीलकमल को और आसमान को नीलिमा प्रदान कर रहा है ? वह नीलमणि की प्रभा बढ़ा रहा है ॥५९६-६०० ॥ जैसे पन्ने में सौरभ खुले या आनंद को हाथ निकल आएँ, वैसे प्रभु की गोद में खेलता हुआ कामदेव बहुत सुंदर दिखाई देता है । आपने अपने सुंदर सिर पर जो मुकुट पहना है, वह शोभा दे रहा है और आपके बदन की कांति से आपका बनाव-सिंगार भी खिल उठा है । आसमान में मेघ के बीच में जैसे इंद्रधनुष सोहता है, वैसेही श्रीहरि की पहनी हुई वैजयंती माला सुहावनी लगती है । अब दानवों को भी मोक्ष देनेवाली उदार गदा आपके हाथ में है और दूसरे हाथ में जो चक्र है वह शांत दिखाई देता है । आप का चतुर्भुजरूप देखने को जी ललचा रहा है, सो आप वह रूप धारण कीजिये ॥६०१-५ ॥ विश्वरूप के इस समारोह को देख कर मेरी आँखें ठंडी हुई हैं और वे अब आपका श्यामसुंदर रूप देखने के लिये तरस रही हैं । मेरी आँखों को अन्य रूप देखने की चाह नहीं है । उस चतुर्भुजरूप के सामने मेरी दृष्टि में विश्वरूप का भी मूल्य कम लगता है । मुझको इस सुंदर रूप के बिना भोग और मोक्ष देनेवाला और कोई नहीं है । इस लिये, इस विश्वरूपको समेट कर अपना सगुण रूप धारण कीजिये । अर्जुन की इस बात को सुनकर उस विश्वरूप भगवान् को आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा, तुम्हारे जैसा नासमझ आदमी मैं ने नहीं देखा ।

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७ ॥

जिस अपूर्व वस्तु का तुम्हें लाभ हुआ है, उससे तुम प्रसन्न नहीं हो । उलटे ज़िद्दी व्यक्ति के समान तुम क्या बोल रहे हो यह तुम नहीं जानते ॥६०६-१० ॥ मैं जिस पर प्रसन्न होता हूँ, उसको सिर्फ बाहर की वस्तु देता हूँ । मगर सच्चे भक्त के अतिरिक्त यह मेरा निजी रहस्य किस को बताऊं ? आज तुम्हारे ही लिये प्राणियों के समुदाय को जमा कर के यह विश्वरूप सजाया है । मेरा दिल तुम्हारी भक्ति से कैसे पागल हुआ है यह मैं नहीं जानता । यों ही तुम पर प्रसन्न हो कर मैंने यह मेरे

परम गूढ रूप की ध्वजा इस धरती पर फहरायी है । यह तो मेरा अखंड और अनादि स्वरूप है, जो माया के परे है । इस रूप से ही कृष्ण आदि अवतार उत्पन्न हुए हैं । यह रूप केवल ज्ञान के प्रकाश का बना हुआ है और विश्वव्यापक है । वह असीम और अडिग है और इस विश्व का मूल कारण है ॥६११-१५ ॥ इस विश्वरूप को किसीने देखा भी नहीं और उसके संबंध में सुना भी नहीं । वह रूप बाहरी साधनोंसे प्राप्त नहीं हो सकता ।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८ ॥

इस विश्वरूप के पास पहुँचने पर वेदों ने मौन धारण किया और यज्ञ स्वर्गतक जाकर लौट आये । साधकों ने परिश्रम करने पड़ेंगे इस कारण से योगाभ्यास को त्याग दिया और जो वेदाध्ययन करते थे उनमें भी विश्वरूप के दर्शन के लिये रुचि उत्पन्न नहीं हुई । जिन्होंने बहुत पुण्यकर्म किये थे वे बड़ी उत्कंठा से उसके प्राप्ति के लिये आगे बढ़े, मगर वे कड़े परिश्रम से सत्यलोक को पँहुचे । तप ने विश्वरूप का ऐश्वर्य देखकर अपनी उग्रता शीघ्र छोड़ दी । इस तरह वह विश्वरूप तप के साधन से भी दूर रहा ॥६१६-२० ॥

वह जिस तरह बिना प्रयास तुम को दृष्टिगोचर हुआ, वैसा वह इस मृत्युलोक में किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ । आज इस धरती पर इसके ध्यानरूपी संपत्ति के तुम अकेले योग्य बने । इस प्रकार का श्रेष्ठ भाग्य ब्रह्मदेव को भी नसीब नहीं हुआ ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९ ॥

इसलिये तुम विश्वरूप के दर्शन के लिये आभार मानो और उससे मत डरो । इस विश्वरूप से और कुछ अच्छा है ऐसा मत समझो । अरे अमृत से भरा हुआ समुद्र अचानक प्राप्त होने पर उसमें डूबने की आशंका से उसे कोई छोड़ सकता है ? किंवा सुवर्ण का पहाड़ ले जाना मुश्किल है इसलिये उसका क्या कोई त्याग करता है ? ॥६२१-२५ ॥ भाग्य से चिंतामणि हाथ लगा, तो उस के बोझ से डर कर क्या कोई उसको फेंक देता है । वैसे ही कामधेनु का पालनपोषण करना अशक्य होगा इसलिये उसको क्या कोई घर से निकाल देता है ? चाँद के घर आने

पर उसको क्या कोई कहता है कि तुमसे मुझे गरमी होती है, या कोई सूरज से कहता है कि तुम छाया ड़ालते हो इसलिये तुम यहाँ से हट जाओ ? ऐसे इस विश्वरूप का ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त होने पर तुम क्यों व्यथित हो रहे हो ? हे अर्जुन, तुम बिल्कुल अनाड़ी और नासमझ हो । मैं तुमसे क्या कहूँ ? तुम बदन को छोड़ कर परछाईं को गले लगा रहे हो । यह चतुर्भुज रूप मेरा स्वाभाविक रूप नहीं है । लेकिन तुम उस पर अधीर हो कर प्यार करते हो, यह अच्छा नहीं ॥६२६-३० ॥ अब भी, हे पार्थ, इस चतुर्भुज रूप के बारे में आस्था छोड़ दो और विश्वरूप के प्रति लापरवाही मत करो । यद्यपि यह विश्वरूप भयानक और अमर्याद है, तथापि उसके विषय में अपना विचार क़ायम रखो । जिस तरह कंजूस अपना मन द्रव्य के संचय पर रख कर सिर्फ़ देह से संसार में चलता फिरता है, अथवा जिनके पंख उगे नहीं हैं उन पिल्लों के पास घोसले में अपना दिल रख कर पंखिनी आसमान में घूमती है, अथवा जब गौ पहाड़ पर चरने जाती है तब उसका दिल गोठे में बंधे हुए बछड़े के पास रहता है, उसी तरह तुम विश्वरूप में अपना चित्त क़ायम रखो ॥६३१-३५ ॥ हाँ, मनःशांति के लिये अवश्य अपने ऊपरी मन से मेरी चतुर्भुज मूर्ति का ध्यान करो । मगर मैंने जो बार बार बात कही है उसको मत भूलो । मेरे इस विश्वरूप से अपनी सद्भावना हटा कर उसको अन्यत्र मत जाने दो । इस विश्वरूप को पहले न देखने से तुमको जो डर हो रहा है, उसको छोड़ दो और अपना प्रेम विश्वरूप में लगाओ । फिर विश्वरूप धारण करनेवाले श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन लो तुम अब मेरा पिछला चतुर्भुजरूप आराम से देखो ।

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५० ॥

यह कह कर भगवान ने फिर मानव रूप धारण किया । (ज्ञानदेव कहते हैं) इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि वे अर्जुन को चाहते थे ॥६३६-४० ॥ श्रीकृष्ण ने जो सच में परब्रह्म थे, विश्वरूप जैसा सर्वस्व अर्जुन को बताया किंतु वह उसको पसंद नहीं आया । यह तो कोई चीज माँग कर फेंक देना, या रत्न में ऐब निकालना या कोई कन्या देख कर उसको नकार देना, इस प्रकार की बात हुई ।

श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश का बढ़िया भाग जो विश्वरूप था वह अर्जुन को दिखाया। इससे मालूम होता है कि उनमें अर्जुन के प्रति कितना प्रेम बढ़ गया था। जिस तरह सुवर्ण की छड़ी से बनाया हुआ गहना पसंद न आने पर उस को गला देने हैं, उसी तरह अर्जुन के प्यार से श्रीकृष्ण ने विश्वरूप धारण किया, फिर जब वह अर्जुन को नहीं जँचा, तब वे कृष्णरूप बने। ॥६४१-४५ ॥इस प्रकार शिष्य का तक़ाज़ा सहने वाले गुरु कहाँ मिलेंगे ? परंतु भगवान का अर्जुन के प्रति प्यार कैसा था यह मेरी समझ में नहीं आता, ऐसा संजय ने कहा। फिर उन्होंने विश्व में व्याप्त हो कर जो दिव्य तेज प्रकट किया था उसको फिर कृष्णरूप में समेट लिया। जिस तरह सब प्राणिमात्र का ईश्वररूप में समावेश होता है, या वृक्षका आकार बीज में समाया होता है, या स्वप्न का विस्तार जागृति में अदृश्य होता है, उसी तरह श्रीकृष्ण ने अपना ऐश्वर्ययोग सगुण रूप में समा लिया ।सूरज की प्रभा जैसी सूर्यमंडल में अट जाती है, या बादलों के समुदाय आसमान में विलीन हो जाते हैं, या, हे नरेश,समुद्र में आया हुआ ज्वार जैसे उसमें सन जाता है, ॥६४६-५० ॥ वैसे ही अर्जुन के कहने पर विश्वरूप का कृष्ण रूप में जो तह हुआ था उसको खोल कर दिखाया। फिर उस वस्त्र का रंगरूप और लंबाईचौडाई अर्जुन रूपी गाहक को पसंद न आने पर उसको फिरसे तह किया। इसप्रकार जिन्होंने अति विशाल विश्वरूप से जगत् को भर दिया था, उन्होंने फिर से सौम्य, श्यामसुंदर और सगुण रूप धारण किया। सारांश कि उस अनंत ने छोटा रूप धारण किया और डरे हुए अर्जुन का धीरज बंध गया। उस समय स्वप्न में स्वर्ग में पहुँचा हुआ व्यक्ति अचानक जाग्रत होने पर चकरा जाता है, वैसे ही अर्जुन भी चकित हुआ ॥६५१-५५ ॥जिस प्रकार सद्गुरु की कृपा होने पर प्रपंच का ज्ञान नष्ट होकर वास्तविक तत्त्व का ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार की अवस्था श्रीकृष्ण की मूर्ति के दर्शन से उस समय अर्जुन की हुई। तब पार्थ को ऐसा लगा कि यह अब बहुत अच्छा ही हुआ कि मेरी आँखों के सामने जो विश्वरूप का परदा आ पड़ा था वह अब हट गया। उस विश्वरूप के बाद कृष्ण का सगुण रूप देख कर अर्जुन को संतोष हुआ, मानो वह काल को जीत कर आया हो, आँधी से बच गया हो, या समुद्र हाथों से तैर कर पार हो गया हो। जैसे सूर्यास्त होते ही आसमान में सितारे फिर से चमकने लगते हैं, वैसे ही विश्वरूप अदृश्य होने पर अर्जुन को सब लोगों के सहित धरती दिखाई दी ॥६५६-६० ॥ फिर उसने देखा

कि वही कुरुक्षेत्र है, द्रोनों सेनाओं में अपने वंशज हैं और रणभूमि में शस्त्रों की बौछार हो रही है । फिर उसके ध्यान में आया कि उन बाणों के मंडप के नीचे उसका रथ जहाँ था वहीं है, रथ के जुए पर रमानाथ बैठे हुए हैं, और वह स्वयं उसके नीचे खड़ा है ।

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१ ॥

इस तरह अर्जुन को प्रभुका पूर्वरूप देखने में आया जो उसने चाहा था । फिर वह श्रीकृष्ण से बोला, अब मेरा जी ठंडा हो गया । मेरी बुद्धि खो गयी थी, मन इधर उधर भटक रहा था, अहंकार उलटा पुलटा हो गया था, इंद्रियों के व्यापार बंद पड़े थे, वाणी बात करना भूल गयी थी । इस प्रकार मेरे शरीर की बुरी अवस्था हो गयी थी । ॥६६१-६५ ॥अब इंद्रियाँ अपने निजी स्वभाव के अनुसार कार्य करने लगी हैं । अब आप का कृष्णरूप देख कर मेरी जान बच गयी है । इस तरह संतुष्ट हो कर उसने श्रीकृष्ण से कहा, हे देवाधिदेव, अब मैंने आप का नररूप आँखें भर कर देखा । हे देवराज, आपने इस रूप को दिखा कर मेरा मन शांत किया, जैसे कि माँ अपने भूखे नन्हे को स्तनपान दे कर चुमकारती है । विश्वरूप के सागर की लहरों पर जो मैं स्फूर्ति से तैर रहा था, यह मैं अब चतुर्भुज मूर्ति के किनारे पर आ पहूँचा हूं । हे द्वारकावासी मित्र, अब आपने मुझे दर्शन ही नहीं दिया, बल्कि सूखते हुए पेड़ पर वर्षा की ॥६६६-७० ॥ अजी, प्यासा होने पर मैंने अमृतसिंधु को पाया, और मुझे विश्वास अचानक हुआ कि मैं अब जीवित रहूँगा । अब मेरे हृदयरूपी आंगन में प्रसन्नता की बेल उग आई है और मैं सुखका अनुभव कर रहा हूँ ।

श्रीभगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिण ।५२ ॥

यह अर्जुन की बात सुन कर श्रीकृष्ण ने कहा, अरे यह तुम क्या कह रहे हो ? मैंने तुम्हें कहा था न कि दिलसे विश्वरूप पर प्यार करो और शरीर से मेरे चतुर्भुज मूर्ति से मिलने आवो, यह क्या तुम भूल गये ? हे अंधे अर्जुन, तुम मेरु पर्वत पाकर

भी उस को नाटा कहते हो, यह तुम्हारी ग़लती है ॥६७१-७५ ॥ मैंने जो तुम से विश्वरूप का दर्शन कराया,वह तप करने पर भी श्रीशंकर को प्राप्त नहीं हुआ । हे अर्जुन, अष्टांग योग का साधन करते करते योगी थक गये, परंतु उनको भी वह नसीब नहीं हुआ । यह विश्वरूप एकबार जरासा देखने को मिले इस चिंता में देवताओं का जीवन बीत गया । बहुत लालची हो कर चातक पंछी बादल की राह देखते हुए आसमान की ओर ताकते हैं । वैसे ही बड़े बड़े देव विश्वरूप के दर्शन के लिये तरस रहे हैं ॥६७६-८० ॥ परंतु उन में कोई विश्वरूप का दर्शन स्वप्न में भी नहीं कर पाया, वह दर्शन आज तुम को आसानी से हुआ है ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३ ॥

लेकिन, हे अर्जुन, इस विश्वरूप को पाने का कोई उपाय नहीं । इसके लिये छः शास्त्रों के साथ चारों वेद भी पीछे हट गये । हे धनुर्धर, इस विश्वरूप को सम्मुख लाने के लिये बड़ा तप भी समर्थ नहीं है । उसका दर्शन दान से भी कराना मुश्किल है और वह यज्ञ करने सेभी किसी को हासिल नहीं होता । ध्यान में रखो कि उस को पाने के लिये एक ही उपाय है । अगर अंतःकरण में भक्ति हो, तो उसका दर्शन हो सकता है ॥६८१-८५ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४ ॥

वह भक्ति ऐसी होनी चाहिये । जैसे वर्षा की धाराएँ आसमान से छूटते ही उनको धरती पर आना ही पड़ता है, अथवा नदी अपने सब जलप्रवाह को ले कर अन्यत्र न मुड़कर समुद्र की खोज में जाती है, उसी तरह जो मुझ से अनन्य भाव से अखंड प्रेम करता है, वह मेरे पास आता है और मुझ से एकरूप हो जाता है । और जैसे क्षीरसागर किनारे पर और बीच में एकसरीखा मीठा होता है, वैसा मैंही सब जगह समान रहता हूँ । वैसे ही जो चींटी में भी मुझको देखता है, और ज्यादा क्या कहूँ, समस्त स्थावर और जंगम से मुझे भिन्न नहीं मानता वही मेरी सच्ची भक्ति है, दूसरी नहीं । ॥६८६-९० ॥ उसको उसी समय मेरा ज्ञान और दर्शन होता है । लकड़ी से अग्नि को सुलगाने पर लकड़ी का नामनिशान नष्ट हो जाता है और वह

अग्निरूप बनती है । किंवा सूर्योदय होने तक आसमान में अंधेरा छाया रहता है, और सूर्योदय होते ही सब जगत् प्रकाशमय होता है । उसी तरह मेरा अनुभव होनेपर अहंकार और उसके साथ द्वैतभाव ग़ायब हो जाते हैं, इसको तुम ध्यान में रखो । फिर मैं, वह और सारी दुनिया स्वभावतः एक ही हैं, इसका उसको ज्ञान हो जाता है । सारांश कि वह मुझसे एकरूप हो कर मुझ में समाया जाता है ॥६९१-९५ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५ ॥

जो भक्त मेरे लिये सब कर्म करता रहता है, और जो मेरे अतिरिक्त अन्य किसी को प्यार नहीं करता, जो मुझे इस लोक का और परलोक का फल समझकर मुझको ही जीवन का लक्ष्य मानता है, और जो प्राणिमात्र को भूल कर चारों ओर मुझे ही देखता है, वह अजातशत्रु बन कर सब प्राणियों में मेरा अस्तित्व अनुभव करता है और उनको भजता है । अर्जुन, मेरा ऐसा भक्त देहत्याग के बाद मद्रूप हो कर रहता है । संजय ने कहा विश्व समाये जाने से जिन को तोंद निकल आया है, उन श्रीकृष्णने ऐसा करुणरस से भरा हुआ भाषण किया । ॥६९६-७०० ॥तब सारी दुनिया में श्रीभगवान की स्तुति करने में कुशल अर्जुन उनके दोनों रूप निहार कर देखने लगा । परंतु उसको विश्वरूप से कृष्णरूप अधिक हितकर महसूस हुआ । भगवान् ने उसकी इस समझ को प्रोत्साहन नहीं दिया । उलटे व्यापक रूपसे एकदेशीय रूप सच्चा नहीं यह साबित करने के लिये उन्होंने एक दो युक्तियुक्त बातें भी कही । उन को सुनकर अर्जुन ने सोचा कि इन दोनों में कौनसा रूप अच्छा है यह पूछ लूँ । ॥७०१-०५ ॥ यह सोच कर उसने किस प्रकार से श्रीकृष्ण को सवाल किया वह कथा आगे सुनिये । ज्ञानदेव कहते हैं , यह कथा सरल ओवी छंद में कहने में मजा आयेगा, वह आनंद से सुन लीजिये । मैं ने सद्भाव की अंजली में ओवीरूपी खिले हुए फूल भर कर उनको विश्वरूप के चरणों में अर्पण किये हैं ॥७०६-०८ ॥

◆ ◆ ◆

॥ बारहवाँ अध्याय ॥

(हे श्रीगुरुकृपादृष्टि), तुम शुद्ध हो कर उदार हो ऐसी तुम्हारी कीर्ति है और तुम निरंतर आनंददायक हो, तुम्हारी जय हो। विषयरूपी साँप डसने पर जो मूर्छा आती है वह किसी तरह नहीं जाती। वह केवल गुरु की कृपादृष्टि से ही दूर होती है। तुम्हारे प्रसादरूपी लहरों को बाढ़ आई तो त्रिविध ताप की तीव्रता किसको तंग कर सकती है और संसार के दुःख से किसको पीड़ा हो सकती है ? हे माते, भक्त तुमसे योगसुख का अनुभव करता है और मैं ब्रह्म हूँ यह जो सिद्धि है उसको प्राप्त करने की भक्त की इच्छा तुम पूरी करती हो। आधार शक्ति की गोद में भक्त को बैठा कर हृदयाकाश के हिंडोले पर उसको झोंके देती हो ॥१-५॥ आत्मप्रकाश की ज्योति से उसकी आरती उतार कर चित्त और प्राण के निरोधरूपी खिलौने उस को देती हो और बालक के गहने उसको पहनाती हो। सत्रह जीवनकला का अमृतपान दे कर उसको अनाहतध्वनि की लोरियाँ सुनाती हो और समाधिसुख का अनुभव दे कर उसको सुला देती हो। इसलिये तुम साधकों की माता हो और तुम्हारे चरणों से सब विद्याओं का उद्गम हुआ है। इस लिये मैं तुम्हारी कृपा की छाया नहीं छोड़ूँगा। हे गुरुकृपादृष्टि, तुम जिस पर कृपा करती हो, वह सब विद्यारूपी सृष्टि का

निर्माता बनता है। इसलिये हे श्रीमती माँ, तुम जो भक्तों के मनोरथ पूर्ण करनेवाली कल्पलता हो, मुझे यह ग्रंथ कहने की आज्ञा दो ॥६-१० ॥ हे माँ, इस ग्रंथ में नवरस के समुद्र, अलंकारों की खान और गीतार्थ के पर्वत पैदा करो। देशी भाषा की ज़मीन पर सोने की खदान खोद कर विचार रूपी बेलों का उत्पादन करो। उनमें संवादरूपी फलों से लदे हुए सिद्धान्तों के अनेक बगीचे फुला दो। पाखंड रूपी कगारे और वितंडारूपी पगड़ँडियाँ तोड़ डालो और कुतर्करूपी जंगली जानवरों को भगा दो। भगवान् का सब जगह यशोगान करने के लिये मुझको योग्यता प्रदान करो और सुननेवालों को श्रवणरूपी राजगद्दी पर बिठा दो ॥११-१५ ॥ इस देशी भाषा के शहर में ब्रह्मविद्या की समृद्धि करो और धरती पर आत्मसुख के लेन-देन के व्यवहार होने दो। हे माँ, अगर तुम मुझको प्यार के दामन में लोगी, तो मैं इस ग्रंथ की रचना कर सकूँगा। यह प्रार्थना सुन कर सद्गुरु ने ज्ञानदेव को कृपादृष्टि से देखा और कहा कि अब गीतार्थ कहना शुरू करो, और ज्यादा मत बोलो। ज्ञानदेव कहते हैं कि यह आपकी बड़ी कृपा हुई और उससे संतुष्ट हो कर मैं कथा सुनाऊँगा, उस पर ध्यान दीजिये।

अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१ ॥

फिर वह वीरचूड़ामणि और सोमवंश का जयकेतु अर्जुन बोला ॥१६-२० ॥ आपने जो मुझे विश्वरूप दिखाया वह बड़ा अद्भुत था, इसलिये मुझे डर लगा। मुझे आपका कृष्णरूप देखने की आदत हो गई थी, इस लिये मैं ने उसका आसरा लिया। मगर आपने वैसा करने को मना किया। वास्तव में आप ही सगुण और निर्गुण रूपों में निःसंदेह रहते हैं। भक्ति से सगुण रूप की और योग से निर्गुण रूप की प्राप्ति होती है। आपकी प्राप्ति के लिये ये दो मार्ग हैं और वे सगुण और निर्गुण रूप की देहली तक पँहुचाने वाले हैं। परंतु जो कसौटी सौ भार सोने की छड़ को लगती है, वह उसके दो गुंजा टुकड़े को भी लगती है। इस तरह सीमित और व्यापक रूप की योग्यता एक ही होती है ॥२१-२५ ॥ अमृत के समुद्र में जो शक्ति है वह अमृत के एक चुल्लु में भी है। मेरा अनुभव सचमुच यही है। इसलिये, हे योगीश्वर, मैं

आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। आपने क्षणभर के लिये जो विश्वरूप धारण किया था, वह आप का सच्चा रूप था या वह आप की लीला थी यह मैं जानना चाहता हूँ। आपके जो भक्त हैं, वे सब कर्म आप के लिये करते हैं, उनके विचार में आपके सिवाय अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है, और उन्होंने अपने सब संकल्प आपकी भक्तिपर निछावर किये हैं। और, हे श्रीहरि, जो ज्ञानी हैं वे भी आप का रूप हृदय में समाकर आपकी उपासना करते हैं ॥२६-३० ॥ और जो ब्रह्म ॐकार के परे है, और जो न किसी के समान है, और अनश्वर, अतींद्रिय तथा अवर्णनीय है, जिसको हम बता नहीं सकते, और जो देशकाल से सीमित नहीं हैं, उसका सोहंभाव से ध्यान करते हैं। इन दोनों में सचमुच किसने योगको जाना हैं, वह कहिये। अर्जुन की इस बातपर संतुष्ट होकर जगद्बंधु भगवान् बोले कि हे अर्जुन, प्रश्न कैसे करना चाहिये यह तुम अच्छी तरह से जानते हो।

श्रीभगवानुवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२ ॥

देखो, सूरज अस्ताचल के पीछे जाने पर, उसके मंडल में किरने समा जाती हैं। ॥३१-३५ ॥ जैसे वर्षाऋतु में नदी का जल हर रोज़ बढ़ता जाता है, वैसेही जो मेरी भक्ति करते हैं उनके मन में नित्य नयी श्रद्धा पैदा होती है। और जैसे गंगाजी समुद्र से मिलने पर भी उनके पीछे जल के प्रवाह आते ही रहते हैं, वैसेही उनका मेरे प्रति प्रेम उमड़ आता है। और जो दिनरात इंद्रियों के साथ एकाग्रचित्त होकर मुझे भजते हैं और अपने को मुझे समर्पित करते हैं, उनको मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४ ॥

हे अर्जुन, इसके सिवाय ज्ञानी सोहंभाव से निराकार और अविनाशी ब्रह्म को जानने की कोशिशें करते हैं ॥३६-४० ॥ जिस ब्रह्म के विषय में चित्त की गति रुक जाती है, जिसके अंदर बुद्धि की दृष्टि भी नहीं पँहुचती, उसको इंद्रियाँ कैसे जान

सकती हैं ? वह ब्रह्म ध्यान के लिये भी जटिल होने से कहीं भी नहीं पाया जाता। परंतु वह किसी साकार वस्तुके समान न होते हुए भी सभी जगह सर्व रूप से मौजूद है और उसके चिंतन पर चित्त बहुत परेशान हो जाता है। वह कभी हुआ नहीं, होनेवाला भी नहीं, उसके बारेमें हम वह है या नहीं है, ऐसे नहीं कह सकते, और इसके कारण उसकी प्राप्ति के उपाय सुगम नहीं होते। वह चलता नहीं हिलता भी नहीं, वह न मैला होता है या समाप्त होता है। ऐसा ब्रह्म वे अपने सामर्थ्य से वश में लाये हैं ॥४१-४५ ॥ और वे ज्ञानी अपने वैराग्यरूपी ज्वाला से विषयरूपी सुवर्ण को जलाकर अपनी झुलसी हुई इन्द्रियों को धैर्य से सँभालकर रखते हैं। और फिर उनको आत्मसंयम के पाशों में जकड़ कर पीछे खींचते हैं और हृदय की गुहा में बंद करते हैं। बादमें अपान द्वार को ठीक आसनमुद्रा लगाकर मूलबंध के बुर्ज खड़े करते हैं और आशा के बंध तोड़कर तथा कायरता के कगार ढीले करके निद्रारूपी अंधेरा नष्ट करते हैं। फिर मूलबंध की ज्वाला से सप्तधातुओं की होली बनाकर बीमारियों के सिर षट्चक्रों को समर्पित करते हैं ॥४६-५० ॥ फिर कुंडलिनी का पलीता आधारचक्र के ऊपर रखकर उसकी रोशनी में सुख से सिरतक पहुँचते हैं। तदनंतर नवद्वार के चौखट में संयम की अर्गला डालकर सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग खुला करते हैं। उसके बाद संकल्परूपी भेड़ें मारकर चित्तरूपी भैंसा का मस्तक प्राणशक्तिरूपी चामुंडादेवी को बलि चढ़ाते हैं। इड़ा और पिंगला नाड़ियों का ऐक्य करके अनाहत ध्वनि के गजर में वे चंद्रामृत शीघ्र जीत लेते हैं। और सुषुम्ना नाड़ी की बीच की सुरंग में खुदी हुई सीढ़ियों से ब्रह्मरंध्र तक मंज़िल तय करते हैं ॥५१-५५ ॥ फिर आज्ञाचक्र की कठिन सीढ़ी चढ़कर और चिदाकाश को बगल में दबाकर ब्रह्म से जाकर मिलते हैं। इस तरह सर्वत्र समबुद्धि होकर ब्रह्मप्राप्ति के लिये योग के समान उग्र मार्ग का आश्रय लेते हैं। और इस प्रकार जो अपने स्वत्त्व के बदले में जलद अव्यक्त ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, वे भी, हे अर्जुन, मेरे पास आते हैं। परंतु उनको इस योगबल से विशेष लाभ होता है, यह बात तो नहीं। लेकिन, वे व्यर्थ परेशान होते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५ ॥

यह सही है कि सब प्राणिमात्रों के लिये निराकार अव्यक्त ब्रह्म हितप्रद होता

है । लेकिन जो उसको भक्ति के बिना प्राप्त करनेकी आशा करते हैं उनके मार्ग में इंद्रादिक पद भुलावा देते हैं और ऋद्धिसिद्धियाँ बाधा डालती हैं । उनको काम, क्रोध, जैसे अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ता हैं । क्या ये परिश्रम व्यर्थ नहीं हुए ? प्यास से प्यासको और भूख से भूख को दबाना पड़ता है और रातदिन हाथों से हवा मापनी पड़ती है । दिन में धूप में सोना, संयम से सुख मानना, और पेड़ के साथ मैत्री करना, ठंड पहनना, धूप ओढ़ना, बारिश में बैठना, ॥६१-६५ ॥सारांश, कि इस प्रकार का योग करना पड़ता है जो पति के बिना सती को प्रतिदिन अग्निप्रवेश के समान है । इस योगमार्ग में स्वामी का कार्य या कुलाचार का निमित्त न होते हुए भी मृत्युके साथ नित्य नयी मुठभेड़ होती है । ऐसे मृत्यु से भी ज्यादा तीक्ष्ण और उष्ण ज़हर का घूँट कोई क्या पी सकता है ? अरे, क्या पहाड़ निगलने से मुँह फट नहीं जायेगा ? इसलिये, हे अर्जुन, जो इस मार्ग से चलते हैं, उनको दुःख का बड़ा हिस्सा उठाना पड़ता है । देखो, दंतविहीन आदमी को लोहे के चने खाने पड़े, तो उसका पेट भरेगा या उसको जान से हाथ धोना पड़ेगा ? ॥६६-७० ॥ समुद्र कौन हाथोंसे तैर सकता है किंवा आसमान में चल कर कौन गया है ? और रणभूमि में घायल न होकर कोई सूर्यलोक को चढ़ा है ? इसलिये, हे अर्जुन, जैसे अपाहिज वायु से होड़ नहीं लगा सकता, वैसेही देहधारी व्यक्ति को अव्यक्त की प्राप्ति नहीं हो सकती । ऐसा होनेपर भी जो प्रबल इच्छा से निराकार की प्राप्ति के लिये कष्ट झेलते हैं, वे क्लेश के योग्य होते हैं । अतः, हे पार्थ, जिन्होंने भक्तिमार्ग का आसरा लिया है उनको ये कष्ट सहने नहीं पड़ते ॥७१-७५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६ ॥

वे भक्त वर्णधर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त हुए हैं उनका कर्मेंद्रियों द्वारा सुख से आचरण करते हैं । वे शास्त्रोक्त विधि से कर्म करते हैं, निषिद्ध कर्म टालते हैं और मुझको अर्पण करके कर्मफल को जलाते हैं । इस प्रकार वे सब कर्म मुझको समर्पित करके उन कर्मों का नाश करते हैं । और उनकी कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ मेरे अलावा और कहीं नहीं जातीं । इस प्रकार वे मेरी लगातार उपासना करके मुझमें लगे रहते हैं और ध्यान के द्वारा मेरा निवासस्थान होते हैं ॥७६-८० ॥

वे बेचारे भोग और मोक्ष को छोड़कर मुझसेही लेन-देन का व्यवहार करते हैं। इस तरह जो मुझसे खुले दिल से तन मन प्राण अर्पण करते हैं, उनके लिये मैं क्या कुछ नहीं करता ? उनकी सब कामानाएँ मुझकोही पूरी करनी पड़ती हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७ ॥

ज्यादा क्या कहूँ, अर्जुन ? जो माता की कोख में जन्म लेता है, वह मांको कितना प्यारा होता है ? वैसेही मेरे भक्त कैसे भी क्यों न हो, वे मेरे दुलारे होते हैं और उनके संकट दूर करने का मैंने दायित्व लिया है। फिर मेरे भक्तों को संसार की चिंता क्यों हो ? अरे, अमीर की स्त्री को क्या कभी सूखी रोटी खानी पड़ती है ? ॥८१-८५ ॥ वैसे ही ये मेरे भक्त मेरे परिवार के हैं। फिर उन पर कोई विपत्ति आई, तो वह मेरे लिये कितनी लज्जास्पद बात होगी ? मेरे भक्त इस धरती पर जन्ममृत्यु की लहरों में गोते खा रहे हैं यह देखकर मेरा जी व्याकुल हो उठता है। भवसागर के क्षोभ से किस को भय नहीं लगता ? हे अर्जुन, मेरे भक्त भयभीत न हों इस लिये मैं अवतार लेकर क्या उनके गांव दौड़कर नहीं जाता ? मेरी सहस्त्रनामरूपी नौका तैयार करके मैं उनको संसारसागर के पार लगाता हूँ ॥८६-९० ॥ जो अकेले हैं उनको मैं ध्यान में लगाता हूं और जो कुटुंबी हैं उनको मैं नामरूपी नाव में बैठाता हूँ। कुछ भक्तों के पेट के नीचे सूखी तुम्बी बांध कर उनको मोक्ष के किनारे पर ले जाता हूँ। और जो अपने को मेरे भक्त समझते हैं - फिर वे जानवर भी क्यों न हों - उनको मैं वैकुंठके राजपद पर बैठने के योग्य बनाता हूँ। इसलिये मेरे भक्तों को कुछ चिंता नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उनकी रक्षा के लिये मैं सदा कटिबद्ध हूँ। और जिस समय मेरे भक्तों ने अपनी चित्तवृत्तियाँ मुझको समर्पित कीं, उस समय मेरा उनसे लगाव हो चुका। ॥९१-९५ ॥ इसलिये, हे भक्तराज धनंजय, मैं तुम्हें मंत्र देता हूँ कि तुम भक्तिमार्ग अपनाओ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८ ॥

अरे, इस प्रकार से अपना मन और बुद्धि निश्चयपूर्वक मेरे स्वरूप में लगाओ। यदि तुम इन दोनों को एकत्रित करके मेरे दिल में पैठ जाओगे, तो तुम मुझे पा

जाओगे । क्योंकि जब तुम्हारे मन और बुद्धि मुझमें स्थिर हो गये, तब हम दोनों में अलगाव कैसे रह सकता है ? जिस तरह दिया बुझतेही उसकी रोशनी गुम होती है, किंवा अस्त होनेपर सूर्य का प्रकाश लुप्त होता है, ॥९६-१०० ॥अथवा शरीर से प्राण के साथ इंद्रियाँ भी बाहर निकल जाती हैं उसी तरह मन और बुद्धि के साथ अहंकार भी चला जाता है । इस लिये यदि मेरे स्वरूप में मन और बुद्धि स्थिर रखोगे, तो मुझ सर्वव्यापक से तुम एकरूप हो जाओगे । हे अर्जुन, मैं सौगंध खाकर कहता हूँ कि मैंने जो कुछ कहा है उसको अपवाद नहीं है ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९ ॥

अथवा यदि तुम मन और बुद्धि के साथ अपने चित्त को मुझमें समर्पित नहीं कर सकते, तो तुम दिन के आठ प्रहर में एक क्षण के लिये मुझमें अपना चित्त लगाओ ॥१०१-०५ ॥ फिर जिस क्षण में तुम्हारा मन मेरे समागमसुख का अनुभव करेगा, उसी क्षण तुम्हारे चित्तमें विषयों के प्रति अरुचि पैदा होगी । फिर जैसे शरदऋतु का प्रारंभ होतेही नदियों में जल घट जाता है, वैसेही तुम्हारा मन प्रपंच से उचट जायेगा । अथवा जिस तरह पूनम से दिन प्रतिदिन चंद्रमंडल छोटा होकर अमावस को अदृश्य हो जाता है, उसी तरह तुम्हारा मन विषयभोग से हटकर मुझमें पैठ जायेगा, और धीरे धीरे मुझसे एकरूप हो जायेगा । जिसको अभ्यासयोग कहते हैं वह यही है ऐसा समझ लो । इससे अप्राप्य ऐसी कोई वस्तु नहीं है ॥१०६-१० ॥ इस अभ्यासयोग के बलपर कोई अंतरिक्ष में घूम सकते हैं, कोई वाघ, साँप इत्यादि हिंस्र प्राणियों को नरमदिल बना सकते हैं । इससे योगी ज़हर भी पचा सकते हैं, समुद्र पर चल सकते हैं, और योगाभ्यास से वेदों को भी नीचे दिखा सकते हैं । इस लिये अभ्यास के लिये कोई भी बात मुश्किल नहीं । इसलिये तुम अभ्यास के द्वारा मद्रूप हो जाओ ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१० ॥

अथवा तुम अभ्यास करने में असमर्थ हो, तो तुम अपना जीवनक्रम जैसा है वैसा ही रखो, इंद्रियों का दम मत घोटो, विषयभोग कम मत करो, और अपनी जाति का अभिमान मत छोड़ो ॥१११-१५ ॥ अपने कुलाचारों का और शास्त्रोक्त नियमों

का पालन करो और निषिद्ध कर्म त्याग दो । फिर मनचाहा बर्ताव करने के लिये तुम्हें छूट है । किंतु जो कायिक या मानसिक कर्म तुमसे बनता है वह मैं करता हूँ ऐसा अभिमान मत करो । जिस परमात्मा की सत्ता से दुनिया के व्यवहार चालू रहते हैं, वह कर्म और अकर्म क्या है, यह जानता है । यदि कर्म अधूरा रह गया या पूर्ण हो गया, तो उसके बारे में मत सोचो और अपनी जाति के अनुसार अपना जीवनक्रम रखो । जैसे बागवान पानी जहाँ ले जाता है वहाँ पानी को शांति से जाना पड़ता है, वैसे तुम कर्तृत्व का अभिमान छोड़कर कर्म किया करो ॥११६-२० ॥ फिर क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इस निर्णय का बोझ बुद्धि पर नहीं पड़ता और चित्त लगातार मुझमें लगा रहता है । लेकिन हे अर्जुन, रास्ता टेढ़ा है या सरल है इसके बारेमें रथ क्या कभी चिंता करता है ? अत: जो जो कर्म करते जाओगे वह कम या ज्यादा ऐसा न कहते हुए मुझको चुपचाप समर्पित करो । हे अर्जुन, इस प्रकार मेरे लिये भक्ति से कर्म करोगे तो तुमको सायुज्यमुक्ति प्राप्त होगी ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रित: ।
सर्वकर्मफलत्यागं तत: कुरु यतात्मवान् ॥११ ॥

अथवा, हे अर्जुन, यदि तुम मेरे लिये कर्म नहीं कर सकते हो, तो तुम इस प्रकार आचरण करो ॥१२१-२५ ॥ संकल्प के पहले या बादमें कर्म के प्रारंभ में या अंतमें, मुझे कर्म अर्पण करना मुश्किल होता हो, तो छोड़ दो, मेरा स्मरण भी मत करो, मगर तुम बुद्धि पर संयम रखो । कर्म करते हुए भी उसके फल की आशा मत करो । जैसे फलों से लदे हुए वृक्ष और बेलें फलों को फेंक देते हैं वैसेही पूर्ण किये हुए कर्म का फल त्याग दो । मेरे लिये संकल्प करके मेरे उद्देश्य से कर्म भी मत करो ॥१२६-३० ॥ चट्टान पर गिरी हुई वर्षा, अग्नि में बोया हुआ बीज किंवा नींदमें देखा हुआ स्वप्न ये जैसे व्यर्थ होते हैं, वैसेही कर्म निष्फल है ऐसा मान लो । अरे, जैसे हम कन्या के प्रति अभिलाषा नहीं करते, वैसे तुम कर्मफल के बारेमें निष्काम बनो । अग्नि की ज्वाला जैसी अन्तरिक्ष में व्यर्थ जाती है, वैसेही कर्म को व्यर्थ जानकर फलाशा छोड़ दो । हे अर्जुन, यह फलत्याग आसान सा लगता है, परंतु वह सब योगों में श्रेष्ठ है । जैसे बांस का पेड़ एक दफा फल देनें पर फिरसे फलता नहीं, वैसेही फल का त्याग करनेपर उस कर्म को अंकुर नहीं फूटते । ॥१३१-३५ ॥ इसलिये इसी जन्म में देहधारण समाप्त हो जाता है और जन्ममरण का चक्कर बंद

हो जाता है। अभ्यास के द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जाता है, ज्ञानप्राप्ति होनेपर ध्यान पैदा होता है और सब मनोवृत्तियों का मेल होनेपर सारे कर्म रुक जाते हैं। कर्म रुक जानेपर फलत्याग बनता है और उससे शांति प्राप्त होती है ॥ इसलिये, हे अर्जुन, शांति पानेका यही एक मार्ग है। सो तुमको पहले उसका अभ्यासही करना चाहिये ॥१३६-४० ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२ ॥

हे पार्थ, अभ्यास से ज्ञान गहरा है, और ज्ञानसे ध्यान अधिक कठिन है। फिर ध्यानसे भी कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, और फलत्याग से जो शांति मिलती है वह बढ़िया है। हे वीरश्रेष्ठ इस मार्ग से मेरा भक्त धीरे धीरे शांति को प्राप्त कर लेता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३ ॥

चेतना को जैसे अपना और पराया ऐसा भेदभाव नहीं होता, वैसे ही उसके मन में किसी प्राणी के लिये द्वेष नहीं होता। जिस तरह भूमाता अच्छे आदमी को जगह देकर नीच को धकेल देना नहीं जानती, ॥१४१-४५ ॥ अथवा राजा के ही शरीरमें रहूँगा, रंक के शरीर में नहीं ऐसा कृपालु प्राण नहीं कहता, अथवा गाय की प्यास बुझाऊं और वाघ को जहर बनकर मारूँ ऐसा जल नहीं सोचता, उसी तरह उसकी प्राणियों के प्रति समान मित्रता होती है, और वह उनको धाय के समान सँभालता है। मैं मेरा और तू तेरा ऐसी भावना उसके मन में नहीं होती और उसको सुखदुःख का भान भी नहीं होता। साथही वह पृथ्वी के समान क्षमाशील होता है और आनंद उसके गोद में बसा रहता है। ॥१४६-५० ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४ ॥

जैसे बरसात के बिना समुद्र जल से पूर्ण भरा होता है, वैसेही वह बाहरी उपचार के बिना प्रसन्न रहता है। वह सौगंध खाकर अपना मन वश में रखता है, और उसके निश्चय के बल से निश्चय यथार्थ होता है। उसके हृदय में आत्मा और परमात्मा एक आसन पर विराजमान होकर रहते हैं। इस योगसमृद्धि से संपन्न होकर

वह अपने मन और बुद्धि मुझको अर्पण करता है और वह भीतर और बाहर विशुद्ध होकर प्यार से मेरी भक्ति करता है ॥१५१-५५ ॥ हे अर्जुन, वही मेरा भक्त, वही योगी, वही मुक्त, वही मेरी पत्नी और मैं उसका पति हूँ। प्रिय व्यक्ति की बात, जो मोहनी डालती है, शब्दों से कही नहीं जा सकती । परंतु तुम्हारी श्रद्धा देखकर मुझको वह कहनी पड़ी । इसलिये मैंने पति-पत्नी का दृष्टान्त दिया, नहीं तो मैं यह प्रेम कैसे प्रकट कर पाता ? हे अर्जुन, प्यारे व्यक्ति के बारेमें बात करने से प्यार दुगुना हो जाता है ॥१५६-६० ॥ तिसपर कभी भावुक श्रोता मिला, तो उस आनंद की तुलना क्या हो सकती है ? हे अर्जुन, तुम मेरे प्रियतम हो और लगन के साथ सुन रहे हो । और प्रिय भक्त की चर्चा सुयोग से प्राप्त हुई, इसलिये, मैं बोल रहा हूँ। अब इस संवाद के सुख का अच्छा मौक़ा मिल गया, यह कहकर भगवान् डोलने लगे । फिर उन्होंने कहा कि जिस भक्त को मैं अपने हृदय में रखता हूँ, अब उसके लक्षण कहता हूँ, उनको समझ लो ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५ ॥

जैसे समुद्र क्षुब्ध होनेपर भी उससे जलचर नहीं डरते, और न समुद्र ही उनसे कष्ट पाता है ॥१६१-६५ ॥ वैसे ही इस उद्दाम जगत् से उसको रंज नहीं होता, और न उससे लोगों को कष्ट होते हैं । हे अर्जुन, जैसे शरीर अपने अवयवों से नहीं ऊबता, वैसे मैं सभी की आत्मा हूँ इस भावना से प्राणिमात्र मुझसे परेशान नहीं होते । यह जगत् अपनाही शरीर है ऐसा वह मानता है और इसलिये उसके मन में यह प्रिय, वह अप्रिय ऐसे विचार नहीं आते । और इस प्रकार द्वैतभाव मिट जानेपर हर्ष और क्रोध जैसे विकार नष्ट होते हैं । इस तरह जो सुखदुःखादि द्वंद्वों से और भय और शोक से मुक्त होकर मेरी भक्ति करता है, उससे मैं मोहित होता हूँ। मैं कैसे बताऊँ कि वह मुझे कितना प्यारा है ?वह मेरे लिये ही जीवित रहता है । ॥१६६-७० ॥ जो आत्मानंद से तृप्त हो गया है और जिसने जीवन का लक्ष्य पाया है, उसको पूर्णता ब्याहती है ।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६ ॥

मेरे भक्त में, हे अर्जुन, इच्छा बिल्कुल नहीं होती, और उसका मन सुखसे भरा होता है। काशीक्षेत्र मोक्ष प्रदान करने में सचमुच उदार है, परंतु उसके लिये वहाँ देहत्याग करना पड़ता है। हिमालय के पहाड़ोंपर दोषों का क्षालन होता है, मगर वहाँ जान गँवाने की सम्भावना होती है। परंतु साधुओं का पावित्र्य वैसे धोखादायक नहीं होता। गंगाजल पवित्र होता है, पाप और मनस्ताप हराने वाला है, किन्तु उसमें डूब जानेका खतरा है ॥१७१-७५॥ गंगा के समान साधुओंका ज्ञान गहरा होता है, और उसकी थाह कोई नहीं ले सकता। परन्तु उनके सहवास में भक्त डूब नहीं जाता, उलटे जीते जी मोक्ष पाता है। जिस साधु के स्पर्शसे गंगा का पाप नष्ट होता है, उसके सहवास में कितनी पवित्रता होती है ! ऐसा साधुपुरुष अपनी पवित्रता से तीर्थ का भी आश्रयस्थान बनकर मन के सब विकार मिटा देता है। वह सूर्य के समान बाहर और भीतर निर्मल हो कर उसको ब्रह्मतत्त्व दिखाता है, जैसे पाँव की ओर से पैदा हुआ आदमी गढ़ा हुआ धन। जैसे आसमान सर्वव्यापक और अलिप्त होता है, वैसेहीं उसका मन सर्वव्यापक और उदासीन होता है ॥१७६-८०॥ जैसे चिड़ीमार से बचा हुआ पंछी निडर होता है, वैसेही वह संसार की चिंतासे मुक्त होकर इच्छारहित हो जाता है। जैसे मृत आदमी को अपने नंगे शरीर से लज्जा नहीं होती, वैसेही वह सुख पाकर किसी कर्म से नहीं ऊबता और कर्म करते समय अहंकार से प्रेरित नहीं होता। ज़िस तरह ईंधन के अभाव में अग्नि बुझ जाती है, उसी तरह उसको शांति प्राप्त होती है, और उसका नाम मोक्षपटल पर लिखा जाता है। इस प्रकार सोहंभाव से भरा हुआ वह पुरुष द्वैत के परले किनारे पर पहुँच जाता है ॥ १८१-८५॥ लेकिन भक्तिसुख का अनुभव पाने के लिये वह योगी अपनेमें दो भाग करके उनको भक्त और भगवान ऐसे नाम देता है और जो भक्त नहीं हैं उनको भक्ति की योग्य रीति बताता है। ऐसे भक्त का मेरे साथ लगाव होता है, वही मेरे ध्यान का विषय बनता है, और उसकी भेंट से मुझे संतोष होता है। उसीके लिये मैं अवतार लेकर धरतीपर आता हूँ और उसपर मेरे प्राण निछावर करता हूँ। इतना वह मुझको प्रिय होता है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रिय ॥१७॥

मेरे भक्त को आत्मप्राप्ति के सिवा अन्य बात अच्छी नहीं लगती और उसको

किसी भी विषयभोग से सुख नहीं मिलता। ॥१८६-९० ॥ मैंही विश्व हूँ ऐसी प्रतीति होने के कारण उसका द्वैतभाव नष्ट हो चुका है और उसमें द्वेषबुद्धि शेष नहीं रही है । अपना जो सच्चा स्वरूप है उसका कल्पान्त में भी नाश नहीं होगा इस तरह का उसको निश्चित ज्ञान हुआ है और इसलिये जो बीत गया है उसके बारे में वह शोक नहीं करता और ब्रह्मरूप होनेकी उसको कोई कामना नहीं होती । जैसे सूरज को रात और दिन महसूस नहीं होते, वैसेही उसको यह भला वह बुरा ऐसा खयाल नहीं होता। इस तरह वह अखंड ज्ञानरूप होकर मुझमें भजनशील रहता है ॥१९१-९५ ॥ मैं तुम्हारी सौगंध खाकर कहता हूँ कि उस भक्त जैसा मेरा कोई संबंधी नहीं होता ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८ ॥

हे अर्जुन, मेरे भक्त के मन में विषमता का अत्यल्प अंश भी नहीं होता और वह मित्र और शत्रु को समान मानता है । घर के आदमी को प्रकाश और पराये आदमी को अंधकार देना दीप नहीं जानता । वृक्ष जो आदमी काटने आया है उसे और जो बोआई करने आया है, उन दोनों को वह समान छाया देता है । अथवा, गन्ना जल देने वालों को मीठा और चर्खे में डालकर निचोड़नेवालों को खट्टा नहीं होता ॥१९६-२०० ॥ उसी तरह यह मेरा शत्रु, यह मेरा मित्र ऐसा वह नहीं सोचता और सम्मान और अपमान को समान मानता है । आसमान जैसे तीनों ऋतुओं में समान रहता है, वैसे ही वह भक्त सर्दी और गरमी को महसूस करता है । हे अर्जुन, वायु दक्षिण दिशा से बहे या उत्तर दिशा से, पर्वत निश्चल रहता है, वैसे वह भी सुख और दुःख में अविचलित रहता है । जैसे ज्योत्स्ना राय और रंक को समान सुख देती है, वैसेही वह प्राणिमात्र से समान पेश आता है । जैसे सब लोग जल को चाहते हैं वैसे वह तीनों लोकों में प्रिय होता है ॥२०१-०५ ॥ ऐसा वह मेरा भक्त भीतरी और बाहरी विषयों की बात छोड़ कर एकान्त में आत्मस्वरूप में स्थिर रहता है ।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९ ॥

वह निंदा सुनकर नाराज़ नहीं होता और प्रशंसा सुनकर खुश नहीं होता । जैसे आसमान को किसी से संबंध नहीं होता, वैसे वह निंदा और प्रशंसा को तुल्य

समझता है और जन-विजन में अपना मनोधर्म समान रखकर बर्ताव करता है। किसीके मुख से जब खरी खोटी बातें निकलती हैं तब भी उसका मौन भंग नहीं होता और वह अपनी अनमनी अवस्था का अनुभव करके तृप्त नहीं होता। जैसे समुद्र वर्षा के अभाव में नहीं सूखता, वैसे वह प्राप्त वस्तु से हर्ष और अप्राप्त वस्तु के लिये खेद नहीं करता ॥२०६-१० ॥ जैसे वायु कहीं एक जगह पर नहीं ठहरती, वैसे वह किसी का सहारा नहीं लेता, अथवा जैसे आसमान में सभी जगह वायु लगातार रहती है, वैसे वह सब दुनिया को अपना विश्रामस्थान मानता है। यह विश्वही मेरा घर है ऐसा उसका पक्का निश्चय होता है। सब चराचर विश्व प्राप्त होने परभी उसको मेरी भक्ति में आस्था होती है।हे पार्थ, इसलिये मैं उसको मुकुट के समान माथे पर रखता हूँ। अच्छे आदमी को किसीने झुक कर प्रणाम किया तो इसमें आश्चर्य नहीं। किन्तु त्रिभुवन में लोग मेरे भक्त का चरणतीर्थ लेकर उसका सम्मान करते हैं। ॥२११-१५ ॥श्रद्धास्थान का आदर कैसे करे यह श्रीशंकर को गुरु मानकर समझ लेना चाहिये। परंतु श्रीशंकर की स्तुति आत्मस्तुति करने के समान होती है, इसलिये यह दृष्टान्त उचित नहीं। मैं इतनाही कहना चाहता हूँ कि मैं मेरे भक्त को सिर पर धारण करता हूँ। चौथा पुरुषार्थ जो मोक्ष है उसको पाने पर भी मेरा उपासक भक्तिमार्ग पर चलता है और दुनिया के सामने आदर्श रखता है। मोक्ष का स्वामी होकर वह फैसला करता है कि वह मोक्ष किसीको दे या किसीको न दे। और फिर भी जलके समान नम्र होता है ॥२१६-२० ॥ इसलिये मैं उसको प्रणाम करता हूँ और अपने कानों से उसका यशोगान सुनता हूँ। उसको देखनेकी उमंग से मैं अचक्षु होकर भी आँखवाला होता हूँ और हस्तगत कमलसे उसकी पूजा करता हूँ। दो हाथोंसे ज्यादा दो हाथ लेकर उसको आलिंगन देने के लिये मैंने अवतार लिया है। उसके सहवास का सुख पाने के लिये निराकार होते हुए भी मुझको देहधारण करना पड़ा। सारांश, कि मेरा उसके लिये जो प्यार है उसकी कोई उपमा नहीं ॥२२१-२५ ॥ फिर वह मेरा जानी दोस्त है यह कहना भी भद्दा लगता है। जो उसका चरित सुनकर उसकी स्तुति करते हैं वे भी मुझको अत्यंत प्रिय हैं। हे अर्जुन, यह जो आदि से अबतक संपूर्ण योग तुम्हें बताया वह भक्तियोग है। उस भक्तियोग की महिमा इतनी बड़ी है कि मैं खुद उस भक्त से प्यार करता हूँ और उसको मनमें और माथेपर रखता हूँ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२० ॥

इस प्रकार जो इस योग की रम्य, अमृत बरसानेवाली और धर्म को संमत बातें सुनकर उनका स्वयं अनुभव करते हैं, ॥२२६-३० ॥ और योग के प्रति श्रद्धा और आदर रखते हैं, उनके मनमें योग के प्रति रुचि बढ़ जाती है और वे उसको आचरण में लाने का प्रयास करते हैं । और जब उनकी मन की स्थिति मेरे बयान के अनुसार होती है, तब उनको ऐसा फल मिलता है जैसे उपजाऊ ज़मीन में बीज बोनेसे मिलता है । मगर जो मेरे प्रति मन में प्रेम रखकर मुझको परमगति और सर्वस्व मानते हैं, वे इस दुनिया में मेरे भक्त और योगी होते हैं । इस लिये, हे पार्थ, मुझको उनके लिये निरंतर लगाव होता है । जिनको भक्तिकथा के बारे में अत्यंत रुचि होती है, वे ही तीर्थस्थान, वे ही पुण्यक्षेत्र और वे ही पवित्र पुरुष होते हैं ॥२३१-३५ ॥ मैं उनका ध्यानं करता हूँ, वेही मेरे पूजनीय देवता हैं, और उनके सिवा और कुछ अच्छा नहीं लगता । उनकी ही मुझे चाह है, वेही मेरी धरोहर हैं, सारांश कि उनकी भेंटसे मुझको संतोष होता है । और हे अर्जुन, जो मेरे प्रिय भक्तों की बातें सुनाते हैं, वे भी मेरे परमदेवता हैं । इस प्रकार अपने भक्तों को आनंद देनेवाले जगत् का मूल कारण श्रीमुकुंद बोले, ऐसा संजय ने धृतराष्ट्र से कहा । हे राजन् ऐसे जो पूर्ण और निर्दोष, लोगोंपर कृपा और शरणागतों का पालन करनेवाले और शरण में जाने के लिये योग्य, ॥२३६-४० ॥ देवताओं की सहायता करनाही जिसका शील है, लोगों का पालन करना जिसकी लीला है, शरणागतों की रक्षा करना जिसका खेल है, धर्म के विषय में कीर्तिमान्, अपार औदार्य से सब को समान, अत्यंत बलवान होकर भी बलि के बंधन में रहनेवाले, भक्तजनों के प्रेमी, प्रिय व्यक्तियों के प्रति दिलदार, सत्य की ओर ले जानेवाला सेतु, कलाओं के निधी ऐसे वे वैकुंठ के अधिराज श्रीकृष्ण बोल रहे हैं और भाग्यवान अर्जुन सुन रहा है । संजय धृतराष्ट्र से बोला कि इसके आगे जो कथा भगवान् कहेंगे उसको सुनिये । ॥२४१-४५ ॥वही कथा आज देशी भाषा में मैं कहूँगा, आप श्रवण कीजिये । ज्ञानदेव कहते हैं कि सद्गुरु निवृत्तिनाथ ने हमें सीख दी है, कि हम आप सज्जनों की सेवा करे ॥२४६-७० ॥

◆ ◆ ◆

॥ तेरहवाँ अध्याय ॥

आत्मस्वरूप श्रीगणेश का स्मरण करके मैं जो सब विद्याओं के आश्रयस्थान है, उन श्रीगुरु के चरणों को प्रणाम करता हूँ। उनका स्मरण करने से काव्यशक्ति आत्मसात् होती है और सब विद्याएँ कंठस्थ होती हैं। वक्तृत्व इतना मीठा होता है कि वह अमृत पर मात करता है और रस उसके शब्दों का आश्रय लेते हैं। भावार्थ का विवरण उसका मर्म प्रकट करता है और उससे सिद्धान्तों के विषय में जो मतभेद हैं वे मालूम पड़ते हैं। जब हम सद्गुरु के चरणों की याद करते हैं, तब हमारा ज्ञान खुल जाता है ॥१-५॥ उन गुरुचरणों को वंदन करके ज्ञानदेव कहते हैं कि वे ब्रह्मदेव के जनक रमानाथ ऐसा बोले :-

श्रीभगवानुवाच :

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

पार्थ, सुनो। इस देह को क्षेत्र कहते हैं और इसको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२ ॥

और ठीक तरहसे समझ लो कि जो सब क्षेत्रों का पालनपोषण करता है उस क्षेत्रज्ञ को अच्छी तरह जानना यही ज्ञान है ऐसा मैं समझता हूँ ।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३ ॥

इस शरीर ने जिस अभिप्राय से 'क्षेत्र' नाम पाया है वह मैं तुमसे अब कहता हूँ ॥६-१० ॥ इसको क्षेत्र क्यों कहते हैं, वह कैसे और कहाँसे पैदा हुआ, और किन विकारों से वह बढ़ता है, वह परिमित साढ़ेतीन हाथ का है या कितना और कैसा है, वह बंजर है या उपजाऊ खेत है और वह किसका है ? इस क्षेत्र के विषय में वेदों की चर्चा निरंतर चलती रही है और इसका निर्णय करने के लिये तर्क बातूनी बना । इसके सोचविचार में छः दर्शन व्यस्त हुए, फिर भी उनके वाद अबतक समाप्त नहीं हुए ॥११-१५ ॥ इसके कारण शास्त्रों का मेल टूट गया और उनमें ऐकमत्य लाने के लिये संसार में वादविवाद जारी है । किन्तु वे परस्पर सामने आकर बातें नहीं करते और युक्तिवाद करते करते वे थक गये हैं । किसी को पता नहीं है कि यह क्षेत्र किसका है, लेकिन उसको जानने की इतनी तीव्र इच्छा है कि घर घर में उसकी चर्चा हो रही है । जब वेदों ने शोर मचा कर पाखंडियों का सामना किया तो पाखंडी और गाल बजाने लगे । उन्होंने कहा कि यह तुम्हारा वाक्चातुर्य झूठा और निराधार है और यदि तुम्हें यह मान्य नही है, तो तुम्हे हराने के लिये हम चुनौती देते हैं । ॥१६-२० ॥पाखंडियों के बहुत गिरोह हैं, कोई नंगे होते हैं, कोई मुंडन करते हैं, मगर उनसे आयोजित सब तर्कवितर्क व्यर्थ होते हैं । यह क्षेत्र मौत के चँगुल में फँस कर व्यर्थ होगा यह जानकर (उसकी रक्षा के लिये) योगी आगे बढ़े, लेकिन वे मौत से घबराकर एकान्त में यमनियमोंका उपाय करने लगे । इस क्षेत्र के अभिमान से और उपाधियों से बचने के लिये श्रीमहादेव ने राज्यत्याग किया और स्मशान में रहने लगे । वे दिगंबर बने और उन्होंने रतिसुख की घूस देनेवाले काम को जला दिया ॥२१-२५ ॥ उस क्षेत्र का निर्णय करने लिये ब्रह्मदेव ने चार सिर पाये, तो भी उसके प्रभाव को नहीं जान सके ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४ ॥

कोई कर्मवादी कहते हैं कि इस क्षेत्र पर पूरी तरह आदमी का स्वामित्व है और प्राण उसका काश्तकार है । इस प्राण के घर में उसके चार भाई (अपान, व्यान, समान, उदान) काम करते हैं और मन उनपर निगरानी करनेवाला कारिंदा है । इस प्राण के पास दस इंद्रियरूपी सांडों के जोड़े हैं और वह दिन रात विषयरूपी खेत में मेहनत करता हैं । जब वह विधि की भाप टालकर भूने हुए खेतमें अन्याय का बीज बोता है, तब वह पापों की भरसक फसल पाता है, ॥२६-३० ॥और असंख्य जन्म दुःख भोगता है । इस के विरुद्ध यदि वह विधि की भाप पकड़कर सत्कर्म के बीज बोता है तो सैकड़ों जन्मतक सुख का उपभोग लेता है ।

उसपर और कोई (सांख्यवादी) कहते हैं कि यह क्षेत्र आदमी का नहीं होता । हमसे पूछो कि वह किसका होता है ? इस क्षेत्र (शरीर) में एक मुसाफिर वास करता है । प्राण इस क्षेत्र में पहरुआ होता है और वह दिन रात सजग रहकर उसकी रक्षा करता है । सांख्य जिसका वर्णन करते हैं, उस अनादि प्रकृति की यह क्षेत्र जागीर है ऐसा समझो ॥३१-३५ ॥ और इसके पास साधनसामग्री होनेसे वह उस क्षेत्र की बोआई स्वयं करती है । इस क्षेत्र की असली बोआई करनेवाले जो तीन गुण हैं वे इस प्रकृति से पैदा हुए हैं । इनमें रजोगुण बोआई करता है, सत्त्वगुण परवरिश करता है और तमोगुण लुनाई करता है । फिर वह प्रकृति महत्तत्त्व का खलिहान बनाकर काल नामक साँड़ से दँवरी करती है, और फिर अव्यक्त की शाम होती है ।

फिर बुद्धिमान (संकल्पवादी) यह सुनकर नाराज़ हुए और बोले कि आपका यह ज्ञान आजकल का है ॥३६-४० ॥ अजी, परब्रह्म के सामने आपकी प्रकृति की क्या शान है ? हम इस क्षेत्र का वास्तविक रूप कहते हैं, वह सुनिये तो सही । निराकार ब्रह्म के शयनकक्षमें लयरूपी गद्दीपर संकल्प सोया हुआ था । वह अचानक जाग्रत हुआ और वह निरंतर उद्यमी होने से उसने अपनी इच्छा के अनुसार त्रैलोक्य की निधी पायी । उसकी मेहनत से जो त्रिभुवनरूपी उद्यान लयावस्था में थः उसने नामरूप धारण किया । फिर उसने महाभूतों के बंजर खेतों को एकत्रित

करके प्राणियों के जारज, स्वेदज, अंडज और उद्भिज्ज ऐसे घाट बनाये ॥४१-४५ ॥ उसके बाद महाभूतों के अलग अलग भाग करके उनके शरीररूपी बांध तैयार किये। फिर दोनों तरफ़ कर्माकर्मरूपी पत्थर की मेंड़े बनाकर उस बंजर की उर्वर भूमि तैयार की। बादमें उस भूमि में आनेजाने के लिये कभी बंद न होनेवाली जन्ममृत्युरूपी सरल राहें संकल्प ने बनाई। फिर उसने जीवन के अंततक अहंकार से हाथ बटाकर बुद्धि के द्वारा स्थावरजंगम सृष्टि की व्यवस्था की। इस तरह ब्रह्माकाश में संकल्प की टहनियाँ फूट आयी, इसलिये वह ईश्वर का संकल्प ही इस प्रपंच का मूल कारण है ॥४६-५० ॥

उनकी ये बातें ऊटपटांग मानकर अन्य लोगोंने (स्वभाववादियों ने) उनको टोक कर कहा कि आप बड़े पंडित निकले । परब्रह्म के गांव में यदि संकल्प की सुप्तावस्था मान लें, तो ब्रह्म की प्रकृति को क्यों न स्वीकार करें ? यह रहने दीजिये। आप इस चर्चा में मत पड़िये। हम कहेंगे कि यह क्षेत्र क्या है ? आसमान में जो बादल आते हैं उनमें कौन जल भरता है ? अंतरिक्ष में के सब सितारों को कौन स्थिर रखता है ? आसमान को किसने और कब तानकर रखा है ? वायु किसकी इच्छा से निरंतर बहती रहती है ? ॥५१-५५ ॥ शरीर पर जो रोम दिखाई देते हैं उनको कौन बोता है ? समुंदरमें पानी किसने भरा है ? बादल की धाराएँ कौन पैदा करता है ? उसी तरह यह क्षेत्र स्वभाव-सिद्ध है और वह किसी की जागीर नहीं है। जो इसको सँभालेगा उसी को वह फल देगा, दूसरों को नहीं।

इतनेमें और दूसरों (कालवादियों) ने गुस्से में कहा यदि यह सत्य है, तो उसपर काल की सत्ता क्यों है ? उस काल की अनिवार्य फटकार जानते हुए भी आप सब घमंड़से अपने मत पर ज़ोर दे रहे हैं। मौत सिंह की गुहा के समान भयंकर है, यह जानते हुए भी आप जो व्यर्थ बकबक करते हैं उससे क्या लाभ होगा ? ॥५६-६० ॥ यह काल महाकल्प के अंत में सत्यलोक को भी अपने चंगुल में फँसा कर ले जायेगा, और वहांके सज्जनों को परेशान करेगा। यह काल स्वर्गलोकरूपी अरण्य में जा कर उस के लोकपाल और दिग्गजों का नाश करता है। इस काल की आंधी में प्राणीरूपी हिरन निःसत्त्व होकर जन्ममृत्यु के गढ़े में घूमते

फिरते हैं। इस काल ने अपना पंजा इतना फैलाया है कि उसने जगद्रूपी हाथी भी अपने चंगुल में पकड़ लिया है। अत: यह जो कहा जाता है कि इस काल का क्षेत्रपर प्रभुत्व है वह सत्य है। हे अर्जुन, ऐसे इस क्षेत्र के बारेमें अनेक वाद हैं। ॥६१-६५॥ नैमिषारण्य में ऋषियों ने इस क्षेत्र के संबंध में काफ़ी चर्चा की थी। इसके बारेमें पुराणोंका प्रमाण है। इस के विषय में अनुष्टुभ् छंद में जो चर्चा हुई है, उसका लोग आज भी अभिमानपूर्वक आसरा लेते हैं। वेदों में बृहत्साम नामक सूक्त है, जो ज्ञानदृष्टि से पवित्र माना जाता है, वह भी इस क्षेत्र को समझ नहीं पाया। और अन्य अनेक बुद्धिमान लोगों ने इस क्षेत्र का निर्णय करने के लिये अपनी बुद्धि खर्च की, मगर कोई जान नहीं सका कि यह क्षेत्र किस प्रकार का है, कितना है और किसके स्वाधीन है ॥६६-७०॥ अब, हे अर्जुन, मैं तुमसे आरंभ से अंततक कहूँगा कि यह क्षेत्र कैसा है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा: ॥५॥

इच्छा द्वेष: सुखं दु:खं संघातश्चेतना धृति:।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

यह क्षेत्र पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियाँ, ग्यारहवाँ मन, दस विषय, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, संघात, चेतना और धृति इन छत्तीस तत्त्वोंसे बना हुआ है। अब ये महाभूत कौनसे, विषय कौनसे और इंद्रियाँ कौनसी हैं इन सब का विशेष मैं अलग अलग करके कहता हूँ ॥७१-७५॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश ये पाँच महाभूत कहे जाते हैं। और जिस तरह जाग्रदवस्था में स्वप्न, अमावस में चांद, बच्चे में जवानी, खिलने के पहले कली में महक, सारांश, कि जिस तरह लकडी में अग्नि छिपी होती है, उसी तरह प्रकृति के पेट में अहंकार छिपा होता है। जैसे काला बुख़ार कुपथ्य का बहाना ढूंढकर शरीर में बाहर और भीतर भरा रहता है, ॥७६-८०॥ वैसेही जब एकत्रित हुए पाँच महाभूतों से शरीर बनता है, तब उसको चारों तरफ़ नचानेवाला अहंकारही होता है। इस अहंकार के बारे में एक आश्चर्य की यह बात है कि वह विशेषत: नासमझ आदमी के पीछे नहीं लगता, बल्कि वह ज्ञानी पुरुषका गला पकड़कर उसको बहुत मुसीबतों में

डाल देता है ।

अब बुद्धि जिन चिन्हों से जानी जाती है उनको बताता हूँ सुनो । जब काम के प्रबल होने पर इंद्रियाँ अपनी वृत्तियों की सहायता लेकर विषयों के समुदाय जीतकर लाती हैं, और सुख-दुःख की लूट आदमी को सौंप देती है, तब उन दोनों का बुद्धि विचार करती है । ॥८१-८५ ॥ सुख और दुःख, पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ इसका वह निर्णय करती है और उसके द्वारा जीवात्मा उच्च और नीच, छोटा और बड़ा क्या है इसका फैसला करता है और विषयोंको परख लेता है । ऐसी जो ज्ञान की जड़ और सत्त्वगुण की बढ़ती दशा है और आत्मा और जीवात्मा के बीचमें रहती है, उसको बुद्धि समझो । हे अर्जुन, सांख्यमत में जो प्रकृति है वही सम्प्रति अव्यक्त है यह जान लो ॥८६-९० ॥ पहले सांख्ग्योग मत में मैंने प्रकृति का दो प्रकार से वर्णन किया था । उसमें दूसरी जो जीवदशा हे उसको भी, हे वीरश्रेष्ठ, अव्यक्त ऐसा दूसरा नाम है । जिस तरह सूर्यास्त होने पर आसमान में सितारे लुप्त होते हैं और प्राणियों के सब व्यवहार बंद हो जाते हैं, अथवा मौत के बाद देहादिक उपाधियाँ किये हुए कर्मों में छिपी रहती हैं, या बीजमें वृक्ष समाया होता है, या तंतु की अवस्था में वस्त्र अंतर्गत होता है ॥९१-९५ ॥, उसी तरह पंचमहाभूत और उनके साथ सब विकार अपने स्थूल धर्म छोड़कर सूक्ष्म रूप में जिसमें विलीन होते हैं, वह हे अर्जुन, अव्यक्त है ऐसे समझो । अब इंद्रियों के प्रकार सुनो । कान, आँखें, त्वचा, नाक और जिव्हा ये पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं ।

इन पाँच इंद्रियों का जब ऐकमत्य होता है, तो उनके द्वारा बुद्धि सुख और दुःख का निर्णय करती है ।वाणी, हाथ, पाँव, गुदद्वार और शिस्न ये इंद्रियोंके अन्य पाँच प्रकार हैं ॥९९-१०० ॥ उनको कर्मेंद्रियाँ कहते हैं, ऐसे मोक्ष के स्वामी श्रीकृष्ण बोले । क्रियाशक्ति, जो प्राण की स्त्री है, वह इन पांच इंद्रियों के द्वारा शरीर की हलचल कराती है । भगवान ने कहा, इस तरह मैं ने दस इंद्रियों के बारे में कहा । अब मन क्या होता है, उसका स्पष्टीकरण करूँगा सुनो । जो इंद्रियाँ और बुद्धि इन दोनों की संधि में होता है और जो रजोगुण के कंधेपर चंचलता से मारामारा चलता है वह मन है । आसमान के नीले रंग या मृगजल की लहर के समान उसका योंही

मिथ्या आभास होता है ॥१०१-०५ ॥ जब शुक्र और रक्त के संयोग से पंचमहाभूतों से शरीर बनता है, तब वायुतत्त्व के दस भाग होते हैं और वे दस भाग अपने अपने धर्म के बल पर देह के विशिष्ट भागों में वास करते हैं। उनमें जो निरी चंचलता होती है, वह अकेली होकर रजोगुण के बल पर बुद्धि के बाहर और अहंकार के सीने पर याने दोनों के बीच में दृढ होकर रहती है। इस चंचलता को मन ऐसा नाम यूंही दिया है, वह असलमें कल्पना ही है। उसके संयोग से आत्मा को जीवदशा प्राप्त हुई है ॥१०६-१० ॥ इसलिये वह प्रकृति की जड़ है। वह काम को पुष्टि देती है, इच्छा बढ़ाती है, आशा को प्रबल करती है और भय को पोसती है। उसकी वजह से द्वैतभाव पैदा होता है, अविद्या दृढ़ होती है, और वह इंद्रियों को विषय में धकेल देती है। वह संकल्प की सृष्टि रचा कर उसको शीघ्रही भंग कर देती है और मनोरथ की हाँड़ियाँ रचाकर उतार देती है। वह भ्रांति का भंडार होकर वायुतत्त्व का अंदरूनी गूदा है और उसने बुद्धि का द्वार ढँक दिया है ॥१११-१५ ॥ उसको हे अर्जुन, मन कहते हैं ।

अब विषयों के भेद और उनके नाम सुनो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँच ज्ञानेंद्रियों के पाँच प्रकार के विषय हैं। जैसे हरी घास देखकर जानवर हकबका जाता है, वैसेही इन पाँच इंद्रियों के द्वारा ज्ञान बाहर दौड़ता है। फिर स्वर और वर्ण का उच्चार, लेने देने की क्रिया, चलना, मल और मूत्र का विसर्जन ये कर्मेन्द्रियों के पाँच विषय हैं जिनके आधार पर क्रिया घटती है। ॥११६-२० ॥ अब इच्छा क्या होती है यह कहता हूँ। पिछले अनुभव के स्मरण से या कानों पर शब्द पड़ने से जो मनोवृत्ति जाग्रत होती है, किंवा इंद्रियों की विषयों से भेट होते ही काम का हाथ पकड़कर जो मनोवृत्ति शीघ्र ही उठती है, और फिर जब मन अस्तव्यस्त भागता है और जहाँ न जाना चाहिये वहाँ मुँह डालता है, जिस वृत्ति को विषयों में रुचि होती है, और उससे बुद्धि बावली बनती है, उस मनोवृत्ति को इच्छा कहते हैं ॥१२१-२५ ॥ और इस इच्छा के अनुसार यदि इंद्रियाँ विषयों का उपभोग नहीं कर पाती तो जो वृत्ति पैदा होती है, उसको द्वेष कहते हैं। अब उसको सुख समझो जिससे आदमी अन्य बातों को भूल जाता है, काया, वाचा और मन के व्यापार बंद होकर शरीर की विस्मृति होती है, जिसको पाने से प्राण अपाहिज होता है और

सात्त्विक वृत्ति बढ़ती है, और सब इंद्रियवृत्तियों को हृदय में समेट कर और उनको थपकियाँ देकर सुलाती है, ॥१२६-३० ॥ वरन् जहाँ जीव को आत्मा की भेंट होती है, उस का नाम सुख है । और इस अवस्था को न पाकर जीनाही सर्वथा दुःख है ऐसा समझो । संकल्प के पड़ोस में वह सुख नहीं मिलता, बल्कि उसके अभाव में ही वह स्वतःसिद्ध होता है । इसलिये संकल्प का अस्तित्व और अभाव ये दोनों दुःख और सुख के कारण होते हैं । हे अर्जुन, जो निःसंग और साक्षी होता है, और जिसकी देह पर सत्ता होती है, उसका नाम चेतना है । इस शरीर में वह पाँव के नाखून से सिर के बालों तक जाग्रत रहती है और वह जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में बदल नहीं जाती ॥१३१-३५ ॥ वह मन, बुद्धि आदि को प्रफुल्लित करती है और वह प्रकृतिरूपी बनको हराभरा करानेवाली वसंत ऋतु है । इस तरह अचेतन और सचेतन वस्तुओं में कुछ कुछ मात्रा में जिस का संचार होता है वह चेतना है इसमें संदेह नहीं । जिस तरह राजा को अपना लवाजमा मालूम नहीं होता, परंतु वह उसकी आज्ञा से दुश्मन की सेना को परास्त करता है, किंवा चाँद की वजहसे समुद्र को ज्वार आता है, अथवा चुंबक के पास होने से लोहे में हलचल होती है, किंवा सूरज के प्रकाश में लोगों के व्यवहार चालू रहते हैं, अथवा सिर्फ़ निगाह से कछुई अपने बच्चों की परवरिश करती है ॥१३६-४० ॥ उसी तरह आत्मा के निकट होने से शरीर के अचेतन अवयव जिससे सचेत हो जाते हैं, उसको, हे अर्जुन, चेतना कहते हैं ।

अब धैर्य के जो भेद हैं उनके बारे में बताऊंगा । पाँच महाभूतों का परस्पर स्वाभाविक बैर है यह जाहिर है । हे पार्थ, जल पृथ्वीका नाश करता है, अग्नि जल को सोख लेती है, वायु अग्नि की दुश्मन होती है, और आकाश किसी भी समय किसी में न मिल कर सब वस्तुओं में पैठ कर अलग रहता है । ॥१४१-४५ ॥ इस प्रकार के परस्पर पाँच महाभूत इस शरीर में एकसाथ आते हैं और आपस का बख़ेडा छोड़कर अपने अपने गुणों से परस्पर सहायक बनते हैं । इस तरह बहुधा न होनेवाली एकात्मता जिसके कारण होती है, उस वृत्ति को मैं धृति कहता हूँ । और, हे पांडव, जीव के साथ इन तत्त्वों का जो समुदाय होता है वह संघात नामक छत्तीसावाँ तत्त्व है । इस तरह मैंने ये छत्तीसों ही भेद स्पष्ट किये हैं ।

जब ये सब तत्त्व इकठ्ठा होते हैं, तब उनका संघात क्षेत्र नाम से सभी को परिचित होता है । ॥१४६-५० ॥ रथों के सब भाग एकत्रित होने पर उस को रथ, पावसे सिरतक सब अवयवों को शरीर, हाथी, घोडा आदि समुदाय को सेना ऐसे नाम देते हैं । किंवा अक्षरों के समूह को वाक्य, बादलों के झुंड को घटा, और सब लोकों को विश्व कहते हैं अथवा तेल बाती और अग्नि एकत्र आने से दीप बनता है, उसीतरह ये छत्तीस तत्त्व मिल जानेपर उनके समुदाय को क्षेत्र कहते हैं ॥१५१-५५ ॥इस भौतिक शरीर की बोआई करने से पाप और पुण्य की पैदाइश होती है, इस लिये हम उसको क्षेत्र नाम देकर उसकी सराहना करते हैं । हे अर्जुन, ब्रह्म के इस तरफ स्थावरजंगम जो कुछ बनता है और ग़ायब होता है वह सब क्षेत्र ही होता है । परंतु जीव देव, मानव, साँप इत्यादि योनियों में जन्म पाते हैं और गुण और कर्म का मेल होनेसे वे वैसे होते हैं । हे अर्जुन, इन गुणों का निरूपण मैं आगे करूँगा । अब तुम्हें ज्ञान का स्वरूप प्रकट करता हूँ ॥१५६-६० ॥ इस प्रकार क्षेत्र के कुल लक्षण उनके विकारों के साथ तुमको बताये ।

अब तुमको श्रेष्ठ ज्ञान के बारे में बताऊंगा । सुनो इस ज्ञान के लिये योगी स्वर्ग का रास्ता पार कर के आकाश निगलते हैं । कोई ऋद्धि और सिद्धि की इच्छा नहीं करते और कठिन योगसाधना का अनादर करते हैं । इस ज्ञान के लिये कुछ लोग तपों का कोट लांघ कर परली तरफ जाते हैं और दूसरे असंख्य यज्ञ उस पर निछावर कर के कर्मकाण्डरूपी बेल उखाड़ देते हैं । कुछ लोग उस ज्ञान के लिये उपसनामार्ग अपना कर नंगे बदन से फिरते हैं और दूसरे हठयोग का अभ्यास करके सुषुम्ना के गुप्त मार्ग से जाते हैं ॥१६१-६५ ॥ इस ज्ञान के लालच से महर्षि उत्कंठित हो कर वेदवृक्ष के पत्तों पत्तों में इस मार्ग को खोजते हैं । श्रीगुरु की सेवा करने से यह ज्ञान प्राप्त होगा इस ख़याल से, वे अपने अनेक जन्म उस पर उतार देते हैं । वह ज्ञान अविद्या का नाश कर जीव और ब्रह्म का ऐक्य करता है । वह इंद्रियों के द्वार बंद कर देता है, प्रवृत्ति के पाँव तोड़ देता है और मन की चिंता दूर करता है । इस ज्ञान की प्राप्ति होते ही द्वैत का अकाल खत्म हो जाता है और समत्वबुद्धि समृद्ध होती है ॥१६६-७० ॥ वह ज्ञान अहंकार को मटियामेट करता है, महामोह को निगल जाता है और अपना और पराया इस बात को मिटा देता है ।

वह संसार को जड़ से उखाड़ देता है, संकल्परूपी कीचड़ धो कर साफ़ करता है और सर्वव्यापक ब्रह्म में मग्न रहता है । वह ज्ञान प्राण को अपाहिज बनाता है (याने विषयों के प्रति इंद्रियों की दौड़धूप बंद करता है) और उसकी सत्तासे जगत् के व्यवहार चालू रहते हैं । और उस के प्रकाश में बुद्धि की आँखें खोलकर जीव आनंदित होता है । वह पवित्रता की एकमेव निधि है, जिसकी वजह से विषयों से भरा हुआ मन स्वच्छ होता है । जो " मैं जीव हूँ " इस क्षयरोग से पीडित हुआ था, वह ज्ञान के निकट आकर तन्दुरुस्त हो जाता है ॥१७१-७५ ॥ उस ज्ञान का निरूपण नहीं हो सकता, तो भी मैं तुमको समझाने की कोशिश करता हूँ । वह सुनकर तुम ज्ञान को पहचान लोगे । वह आँखों के बिना नहीं दिखाई देता ऐसी तो बात नहीं है । इस ज्ञान का प्रभाव शरीर पर पड़ते ही वह इंद्रियों की हलचल से नज़र आता है । जिस तरह पेड़ हरेभरे होने पर मालूम पड़ता है कि वसंत ऋतुका आगमन हुआ है, उसी तरह ज्ञानी व्यक्ति की इंद्रियाँ उस के ज्ञान को व्यक्त करती हैं । अरे, पेड़ को पानी मिला है या नहीं यह उसके टहनियों के फैलाव से जान पड़ता है ॥१७६-८० ॥ कोमल कोंपलों से ज़मीन कितनी भुरभुरी है यह समझ में आता है । अच्छे खानदान के आदमी की भलाई उसके आचार से व्यक्त होती है । किसी व्यक्ति का हमारे प्रति स्नेहभाव उसके आदरसत्कार की सामग्री से प्रकट होता है । किसी पुरुष के दर्शन से मन प्रसन्न हुआ तो वह साधुपुरुष है ऐसा प्रतीत होता है । केले में पैदा हुआ कपूर उसकी महक से ज्ञात होता है । किवाड़ में रखा हुआ दिया बाहर प्रकाश देता है । उसी तरह उसके ज्ञान से उसके शरीर पर जो लक्षण मुद्रित होते हैं उनको मैं बताता हूँ, ध्यान से सुनो ।

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७ ॥

मानरहित होने से उसको किसी से बराबरी करना नहीं जँचता । वह बड़प्पन को बोझ समझता है । ॥१८१-८५ ॥यदि कोई उसके गुणों की तारीफ़ करे, या उसका सम्मान करे या उसकी योग्यता का वर्णन करे तो वह शिकारी से रोके हुए हिरन या भँवर में पड़े हुए आदमी के समान सहम जाता है । इस प्रकार लोगों से सम्मानित होना उसको संकटसा लगता है । वह अपने में बड़प्पन नहीं आने देता ।

लोगों की मेरे प्रति पूज्य बुद्धि आँखों से नहीं देखूँगा, मेरी कीर्ति कानों से नहीं सुनूँगा, मैं अमुक हूँ ऐसी याद भी लोगों को नहीं दूँगा ऐसा वह महसूस करता है। इस हालत में उस का आदरसत्कार करने की बात हम कैसी निकालें और उसका स्वीकार भी वह कैसे करे ? उस को यदि किसी ने प्रणाम किया तो उसका कलेजा मुँह को आता है। ॥१८६-९० ॥ बृहस्पति के समान सर्वज्ञ होते हुए भी वह पागल जैसा बर्ताव करता है ताकि उसकी प्रतिष्ठा न बढ़े। वह अपनी विद्वत्ता गुप्त रखता है, अपनी श्रेष्ठता त्याग देता है और बड़े शौक से अपने पागलपन की शान दिखाता है। वह कीर्ति से घृणा करता है, शास्त्र की चर्चा से तंग आता है, और चुपचाप बैठने पर अत्यधिक जोर देता है। उसकी इच्छा होती है कि लोग उसकी उपेक्षा करें और रिश्तेदारों को उसकी चिंता न हो। वह ऐसी बातें बहुधा करता है कि वह विनय को आत्मसात् करे और लीनता उसका भूषण बने। वह ऐसा जीना पसंद करता है कि जिस से लोगों को संदेह हो कि वह जीवित है या नहीं ॥१९१-९५ ॥ वह चाहता है कि लोगों को शक हो कि वह पाँव से चलता है या वायु उस को धकेल रही है। वह ईश्वर की मिन्नतें करता है कि उसका अस्तित्व लुप्त हो, उसका नामरूप भी लोगों की आँखों की ओट रहे और प्राणिमात्र अपने से न डरे। वह एकान्त में रहता है, निर्जन स्थल देख कर वह संतुष्ट होता है, वायु से उसका मेलजोल होता है, आसमान से बातें करना वह पसंद करता है और पेड़ों को देख कर उसका जी भर आता है। ॥१९६-२०० ॥ ऐसा लक्षण जिसमें है, उसको ज्ञानी समझना चाहिये। इस लिये आदमी में अमानित्व नाम का गुण है या नहीं यह इन लक्षणों से पहचान लो।

अब दंभ का अभाव कैसे जाना जाता है इसके बारे में मेरा मत सुनो। अदंभित्व ऐसा होता है कि जैसे कंजूस जी जोखों में भी गढ़ा हुआ धन किसी को नहीं बता देता, वैसे ही प्राण के लाले पड़ने पर भी वह अपना पुण्यकर्म जबान से नहीं बोलता। अड़ियल गाय ओहे से दूध नहीं छोड़ती किंवा वेश्या अपनी ढलती आयु छिपा लेती है। जंगल में कोई धनवान् व्यक्ति यदि संकट में फँस गया तो वह अपनी धनदौलत की शेखी नहीं बधारता, कुलवधू अपना सारा शरीर कपड़े से ढांक लेती है ॥२०१-५ ॥ अथवा किसान बीज बोने पर उस पर मिट्टी डालता है। उसी तरह वह अपना किया हुआ दान और पुण्यकर्म गुप्त रखता है। वह

ठाटबाट नहीं करता, लोगों की मिन्नतें नहीं करता, अपने किये हुए दानधर्म का डंका नहीं बजाता। वह दूसरों पर किये हुए एहसान का उल्लेख भी नहीं करता । और वह अपनी विद्या की डींग नहीं मारता या कीर्ति पाने के लिये उसको नहीं बेचता। शारीरिक उपभोगों के लिये उसका ख़र्च देखने से वह कँजूस सा लगता है, परंतु वह धार्मिक कामों में यथेच्छ व्यय करता है ॥२०६-१० ॥घर में देखो तो सब चीजों की कमी, उस का शरीर देखो तो दुबलापतला, मगर दान करने में वह कल्पवृक्ष से स्पर्धा करता है। और क्या कहूँ, वह धर्म के आचरण में श्रेष्ठ, अवसरपर उदार, आत्मचर्चा में कुशल होता है, फिर भी अन्य बातों में उसका बर्ताव पागल जैसा होता है। केले के पेड़ की छाल हलकी और खोखली नज़र आती है, परंतु उसको भरपूर और रसभीने फल लगते हैं। हलके बादल देख कर ऐसा लगता है कि वे वायु से तितर बितर हो जायेंगे, मगर उनकी मूसलधार वर्षा देख कर मन चकित होता है । वैसे ही उस को देख कर बुद्धि निहाल हो जाती है, किन्तु उसमें अन्य बातों का अभाव होता है। ॥२११-१५ ॥ ये लक्षण जिस में अत्यधिक दिखाई देते हैं, वह ज्ञानी हुआ ऐसे समझो। हे अर्जुन, जिस को अदंभित्व कहते हैं वह यही है।

अब मैं अहिंसा के लक्षण बताता हूँ सुन लो। कई लोगों ने अपने अपने सिद्धान्तों के अनुसार अहिंसा के बारे में अनेक प्रकार के भाष्य किये हैं। जैसे कि पेड़ों की डालें काट कर उनकी तली में बाड़ बनाये किंवा अपने हाथ तोड़ कर और उनको पका कर अपनी भूख बुझाये, अथवा मंदिर उखाड़ कर उस सामग्री से अहाता बांधे। ॥२१६-२० ॥ ऐसी हिंसा करने पर भी वह अहिंसा ही होती है ऐसा पूर्वमीमांसा का निर्णय है। क्योंकि अकाल पड़ने पर पर्जन्येष्टि आदि बहुत यज्ञ करते हैं, जिन में प्रारंभ में ही जानवरों की हिंसा होती है। इस हालत में अहिंसा का परला किनारा कैसे दिखाई देगा ? जहाँ सिर्फ हिंसा ही बोई जाती है, वहाँ अहिंसा की फसल कैसी आयेगी ? परन्तु इन याज्ञिकों की कामना अजीब होती है। हे अर्जुन, आयुर्वेद में भी यही उपाय बताया है कि आदमी की जान बचाने के लिये दूसरे प्राणियों की हत्या करना उचित है। ॥२२१-२५ ॥ आयुर्वेद ने अनेक प्रकार के रोगों से पीडित हुए जीवों को देखा और उनकी पीड़ा का निवारण करने के लिये

दवाओंकी व्यवस्था की । उस व्यवस्था में पेडों के कंद खोद कर निकालते हैं और कुछ पौधे जड़ और पत्तों के साथ उखाड़ देते हैं । वे कुछ पेड़ों को बीच में तोड़ कर उनकी खालें निकालते हैं और प्राणियों के ऊपर ढक्कन डाल कर उबाल लेते हैं । जिन का किसी से बैर नहीं हैं उन पेड़ों के सब तन चीरते हैं और उनका सत्त्व निकाल कर उनको सुखाते हैं । और प्राणियों के जीते जी पेट फाड़ कर उसमें से पित्त निकालते हैं और रोग से पीड़ित जीवों को बचाते हैं ॥२२६-३० ॥ रहने के लिये बने हुए महल तोड़कर मंदिर बनवाया, गरीबों को लूटकर अन्नछत्र चलाया, सिर ढककर नितम्ब नंगे रखे, घर तोड़कर मंडप बनवाया, ओढ़ने जलाकर सेंक लिया, हाथी को नहलाया, बैल बेचकर गोशाला बाँधी, या तोते को उड़ाकर पिंजड़ा बनवाया, यह क्या काम है या मज़ाक है ?

इनको हंसे या रोएँ ? एक(जैन) संप्रदाय में जल छान कर पीते हैं, मगर वस्त्र तानने में कीड़े मरते हैं । ॥२३१-३५ ॥ कोई हिंसा के भय से अनाज पकाने के बदले कच्चा खाते हैं, उससे प्राण व्याकुल होकर हिंसा होती है । इस तरह, हे अर्जुन, विधिपूर्वक की हुई हिंसा अहिंसा ही है ऐसा जो कर्मकांड का सिद्धान्त है उसको तुम ठीक समझ लो । सब से पहले अहिंसा का नाम लेते ही ये रायें बताने की प्रेरणा हुई ।और मैं यह कहने को बाध्य हुआ, ताकि तुम उन मतों को अच्छी तरह जान कर काट सकोगे । हे अर्जुन, अहिंसा के विषय में बहुधा पाँच बातों की चर्चा होती है । नहीं तो (अन्य मत बताने की) राह पकड़कर भला कौन जायेगा ? ॥२३६-४० ॥ वैसे ही, हे अर्जुन, अपना मत साबित करने में दूसरों के मतों का भी विचार करना पड़ता है । निरूपण करने की यही प्रणाली है ।

अब हमारे मत कें अनुसार अहिंसा के लक्षण बताऊँगा । अगर किसीमें ये लक्षण दिखाई देंगे , तो मालूम होगा कि उसने अवश्य ज्ञान पाया है । जिस तरह कसौटी पर सोने की परख होती है, उसी तरह किसी व्यक्ति के आचार से मालूम होता है कि उसके मन में अहिंसा भरी हुई है या नहीं । इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर मन में जो अहिंसा की परछाईं पडती है, वह कैसी होती है यह मैं बताऊंगा, सुनो । ॥२४१-४५ ॥ बगुला जल की लहरें बिना लांघे पाँवों से पानी बिना

हिलाये आहट के बिना चपलता से मगर चुपके से आमिष पर ध्यान दे कर जल में पैर डालता है। कमल के केसर रगड़ जायेंगे इस डर से भ्रमर उस पर धीरे से पाँव रखता है। उसी तरह, वह व्यक्ति धूलिकण में भी अति सूक्ष्म जंतु भरे हुए हैं यह जान कर करुणा से अपने पैर सँभाल कर रखता है। वह जिस मार्ग से जाता है, उसको कृपादृष्टि से देखता है, जिस दिशा की ओर चलता है, वह स्नेहभाव से भर देता है और अपने पाँव के तले जो जंतु हैं उनको अपनी जान से ही अधिक सँभालता है ॥२४६-५० ॥ इस प्रकार, हे अर्जुन, जो सँभाल कर चलता है, उसकी अहिंसा को शब्दों से नाप नहीं सकते। हे अर्जुन, बिल्ली प्यार से अपने पिल्ले को मुँह में इस तरह पकड़ती है कि उसके दाँत उसको नहीं चुभते। किंवा प्रेमल माँ अपने मुन्ने को प्रेमभरी आँखों से देखती है, अथवा कमल के पत्ते से धीरे धीरे हवा लेने से आँखों को सुख होता है। उतनी ही कोमलता से वह जमीन पर पाँव रख कर चलता है। फिर उसका पाँव किसी तरह किसी जंतु को लगा तो उस जंतु को उलटे सुख होता है ॥२५१-५५ ॥ हे अर्जुन, जब वह इस तरह सँभाल कर चलता हुआ कीड़ा या मकोड़ा देखता है, तब वह धीरे से लौट आता है। अगर मैं पाँव जोर से पटक कर चलूँ तो उस सर्वव्यापक प्रभु की निद्रा भंग होगी और उसका स्वास्थ्य ढल जायेगा, इस व्याकुलता से वह किसी जंतु पर पैर न रख कर वापस आता है। किसी जंतु की हत्या न हो इस सावधानी से जो उस पर पाँव नहीं रखता, वह सामने आये हुए जंतु को कुचल कर जायेगा यह कैसा हो सकता है? जिस तरह चींटी मेरु पर्वत लाँघ कर नहीं जा सकती किंवा मशक समुद्र पार नहीं कर सकता, उसी तरह वह मिले हुए प्राणी को फाँद कर नहीं जा सकता ॥२५६-६० ॥

उसके चलने में जैसी कृपा फलद्रूप होती है वैसी उसकी जबान में प्रत्यक्ष दया होती है ऐसे तुम देखोगे। धीमा श्वासोच्छ्वास, प्यार के पीहर जैसा मुँह, और मधुरता से निकले हुए अंकुर जैसे दाँत, इनकी वजह से उसके मुँह से पहले प्यार टपकता है और पीछे से शब्द निकलते हैं। वह बोलने का समय आने पर भी जब तक हो सके किसी से बोलता नहीं। उसको डर होता है कि उसकी बात किसी को खटकेगी, किसी के जी में गहरी चोट करेगी या किसी के मन में संदेह पैदा करेगी। ॥२६१-६५ ॥ उससे किसी की बनी हुई मंशा बिगड़ेगी, कोई चौंक उठेगा, या

अपनी बात पर ध्यान नहीं देगा, या किसी को पीड़ा होगी या कोई क्रोध से भृकुटी चढ़ा कर अपने को देखेगा, इस ख़याल से वह मौन पालता है । फिर जब कोई याचना करता है, तब उस के मुँह से फूल झड़ने लगते हैं और उस समय वह माँ-बाप जैसा लगता है । उस की बातें सच्ची मगर मुलायम, परिमित किंतु सरल होती हैं, मानो प्रत्यक्ष नादब्रह्म ही सामने खड़ा हो, या गंगाजी का जल उछल रहा हो, या साध्वी स्त्री को बुढ़ापा आ गया हो, या अमृत की लहरें आ रही हो ॥२६६-७० ॥ किसी को फटकारना, वादविवाद को उत्तेजन देना, आदमी को पीड़ा पहुंचाना, किसी का उपहास करना , किसी को भला बुरा कहना या मर्मभेदक वचन बोलना, हठ, जोश, छल, आशा, आशंका, चकमा इन सभी का वह त्याग करता है । वैसे ही, हे अर्जुन, उसकी दृष्टि स्थिर हो कर उसकी भौंहे नहीं चढ़तीं । क्योंकि प्राणिमात्र में आत्मा है, उसको शायद मेरी दृष्टि चुभेगी इस भय से वह बहुधा किसी को नहीं ताकता । फिर भी उसने अपनी हार्दिक कृपा के बल से किसीको आँखें खोल कर देखा भी, तो वह निहाल हो जाता है, ॥२७१-७५ ॥जैसे कि चंद्रमंडल से निकली हुई अमृत की अदृश्य धाराएँ चकोर पंछियों का पेट भर देती हैं । इसलिये वह जिस पर दृष्टि डालता है, वह संतुष्ट होता है और उसकी निगाह में जो प्यार है, उसको कच्छपी भी महसूस नहीं करती । ज्यादा क्या कहूँ, प्राणियों को देखने की उसकी दृष्टि जैसी है, वैसे ही उसके हाथ भी कुशल हैं ।

कृतार्थ होने से जैसे योगी निरीह होते हैं, वैसे ही उसके हाथ निष्क्रिय होते हैं । जैसे दुबला आदमी निश्चेष्ट होता है, अग्नि इंधन न मिलने से बुझ जाता है, अथवा गूँगा मौनव्रत ग्रहण करता है ॥२७६-८० ॥ वैसे उसके हाथों के लिये कुछ करना शेष नहीं रहता । हवा को धक्का लगेगा या आसमान को नाखून चुभेगा इस भय से वह हाथ नही हिलाता । फिर बदन पर बैठी हुई मक्खी को उड़ा दे, या आँखों के सामने आनेवाले घुरघुरों को हटा दें या जानवर और पंछियों को हौल दिखाये, ऐसे कर्म वह कैसे कर सकता है ? हाथ में दंड या लाठी लेना वह पसंद नहीं करता, फिर हाथ में शस्त्र लेने की बात कैसी होगी ? हाथ में कमल घुमाने से किंवा फूलों की माला हिलाने से उसका गोफन बन कर किसी प्राणी को चोट लगेगी इस डरसे वह ऐसे कर्म नहीं करता ॥२८१-८५ ॥ अंगों में रोम हिलने लगेंगे इस

भयसे वह किसी का बदन नहीं सहलाता, और हिंसा होगी इस आशंकासे वह नाखून काटनेके बदले बढ़ाता है। पहले तो कोई भी कर्म वह हाथ से करता ही नहीं, मगर वैसा अवसर आने पर हाथ जोड़ने की उसकी आदत होती है। किंवा हाथ उठा कर किसी को अभय देना या गिरनेवाले को हाथ देना, या पीड़ित व्यक्ति के बदन पर प्यार से हाथ फिराना ऐसे कर्म करने में वह सकुचाता है। फिर जिस कोमलता से वह पीड़ित व्यक्तियों का दुःख दूर करता है, उस को चाँद की किरणें भी नहीं जानतीं। उसके मुलायम स्पर्श के सामने मलयपर्वत की वायु भी कड़ी महसूस होती है। और ऐसे ही नरमदिल हो कर वह जानवरों को सहलाता है ॥२८६-९० ॥ उसके हाथ हमेशा खाली और खुले होते हैं। चूंकि चंदन का पेड़ सब भागों में शीतल होता है, उस के फल न होने पर भी वह निष्फल नहीं जँचता (उसका तरीका ही वैसा है)। अब यह वाक्पटुता रहने दीजिये। सज्जनों के शील और स्वभाव जैसे सरल होते हैं वैसी ही उसके हाथों की चेष्टाएँ होती हैं।

अब उस का मन कैसा होता है यह कहना हो तो अबतक जिन लीलाओं का जिक्र हुआ है वे किस की हैं? शाखाएँ क्या पेड़ की नहीं होती? जल के बिना क्या समुंदर होता है? क्या सूरज और सूरज की किरणें अलग होती हैं? इंद्रियाँ और शरीर, रस और जल ये क्या भिन्न होते हैं ॥२९१-९५ ॥इसलिये ये सब जो इंद्रियों के बाहरी व्यापार कहे गये हैं वे सब मन केही होते हैं। जैसे भूमि में बोया हुआ बीज पौधा बन कर ऊपर आता है, वैसे ही इंद्रियों के द्वारा मन छितरा जाता हैं। यदि मन में ही अहिंसा के लिये स्थान न हो तो वह बाहर कैसे आयेगी? हे अर्जुन, कोई भी बात पहले मन में पैदा होती है, और फिर वही वाचा से, दृष्टि से और हाथ से घटती है। अगर मन में कुछ न हो तो वह ज़बान पर कैसे आयेगा? बीज के बिना जमीन में अंकुर कैसे उगेगा? ॥२९६-३०० ॥ मन का मनपन जब मिटता है, तब इंद्रियों के व्यापार बंद होते हैं, जैसे सूत्रधार के बिना कठपुतलियाँ निश्चल होती हैं। यदि नदी के उद्गम में ही जल सूख गया हो, तो वह उस के प्रवाह में कैसे आयेगा? देखो, प्राण चले जाने पर क्या देह की हलचल हो सकती है? उसी तरह मन इंद्रियकर्मोंका मूलस्थान है और वह इंद्रियों के द्वारा पेश आता है। मन में जो वासना होती है, वही व्यापाररूप से व्यक्त होती है। इस लिये जैसे पके

हुए फल की सुगंध चारों ओर फैलती है, ॥३०१-५॥ वैसे ही अहिंसा से मन अच्छी तरह प्रभावित हो गया, तो उस पूंजी पर इंद्रियाँ अपने व्यापार करती हैं। समुद्र में ज्वार आने पर वह खाडियाँ जल से भर देता है, वैसे ही मन अहिंसा का वैभव इंद्रियों को सिपुर्द करता है। ज्यादा क्या कहूँ ? जिस तरह शिक्षक बालक का हाथ पकड़ कर उससे अक्षरों की लकीरें घटवाता है, उसीतरह मन अपने पास की दया हाथपाँवों को सौंप देता है और उन से अहिंसा का बर्ताव करवाता है। इस तरह, हे अर्जुन, मन के व्यापार ही इंद्रियों की चेष्टाएँ प्रकट करते हैं ॥३०६-१०॥

इस तरह जिसने तनमन से हिंसा का त्याग किया है, वह पुरुष ज्ञान का मनोहर मंदिर है ऐसे समझो। ज्यादा क्या कहूँ ? वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। जिस अहिंसा का वर्णन हम सुनते हैं और जिस अहिंसा का वर्णन ग्रन्थों में होता है, उसका प्रत्यक्ष दर्शन उस पुरुष में तुमको मिलता है। (ज्ञानदेव कहते हैं) इस प्रकार जो भगवान बोले वह मैं कुछ शब्दों में कह सकता था। परंतु मैंने उसको विस्तार से कहा, इस लिये क्षमा कीजिये। आप कहेंगे कि जिस तरह जानवर हरी घास खाते खाते लौटना भूल जाता है, या पंछी वायु के साथ गगन में उड़ता है ॥३११-१५॥ उसीतरह प्रेम के जोश में रस परिष्कृत हो गये और मेरी बुद्धि वश से बाहर हो कर विषयांतर करने लगी। परंतु यह बात सही नहीं है, विस्तार के लिये कुछ कारण है। योंही अहिंसा शब्द तीन अक्षरों से बना हुआ है। मगर उनके विषय में जो अनेक गलतफ़हमियाँ हैं, उनका खंडन करने पर वह समझी जा सकती है। यदि अहिंसा के बारे में जो उपलब्ध रायें हैं वे जैसी की वैसी आप के सामने रखी गयीं, तो वह आप पसंद नहीं करेंगे। जौहरियों के गांव में सिर्फ शालिग्राम की शिलाएँ खरीदी जाती हैं, इसलिये उनकी ही गठरी खोलनी चाहिये। वहाँ स्फटिकों के बारे में बात नहीं करनी चाहिये। ॥३१६-२०॥ जिस गांव में आटे की बिक्री कम होती है, वहाँ कपूर की महक को कौन पूछता है ? इसलिये, सज्जनों, यदि मैं आपकी सभा में वक्तृत्व के जोश में बोलने लगूँ, तो वह आपको मंजूर नहीं होगा। साधारण और विशेष श्रोताओं का भेद ध्यान में न रखते हुए, मैं अहिंसा के संबंध में समान बातें छेड़ूँ, तो आप उसका श्रवण नहीं करेंगे। सिद्धान्त विशद करने में यदि शक की गुंजाइश रही तो आपका ध्यान हट जायेगा। काई से ढके हुए जल के पास हंस

कभी नहीं जाते। ॥३२१-२५ ॥किंवा जब बादलों के पीछे से चांदनी आती है तब उसका उपभोग करने के लिये चकोर पंछी चाह से चोंच नहीं खोलते। यदि यह विवेचन निर्विवाद नहीं हुआ तो आप मेरे पास नहीं आयेंगे और मेरा ग्रंथ हाथ में नहीं लेंगे, उलटे आप नाराज़ होंगे। मेरे विचार समझाने में यदि मैंने दूसरों के एतराज़ों का परिहार नहीं किया, तो इस बयान से हमारे संबंध बने नहीं रहेंगे।

मैंने यह लेखन इसलिये किया है कि आप सज्जनों का मन बहलाऊँ। सच में आप गीतार्थ को चाहने वाले हैं, यह जान कर मैंने उस को सीने पर लगाया है। ॥३२६-३० ॥अतः आप अपना सर्वस्व दे कर ही इस को छुड़ा सकते हैं। इसलिये यह ग्रंथ नहीं है बल्कि आप की मेरे पास रखी हुई अमानत है। मगर आप अपने सर्वस्व का लोभ क़र के इस अमानत को त्याग देंगे, तो गीताजी की और मेरी उपेक्षा होगी ऐसे समझ लीजिये। ज्यादा क्या कहूँ, मैं आप की कृपा चाहता हूँ और उसके लिये यह ग्रंथ लिखने का बहाना किया है। मैंने अन्य मतों का ज़िक्र इसलिये किया था कि आप रसिक यह मेरा निरूपण पसंद करे। अतः कथा का विस्तार हो कर श्लोक का अर्थ एक तरफ रह गया, इसलिये मुझ बालक को क्षमा कीजिये ॥३३१-३५ ॥ कौर में कंकड़ लगा तो उस को निकालने में ज़रुर वक्त लगता है, उसमें कुछ दोष नहीं होता। फिर उस को निकालही देना चाहिये। साथी चोर को टाल कर बेटे को आने में एक दिन देर हुई, तो माँ उस पर रूठे या वह सुरक्षित आया इसलिये उसकी नज़र उतार दे। परंतु ये उदाहरण यथार्थ नहीं हैं, आप मेरी बकबक बरदाश्त करें यह कहना ही उचित होगा। अब देव क्या बोले वह सुनिये।

भगवान् ने कहा, हे बुद्धिमान् अर्जुन, अब ध्यान दो। अब, तुम्हें ज्ञान की अच्छी तरह पहचान करा दूंगा। जो बिना माँगे क्षमा करता है, उसमें सचमुच ज्ञान है यह समझ लो ॥३३६-४० ॥ गहरे तालाब में जैसे कमल की लतायें बढ़ती हैं, या भाग्यवान् व्यक्ति के घर में जैसे धनराशि होती है, वैसे ही मैं वे चिह्न कहूंगा, जिनसे तुम जान सकोगे कि क्षमा बढ़ने लगी है या नहीं। अच्छे गहने हम जिस उमंग से पहनते हैं, उसी से वह सब भलीबुरी घटनाएँ बरदाश्त करता है। त्रिविध तापों से भी यदि वह हैरान हुआ तो भी वह अपनी भलाई नहीं तजता। इष्ट वस्तु

मिलने पर उसको जो संतोष होता है, वैसा ही संतोष उसको अनिष्ट प्राप्ति से होता है। ॥३४१-४५ ॥ वह मान और अपमान, सुख और दुःख समान मानता है और स्तुति या निंदा सुन कर उस का मन विचलित नही होता । उसको धूप से गर्मी या सर्दी से सिहरन नहीं होती, और किसी भी समय पर उस को डर नहीं होता । जिस तरह मेरुपर्वत को अपने शिखर का बोझ नहीं होता, किंवा वराह अवतार को धरती भारी नहीं लगती, या पृथ्वी को स्थावरजंगम भूतों की भीड़भाड़ नहीं होती, उसीतरह अनेक प्रकारके सुखदुःख प्राने से उस को परेशानी नहीं होती । जब जल के प्रवाह ले कर नदियाँ समुद्र को मिलती हैं, तब समुद्र उनको पेट में समा लेता है ॥३४६-५० ॥ वैसे ही उसके लिये कोई भी वस्तु नहीं जिस को वह सहन नहीं कर सके । वरन् मैं कुछ सहन कर रहा हूँ इसकी उसको सुध भी नहीं होती । देह में जो सुखदुःख के अनुभव होते हैं, वह सब मैं ही हूँ यह वह मानता है, और उनको बरदाश्त करना कोई अद्भुत बात है ऐसे वह नहीं समझता । बिना आक्रोश के की हुई क्षमा जिसके पास होती है, वह व्यक्ति, हे प्रियतम, ज्ञान की महिमा पाता है । वह, हे अर्जुन, ज्ञान की सचमुच आत्मा ही होता है ।

अब सीधेपन का स्वरूप तुम्हें बताऊंगा, सुनो । जैसे प्राण प्यारे किंवा पापी आदमी को सरीखा अनुकूल होता है, वैसा ही उसका सीधापन होता है। ॥३५१-५५ ॥ जैसे सूरज किसी की सूरत देख कर उसको प्रकाश नहीं देता अथवा आसमान सभी लोगों को समान जगह देता है, उसी तरह सरल व्यक्ति का मन और बर्ताव भिन्न भिन्न प्राणियों के प्रति अलग नहीं होता ।सब जगत् के लिये उसकी पहचान और पुराना रिश्ता होता है । इसलिये वह अपना पराया ऐसी बातें नहीं करता । उसकी किसीसे भी मैत्री होती है और वह जल के समान सभी को सहायक होता है । किसी भी आदमी के प्रति उसके मन में गुबार नहीं होता । वायुका बहना जितना सीधा होता है, उतना ही उसके मन का भाव सरल होता है । और उसमें संकल्प विकल्प कतई नहीं होते । ॥३५६-६० ॥ माँ के पास जाने के लिये बेटे को जैसा संकोच नहीं होता, वैसे ही वह अपनी राय व्यक्त करने में नहीं सकुचाता । जिस तरह खिला हुआ फूल अपनी सुंगध छिपा नहीं सकता, उसी तरह उसके मन के कोने में कोई बात छिपी नहीं रहती । जैसे रत्न निर्दोष होने पर उसकी चमक

फैलती है, वैसे ही उसका मन निर्मल होने से उसके कर्म भी निर्मल होते हैं। आत्मानुभव से तृप्त होने से उसके विचारों में दुविधा नहीं होती। और वह अपना दिल कुछ छिपा कर और कुछ खोल कर रखना नहीं जानता। उसके मन में जलन नहीं होती, उसकी बातों में संदेह नहीं होता और वह किसीसे बुरी तरह पेश नहीं आता ॥३६१-६५ ॥ उसकी सब इंद्रियाँ सरल, छलरहित और शुद्ध होती हैं और उसके प्राण सदैव खुले रहते हैं। अमृत की धारा के समान उसका अन्तःकरण सरल होता है। ज्यादा क्या कहूँ, वह इन लक्षणों का पीहर है। हे अर्जुन, ऐसी व्यक्ति प्रत्यक्ष आर्जव है और उसके बुद्धि में ज्ञान का अस्तित्व होता है ऐसा समझो।

अब तुम को गुरुभक्ति का तरीक़ा बताऊंगा। हे चतुरों में श्रेष्ठ अर्जुन, सुन लो। यह गुरुसेवा सब भाग्यों की जन्मभूमि है और वह शोकाकुल लोगों को ब्रह्ममय करा देती है ॥३६६-७० ॥ जिस तरह अपनी सब जलसंपत्ति ले कर गंगा समुद्र को मिलती है, वेद ब्रह्मपद में प्रवेश करते हैं, साध्वी स्त्री अपनी जिंदगी गुण और दुर्गुणों के साथ प्रिय पति को अर्पण करती है, उसी तरह जिसने अपना अंतःकरण बाहरी इंद्रियों के साथ गुरुकुल को अर्पित किया है वह गुरुभक्ति का आगार बन गया है। जैसी विरहिणी स्त्री पति के चिंतन में व्यस्त रहती है, वैसे ही जिस देश में उसके गुरु का निवास हो, उस् देश के विचार उसके मन में आते रहते हैं ॥३७१-७५ ॥ उस देश से जो हवा आती है वह उसकी अगवानी करता है और उसको अपने घर में आने के लिये नेवता देता है।

गुरु के प्यार से वह पागल बनता है, वह जिस दिशामें रहता है उस दिशा से बोलना वह पसंद करता है और गुरु के मकान को वह अपना वतन समझता है। मगर पगहे से जकड़े हुए बछड़े के समान वह गुरु की आज्ञासे बंधा होता है, इसलिये उसको अकेला अपने गांवमें रहना पड़ता है। फिर उसको चिंता होती है कि कब गुरु की आज्ञा से छुटकारा पाऊं और गुरु से मिल सकूँ। और उसको एक एक पल युग जैसा लगता है। तब यदि गुरु के गांव से कोई आ गया या गुरु ने किसी को भेजा, तो उसे ऐसा लगता है कि जैसे मरणासन्न आदमी को लंबी आयु मिल गयी हो। ॥३७६-८० ॥ किंवा सूखे हुए अंकुर पर अमृत की वर्षा हुई या डबरे में से

मछली समुद्र में गयी हो । नहीं तो जिस तरह किसी भिखारी को छिपी हुई निधि दिखाई दे, किंवा अंधे को दृष्टि वापस मिले अथवा कंगाल को इंद्रपद प्राप्त हो, उसी तरह वह गुरु का नाम सुनते ही संतोष से प्रभावित होता है और उसको ऐसा लगता है कि आसमान से लिपट जाऊं । गुरुकुल के बारे में जिस में इतना प्रेम दिखाई देता है, तो समझो कि ज्ञान उसकी सेवा करता है । फिर वह भावुक अन्तःकरण से श्रीगुरु की मूर्ति की ध्यानोपासना करता है ॥३८१-८५ ॥ विशुद्ध हृदय में उस आराध्य देवता की स्थापना करके तनमन से वह स्वयं उसकी पूजा की सामग्री बनता है । अथवा ज्ञान के अहाते में संताष के मंदिर में श्रीगुरुरूपी शिवलिंग की स्थापना करके वह उस पर ध्यानामृत का अभिषेक करता है । फिर आत्मबोधरूपी सूर्य का उदय होने पर बुद्धि की डाली में सात्त्विक भाव भर भर कर गुरुरूपी शिवजी पर बेल के पत्तों की लखौरी चढ़ाता है ।

तीनों समय पूजा के लिये अच्छे समझ कर वह श्रीगुरु की प्रतिमा के सामने देहाभिमानरूपी धूप जलाता है और ज्ञानरूपी दीप से निरंतर आरती उतारता है । वह श्रीगुरु को सदैव ऐक्यभाव का भोग चढ़ाता है और उसकी प्रतिमा को शिवलिंग समझ कर खुद उसका पुजारी बनता है ॥३८६-९० ॥ किंवा किसी समय पर उसकी बुद्धि जीवरूपी बिस्तर पर श्रीगुरु को पति मान कर उसके सहवास का सुख और लाड-प्यार का अनुभव करती है । अथवा किसी समय उसके मन में श्रीगुरु के प्रति प्यार की ऐसी लहरें आने लगती हैं कि वह उस प्यार को क्षीरसमुद्र कहता है । उस समय ध्यान,से जो उसको अपार सुख होता है, उस पर शेषशायी विष्णु के रूप में श्रीगुरु लेटे हुए हैं ऐसे वह मानता है । और वह उन के चरणों की सेवा करनेवाली लक्ष्मीजी खुद बनता है और स्वयं गरुड़ बन कर उसके सामने खड़ा हो जाता है । उनकी नाभि से उत्पन्न हुए ब्रह्मदेव भी स्वयं होता है और गुरुमूर्ति के प्यार से मन ही मन में ध्यानसुख का अनुभव करता है ॥३९१-९५ ॥ किसी समय भक्ति के बल पर श्रीगुरु को माँ मान कर उसकी गोद में स्तनपान का अनुभव पाता है । किंवा, हे अर्जुन, ज्ञानवृक्ष के नीचे श्रीगुरु को गाय और अपने को उसके पीछे रहनेवाला बछड़ा समझता है । गुरुकृपा के प्रेमरूपी जल में मैं मछली हूँ ऐसी कल्पना कभी उसके मन को छू जाती है । वह गुरुकृपा को अमृत की वर्षा मान कर स्वयं

एक सेवारूपी पौधा हूँ ऐसी अलग अलग कल्पनाएँ उनके मन में आती हैं। वह मानता है कि वह स्वयं श्रीगुरुका नेत्रहीन और पक्षहीन चकुला है। उसका प्यार कितना असीम है देखो ॥३९६-४०० ॥ श्रीगुरु को चिड़िया समझ कर उसकी चोंच से चुगा लेता है। और गुरू को तैराक समझ कर उसका आसरा लेता है। इस तरह जैसे समुद्र को ज्वार आने पर लहरों पर लहरें पैदा होती हैं वैसे प्यार के बल पर ध्यान से ध्यान उत्पन्न होता है। अब ऐसे कितने प्रकार कहूँ? इस तरह वह अपने गुरु से उत्पन्न हुए ध्यानसुख का अनुभव करता है। अब उस की बाह्य सेवा कैसी होती है वह मैं कहता हूँ, सुनो। वह निश्चय करता है कि मैं गुरु की सेवा अच्छी तरह करूँ जिससे गुरु प्रसन्न हो कर मुझसे प्यार से कहेंगे कि कुछ माँग लो। मेरी सेवा से वे प्रसन्न हुए तो मैं उनसे इस तरह प्रार्थना करूँगा। ॥४०१-४०५ ॥ मैं उनसे कहूँगा, हे प्रभो, आप का जो परिवार है वह सारा मैं ही बनूँगा और आप के सेवा के जो उपकरण है वह भी मैं बनूँगा। उस समय मेरी सेवा का चमत्कार सब देखेंगे। मेरे गुरु अनेक लोगों की माँ हैं, लेकिन मैं उनको शपथ दिलाकर कहूँगा कि वे मेरे अकेले की माता होने की कृपा करें। ॥४०६-१० ॥ मैं ऐसा बर्ताव करूँगा कि श्रीगुरु प्रेम की धुन में मुझसे एकनिष्ठ रहें और मेरे ही स्थान पर क्षेत्रसंन्यास लेकर रहे। हवा कैसी भी बहे वह चार दिशाओं के बाहर नहीं जाती। वैसे ही मैं भी गुरुकृपा का कटहरा बनूंगा। गुरुसेवा को ही स्वामिनी समझ कर मैं उसको अपने गुणों से सजाऊंगा। नहीं तो मैं गुरुभक्ति का आच्छादन बनूँगा। जिस पर गुरु की प्रेमवर्षा हो वह ज़मीन मैं बनूंगा।

इसप्रकार वह विविध प्रकार के मनसूबे करता रहता है। वह कहता है कि गुरु का निवासस्थान मैं बनूँगा और मैं उनके घर का सेवक बनकर उनकी खिदमत करूँगा ॥४११-१५ ॥ श्रीगुरु आने जानें में जो देहलियाँ लाँघेंगे वे मैं ही बनूँगा। मैं श्रीगुरु की पादुकाएँ बन कर उन के पाँव में पड़ूंगा और छत्र बन कर उन पर छत्र धरूंगा। यहाँ गड्ढा है, वहाँ टीला है, यह कहने वाला मैं गुरु का चोबदार भी बनूँगा। गुरु के ऊपर चँवर धरनेवाला और उनके आगे चलनेवाला सेवक मैं ही बनूँगा। गुरु की झारी धरनेवाला शिष्य मैं बनूँगा। उन को कुल्ली भरने के लिये जल मैं दूँगा और उस कुल्ली के लिये पीकदान भी मैं बनूँगा। उनका चबा कर

फेंका हुआ तांबूल मैं बनूँगा और उन को स्नान कराने में मैं उनका सेवक बनूँगा ॥४१६-२० ॥ श्रीगुरु का आसन, गहने, कपड़े चंदनादिक उपचार मैं ही करूँगा। उनकी रसोई बना कर मैं उन्हें जलपान दूँगा और आत्मीयता से उन पर आरती उतारूँगा। श्रीगुरु जब खाना खायेंगे, तब उनके साथ भोजन करूँगा और मैं ही आगे बढ़ कर उनको तांबूल दूँगा। गुरु की थाली पर मैं परोसूँगा, उनका बिस्तर मैं डालूँगा और उनके चरण भी मैं बनूँगा। गुरु का सिंहासन मैं बनूँगा और उस पर गुरु बैठेंगे। इस प्रकार मैं गुरुसेवा का व्रत पूरा करूँगा ॥४२१-२५ ॥ इस से ऐसा चमत्कार होगा कि जिस वस्तुपर गुरु दृष्टि डालेंगे वह मैं बनूँगा। गुरु के श्रवणरूपी आंगन में मैं ही असंख्य शब्द बनूँगा और जिस वस्तु को उनका अंगस्पर्श होगा वह वस्तु भी मैं बनूँगा। गुरु प्रेमल दृष्टि से जो रूप देखेंगे वे सब मैं बनूंगा। उनके जिव्हा को जो चीजें रुचिकर होंगी वे सब मैं बनूंगा। और मैं सुगंधरूप बन कर उनके घ्राणेंद्रियों की सेवा करूँगा। इस तरह उसको जँचता है कि मैं सब चीजें छा कर गुरु की बाह्य सेवा करता रहूँ ॥४२६-३० ॥ (ज्ञानदेव कहते है) जबतक यह देह रहेगी, तब तक इस तरह गुरु की सेवा करूँगा। मगर मौत के बाद भी उनकी टहल करने का मेरा ख़याल होगा। यह मैं कैसे करूंगा, सुनिये। जिस जगह पर श्रीगुरु के चरण होंगे उसमें मैं अपनी देह की मिट्टी मिला दूँगा। मेरे स्वामी जिस जल को स्पर्श करेंगे, उसमें मैं, देहमें जो जलका अंश है, वह मिला दूँगा। जिन दीपों से श्रीगुरु की आरती उतारते हैं और जो दीप गुरु के महल में लगते हैं उनके तेज में अपने देह की अग्नि का अंश मिला दूँगा। गुरु के चँवर और पंखा जहाँ होंगे उनमें मैं अपने प्राणों का विलय करूँगा, और उनको हवा करनेवाला सेवक बनूँगा ॥४३१-३५ ॥ जिस अवकाश में गुरु अपने परिवार के साथ रहते हैं, उसमें मैं अपने शरीर का आकाश का अंश मिला दूँगा। मगर जबतक जीवित रहूँगा और मरनेके बाद भी गुरुसेवा में ढीला नहीं रहूँगा और पलभर भी अन्य लोगों को गुरु की सेवा करनेका अवसर नहीं दूँगा। इस तरह गुरुसेवा में मेरे कल्प के कल्प बीत जायेंगे। जो इस खयाल से गुरु की निस्सीम सेवा करता है वह रात-दिन या थोडा-बहुत नहीं कहता और अगर गुरुने ज्यादा काम करने को कहा तो प्रसन्न होता है। गुरु की सेवा करने में वह आसमान जैसा बड़ा होता है और सारी सेवा अकेला, वक़्त पर करता है ॥४३६-४० ॥ इस विषय में उसके शरीर की दौड़ चित्त की

दौड़से आगे होती है और उसकी करतूत उसके खयाल पर मात करती है। कभी कभी वह गुरु की क्रीडा पर अपना जीवनही निछावर देता है। वह गुरुसेवा से कृश और गुरुप्रेम से पुष्ट होता है।

वह गुरु की आज्ञा का हक़दार होता है। वह गुरु के खानदान से अपनेको कुलीन समझता है, अपने गुरुबंधुओं के स्नेह से अपने को शिष्ट समझता है, और गुरुसेवा में लगन से सदैव व्यस्त रहता है। गुरु के संप्रदाय में जो आचारधर्म हैं वे ही उसके वर्णाश्रम धर्म होते हैं, गुरुसेवा उसका नित्यकर्म होता है। ॥४४१-४५ ॥ उसके लिये गुरुही तीर्थक्षेत्र, गुरुही देवता, गुरुही माँ, गुरुही पिता होता है और गुरुसेवा से परे दूसरा मार्ग वह नहीं जानता। गुरु का द्वांर यही उसका सर्वस्व होता है और वह गुरु के सेवकों पर सगे भाई की तरह प्रेम करता है। उसका ज़बान में निरंतर गुरुनाम का मंत्र होता है और वह गुरुवाक्य के बिना दूसरा शास्त्र नहीं पढ़ता। जिस जलको गुरुके पाँव लगे हैं वह कैसाभी हो उसमें त्रिभुवनके सब तीर्थ हैं ऐसा वह मानता है। जब वह गुरु का जूठा अन्न पाता है, तब उसकी तुलना में समाधिसुख भी उसे तुच्छ लगता है ॥४४६-५० ॥ जब गुरु पैदल जाते हैं तब पीछे जो धूल उडती है उसे वह मोक्षसुख जैसे संतोष से सिरपर रखता है। खैर, इस गुरुभक्तिके बारे में और क्या कहूँ? उसका अंत नहीं। परन्तु मेरे मन में गुरुभक्ति की उमंग आई इसलिये यह विस्तार हुआ। जो भक्ति को चाहता है और जिसे गुरुभक्ति के सिवा और कुछ प्यारा नहीं लगता, वह ज्ञान का जन्मस्थान होता है और उससे ज्ञान सुहावना लगता है और वह ज्ञान का उपास्य देवता होता है। इस प्रकार जो सारी दुनियाके लिये पर्याप्त है वैसा ज्ञान उस गुरुभक्त में बिना रोकटोक के बसता है यह तुम सच समझो। ॥४५१-५५ ॥ (ज्ञानदेव कहते हैं) इस गुरुभक्ति के विषय में मेरे मन में बहुत उमंग है इसलिये मैंने उसका असीम वर्णन किया है। नहीं तो मैं भजन के विषय में अंधा, गुरुसेवा में लूला, गुरु के वर्णन में गूँगा और गुरु का मुफ्त पाला हुआ निकम्मा हूँ। मगर मेरे मन में गुरु के प्रति बहुत प्यार है, इसलिये यह लम्बा विवेचन करना पड़ा। इसका आदर करके आपकी सेवा का मुझे मौक़ा दीजिये, तो मैं इस ग्रंथ का भावार्थ अच्छी तरह कर सकूँ ॥४५६-६० ॥

सुनियेगा। भूतोंका भार बर्दाश्त करनेवाले विष्णु याने श्रीकृष्ण बोल रहे हैं और अर्जुन सुन रहा है। कपूर जैसा बाहर और भीतर साफ होता है वैसा ही ज्ञानी अंतर्बाह्य पवित्र होता है। जैसे रत्न बाहर और भीतर स्वच्छ होता है वैसा वह बाहर सत्कर्म से और भीतर ज्ञान से शुद्ध होता है। वेद मंत्रों के उच्चार से और मिट्टी और जल के उपयोग से बाह्य शरीर निर्मल होता है। ॥४६१-६५ ॥जैसे बुद्धि के बलपर जब चाहे तब आईने के ऊपर की धूल साफ़ करते हैं या धोबी की भट्टी में जल से कपड़ों के दाग धोये जाते हैं, वैसे ही उसका बदन स्वच्छ होता है यह तुम ध्यान में रखो। उसके अंतःकरण में ज्ञानका दीपक होने से वह भी शुद्ध होता है। योंही, हे अर्जुन, अंतःकरण पवित्र न होने से, सिर्फ शरीर स्वच्छ रखना केवल ढोंग है। शव को गहनोंसे सजाना, गधे को तीर्थमें स्नान कराना, या कड़वे कद्दूपर गुड चुपड़ना, वीरान मकान पर तोरण बाँधना, भूखे आदमी के शरीर पर अन्न चुपड़ना, बेवा को कुंकुम या सिंदूर लगाना, ॥४६६-७० ॥ यह खोखली गुमटी को बाहर से मुलम्मा देनेपर जो चमक दिख़ाई देती है वैसा होता है। भाड़में जाय वह। चित्र में के फल देखने में कितने ही हूबहू क्यों न हों, उनसे क्या फायदा? क्योंकि उनके भीतर गोबर होता है। वही प्रकार बाह्य कर्म का है। ख़राब चीजों को ज्यादा कीमत लगाने से वे बिक नहीं जातीं, शराबसे भरा हुआ मटका गंगामें डुबोकर निकाला तो वह पवित्र नहीं होता। इसलिये अगर मनमें ज्ञान हो तो बाह्य शुद्धि अपने आप प्राप्त होती है। इसके अलावा शुद्ध ज्ञान और शुद्ध कर्म एक जगह हम कैसे पायेंगे? इसलिये हे अर्जुन, जिसने बाह्यशरीर सत्कर्मसे स्वच्छ कर के भीतर का मल ज्ञान से साफ किया है वह अंतर्बाह्य पवित्र होता है ॥४७१-७५ ॥जैसे स्फटिक के तावदान में हिलते हुए दीपक बाहरसे दिखाई देते हैं वैसे मन के शुद्ध भाव इंद्रियों से बाहर निकलते हैं। जिनसे संदेह पैदा होते हैं, व्यर्थ के विकार हो जाते हैं और निकम्मेपन के बीज उगते हैं ऐसे विषय यद्यपि उसने सुने, देखे या प्राप्त किये तो भी उनका उसके मन पर असर नहीं होता। जैसे बादलों के रंग का आसमान पर दाग नहीं लगता, वैसे इंद्रियों के द्वारा विषयों से संयोग होने पर भी वह विकारों से अशुद्ध नहीं होता।

रास्ते में उसकी किसी महार या महरिनसे भेंट हुई तो भी वह उसको महसूस

नहीं होता और अलिप्त रहकर बर्ताव करना वह जानता है ॥४७६-८० ॥जब कोई युवति पति या पुत्र को गले लगाती है, तब पुत्र के प्रति उसके प्यार में कामवासना नहीं होती । उसी तरह उसका दिल शुद्ध होता है और वह संकल्प और विकल्प दोनों को पहचानता है, विशेषतया कार्य और अकार्य को जानता है । जैसे हीरा जलसे गीला नहीं होता, या उबालने पर भी कंकड़ नहीं पकता, वैसे वह किसी भी विचार से लिप्त नहीं होता । हे अर्जुन, जिसको पूर्ण शुद्धता कहते हैं और वह जिसमें तुम देखोगे वह खास तौर पर ज्ञानी हुआ है ऐसा समझो । जिसके चित्त को स्थिरता प्राप्त हुई है, वह पुरुष ज्ञानका जीवन होता है । ॥४८१-८५ ॥यद्यपि उस पुरुषके ऊपरी व्यवहार उसके स्वभावके अनुसार होते हैं तथापि उसके मनकी स्थिरता विचलित नहीं होती । जिस तरह गाय बनमें चरने गयी तो उसके साथ उसका बछड़ेके प्रति प्यार वन में नहीं जाता, या सती जानेवाली स्त्री उस समय पर किये जानेवाले उपचारों का अनुभव नहीं करती, अथवा लोभी दूर जाने पर भी उसका चित्त सदैव निधि के पास रहता है, उसी तरह उसके देह के व्यापार जारी रहने पर भी उसका मन ज्ञान से विचलित नहीं होता । दौड़ते हुए बादलों के साथ जैसे आसमान नहीं चलता, या घूमते हुए सितारोंके साथ ध्रुव नक्षत्र नहीं घूमता, अथवा, हे अर्जुन, जब राही चलता है तब उसके साथ रास्ता नहीं चलता या पेड़ भी यातायात नहीं करते ॥४८६-९० ॥ उसी तरह उसका मन अस्थिर नहीं होता और कल्पान्त में भी वह धीरज नहीं छोड़ता । वैसेही यद्यपि पाँच महाभूतों से बने हुए शरीर की हलचल होती ही रहती है, तो भी उसका मन उन भूतों के विकारों से नहीं ढलता । आँधी से जैसे धरती नहीं लड़खड़ाती, वैसे संकटों से उसका दिल बैठ नहीं जाता । ग़रीबी और दुख से वह बिगड़ नहीं जाता, भय और शोक से वह नहीं थर्राता और न मौत से भी वह डरता है । आशा या पीड़ा के बोझसे, या बुढ़ापा और बीमारी के शोरगुल में उसका सरल मन कभी नहीं पलटा जाता । बदनामी, अपमान, दंड, काम और लोभ इनको पानेपर उसका मन डाँवाडोल नहीं होता । ॥४९१-९५ ॥ आसमान गिर पड़े या पृथ्वी गल जाये तो भी उसकी चित्तवृत्तियों में हलचल नहीं होती । हाथी को फूलों से मारनेपर वह जैसा पीछे नहीं हटता, वैसे ही वह गाली-गलौजके तीर से हिम्मत नहीं हारता । जिस तरह क्षीरसमुद्र की लहरों से मंदराचल नहीं हिलता किंवा दावानल की लपटों से आसमान नहीं जलता, वैसे मनोविकारों

की लहरें आने पर भी उसका जी बैठ नहीं जाता और कल्पान्ततक वह धीरज रखता है। हे बुद्धिमान अर्जुन, स्थिरता इस शब्द से जिसका विशेष वर्णन किया जाता है वह अवस्था यही है ॥४९६-५०० ॥ इस प्रकार की दृढ स्थिरता जिसके रोमरोम में भरी हुई है, वह आदमी ज्ञान की पक्की धरोहर है।

जैसे, साँप (छेड़छाड़ करनेवाले) आदमीका घर, या योद्धा अपना हथियार अथवा लोभी अपनी थाती नहीं भूलता, या माता अपने इकलौते बेटेपर जान देती है, मधुमक्षिका शहद की लालची होती है, वैसेही ज्ञानी अपने चित्तको सँभालकर उसको इंद्रियोंके पीछे नहीं जाने देता। अगर यह कामरूपी हौवेने सुना या आशारूपी डाइन ने देखा तो जी के लाले पड़ेंगे ऐसा उसको डर लगता है ॥५०१-०५ ॥ जैसे जबरा पति अपनी उद्धत स्त्री को बाहर जाने से मना करता है, वैसेही वह अपने मन पर क़ाबू रखता है। जीवन में वह अपनी देह खपाकर बुद्धिपूर्वक इंद्रियों का नियमन करता है, और मन के महाद्वार पर यम और दम नामक संतरी खड़े करता है। पश्चात् वह तीनों बंध स्थिर करके सुषुम्ना नाडी में चित्त लगाता है और ध्यान को समाधि में बाँधकर रखता है। फिर उसका चित्त आत्मा से एकरूप होकर उसमें विलीन होता है ॥५०६-१० ॥ अजी, जिसको चित्त-संयम कहते हैं वह यही है। वह जिसने पाया, उसमें ज्ञान का उदय होता है। जिसकी आज्ञा सब सिर आँखों पर लेते हैं, वह आदमी के रूप में प्रत्यक्ष ज्ञानही है ऐसा समझो।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८ ॥

विषयभोग के प्रति उसके मन में वैराग्य जाग्रत रहता है। जिस तरह क़ै किये अन्न के लिये किसीकी लार नहीं टपकती, या कोई भी शवको गले नहीं लगाता, जहरीला खाना कोई पसंद नहीं करता, जलते हुए मकानमें कोई प्रवेश नहीं करता, या बाघ की घाटी में कोई डेरा नहीं लगाता। ॥५११-१५ ॥ या उबलते हुए लोहे के रसमें कोई कूद नहीं पड़ता, या अजगर को कोई तकिया नहीं बनाता, हे अर्जुन, उसीतरह अगर किसीने विषय की बात की तो वह उसको अच्छी नहीं लगती। और वह विषयों को इंद्रियों के पास आने नहीं देता। उसका मन विषयों के बारे में उदासीन होता है, उसका शरीर भी दुबलासा होता है। तो भी उसको शम याने

मनःसंयम में और दम याने इंद्रियनिग्रह में रुचि होती है । वह तप और व्रत लगातार करता रहता है । अगर उसको लोगों के मेले में जानेका अवसर प्राप्त हुआ तो वह उसको प्रलय- काल के संकट जैसा लगता है । योगाभ्यास और एकान्त में उसको रुचि होती है । वह भीड़ को बर्दाश्त नहीं कर सकता । ॥५१६-५२० ॥ यहाँके उपभोगों को वह बाणों के बिस्तरपर सोना या पीब के कीचड़ में लेटना जैसा महसूस करता है । वह स्वर्ग के उपभोगों को कुत्तेका सड़ा हुआ मांस समझता है । इस प्रकार का विषय-वैराग्य आत्मप्राप्ति का लक्षण होता है, जिससे जीव ब्रह्मानंद के लिये योग्य होता है ।

जो संसार और स्वर्ग के सुख से ऊब गया है, उसमें ज्ञानका अस्तित्व है ऐसा समझ लो । वह सकाम आदमी के समान यज्ञयाग, तालाब और बाग इत्यादि करता है । परंतु उसको अपने किये का अभिमान नहीं होता ॥५२१-२५ ॥ वह वर्णाश्रमधर्म के अनुसार नित्य और नैमित्तिक कर्म करने में कुछ कसर नहीं रखता, लेकिन मैंने यह कर्म किया है या मेरी वजह से यह कर्म संपन्न हुआ है ऐसा अहंकार उसके मनको नहीं छूता । जैसे वायु का अनायास चारों ओर संचार होता है, या सूरज अभिमानरहित होकर प्रकाश देता है, या वेदों का प्रतिपादन सहज होता है, गंगा बिना कारण बहती है, वैसे ही उसका बर्ताव अभिमानरहित होता है । जैसे फलों से लदे हुए पेड़को उनकी सुध नहीं होती, वैसेही कर्मके बारे में उसकी मनोवृत्ति सदैव रहती है । ॥५२६-३० ॥ जिस तरह इकहरे हार की डोरी निकालनेपर उसमें गुँथी हुई गुरियाएँ गिर जाती हैं, उसीतरह उसके मन, आचरण और भाषण से अहंकार गल जाता है । जैसे आसमान बादलों से निर्लिप्त होता है, उसी तरह कर्म करता हुआ भी वह उससे उदासीन रहता है ।

जिसतरह शराबी को कपड़ों का ध्यान नहीं होता या चित्र को अपना शस्त्र उपयुक्त नहीं होता, बैल को उसकी पीठपर बाँधी हुई पोथियों का ज्ञान नहीं होता, उसी तरह उसको अपनी देह का खयाल नहीं होता । उसकी इस चित्तवृत्ति को निरहंकारिता कहते हैं । यह जिसमें पूरी तरह होती है उसको ज्ञान प्राप्त हुआ है यह निर्विवाद है । ॥५३१-३५ ॥ जिस तरह मांत्रिक पिशाचबाधा न हो इसलिये, या

योगी योगाभ्यास में रुकावट न हो इसलिये,या राज साहुल लगा कर सावधानी रखता है, उसी तरह वह जन्म, मृत्यु, दुःख, बीमारी, बुढ़ापा और पाप दूरीपर होते हुए भी सचेत रहता है। जिस तरह साँप के मन में पूर्वजन्म का बैर लुप्त नहीं होता, उसी तरह वह पूर्वजन्म का दुःख याद में रखकर सावधान रहता है और ऐसा बर्ताव करता है कि पुनर्जन्म प्राप्त न हो। जिस तरह आँख में गया हुआ कंकड़, घाव में बैठा हुआ भाला सूख नहीं जाता, उसी तरह वह पूर्वजन्मका दुःख भूल नहीं जाता। वह मन में कहता है, हाय, दूषित लहू के गढ़े में शुक्र जाने से मेरा जन्म हुआ और मैं मूत्रद्वार से बाहर आया हूँ। उसके बाद मैंने माँ के स्तन का पसीना चूस लिया। ॥५३५-४० ॥ इस तरह जन्म के बारे में उसको घृणा पैदा होकर, वह ठान लेता है कि अब पुनर्जन्म देनेवाला कर्म मैं नहीं करूँगा। जैसे जुआरी दाँव हारने के बाद सावधानी से खेलता है, या पिता के दुश्मन का पुत्र बदला लेता है, किंवा अपने भाई के कातिल का आदमी प्रतिशोध लेता है, वैसेही हठ से वह जन्म के पीछे पड़ता है। मगर जैसे प्रतिष्ठित आदमी से अपमान सहा नहीं जाता, उसी तरह उसके मन से अपने जन्म का खेद मिट नहीं जाता। मृत्यु कल्पान्त से परे होते हुए भी वह जन्म से ही सचेत रहता है। ॥५४१-४५ ॥ जिस तरह, हे अर्जुन, कुशल तैराक भी नदी के मँझधार में गहरे जल का अंदाज लगाकर किनारे पर ही कमर को तुम्बा बाँधता है, या योद्धा रणभूमि पर जाने से पहले ही हिम्मत करता है, या शस्त्र का घाव पड़नेके पहले ही सिपाही ढाल सामने करता है, या अगले मुक्काम पर लुटेरा साथी दगा न करे इसलिये आदमी सावधानी से रहता है, या प्राण के लाले पड़ने से पहलेही दवादारू करता है, नहीं तो मकान जलने लगनेपर कुँआ खोदना संभव नहीं होता, या दह में फेका हुआ पत्थर सतह में जाता है, उसीतरह वह भवसागर में डुबकियाँ लगाता है। फिर वह जब डूबने लगता है, उसकी चीख किसी को सुनाई नहीं देती, फिर उसके डूब जाने की ख़बर कौन देगा? ॥५४६-५० ॥ इसलिये जिसकी बलवान् के साथ जानी दुश्मनी है, वह आठों प्रहर शस्त्र तेज़ रखता किंवा मंगेसरी कन्या अपने मायके के बारे में, या संन्यासी अपने घरबार के विषय में उदासीन रहता है, उसी तरह भी वह जीता जागता, मौतका खयाल रखता है। इस तरह वह इस जिंदगी में भी मृत्यु पर मात करता है और पुनर्जन्म टालकर निजी स्वरूप में रहता है।

इस प्रकार जिसको जन्ममृत्युका दुख नहीं होता उसका ज्ञान संकोच नहीं पाता। इसलिये वह ऐन जवानी में बुढ़ापे का खयाल रखता है। ॥५५१-५५ ॥वह मन में कहता है कि आज जो मेरी देह तगड़ी है वह कल सिमट जायगी। अभागे आदमी के उद्योग के समान मेरे हाँथपाँव बंद पड़ेंगे। आजतक का उनका सामर्थ्य उस राजा के बराबर होगा जिसका प्रधानमंत्री न हो। फूल सूँघनेवाली नाक ऊँट के घुटने समान होगी। आवारा जानवारों की बैठने की जगह जैसी कीचड़ से भरी होती है वैसी उसके सिर की हालत होगी। जो आँखें कमलदलों से होड़ लगाती थीं। वे पके हुए परवल जैसी गहरी होंगी ॥५५६-६० ॥ मेरी भौंहें पेड़ की जीर्ण छाल के समान लटकती रहेंगी और आँसू बहाने से सीना सड़ जायेगा। जैसे गिरगिट बबूल का तना खुरचते हैं वैसे ही थूक से मेरा मुँह भर जायेगा। चूल्हे के आगे की खाई में जल जमा हो जाने पर उसमें जैसे बुलबुले आते हैं वैसे मेरा नाक नेटे से भर जायेगी। मेरे ओंठ मैं पान खाकर रंगाता हूँ, हँसकर दाँत दिखाता हूँ, जिससे मैं अच्छी बातचीत करता हूँ, उस मुँहसे कफ़ का रेला बाहर पड़ेगा और दाँढ़ों के साथ दाँत गल जायेंगे ॥५६१-६५ ॥ जिस तरह कर्जा बढ़ जानेपर खेती नहीं बचती, या बारिश की झड़ी लगनेपर बैठे हुए जानवर उठ नहीं सकते, वैसे ही मैं जबान नहीं उठा सकूँगा। बंजर भूमि में सूखा हुआ घासफूस जैसे हवा से उड़ जाता है, वैसी हालत दाढ़ी के बालों की होगी। आसाढ़ में जैसी वर्षा से पहाड़ों की चोटियाँ झरने लगती हैं वैसेही दाँतों के दरारों से लार टपकने लगेगी। मेरी ज़बान से शब्द नहीं निकलेंगे, कानों से स्पष्ट सुनाई नहीं देगा और मेरे बदन की हालत बूढे बंदर के समान होगी। घास का बिजूखा जैसे वायुसे हिलता है वैसे मेरा सारा बदन काँपने लगेगा, ॥५६६-७० ॥पाँव टेढ़ेमेढ़े पडेंगे, हाथ सिहरने लगेंगे और शरीरकी चेष्टाएँ उसको स्वांग के समान नचायेंगी, मलमूत्र के द्वार टूटे हुए बर्तन जैसे होंगे और पास के लोग मेरी मौत के लिये मिन्नतें मानेंगे। मेरी यह हालत देखकर लोग मेरे मुँहपर थूकेंगे, मृत्यु जल्दी नहीं आयेगी, और रिश्तेदार मुझ से ऊब जायेंगे। स्त्रियाँ मुझे पिशाच कहेंगी, मुझे देखकर बच्चे डर से बेहोश होंगे, ज्यादा क्या कहूँ ? सब मुझसे घृणा करेंगे। मेरा खाँसी का दौरा सुनकर सोये हुए पड़ोसी कहने लगेंगे, " न जाने यह बूढ़ा और कितने दिन कष्ट देगा ? " ॥५७१-७५ ॥ इस प्रकार बुढ़ापे का सुझाव जवानी में मिलने से वह उसका खेद मानता है

और कहता है कि, यदि जवानी विषयोपभोग में बीत गयी तो बुढ़ापे में स्वहित जोड़ने के लिये क्या चारा होगा ? इसलिये कान बंद होने से पहले वह सुश्राव्य बातें सुन लेता है । शरीर पराधीन होने से पहले तीर्थयात्राएँ करता है । दृष्टि दुरुस्त रहने तक, जो देखने योग्य है उसको देख पाता है और ज़बान बंद होने के पहले वह अच्छे वचन कण्ठस्थ करता है । आगे हाथ लूले होंगे यह जानकर वह पहले ही दानधर्म करता है । ॥५७६-८० ॥ चूँकि ऐसी हालत पैदा होनेपर मन शुद्ध नहीं रहेगा, वह आत्मज्ञान के बारे में पूरी तरह सोचविचार करता रहता है । जैसे कोई आदमी, डाकू अपना धन लूट लेगा इस आशंका से उसका दान करता है किंवा जैसे कोई दीप के बुझने के पहले सब असबाब व्यवस्थित रखता है, वैसे वह पुनर्जन्म देनेवाली बातों का त्याग करता है, ताकि बुढ़ापा आनेपर जिंदगी व्यर्थ न हो । जब पंछी घोसले की ओर जाते हैं तब शाम हुई यह जान कर, यात्री राह पर यदि किले का आश्रय नहीं लेता तो वह निःसंदेह लूट जाता है । उसी तरह वृद्धावस्था आने पर मृत्यु झपट्टा मारेगी और सारी ज़िंदगी व्यर्थ होगी । क्योंकि कौन पहले जानता है कि वह शतायु होगा ? ॥५८१-८५ ॥तिल के ढोंढों को यदि फिरसे झटकाये तो उनसे तिल नहीं निकलते । राख होनेपर अग्नि फिरसे जलती है क्या ? वैसे ही जो बुढ़ापा आगे आनेवाला है यह जानकर उसके चंगुल में नहीं फँसता, उसको ज्ञान हुआ है ऐसा समझो । बहुत प्रकार के रोग होने के पहले ही जैसे समझदार आदमी स्वास्थ्य के लिये कदम उठाता है किंवा साँप के मुँह से निकला हुआ कौर फेंक देता है, वैसे ही जिसके वियोग से दुख, विपत्ति और शोक पैदा होते हैं उसके प्रति स्नेह त्यागकर वह उदासीन वृत्ति से रहता है ॥५८६-९० ॥ और जिन इंद्रियों की वजह से दोष बढ़ेंगे ऐसा महसूस करता है उनके द्वारपर रोड़े लगाकर उनको बंद करता है । इस तरह जो पेश आता है वह ज्ञान संपत्ति का मालिक बनता है । अब, हे अर्जुन तुम्हें ज्ञानी पुरुष का एक और जो अलौकिक लक्षण है वह कहता हूँ ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९ ॥

जैसे दूसरे के घर में बसा हुआ यात्री उस घर के प्रति उदासीन रहता है वैसे ही वह अपने शरीर के प्रति विरक्त रहता है । मार्ग में चलते समय वृक्ष की छाया

के साथ उसको जितनी लगन होती है, उतना लगाव उसे घर के संबंध में नहीं होता । ॥५९१-९५ ॥आदमी को जैसे उसकी परछाईं से लगाव नहीं होता, वैसे ही उसको अपनी स्त्री के विषय में आसक्ति नहीं होती और जिस तरह यात्री निवास के लिये आते हैं या पेड़के नीचे जानवर बैठते हैं उसी तरह वह अपने संतान को समझता है । जैसे यात्री रास्ते में की चीजों का सिर्फ साक्षी होता है, वैसेही वह अपने धन के बारेमें उदासीन होता है । जैसे तोता अपने पिंजड़े में रहता है वैसे ही वह वेदाज्ञा के डर से संसार में रहता है । इस प्रकार जो बालबच्चे और घरबार इनके प्रति आसक्ति नहीं रखता, वह ज्ञानका आश्रय हो गया ऐसा समझ लो । ॥५९६-६०० ॥ और जैसे गरमी में और बरसात में महासागर एक ही तरहसे भरा होता है, वैसेही उसकी राय में प्रिय और अप्रिय बातें समान होती हैं । अथवा जैसे सूरज तीनों ही वक्त पर नहीं बदलता वैसेही उसका मन सुखदुःख से बैचेन नहीं होता । जिसकी समता आसमान की तरह थोड़ी या बहुत नहीं होती, उसमें प्रत्यक्ष ज्ञान है ऐसा समझो ।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१० ॥

इस दुनियामें मेरे सिवाय और कुछ अच्छी चीज़ नहीं है ऐसा उसको यक़ीन हो चुका है । तन मन से उसने सौगंध लिया होता है कि इस जगत् में मेरे बिना दूसरी गति नहीं है ॥६०१-०५ ॥ उसका मुझसे इतना लगाव होता है कि हम दोनों एकरूप हो गये हैं । जैसे पति के करीब जाने के लिये स्त्री कतई नहीं सकुचाती, वैसे ही वह मुझसे एकनिष्ठ हो चुका है । जिस तरह गंगा समुद्रको मिलने पर भी उसको लगातार मिलती रहती है, उसी तरह वह मद्रूप होने के बाद भी मेरी आराधना करता रहता है । सूरज का उदय होतेही उसकी प्रभा फैलती है और उसके अस्त होते ही वह लुप्त हो जाती है, ऐसी उसकी एकता प्रभा को ही शोभा देती है । वैसेही जल के पृष्ठभाग पर जो जल उछल पड़ता है उसको लोग लहर कहते हैं; लेकिन वह सचमुच जलही होता है ॥६०६-६१० ॥ उसी प्रकार जो मुझसे एकरूप होकर मुझको श्रद्धा से भजता है वह प्रत्यक्ष ज्ञानही है ।

जो तीर्थक्षेत्र, नदी का पवित्र घाट, उत्तम तपोवन, पहाड़ पर की गुहाएँ या तालाबके तट पर रहना पसंद करता है और जिसको शहर में रहना अच्छा नहीं लगता, जो एकान्त चाहता है और गाँव में रहने से ऊब जाता है, वह आदमी के रूप में ज्ञानही है ऐसा समझो । हे अर्जुन, इस ज्ञानी का स्वरूप अधिक स्पष्ट करने के लिये उसके और कुछ लक्षण कहता हूँ ॥६११-१५ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११ ॥

उसका पक्का निश्चय हो चुका है कि परब्रह्म यह जो एक तत्त्व है उसका अनुभव देनेवाला ज्ञान है, और जिससे संसार और स्वर्ग प्राप्त होते हैं वह अज्ञान है । वह स्वर्ग में जाने की इच्छा छोड़ देता है और संसार की ओर से आँखें मूँद कर आत्मज्ञान में लगन के साथ मग्न हो जाता है । जैसे कोई यात्री चौराहे पर ठीक तलाश करके पगडंडी टाल देता है, वैसे ही वह अपना मन और बुद्धि इन दोनोंकोही आत्मज्ञान की तरफ़ लगाता है ॥६१६-२० ॥

फिर एक आत्मज्ञान ही सत्य है और बाकी ज्ञान भ्रममूलक है इस पक्के विचार से उसकी बुद्धि स्थिर होती है । जैसे आसमान में ध्रुव तारा निश्चल होता है वैसे वह अपनी बुद्धि को दृढ़ रखता है । उसीमें ज्ञान का अस्तित्व है इसमें संदेह नहीं । और जब इस तरह उसका मन ज्ञान से पूरी तरह प्रभावित होता है तब वह मद्रूप होता है । जैसे अभी अभी बैठे हुए आदमी के बारे में हम नहीं कह सकते कि उसने आसन जमाया है, वही प्रकार ज्ञानका भी है । फिर भी शुद्ध ज्ञान का फलस्वरूप ज्ञेय जो है उसपर वह अपनी दृष्टि क़ायम रखता है ॥६२१-६२५ ॥ योंही अगर ज्ञान का अनुभव नहीं किया तो ज्ञान हो कर भी वह न होने के बराबर है । अंधे के हाथ में दीप होने से उसे क्या फायदा ? वैसेही निश्चित ज्ञान होनेपर भी ज्ञेयकी पहचान न हो तो वह व्यर्थ होता है । ज्ञान के प्रकाश में यदि बुद्धि परब्रह्म को नहीं पहुँची, तो वह अंधी है ऐसा समझो । जिस ज्ञान से जहाँ देखे वहाँ परब्रह्म नज़र आता है, उसी ज्ञान की प्राप्ति के लिये उसको अच्छी बुद्धि होती है और जिस ज्ञान से निर्दोष जानने योग्य परब्रह्म दिखाई देता है, उस ज्ञान से वह संपन्न होता है ॥६२६-३० ॥ जितना उसका ज्ञान बढ़ता जाता है उतनी उसकी बुद्धि फैलती जाती

है, फिर वह प्रत्यक्ष ज्ञान है यह शब्दों से वर्णन करना आवश्यक नहीं है । जिसकी बुद्धि ज्ञान के प्रकाश से ज्ञेय में सिमट जाती है, उसको परतत्त्व का स्पर्श होता है ।

फिर वह ज्ञानरूप हुआ ऐसा हमने कहा, तो उसमें आश्चर्य की बात क्या है ? देखिये, क्या सूरजको यह सूरज है ऐसा कहना पड़ता है ? तब श्रोताओंने कहा, अब बस करो, इस ज्ञानका ज्यादा बखान नहीं चाहिये । गीता का भावार्थ कहने में विलंब क्यों करते हो ? तुमने हमको ज्ञान की पूरी जानकारी दी, तुम्हारे इस वक्तृत्व से हमारी बड़ी पहुनाई हुई । ॥६३१-३५ ॥ किसी विषय का अत्यंत सरस वर्णन करने का कवि का जो गुर होता है वह तुमने अपनाया है । फिर अपने बारे में हमारा मत प्रतिकूल क्यों कर रहे हो ? जब लोग खाने को बैठ गये हैं, तब यदि औरत रसोई लेकर भाग जाए तो उसके द्वारा की गई आवभगत किस काम की ? जो गाय अन्य बातों में सरल मगर दूध दुहने में ओहे को हाथ नहीं लगा देती, उस ठुकरानेवाली गाय को कौन पालेगा ? जिनको ज्ञान नहीं हुआ है, वे ज्ञान के बारेमें क्यों बकवास करते हैं यह मालूम नहीं । लेकिन तुमने यह अच्छा किया ।

जिस ज्ञान का थोडासा अंश मिलने के लिये लोग योगादिक साधन बड़े कष्टसे करते हैं, उसका तुमने अच्छा विवेचन किया ॥६३६-४० ॥वर्षा लगातार सात दिन गिरती रही या सुख के बहुत दिन बीतते हैं तो वे दिन क्या कोई गिनता रहता है ? पूनम की रात यदि युग के समान हुई, तो चकोर पंछी क्या चांदनी देखकर ऊब जायेंगे ? उसी तरह यह तुम्हारा ज्ञान पर सरस निरूपण सुनकर कौन कहेगा कि पर्याप्त हुआ ? और भाग्यवान् अतिथि घर में पधारा और परोसने वाली रसोई बनाने में प्रवीण हो तो वे दोनों चाहते हैं कि वह भोजन समाप्त न हो, वैसाही यह अवसर है । क्योंकि हमें ज्ञानकी चाह है और तुमको उसे कहने का शौक़ है ॥६४१-४५ ॥ इस लिये इस कथन के बारेमें हमारी उत्कंठा चारगुना बढ़ गयी है और हम तुमको 'तुम ज्ञानी हो, द्रष्टा हो' ऐसा कहे बिना कैसे रहेंगे ? तो भी आगे बुद्धि के अंतःपुर में जाकर सही निरूपण करो । यह संतों का बयान सुनकर निवृत्तिदास ज्ञानदेव ने कहा कि मेरा भी यही विचार है, तिस पर आपकी आज्ञा हुई है । मैं अब ये कहानी व्यर्थ नहीं बढाऊँगा । देखिये, इस प्रकार ज्ञान के ये

अठारह लक्षण श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताये ॥६४६-५० ॥ उन्होंने कहा कि यह मेरा मत है कि लक्षणों से ज्ञान पहचानना चाहिए । और अन्य ज्ञानी लोग भी ऐसा ही कहते हैं । मैंने यह ज्ञान हथेली पर रखे हुए आँवले के समान स्पष्ट कर के बताया है ।

और, हे बुद्धिमान अर्जुन, अब जिसको अज्ञान कहते हैं उसके भी चिह्न मैं स्पष्ट कहता हूँ । हे अर्जुन, ज्ञान की जानकारी होने पर हम अज्ञान को सहजतया पहचान सकते हैं । क्योंकि जो ज्ञान नहीं है वही अज्ञान है । देखो, दिन समाप्त होने पर रात की बारी आती है, इसमें तीसरा कोई पर्याय नहीं है ॥६५१-५५ ॥ इस लिये ज्ञानके अभाव को ही अज्ञान समझो । फिर भी तुम्हें अज्ञान के कुछ चिह्न बताता हूँ । जो प्रतिष्ठा के लिये जीवित रहता है, अपना सम्मान कब होगा इसकी राह देखता है, और अपनी आवभगत होने पर हर्षित होता है, जो पर्वत के शिखर के समान गर्व से अकड़ता है, उसमें अज्ञान बस्ती करता है । जैसे सबको दिखाने के वास्ते पीपल को तागा बाँधते हैं या मंदिर में झाडू रखते हैं, वैसेही जो अपना किया हुआ धार्मिक कार्य कहता रहता है, जो अपनी विद्वत्ता का और सुकर्म का डंका बजाता है और बडप्पन पाने के लिये कर्म करता है, ॥६५६-६० ॥और जो दिखावे के लिये अपने शरीर को भस्म, चंदन आदि लगाकर अपने शिष्यों को धोखा देता है, वह अज्ञान की खान है, समझो । जैसे जंगल में दावानल भडकने पर उसमें सब स्थावर जंगम वस्तुएँ जलकर खाक होती हैं, वैसेही उसके बर्ताव से सारी दुनिया तंग हो जाती है । जिसका स्वाभाविक संभाषण भी भाले के समान चुभता है और जिसके सब इरादे ज़हर से भी अधिक घातक होते हैं, उसमें अज्ञान है ऐसे समझो । अधिक क्या कहूँ, उसकी जिंदगी हिंसा पर निर्भर होती है और जैसे धौंकनी में वायु भरने पर वह फूलती है और वायु निकल जाने पर खाली हो जाती है, वैसे ही प्रिय जन के साथ संयोग होने पर वह खुशी से फूल जाता है और उस के वियोग से उदास हो जाता है ॥६६१-६५ ॥ आँधी में जैसे धूल आसमान में ऊपर उठती है, वैसेही प्रशंसा सुनकर वह फूला नहीं समाता और जरा सी निन्दा कान पर आई तो उसके माथे पर बल पड़ते हैं । पानी की बूँद से कीचड़ गीला होता है और हवा से सूख जाता है वैसी ही उसकी हालत सम्मान और अपमान से होती है । जो ऐसे

मनोविकारों के वेग को सह नहीं सकता उसमें पूरा अज्ञान होता है । उसके मन की बात किसी को मालूम नहीं होती, उसकी बातचीत ऊपरी तौर पर खुली होती है, मगर वह किसीके साथ दोस्ती कर के दूसरे की मदद करता है । पारधी जैसे जानवर और पंछी को चारा देता है, वैसेही वह भोलेभाले आदमियों को किसी तरह पालता है और अपने बारे में भले मानुसों की राय प्रतिकूल करा देता है ॥ ६६६-७० ॥ काई से ढँकी हुई चकमक या पकी हुई निबौरी के समान उसके कर्म ऊपर से अच्छे दिखाई देते हैं । उस आदमी में अज्ञान है इसमें कतई संदेह नहीं है ।

जिसको गुरुकुलके बारे में शरम और गुरुसेवा में अरुचि है और जो गुरुसे विद्या सीखनेपर उसकी इज्ज़त नहीं करता, उस अभक्त का नाम लेना शूद्र के घर में भोजन करने बराबर है । लेकिन अज्ञान के लक्षण कहते हुए यह बात हुई । अब गुरुभक्त का नाम लेकर वाणी से हुए इस पापका प्रायश्चित्त करूँगा । क्योंकि गुरुभक्त का नाम सूरज के समान (अज्ञान के अंधरे में) प्रकाश देनेवाला होता है ॥६७१-७५ ॥ उससे गुरु के निंदक का नाम लेने से जो पाप हुआ वह मिट जायेगा । यहाँ तक अभक्त के नाम के उच्चारण से जो पाप का भय था वह भक्त का नाम लेने से दूर हुआ ।

अब अज्ञान के और लक्षण सुनो । जो काम करने में ढीला है और जिसका मन संदेह से भरा हुआ है, वह अरण्य में अपवित्र कुंएं के समान है । उस कुएँ के मुँह पर कंटीले पौधे और अंदर उसमें गिरकर मरे हुए प्राणियों की हड्डियाँ होती हैं । उसी तरह वह अज्ञानी आदमी अंतर्बाह्य अशुद्ध होता है । कुत्ता जैसे पेट के लिये खाद्य खुला है या ढँका हुआ है यह न देखकर खाता है, वैसे वह अज्ञानी लोभसे धन अपना है या पराया है इसका विचार नहीं करता ॥६७६-८० ॥ जैसे कुत्ता संभोग के लिये योग्य या अयोग्य जगह का खयाल नहीं रखता, वैसेही उसको स्त्री-समागम के बारेमें विधिनिषेध नहीं रहता । विहित कर्म करनेका समय बीत चुका या नित्यनैमित्तिक कर्म करना रह गया तो उसको खेद नहीं होता । उसको पापकर्म करने में शरम नहीं होती और पुण्यकर्म में रुचि भी नहीं होती । उसका मन संदेह से भरा होता है और वह निरंतर धन पर दृष्टि रखे रहता है । ऐसा

आदमी अज्ञान का पुतला है समझो । जैसे घास का बीज चींटी के धक्के से खिसकता है, वैसे वह थोडेसे स्वार्थ के लिये अपने निश्चय से विचलित होता है। ॥६८१-८५ ॥

डबरे में पाँव पड़तेही जैसे उसका जल गंदला होता है, वैसेही भयका अवसर आने पर वह घबरा जाता है । बाढ़ में गिरा हुआ कद्दू जैसे कहींभी जाता है, वैसेही वह मनोरथके प्रवाह में बह जाता है । वायु की सहायतासे जैसे धुआँ दिशाओं के अंत तक फैल जाता है, वैसे ही उसका मन दुःख के समाचार से भरा जाता है । तूफ़ान की तरह वह एक जगह स्थिर नहीं रहता और किसी तीर्थक्षेत्र में या शहर में नहीं बसता । जिस तरह उन्मत्त गिरगिट पेड़पर ऊपरसे नीचे और नीचेसे ऊपर व्यर्थ चक्कर लगाता है, ॥६८६-९० ॥ या मटका जमीन में गाड़े बिना स्थिर नहीं रहता, वैसे वह बिछौने पर पड़ा तो वहीं पड़ा रहता है, नहीं तो लगातार घूमता रहता है । इसतरह वह चंचलता में बंदर का भाईबंद जैसा लगता है । इस प्रकार के आदमी में बहुत अज्ञान होता है और उसका अपने मनपर काबू नहीं होता । नाले में बाढ़ आनेपर वह जैसे बाँध की परवाह नहीं करती, वैसे वह निषिद्ध कर्म करने से नहीं डरता । वह अपना व्रत बीच में छोड़ देता है, स्वधर्म को ठुकरा देता है और कर्म करते हुए नियमों को पैरों से कुचलता है । ॥६९१-९५ ॥ उसको पापकर्मों से घृणा या पुण्यकर्मों में रुचि नहीं होती और वह लज्जा की मर्यादा खोद देता है । वह अपना कुलधर्म नहीं पहचानता, वेदों की आज्ञाओं का पालन नहीं करता, और भले-बुरे कर्मों का ख्याल नहीं रखता । जिस तरह साँड अनर्गल घूमता है, समीर बेछूट बहता है और अरण्य में फूटी हुई नाली कहीं भी बहती है, अंधा हाथी मस्त होता है, या पहाड़पर दावानल जलता है, उसी तरह उसका मन विषयसुख के लिये ललचाता है । देखो, लोग घूरेपर क्या क्या नहीं फेंकते ? अंडबंड घूमने वाले साँड को कौन रोक सकता है ? और गाँव का प्रवेशद्वार कौन नहीं लाँघता ? ॥६९६-७०० ॥ जिस तरह लंगर में कोई भी भोजन करता है, साधारण आदमी अधिकार मिलनेपर धाक जमाता है, या बनिये की दूकान में कोई भी जा सकता है, वैसे उसके अंतःकरण में तरह तरहके विचार आते हैं । ऐसे आदमी में अज्ञान बढ़ा हुआ है यह समझ लो । और जो जीते जी या मरनेपर विषय के प्रति अभिलाषा

का त्याग नहीं करता, वह स्वर्ग के भोग पाने के लिये पुण्य जुटाता है, और विषयभोग के लिये लगातार प्रयास करता रहता है । वह काम्य कर्म ही पसंद करता है और विरक्त साधुओं का दर्शन अशुभ मानकर सचैल स्नान करता है ।

यदि विषय उससे ऊब गये तो भी वह उनसे तंग आकर सजग नहीं होता । जिस तरह कोढ़ी सड़े हुए हाथों से भोजन करता है, ॥७०१-०५ ॥ या गधीके पीछे पड़ा हुआ गधा, अगर गधी के लत्ताप्रहार से उसकी नाक भी टूट गई, तो भी वह पीछे नहीं हटता उसी तरह वह विषयभोग के लिये जलती हुई अग्नि में कूदता है और अपनी इस लत को भूषण मानकर शान दिखाता है । जैसे मृगजल के पीछे दौड़नेवाला हिरन व्याकुल होने पर भी उसकी इच्छा बढ़ती रहती है और वह मृगजल का मिथ्या आभास नहीं जानता, उसी तरह वह जन्म से मरने तक भोग विलास के लिये कष्ट करता रहता है और उससे परेशानी महसूस न करता हुआ उसपर जान देता है । उसको बचपन में माँ बाप की धुन होती है, उसके बाद जवानी में स्त्री के प्यार से वह पगला बनता है, ॥७०६-१० ॥ और जब स्त्रीसुख लेते लेते बूढ़ा हो जाता है तब तक बालबच्चों से प्यार करने लगता है । जन्मांध के समान वह अपना सारा समय बालबच्चों में बिताता है और जीवन के अंतिम क्षणतक विषयभोग से घृणा नहीं करता । इस आदमी में असीम अज्ञान है, ऐसा समझो ।

अब अज्ञान के और कुछ चिह्न बताता हूँ । मैं देह हूँ इस ख़याल से वह कर्म करता रहता है और उससे कुछ भला बुरा काम हुआ तो वह बैचेन होता है । ॥७११-१५ ॥ जैसे देवता का प्रसाद सिर पर रख कर भगत "हूं हूं "कर सिर धुनता है, वैसेही वह विद्या और जवानी के नशे में अकड़कर चलता है । वह कहता है कि इस दुनिया में मैंही बड़ा हूँ, मैंही सर्वज्ञ और जनप्रिय नेता हूँ और इस आत्माभिमान से डँटा रहता है । जैसे बीमार आदमी को किसी भी मिष्टान्न की रुचि नहीं होती वैसे उसको किसीका भला हुआ तो अच्छा नहीं लगता । देखो, दीप, गुण (बाती) और स्नेह (तेल) जलाता है और उसको जिस जगहपर रखते हैं उसको काजलसे काला कर देता है । ॥७१६-२० ॥अगर उसपर जल की छींटें पड़ीं तो वह पटपटाता है और हवा से बुझ जाता है । और वह जहाँ भी लग गया तो जलनेसे

तिनका भी नहीं बचता और वह थोड़ीसी रोशनी देकर ज्यादा गरमी देता है । इस दीप के समान वह पढ़ा लिखा गोबर गणेश है । जिस तरह दूध की दवा देनेपर नवज्वर बढ़ जाता है, या साँप को दूध पिलाने पर वह ज़हर क़ै करता है, उस तरह वंह सज्जनों का मत्सर करता है ।

उसको अपने ज्ञानके बारे में घमंड और अपनी तपस्या के बारेमें गरूर होता है । यदि अंत्यज राज्यपदपर बैठ गया, या अजगर खंभेको निगल गया तो वह जैसे फूलता है, वैसे वह गर्वसे अकड़ता है । ॥७२१-२५ ॥ जिस तरह बेलन नहीं झुकता या पत्थर नहीं पिघलता वह उसीके सरीखा होता है और साँप के काँट लेने पर जैसे उसका ज़हर मांत्रिक भी उतार नहीं सकता, वैसे सज्जन भी उसका होश ठिकाने नहीं ला सकते । उसका अज्ञान बढ़ता जाता है यह मैं तुम्हें जताता हूँ । हे अर्जुन, वह घरबार, देह, संपत्ति और विद्यमान जन्म के बारे में सोचविचार नहीं करता । जैसे कृतघ्न आदमी पर उपकार करने पर या ठग को व्यापार के लिये पूँजी देने पर या बेशरम आदमी की प्रशंसा करने पर वह सब भूल जाता है, किंवा जिस तरह आवारा कुत्ते के कान और पूँछ काटकर उसको घर से निकाल दिया तो भी वह लहूलुहान होकर लौट आता है, ॥७२६-३० ॥ या मेंढ़क साँप के मुँह में जाने पर भी अनगिनत मक्खियाँ खाने लगता है, और उस समय वह नहीं जानता कि वह अब घड़ी दो घड़ीका मेहमान है, उसीतरह जब बीमारी से उसके शरीर के नौ द्वार बहने लगते हैं, तब जिस कारण से उसकी यह हालत हुई है वह उसको नहीं चुभता । माँ के गर्भाशय में गंदगी की तह में नौ मास तक उबाला गया तो भी उसको गर्भ की व्यथा और जनम में हुए अनुभव और दुःख की याद नहीं आती । गोद का बच्चा मलमूत्र के कीचड़ में लोटता हुआ देखकर उसको घृणा और परेशानी नहीं होती । ॥७३१-३५ ॥वर्तमान जन्म बीतने पर आगे दूसरा जन्म आयेगा, इस बातपर वह ध्यान नहीं देता ।

उसी तरह ऐन जवानी में आगे आनेवाली मृत्यु के बारेमें उसको चिंता नहीं होती और उसको जीने का इतना भरोसा होता है कि आगे आनेवाली मृत्यु का खयालभी उसको महसूस नहीं होता । जिस तरह मछली अपना डबरा नहीं सूखेगा

इस विचार से उसको छोड़कर बड़े दह में नहीं जाती, या हिरन पारधी के गायन से मोहित होकर उसको नहीं देखता, या मछली आमिष में जो कंटियाँ हैं उसको न जानती हुई निगल लेती है, ॥७३६-४० ॥ या दीपकी चमक देख कर, वह मुझे जला देगा यह पतिंगा नहीं जानता, या कोई बेवकूफ जलते हुए मकान पर ध्यान नहीं देता, या कोई ज़हर मिला हुआ अन्न खाता है, उसी तरह विषयसुख के जोश में जिंदगी का रूप लेकर मृत्यु उसके सिर पर मँडरा रही है यह वह नहीं जानता। दिनरात शरीर का पालनपोषण, भोगविलास इनको सच मानता है और वह बेचारा नहीं जानता कि वेश्या किसी को लूटने के लियेही अपना सर्वस्व अर्पित करती है यही मिसाल यहाँ लागू है। ॥७४१-४५ ॥ प्रतिष्ठित ठग की दोस्तीसे प्राण के लाले पड़ेंगे, या मिट्टी के पुतले को नहलाना उसका नाश करना है, पांडुरोग से मोटा होनेपर रोगी की जिंदगी खत्म हो चुकी है, ऐसा समझना चाहिये, उसी प्रकार खाने सोने में मशगूल होने से उससे अपना नाश होगा यह वह नहीं जानता। जैसे मौत की सज़ा पानेवाला सूली की ओर जल्दी जल्दी जाने लगा तो पग पग पर वह मृत्यु के निकट जाता है, वैसे ही देह की वृद्धि होनेपर आयु के दिन बीत जाते हैं, विषयवासना बढ़ जाती है और मृत्यु आयु पर मात करती है। नमक जैसे पानी में पिघल जाता है, वैसेही आयु का भाटा होता है, ॥७४६-७५० ॥और यमदूत निकट आकर देखते देखते कब ले जायेगा यह वह नहीं जानता हे अर्जुन, विषयों के मोह में फँसा हुआ जो शरीर की नित्य नयी मौत नहीं जानता वह अज्ञानरूपी देह का राजा है ऐसा निःसंदेह समझो।

जैसे वह जीने के नशे में मत्त होकर मौत की ओर ध्यान नहीं देता, वैसे वह ऐन जवानी में आगे आनेवाले बुढ़ापे के बारे में लापरवाह होता है। जिस तरह पहाड़ के कगार से धकेला हुआ गाड़ा या पर्वतके शिखरसे टूटा हुआ पत्थर अपनी हालत क्या होगी यह नहीं जानता, वैसे बुढ़ापा आनेपर अपनी हालत क्या होगी यह वह नहीं समझता ॥७५१-५५ ॥ क्योंकि जैसे घने जंगल में नाले में बाढ़ आ गयी या भैसों की मुठभेड़ हो गयी वैसे उसको जवानी में भी मस्ती होती है। फिर जब उसका मोटा ताज़ा शरीर दुबला पतला होता है, बदनकी कांति कम होने लगती है, गर्दन और सिर काँपने लगते हैं, दाढी सफ़ेद होने लगती है और गर्दन ढीली हो

जाती है तो भी वह ममता का प्रपंच बढ़ाता रहता है । जैसे अंधा आगेका खंभा सीने से टकराने के पहले नहीं जानता, या आँख में सफ़ेद मैल आनेपर सुस्त आदमी को खुशी होती है, वैसेही हे अर्जुन, जो जवानी में आगे आनेवाले बुढ़ापे के बारेमें सोचविचार नहीं करता, वह सचमुच अज्ञानी है ॥७५६-६० ॥ उस समय उसको अगर कोई अपाहिज़ या कुबड़ा आदमी नज़र आया तो वह उसको ऐंठकर, मुँह बिचकाकर चिढ़ाता है । तब उसके मन में ख़याल नहीं आता कि आगे उसकी हालत वैसीही होगी । और मौत को सूचित करनेवाला बुढ़ापा आने पर भी वह जवानी के मोह से मुक्त नहीं होता । इस प्रकार का आदमी अज्ञान का स्थान है ऐसा निश्चित रूप से समझो । इसी प्रकार अज्ञानके और कुछ स्थूल लक्षण बताऊँगा । सुनो, शेर के जंगल में एक बार चरकर भाग्य से सकुशल लौटा हुआ बैल निश्चिंत होकर फिर वहाँ चरने जाता है अथवा साँप के बिल से धन पाने पर आदमी यक़ीन नहीं करता कि वहाँ साँप बैठा हुआ था ॥७६१-६५ ॥ ऐसी घटनाएँ कभी होती हैं मगर उनमें जान को धोखा है यह वह नहीं जानता । दुश्मन सो जानेपर अब बैर समाप्त हुआ इस ख़याल से जो निश्चिंत होता है वह अपने बालबच्चों के साथ जान जोखों में डालता है । जब तक उसको भूख और नींद लगती है और वह तंदुरुस्त होता है, तबतक वह आगे आनेवाली बीमारी की चिंता नहीं करता और औरत और औलाद के सहवास में जैसे दौलत बढ़ जाती है, वैसे उसकी आँखें उसके नशे में चूर होती हैं । आगे इन बालबच्चों के साथ दौलत का नाश होकर एक दिन विपत्ति में फँस जाऊँगा यह आगे आनेवाला दुःख वह नहीं देखता ॥७६६-७० ॥ ऐसा आदमी, हे अर्जुन, अज्ञानी है और जो इंद्रियों को ढील देता है उसको भी अज्ञानी समझो ।

वह जवानी और संपत्ति के जोश में आकर ग्राह्य और अग्राह्य का ख़याल न करता हुआ विषयों के स्वाद चखता है, जो नहीं करना चाहिये वह करता है, असंभव बातों के लिये लालची होता है, जो मन में नहीं लाना चाहिये उनको सोचने लगता है, जहाँ प्रवेश नहीं करना चाहिये वहाँ प्रवेश करता है, जिसको लेना नहीं चाहिये वह माँगता है, जिसको छूना नहीं चाहिये उसको छूता है अथवा जो बातें सोचनी नहीं चाहिये वे सारी बातें करता है, वह जहाँ जाना नहीं चाहिये वहाँ जाता है, जो देखना नहीं चाहिये उसको देखता है और जो खाना नहीं चाहिये वह खाता

है और उससे खुश होता है, ॥६७१-७५ ॥ जिसका संग नहीं करना चाहिये उसका संग करता है, जिससे वास्ता नहीं रखना चाहिये उससे सरोकार रखता है, जिस मार्ग से नहीं चलना चाहिये उसको अपनाता है, जो नहीं सुनना चाहिये वह सुनता है, जो नहीं कहना चाहिये वह बकता है, मगर वह नहीं सोचता कि ऐसे बर्ताव से उसको पाप लगेगा । शरीर को और मन को जो कर्म भाता है वह योग्य है या अयोग्य है इसके सोचविचार के बिना वह कर्म करता है । मगर उससे नरकयातना भुगतनी पड़ेगी इसका ख़याल वह नहीं रखता । उसके संग से अज्ञान दुनियामें इतना फैल जाता है कि वह ज्ञानी लोगों को भी परेशान करता है । ॥७७६-८० ॥ फिर अज्ञान के कुछ और लक्षण बताऊँगा, ताकि तुम उसका स्वरूप ठीक से समझोंगे । जिस तरह अभी अभी खिले हुए सुगंधित कमलपर भौंरे का चित्त लालायित होता है, वैसे उसका प्रेम घरबार से लगता है । चीनी की राशी पर बैठी हुई मक्खी वहाँसे उठ नहीं जाती, वैसे उसका मन औरत के आसपास मँडराता है । जिस तरह मेंढ़क डबरे में बैठा रहता है, या मक्खी रेंट में लगी रहती है, या जानवर कीचड़ में पूरी तरह फँस जाता है, वैसे ही वह तन मन से घर से लिपट जाता है और मरने के उपरान्त आँगन में साँप बन कर रहता है । ॥७८१-८५ ॥ जैसे कोई औरत अपने प्रियतम को गले लगाकर बैठती है वैसे वह अपनी कुटिया से जी लगाकर रहता है । शहद बटोरने के लिये जैसी मधुमक्षिकाएँ मिहनत करती हैं, वैसे वह अपने मकान की रक्षा करता है । बुढ़ापे में पैदा हुए बेटे पर माँबाप का जितना प्यार होता है, उतना प्यार उसका अपने मकान पर होता है ।

और हे अर्जुन, उसके लिये दुनिया में औरत जैसी दूसरी प्यारी चीज़ नहीं होती । वह तन मन से स्त्री के शरीर पर अनुरक्त होता है और 'मैं कौन हूँ, मेरा कर्तव्य क्या है' यह नहीं जानता । ॥७८६-९० ॥ जिस तरह किसी महानुभाव का चित्त ब्रह्मस्वरूप में मगन होने पर उसके दुनियादारी के व्यवहार थम जाते हैं, उसी तरह उसकी सब इंद्रियाँ उसकी औरत के वश में होती हैं और वह अपना अहित, जनलज्जा, बदनामी इनकी परवाह नहीं करता । वह औरत का मन रखकर बाजीगर के बंदर के समान उसकी मर्जी के अनुसार बर्ताव करता है । मक्खीचूस जैसे खुद कष्ट उठाकर और रिश्तेदारों को दुःख पहुँचाकर धन जमा करता है, वैसेही वह दान

और पुण्यकर्म करता है, वंशजों को और परिवार को धोखा देकर स्त्री का घर भरता है और उसको कुछ कमी नहीं होने देता ॥७९१-९५ ॥ वह अपने आराध्य देवता की किसी तरह पूजापाठ करता है, गुरु से गप्पे हाँकता है और माँबाप से पैसा कम होने का बहाना करता है। मगर स्त्री के लिये भोगविलास के साधन और बढ़िया चीजें लाकर देता है। प्रेमी भक्त जिस प्यार से अपने इष्ट देवता को भजता है वैसे वह अपनी स्त्री की एकाग्रचित्त से सेवा करता है। जो बढ़िया और कीमती चीजें हैं वे अपनी स्त्री को देता है और परिवार को उतना भी नहीं देता, जिससे कि उनका निर्वाह हो सके। अगर अपनी स्त्री को कोई बुरी नज़र से देखे या उससे बुरी तरह पेश आये, तो यह बर्ताव उसको युगान्त सा लगता है ॥७९६-८०० ॥

जुड पित्ती होने के भय से जैसे कोई नाग से मिन्नतें करता है वैसे ही वह स्त्री के इशारे पर नाचता है। हे अर्जुन, स्त्री ही उसका सब कुछ होता है और उसकी कोख से जन्मी हुई संतान से वह बेहद प्यार करता है। उसकी जो चीजें हैं वे उसको जान से भी प्यारी होती हैं। और उस स्त्री के सारे वैभव पर प्राण देता है। इस प्रकार का आदमी अज्ञान की जड़ है। उससे अज्ञान बढ़ता है और वह केवल अज्ञानरूपी होता है। जैसे क्षुब्ध सागर में नाव लहरों में हिलोरे लेती है, ॥८०१-८०५ ॥ वैसे वह प्रिय वस्तु पाकर सुखके शिखर पर पहुँचता है और अप्रिय वस्तु पाकर दुःख से बेचैन होता है। इस प्रकार जिसके मन में सम और विषम हालत में क्षोभ पैदा होता है, वह बुद्धिमान क्यों न हो, अज्ञानीही है। वह मेरी भक्ति करता है फिर मन में फल की इच्छा रखता है। जिस तरह कोई धन के लालच से बैरागी बनता है, या स्वैरिणी अपने यार के पास जाने के लिये अपने पति का मन रखती है, उसी तरह, हे अर्जुन, वह भक्ति का स्वाँग रचा कर भोगविलास पर आँख रखता है ॥८०६-१० ॥ आगे अगर भक्ति करने पर विषयप्राप्ति नहीं हुई, तो ईश्वर आदि सब झूठ है ऐसा कह कर मेरा भजन छोड़ देता है।

नासमझ किसान की तरह वह अलग अलग देवताओं का प्रबंध करता है और पहले देवता की तरह अन्य देवताओं को नज़र अंदाज करता है। जिस गुरु का विशेष ठाटबाट है, उसके संप्रदाय में जाता है और गुरु का मंत्र ले कर दूसरों

की परवाह नहीं करता। प्राणिमात्र से वह निर्दयतासे पेश आता है और पत्थर की मूर्तिपर जान देता है, मगर एकही मूर्तिपर उसका एक जैसा भाव नहीं होता। मेरी मूरत बनाकर घरके एक कोने में उसकी स्थापना करता है और खुद अन्य देवताओं की यात्रापर निकल जाता है। ॥८११-१५ ॥ वह प्रति दिन मेरा पूजापाठ करता है, कामयाब होने के लिये कुलदेवता को भजता है और त्यौहारों में अन्य देवताओं की पूजा करता है। मेरी स्थापना घर में करके दूसरे देवताओं के लिये वायन देता है और श्राद्ध के दिन वह पितरों की पूजा करता है। जैसे एकादशी में मेरी भक्ति करता है, वैंसेही नागपंचमी को नाग की भक्ति करता है . वौथ पर वह गणेशजी का भक्त होता है और चौदस को 'हे जगदम्बे, मैं आपका भक्त हूँ' ऐसा कहता है। नित्य नैमित्तिक कर्म छोड़कर नवरात्रि में चंडीका पूजापाठ करता है और इतवार को भैरव को खिचड़ी अर्पण करता है ॥८१६-२० ॥ आगे सोमवार आनेपर बेल चढ़ाने के लिये शिवलिंग के पास जाता है। इस प्रकार वह अकेला सब देवताओं की पूजाअर्चा करता है। जैसे गाँव की वेश्या सबके लिये प्यार का बहाना करती है, वैसेही वह क्षणभरभी आराम न करता हुआ सब देवताओंकी पूजा करता है। इस तरह जो भक्त हमेशा सब देवताओं के पास दौड़ता है वह अज्ञान का प्रत्यक्ष रूप है ऐसा समझो।

और जो शांत तपोवन, तीर्थक्षेत्र और नदियोंके घाट देखकर घृणा करता है, वह भी अज्ञानी है। जो गाँव में रहना, बड़े समूह में बैठना और गपशप करना पसंद करता है, वह भी अज्ञान का प्रत्यक्ष रूप है। ॥८२१-२५ ॥ जिस विद्या से आत्मा का दर्शन होता है वह उसकी खिल्ली उड़ाता है, उपनिषदों की ओर ध्यान नहीं देता, योगशास्त्र के प्रति उसका मन नहीं मुड़ता, आत्मा का अन्वेषण करनेवाली जो बुद्धि है, उसको त्याग कर उसका मन अन्य शास्त्रों की ओर दौड़ता है। वह कर्मकांड पूरी तरह जानता है, पुराण उसके कण्ठस्थ होते हैं और वह इतना अच्छा ज्योतिषी है कि वह जो कहता है वही होता है। वह शिल्पशास्त्र में निपुण, पाकशास्त्र में प्रवीण और अथर्ववेद का जादूटोना उसके हाथका मैल होता है। ॥८२६-३० ॥ वह कामशास्त्र का जानकार होता है, महाभारत पर प्रवचन करता है और अन्य शास्त्र उसके सामने खड़े रहते हैं। वह नीतिशास्त्र जानता है, वैद्यक में निपुण और काव्यशास्त्र तथा

न्यायशास्त्र का पूरा जानकार होता है । मगर आत्मज्ञान के बारेमें वह जन्म से अंधा होता है । वह सिद्धान्तों के विषय में प्रमाणभूत माना जाता है, मगर भाड़ में जाय उसका ज्ञान ! वह ज्ञान मानो मूलनक्षत्र में जन्मी हुई संतान के समान है । तुम उसपर ध्यान कतई मत दो । ॥८३१-३५ ॥ मोरपंख पर सभी जगह आँखें होती हैं, लेकिन उनमें देखने की शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार उसकी विद्या होती है । मरे हुए आदमी को जरासी संजीवनी जड़ीबूटी मिल जाये तो जड़ियोंसे भरा हुआ छकड़ा किस कामका ? अच्छे लक्षण होने पर भी अल्पायु होना, शिरविहीन को गहनों से सजाना, दुलहा-दुलहनके बिना बारात निकालना निरी विडंबना है । उसी प्रकार, हे पार्थ, एक अध्यात्मशास्त्र के सिवाय दूसरे सब शास्त्र अप्रमाण हैं । हे अर्जुन, तुम ध्यान में रखो कि जिस पढ़े लिखे गोबर गणेश को आत्मा के विषय में सच्चा नित्य बोध नहीं हुआ, ॥८३६-४० ॥उसका शरीर अज्ञान के बीज से बना हुआ है और उसकी विद्वत्ता अज्ञान की बेल है । वह जो कुछ कहता है वह अज्ञान का फूल है और वह जिस पुण्यमार्ग का आचरण करता है वह अज्ञान का फल है । जो इस आत्मज्ञान के बारे में लापरवाह है उसको ज्ञान का उद्देश्य प्राप्त नहीं होता, यह क्या कहना पड़ता है ? जो इस किनारे तक जाने के पहले ही लौट आया, उसको उस पार का किनारा भला कैसे मालूम होगा ? जिसका सिर देहली के गढ़े में दबा हुआ है वह घर की चीजें कैसे देख सकता है ? ॥८४१-४५ ॥ उसी तरह जिसको आत्मज्ञान की पहचान नहीं हुई है उसका लक्ष्य जो आत्मा है वह कैसे प्राप्त होगा ? इसलिये जो आदमी ज्ञान का तत्त्व नहीं जानता उसको हिसाब-किताब कर के बताने का कुछ प्रयोजन नहीं है । गर्भवती स्त्री को भोजन देने पर उसके पेट में जो गर्भ है उसकी तृप्ति अपने आप हो जाती है, उसी तरह मैंने जो ज्ञान के लक्षण बताये हैं उनसे अज्ञान के विपरीत लक्षण जाने जा सकते हैं ।

अंधे को भोज का न्योता देनेपर उसके साथ दूसरा आदमी आता है । उसी तरह ज्ञानके लक्षण बताने पर अज्ञान के लक्षण कहने की आवश्यकता नहीं होती । इस प्रकार उलटे तरीके से ज्ञान के अमानित्वादि लक्षण फिरसे मैं ने बताये ॥८४६-५० ॥ जिस ज्ञानके अठारह लक्षण कहे, उसके विपरीत कहने से अज्ञान

का रूप होता है । पिछले श्लोक के चौथे पाद में श्रीमुकुंद ने कहा कि, ये ज्ञानके लक्षण हैं और इनके विपरीत जो लक्षण होते हैं वह अज्ञान है । इस लिये मैंने अज्ञानके लक्षण विस्तार से कहे । यूंही दूध में ज्यादा पानी डालकर उसको बढ़ाने से क्या फायदा ? उसी प्रकार ज्यादा बकबक और पदों की सीमा का उल्लंघन किये बिना मैंने उसका निजी अर्थ स्पष्ट करने का प्रबंध किया । तब श्रोताओं ने कहा, 'हे कविपोषक, तुम्हारे विवेचन में हम क्या दोष लगा सकते हैं ? तुम नाहक क्यों डर रहें हो ? ॥८५१-५५ ॥ तुम्हें श्रीमुरारी ने कहा है कि जो अभिप्राय मैंने गुप्त रखा है उसको तुम प्रकट करो । तुमने भगवान् का उद्देश्य हमें स्पष्ट बताया ऐसा हम कहेंगे तो तुम गद्गद हो जाओगे । इसलिये हम ये बातें नहीं करते । लेकिन इस बात से हमें प्रसन्नता हुई है । तुम्हारे ज़रिये इस श्रवणसुख की ज्ञाननौका हमें प्राप्त हुई है । अब श्रीहरी आगे क्या बोले वह हमको शीघ्र कथन करो । सज्जनों का यह वचन सुनकर निवृत्तिदास ज्ञानदेव ने कहा, 'अब भगवान ने जो कुछ बयान किया वह सुनिये । ॥८५६-६० ॥ उन्हों ने कहा, हे अर्जुन तुमने जो लक्षण अब सुने वे अज्ञान के हैं । उनसे मुँह मोड़कर ज्ञान के बारे में अच्छा और दृढ़ निश्चय करो । फिर उस शुद्ध ज्ञानके द्वारा तुमको ज्ञेय की प्राप्ति होगी । यह सुनते ही वह ज्ञेय जानने की अर्जुन को धुन लगी । उसके मन का यह भाव जान कर सर्वज्ञों के राजा श्रीकृष्णने कहा, 'अब ज्ञेय के बारे में मैं कहूँगा ।'

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

देखो, ब्रह्म को ज्ञेय इसलिये कहते हैं कि वह ज्ञान के सिवाय किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता ॥८६१-६५ ॥ और उसको जानने के बाद ज्ञाता को कुछ भी करना शेष नहीं रहता । क्योंकि वह ज्ञान उसको तद्रूप बनाता है । वह ज्ञान पाने पर साधक संसार को त्याग कर नित्यानंद में मग्न होता है । वह ज्ञेय ऐसा है कि उसको आदि नहीं है और उसको स्वभावत: परब्रह्म नाम है । वह असत् है ऐसा कहें, तो वह विश्वरूप में नजर आता है और यदि विश्वको परब्रह्म समझें तो वह है माया । उसको रूप, वर्ण, आकार नहीं है और वैसे वह दिखाई नहीं देता, देखता भी नहीं, तो वह है ऐसा कौन कह सकता है ? ॥८६६-७० ॥ हाँ, अगर वह नहीं है ऐसा

मानें तो उसके सिवाय महदादि तत्त्व कैसे स्फुरित हुए ? इसलिये उसके बारे में 'है' या 'नहीं' ऐसा कुछ नहीं बता सकते । अत: ज़बान चुप रही और उसके विषय में सोच विचार की गति रुक गयी । जिस तरह मटका, घड़ा और परात इन रूपोंमें मिट्टी दिखाई देती है, उसी प्रकार ब्रह्म ही विश्वरूप होकर वह सभी ओर भरा हुआ है ।

सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३ ॥

वह सब जगह में व्याप्त है और देश काल से अलग नहीं है, इसलिये स्थूल और सूक्ष्म वस्तुओं से कर्म घटित होता है । अत: वह 'विश्वबाहु' कहा जाता है, क्योंकि वह सभी जगहों पर सब प्रकार से सदा क्रियाएँ करवाता है । ॥८७१-७५ ॥ और, हे अर्जुन, वह सब ठौर पर एकही समय पर मौजूद होता है । इसलिये उसको 'विश्वतस्पाद्' याने सर्वत्र पाँववाला ऐसा नाम मिला है । जैसे सूरज को अंग और आँखें ऐसे अलग अलग अवयव नहीं हैं, वैसे वह सब रूपों को देखता है, इसलिये उसकी आँखें न होते हुए भी उसको वेदोंने बड़ी चतुराई से 'विश्वतश्चक्षु' ऐसा कहा है । वह सभीके सिर पर सर्वत्र नित्य रूपसे होता है, इस लिये उसको 'विश्वमूर्धा' कहते हैं । देखो, अग्निकी जो मूर्ति है, वही उसका मुँह होता है ॥ उसके समान वह सब चीजों का उपभोग करता है ॥८७६-८० ॥ इसलिये, हे अर्जुन, उसको विश्वतोमुख कहना उचित होता है और वही वेद कहते हैं । आकाश जैसे सब वस्तुओं में व्याप्त है, उसी तरह उसके कानमें शब्द व्याप्त हैं इसलिये हम उस ब्रह्म को सर्वत्र सुननेवाला कहते हैं । योंही, हे बुद्धिमान अर्जुन, उसको विश्वतश्चक्षु कहकर वेदों ने उसका व्यापकरूप बताया है ।व्यापक होने से उसका ऐसा रूप करना पड़ा, नहीं तो वह सब शून्यका सार है, तो उसके बारे में हाथ, पाँव और आँखें हैं ऐसी बातें कैसी हो सकती हैं ? ॥८८१-८५ ॥ समुंदर में एक बड़ी लहर दूसरी छोटी लहर को मिटा देती है, लेकिन वे दोनों लहरें क्या अलग होती हैं ? उसी तरह यह ब्रह्म सर्वत्र एक ही है, उसमें व्याप्य-व्यापक भाव कैसे होगा ? मगर ब्रह्मका स्वरूप प्रकट करने के लिये ऐसा भेदभाव करना पड़ा । जैसे शून्य बताने के लिये एक सूक्ष्म बिंदु लिखते हैं, वैसे अद्वैत स्पष्ट करने के लिये द्वैतको स्वीकार करना

पड़ता है । नहीं तो, हे अर्जुन, गुरुशिष्यों का संप्रदाय बंद होगा और अद्वैत के बारे में बोलना बंद हो जायेगा । अत: वेदों ने द्वैतका आधार लेकर अद्वैत समझाने का मार्ग अपनाया ॥८८६-९० ॥ तो अब हम आँखों से जिस रूप को देखते हैं उसमें व्यापक तौरपर ब्रह्म कैसे भरा रहता है यह सुनो ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४ ॥

देखो, अर्जुन, वह ब्रह्म इस प्रकार का है । जिस तरह अवकाश में आकाश है या कपड़े में धागा वस्त्ररूप में होता है, रस जिस तरह जल में जलरूप होकर रहता है, तेज दीप में दीपरूप होकर रहता है, सुगंध जैसे कपूररूप से कपूर में भरी होती है, और कर्म शरीररूप से शरीरमें होता है, ज्यादा क्या कहूँ, सोना जैसे सोनेके छड़में होता है, उसी तरह वह ब्रह्म सब पदार्थों में भरा हुआ होता है ॥८९१-९५ ॥ मगर जब वह सोना छड़के रूप में होता है उस समय वह छड़ जैसा लगता है, मगर वह सचमुच सुवर्णही होता है । हे अर्जुन, जलका प्रवाह टेढ़ाभी हो, तो भी जल सरल और आनंददायक होता है । लोहा गरम होनेपर लाल दिखाई देता है, लेकिन तब वह लोहा नहीं है क्या ? मटके का आकाश गोल दिखाई देता है, वही चौकोर मठ में चौकोर दिखाई देता है । जैसे वह आकाश भिन्न भिन्न रूप धारण करके मन में भ्रांति पैदा करता है और अलग अलग रूप लेकर भी अविकारी होता है, वैसेही अर्जुन, उस ब्रह्म ने मन आदि इंद्रियाँ और सत्त्वादि गुणों के रूप लिये हैं ऐसा आभास होता है ॥८९६-९०० ॥ लेकिन जिस तरह गुड़ का स्वाद उसकी ढेली के आकारपर निर्भर नहीं होता, उसी तरह ब्रह्म इंद्रियों में और गुणों में नहीं होता । हे कपिध्वज, दूध की अवस्था में घी दूध के रूप में रहता है, मगर वह दूध घी नहीं है, उसी तरह ब्रह्म इंद्रियों ओर गुणों में मौजूद होने पर भी वह विकारी नहीं होता । सोने के गहनों का आकार देने पर भी वह सोना ही होता है, इसलिये मैं खुले आम देशी भाषा में कहता हूँ कि ब्रह्म गुण और इंद्रियों से भिन्न है । नाम, रूप, संबंध, जाति, क्रिया ये सब भेद आकार को लागू होते हैं, ब्रह्मको नहीं । ॥९०१-९०५ ॥ वह ब्रह्म गुण और रूप में नहीं है और गुणों से उसका वास्ता भी नहीं है, मगर उसमें उनका आभास होता है । इसलिये, हे अर्जुन, नासमझ आदमी ये गुण ब्रह्म के

हैं ऐसा मानता है। लेकिन ब्रह्म में गुण हैं ऐसा समझना, याने आसमान में बादल, या आईने में प्रतिबिंब, या जल में सूरज की परछाईं को सूरज, या सूर्यकिरणों में मृगजल है ऐसा कहना है। इसी तरह ब्रह्म सारे विश्व को संबंध के बिना धारण करता है ऐसे समझना भ्रममूलक है, अत: व्यर्थ है। ॥९०६-१०॥ जिस तरह रंक का स्वप्न में राजा होना मिथ्या होता है, वैसेही निर्गुण ब्रह्म गुणों का उपभोग करता है ऐसे कहना भ्रममूलक है। इसलिये ब्रह्म गुणों के संग में है या उनको भोगता है ऐसा कहा नहीं जा सकता।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

हे पाण्डुपुत्र, यद्यपि ब्रह्म चराचर प्राणियों में मौजूद है, तो भी वह अकेलाही है, जैसे अंगारे भिन्न भिन्न आकार के होते हुए भी उनमें उष्णता एकही होती है। इस प्रकार जो अनश्वर होकर सूक्ष्म रीति से सब दुनिया में व्याप्त रहता है वह ज्ञेय है। वह शरीरके भीतर है और बाहर भी है, पास है और दूर भी, और अकेला होने से उसमें द्वैत भी नहीं हैं। ॥९११-१५॥ जिस तरह क्षीरसागर का जल बीच में ज्यादा और किनारे पर कम मीठा नहीं होता, उस तरह वह सबमें पूरी तरह व्याप्त है। जारज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन सब प्राणियों में उसकी अखण्ड व्याप्ति है। हे श्रोताओं में चूड़ामणि अर्जुन, पानी से भरे हुए हजारों घटों में चाँद की परछाईयाँ अलग होती हैं तोभी चाँद एकही है। या नमक के अनेक ढेर होने पर भी उनका खारापन समान होता है। या बीस गन्नों का गठ्ठा भी हो तो उन सभीमें समान मिठास होती है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

इसतरह वह ज्ञेय सब प्राणियों में अकेला व्याप्त है और विश्व की उत्पत्तिका आदिकारण है। ॥९१६-२०॥ जैसे लहरों को समुद्र का आधार है वैसे वह प्राणिमात्र का आधारभूत है। जैसे बचपन, जवानी और बुढ़ापा ये एकही शरीर में होते हैं, वैसेही उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों अवस्थाओं में वह अखंड रहता है, जिस तरह सबेरा, दोपहर और शाम ये दिनके तीन काल होने पर भी आसमान

में बदल नहीं होता। हे प्रियतम, वह सृष्टि के समय ब्रह्मदेव कहलाता है, स्थितिकाल में उसका विष्णु नाम सार्थक होता है। और जब इस विश्वाकार का विलय होता है तब हम उसको रुद्र कहते हैं और जब तीनों गुणोंका लोप होता है, तब वह शून्य कहा जाता है ॥९२१-२५॥ और आकाश की शून्यता निगलकर त्रिगुणों का नाश करने वाले शून्य को जो मिटा देता है, वह वेदों को सम्मत महाशून्य है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

वह ज्ञेय अग्नि को प्रदीप्त करता है, चाँद को अमृत देता है और सूरज को दुनिया के व्यवहारों का साक्षी बनने के लिये आँखें देता है। उसके प्रकाश से नभमंडल को उजाला मिलता है और महातेज में चमकदमक आती है। वह आदिका मूल, वृद्धि की बढ़ती, बुद्धि और ज्ञानका ज्ञान है। वह मन का मन, आँख की आँख, कान का कान और बानी की बानी है ॥९२६-३०॥ वह प्राण का प्राण, गति का चरण है और उसीसे क्रिया का कर्तापन आता है। हे पांडुपुत्र, जिससे आकार, विस्तार और संहार इनको अपना अपना रूप प्राप्त होता है, वह पृथ्वी का मूलतत्त्व और जल का जीवन है और उसका प्रकाश तेज को उजाला देता है। वह वायु का प्राण और आकाश का अवकाश है; मतलब कि सब चीजें उसके ज़रिये भासमान होती हैं। हे पांडव, ऐसा वह ज्ञेय सारे विश्व का आदिकारण होने से उसमें द्वैत का प्रवेश नहीं होता ॥९३१-३५॥ उसका दर्शन होते ही द्रष्टा और दृश्य एकरस होकर एकरूप होते हैं। फिर वही ज्ञान है और ज्ञाता और ज्ञेय भी वही हैं। और जिससे ज्ञान प्राप्त हुआ वह भी वही है। हिसाब का चिट्ठा बनाने पर कच्चे अंकों का काम समाप्त होता है। वैसेही ब्रह्मभाव प्राप्त होने पर साध्य और साधन वगैरह उससे ऐक्य पाते हैं। हे अर्जुन, ब्रह्म के विषय में द्वैत का वास्ता शेष नहीं रहता, मतलब कि उसका सभीके हृदय में अस्तित्व है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार, हे दोस्त, तुम्हें क्षेत्र क्या है इसका स्पष्ट वर्णन किया।

॥९३६-४० ॥ क्षेत्र के बाद हे अर्जुन, जिस तरह तुम समझ जाओगे, उस तरह ज्ञान की जानकारी भी तुम्हें दे दी । तत्पश्चात् अज्ञानके लक्षण तुम्हें प्यार से बताये, जिससे तुम तृप्त होकर कहोगे कि 'अब काफ़ी हैं' । और ज्ञेय का युक्तिवाद से स्पष्ट विवेचन किया । हे अर्जुन, इन सब बातों को सोच समझकर और मेरी प्राप्ति की धुन लेकर मेरे भक्त मेरे पास आते हैं । देहादिक परिवार को त्याग कर वे अपनी चित्तवृत्तियाँ मुझ पर केंद्रित करते हैं ॥९४१-४५ ॥ हे किरीटी मेरा ज्ञान पाते ही वे मेरे भक्त अपने स्वत्वका बदला देकर मुझसे एकरूप होते हैं । इस प्रकार मैंने तुम्हारे लिये मद्रूप होने का सब से सुलभ उपाय सोचकर निश्चित किया है । कगार पर चढ़ने के लिये पैड़िया बनानी पड़ती हैं या ऊँची जगहपर जाने के लिये मचान बनाना पड़ता है, या गहरे जल में नाव में जाना पड़ता है । हे वीरश्रेष्ठ, मैं तुमको सब जगह जगह आत्मा व्याप्त हुआ है ऐसा कह सकता था, मगर वह तुम्हारे गले नहीं उतरता । इसलिये तुम्हारी मंद बुद्धि ध्यान में रखकर एकही ब्रह्म के चार विभाग करके बताये । ॥९४६-५० ॥ बच्चे को खिलाते समय एक ही कौर बीस भागों में बाँटकर देना पड़ता है, उसी तरह तुम्हें भी ब्रह्म चार प्रकारों से बता दिया । तुम्हारी ग्रहणशक्ति ध्यान में रखकर ही क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय और अज्ञान ऐसे ब्रह्म के चार भाग प्रस्तुत किये ।

हे पार्थ, यह कहने पर भी तुम मेरा आशय नहीं समझ सके, तो दूसरे तरीक़ेसे स्पष्ट कर के बताता हूँ । अब उस के चार भाग न करते हुए और वह एक है यह न मानते हुए आत्मा और अनात्मा (याने पुरुष और प्रकृति) ऐसे दो भाग करके कहता हूँ । फिर तुम्हें एक बात करनी होगी, मैं जो कुछ माँगता हूँ वह हमको देना होगा । ध्यान दे कर और कान खोल कर मैं जो कहूँगा, अब वह सुनो ॥९५१-५५ ॥ श्रीकृष्ण का यह वचन सुनकर पार्थ के बदन पर रोंगटे खड़े हो गये । तब भगवान ने कहा, अरे, इस तरह तुम विचलित मत होओ । श्रीकृष्ण भी जोश में आये थे परन्तु फिर अपनेको सम्हलकर बोले, हे अर्जुन मैं अब तुम्हें प्रकृति और पुरुष ऐसे दो भाग बताऊँगा, सुनो । इस मार्ग को योगी 'सांख्य' कहते हैं और उस मार्ग का विवेचन करने के लिये मुझे कपिलमुनि का अवतार ग्रहण करना पड़ा । इस प्रकृति और पुरुष के विषय में जो निर्दोष और सारासार विचार है वह सुनो, ऐसा आदिपुरुष

श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९ ॥

पुरुष यह अनादि है और तभीसे प्रकृति भी है । जिस तरह कि दिनरात का जोड़ा होता है, ॥९५६-६० ॥ जैसे छाया के रूप न होने पर भी वह रूप के साथ रहती है, जिस तरह, हे धनंजय, भुट्टा बढ़नेपर उसमें दाना और भूसा दोनों पैदा होते हैं, उसी तरह प्रकृति और पुरुष का अनादिसिद्ध जोड़ा प्रसिद्ध है । तो भी क्षेत्रके बारे में मैंने जो कहा वही प्रकृति है ऐसा समझना चाहिये । और क्षेत्रज्ञ जिसको कहते हैं वह दूसरा कोई नहीं है बल्कि पुरुषही है । इन के नाम यद्यपि अलग हैं तथापि उनके निरूपण के विषय भिन्न नहीं है यह तुम सदा ध्यान में रखो । ॥९६१-६५ ॥ हे पाण्डुपुत्र, जो केवल सत्तास्वरूप है वह पुरुष है और जिससे सब क्रियाएँ घटित होती हैं उसको प्रकृति यह नाम है । जिनसे विकार पैदा होते हैं वे बुद्धि, इंद्रियाँ और अंतःकरण आदि और सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण, ये सब समुदाय प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और कर्म की उत्पत्ति के लिये वही कारण है ।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२० ॥

उसमें प्रकृति अहंकार के सहित इच्छा और बुद्धि पैदा करती है और उनको किसी उद्देश्यसे फंदे में डालती है । यह उद्देश्य पाने के लिये जो उपाय करने पड़ते हैं उनको, हे धनंजय, कार्य कहा जाता है ॥९६६-७० ॥ जब इच्छा प्रबल होती है, तब वह मन को सूचना देती है और उससे इंद्रियों के द्वारा सब व्यवहार करवाती है, यही प्रकृति का कर्तापन है । इसलिये कार्य, कर्तापन और कारण इन तीनों के मूल प्रकृति ही है, ऐसा सिद्धों के राजा श्रीकृष्ण बोले । इस प्रकार इन तीन गुणों के होने पर प्रकृति क्रियारूप बनती है । लेकिन जो गुण प्रबल है उसके अनुकूल वह बर्ताव करती है । जिस कर्म में सत्त्वगुण बढ़कर होता है, वह सत्कर्म होता है, जो कर्म रजोगुण से पैदा होता है वह मध्यम या मिश्र कर्म है, और जो कर्म तमोगुण से उत्पन्न होता है वह निषिद्ध और धर्म के विरुद्ध होता है । ॥९७१-७५ ॥ इसप्रकार प्रकृति से अच्छे और बुरे कर्म बनते हैं और उनकी वजह से सुख और दुःख प्राप्त

होता है। बुरे कर्म से दुःख पैदा होता है और सत्कर्म से सुख उत्पन्न होते हैं। इस सुख और दुःख के अनुभव को भोग कहते हैं। ये सुख और दुःख जबतक पैदा होते रहते हैं तबतक प्रकृति का कार्य जारी रहता है और पुरुष उनको उपभोग करता है। प्रकृति और पुरुष इनका एक विपरीत व्यापार है कि स्त्री कमाती है उसका पुरुष चुपचाप सेवन करता है। यह कैसी आश्चर्य की बात है, देखो कि यह प्रकृति पुरुष से संयोग के अभाव में ही दुनिया पैदा करती है। ॥९७६-८०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु ॥२१॥

जो शरीररहित होनेसे अपाहिज है, निर्धन होनेसे अकेला है और बूढ़ा होकर, सबसे जो वृद्ध वस्तु है उससे भी बूढ़ा है, उसका नाम पुरुष है। अन्यथा वह स्त्रीलिंगी है या नपुंसक है इसके बारे में कुछ विश्वास नहीं दिया जा सकता। उसको आँख, कान, हाथ, पाँव, रूप, वर्ण और नाम इनमें से कुछ भी नहीं होता और उसके कोई अवयव भी नहीं होते। हे अर्जुन, यह प्रकृति का पति हो कर भी उस को सुख या दुख नहीं भोगना पड़ता। वह अकर्ता, उदासीन और उपभोग न करनेवाला है, तोभी यह साध्वी प्रकृति उससे उपभोग करवाती है ॥९८१-८५॥ यह प्रकृति अपने रूप और गुणों से जरासी चेष्टा करके अजीब खेल करके दिखाती है, इसलिये प्रकृति गुणमयी नाम से प्रसिद्ध है। ज्यादा क्या कहूँ, यह प्रत्यक्ष सविकार गुणही है। यह क्षण क्षणमें नित्य और नयी होकर रूप और गुणों से संपन्न है और वह अपनी करतूत से अचेतन वस्तुओं के द्वारा कर्म करवाती है। नाम, प्यार और इंद्रियों के व्यापार इससे ही बनते हैं। देखो, नपुंसक मनको ही यह तीनों लोकों में घुमाती है। ऐसी इसकी असाधारण करनी है ॥९८६-९०॥ यह भ्रांति का महाद्वीप, सर्वव्यापक मूर्ति और असीम विकारों की जननी है। यह कामरूपी बेल का मंडप है, मोहरूपी बन की वसंतऋतु है और 'दैवी माया' नाम से प्रसिद्ध है। यही शब्दसृष्टि का विस्तार करती है, निराकार को साकार बनाती है और प्रपंच का छापा यही सदैव डालती है। सब कलाएँ, विद्या, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इससे ही पैदा होते हैं। यह नादब्रह्म की टंकसाल और चमत्कारों की खान है, सारांश, यह कि विश्व का व्यापार उसका खेल है। ॥९९१-९५॥ दुनिया के जो उत्पत्ति और प्रलय होते हैं वे इसके

सबेरा और शाम होते हैं। इस प्रकार यह अद्भुत और मोहमयी है और अद्वय की दूसरी तरफ़ है। वह उदासीन पुरुष की सहचरी है और इसका निवास शून्य में होकर वहाँ वह खुशी से रहती है। इस प्रकार इसकी महिमा श्रेष्ठ है, इसलिये निरंकुश पुरुष को वह लपेट लेती है। वह पुरुष स्वभावसे कुछ नहीं होता, बल्कि यह प्रकृतिही स्वयं उसकी सबकुछ होती है। उस स्वयंभू का सर्जन, उस निराकार का आकार, स्थिति और स्थान यह स्वयं बनती है ॥९९६-१००० ॥ उस अनचाहे की चाह, उस पूर्ण की तृप्ति और उस अकुल की जात और बिरादरी स्वयं होती है। वह उस अवर्णनीय का लक्षण, अपरिमित का परिमाण और अमनस्क का मन और बुद्धि स्वयं होती है। वह उस निराकार का आकार, निर्व्यापार का व्यापार, और निरहंकार का अहंकार खुद होकर रहती है। वह उस अनाम का नाम, अजन्म का जन्म और निष्क्रिय का कर्म और क्रिया स्वयं बनती है। वह उस निर्गुण के गुण, चरणहीनके पाँव, श्रवणहीन के कान, नेत्रहीन के नेत्र, ॥१००१-१००५ ॥ भावातीत के भाव, अनंग के अंग, ज्यादा क्या कहूँ ? वह स्वयं उसका सब कुछ बनती है। इस प्रकार प्रकृति अपनेही सामर्थ्य से उस विकाररहित पुरुष को विकारों के वश में लाती है। जैसे अमावस को चाँद की रोशनी गायब हो जाती है, उसी तरह इस प्रकृति से पुरुष की हालत होती है। जिस तरह शुद्ध सोने में सेमभर हीन कस मिलाया तो उसका कस कम होता है, या कोई धार्मिक पुरुष पिशाचबाधा से पीडित होकर पागल बनता है, या स्वच्छ आसमान में बादल आकर सुदिन को दुर्दिन करता है, ॥१००६-१० ॥ जैसे गाय के पेट में दूध, लकड़ी में अग्नि, वस्त्र में ढँकी हुई रत्न की प्रभा, पराधीन राजा, या बीमारी से त्रस्त सिंह, वैसेही पुरुष प्रकृति के अधीन होकर निस्तेज होता है। जैसी नींद जाग्रत आदमी को सुलाकर उसको स्वप्न में सुख और दुःख के वश में लाती है, वैसे प्रकृति के अधीन होने से पुरुष को गुण भुगतने पड़ते हैं। जिस तरह उदासीन आदमी स्त्री के वशमें आकर संसार में फँस जाता है, उसी तरह वह अज और नित्य पुरुष प्रकृति के अधीन होता है और फिर गुणों से संग होनेपर उसको जन्म मृत्यु के घाव सहने पड़ते हैं। ॥ १०११-१५ ॥ लेकिन, हे अर्जुन, तुम पूछोगे कि यह कैसे होता है ? तो सुनो। तपे हुए लोहे को पीटनेपर वे प्रहार अग्निपर होते हैं ऐसा कहते हैं। किंवा हिलने वाले जल में चाँद की कई परछाईयाँ देखकर लोग चाँद अनेक हैं ऐसी कल्पना करते हैं। आयने में

देखनेपर दो मुख दिखाई देते हैं, या कुंकुम ऊपर स्फटिक रखनेपर वह लाल दिखाई देता है। उसी तरह गुणों के संग से यह अजन्मा पुरुष जन्म लेता है ऐसा कहना ठीक नहीं। जैसे कोई संन्यासी स्वप्न में देखता है कि उसने शूद्र जाति में जन्म लिया है, वैसेही उस पुरुष को लगता है कि मैंने अच्छी और बुरी योनि में जन्म पाया है ॥१०१६-२० ॥ इसलिये पुरुष भोग का अनुभव नहीं करता। जो वह ऐसा महसूस करता है वह उसे गुणोंकी संगति से होता है।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२ ॥

जैसे जुही की लता को सीधे खड़े किये खम्भे का आधार दिया जाता है वैसे ही प्रकृति पुरुष का आधार होती है। लेकिन इन दोनों में आकाश-पाताल का अंतर होता है। हे अर्जुन, यह पुरुष प्रकृतिरूपी नदी के तटपर मेरुपर्वत जैसा निश्चल खड़ा होता है। अगर उसकी परछाईं नदी में पड़ी तो वह परछाईं प्रवाह में बह नहीं जाती। प्रकृति पैदा होती है और फिर उसका लोप होता है, मगर पुरुष शाश्वत होता है। इसलिये यह ब्रह्मदेव सहित लेकर सभी का शासक है। प्रकृति इसके ज़रिये जिंदा रहती है, और इसकी सत्ता से जगत् पैदा करती है, इसलिये वह पुरुष उसका पति है ॥१०२१-२५ ॥ अर्जुन, अनंत काल से आयी हुई यह सृष्टि कल्पान्त के समय इसमें विलीन होती है। महद्ब्रह्म जो प्रकृति का मालिक है वह इस ब्रह्मांड का सूत्र संचालक होकर अपनी व्याप्ति से प्रपंच का नाप लेता है। इस देह में जो परमात्मा है ऐसा कहते हैं वह यही है ऐसे समझो। हे पांडुपुत्र, प्रकृति के परे अकेला पुरुष है ऐसा जिस को कहते हैं वह सचमुच यही है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३ ॥

यह पुरुष जो अकेला है और सब गुण और कर्म प्रकृति के होते हैं ऐसा जो जानता है, ॥१०२६-३० ॥ हे धनंजय, जिसने ये दोनों रूप और छाया या जल और मृगजल के समान है ऐसा फैसला किया है, वह उन दोनों को जान गया है। फिर वह शरीर के द्वारा सब कर्म करता रहा तो भी वह उनसे लिप्त नहीं होता, जैसे धूल ऊपर उड़ने से आसमान गंदा नहीं होता। देह होते हुए भी जो उसके मोह में

नहीं फँस जाता, वह फिर जन्म नहीं लेता। इस असाधारण रीति से उसको प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान उपयुक्त होता है। ॥१०३१-३५॥ लेकिन सूरज के समान इस विवेक ज्ञान का तुम्हारे हृदयमें उदय होने के लिये कई उपाय हैं, अब वे मैं कहूँगा सुनो।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

हे वीरश्रेष्ठ, कोई विचाररूपी अंगीठीमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूपी आँच से अनात्मरूपी मिलावट निकालकर आत्मरूपी सुवर्ण शुद्ध करते हैं। आत्मा से जुदा जो छत्तीस हल्के तत्त्व हैं उनको जलाकर शुद्ध आत्मतत्त्व चुन लेते हैं, और बादमें अपने अंतःकरण में ध्यानचक्षु से आत्मस्वरूप देखते हैं। फिर कोई भाग्य से सांख्ययोग का और कोई कर्मयोग का आसरा लेकर उसकी उपासना करते हैं ॥१०३५-४०॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

इस तरह वे इस भवसागर को पार करते हैं। और कई अभिमानरहित होकर एक गुरुके वचनपर श्रद्धा रखते हैं। जो उनके हित और अहित का खयाल रखता है, आस्था से उनका दुःख दूर करता है और पूछताछ करके उनकी थकान मिटाकर उसको सुख देता है। ऐसे गुरु के मुखसे जो शब्द निकलते हैं उनको वे अच्छी तरह और आदर से सुनते हैं और अपना तन मन उनको सौंप देते हैं। उनके शब्द सुनने के लिये अपने अन्य कामों से किनारा करते हैं और गुरुके वचन पर अपने प्राण निछावर करते हैं। ॥१०४१-४५॥ हे कपिध्वज, ऐसे लोग भी अन्त में संसार-सागर अच्छी तरह पार करते हैं। इस मृत्युलोक में आत्मतत्त्व जानने के लिये बहुत मार्ग हैं। खैर, इन सब उपायों को मथकर मैं तुम्हें सिद्धान्तरूपी माखन देता हूँ। उसके जरिये, हे अर्जुन, आत्मा का सहज अनुभव पा कर तुम्हें ब्रह्मरूप होने में कोई तकलीफ़ नहीं होगी। इसलिये बुद्धि का आसरा लेकर और मतभेद अलग करके ।वशुद्ध ब्रह्मतत्त्व तुम्हें प्रमाण के साथ कहता हूँ ॥१०४६-५०॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६ ॥

यह जो क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र है, जिनका मैंने कथन किया, उनके संयोग से इस सृष्टि की उत्पत्ति होती है । जिस तरह समीर के संयोग से जलपर लहरें उत्पन्न होती हैं, किंवा प्रकाश और मरुभूमि के संयोग से मृगजल का आभास होता है अथवा वर्षा की धाराएं जमीनपर पड़ने से अनेक प्रकार के अंकुर उगते हैं, उसी तरह स्थावर जंगम और जीव, इन दोनों के संयोगसे पैदा होते हैं ऐसा समझो ॥१०५१-५५ ॥ इसलिये हे अर्जुन, प्रकृति और पुरुष से पदार्थ और व्यक्ति भिन्न नहीं हैं ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७ ॥

देखो, वस्त्र तन्तु नहीं है, फिर भी वह तन्तु से बना हुआ है । इसी तरह तुम अंतर्दृष्टि से उनकी एकता जान लो । सब भूत एक का रूप हैं और वे एकही हैं इसका तुम अनुभव करो । उनके नाम निराले हैं, उनका चालचलन भी अलग है और उनके पहनावे भी भिन्न हैं, यह देखकर तुम भेदभाव को चित्त में जगह दोगे, तो संसार से अनन्त जन्मोंतक मुक्त नहीं होगे ॥१०५६-६० ॥ जिस तरह अनेक कारणों से कुम्हड़ों की बेल को लंबे, तिरछे और गोल कुम्हड़े लगते हैं, अथवा बेर का पेड़ सरल हो या तिरछा उसको बेर का पेड़ही कहते हैं, उसी तरह जीव टेढ़े होने पर भी आत्मतत्त्व सरल होता है । अंगार अनेक प्रकार के होनेपर भी उनकी गरमी समान होती है, उसीतरह बहुत जीव होनेपर भी उनमें एकही आत्मा है । हे वीरश्रेष्ठ, आसमान से वर्षाकी धाराएं आती हैं फिर भी उनमें जल एकही होता है, वैसेही भिन्न आकारके भूतों में एकही आत्मा है । मटके के या मठ के आकार भिन्न होने पर भी उनमें एकही आकाश होता है, वैसेही प्राणी भिन्न होने पर भी उनमें एक ही आत्मा है ॥१०६१-६५ ॥

जैसे सोने के गहनों में सोनेका कस समान होता है, वैसेही प्राणियों का आभास नश्वर होने पर भी उनमें शाश्वत आत्मा है । उसी तरह आत्मा जीव से अभिन्न है, फिर भी वह जीव के गुणधर्मों से अलग है ऐसा जो जानता है वह सब ज्ञानियों में दृष्टिवाला है । इस तरह वह ज्ञान की आँख होकर सब ज्ञानियों में आँखोंवाला होता है । हे

वीरश्रेष्ठ, यह प्रशंसा नहीं, ऐसा पुरुष सचमुच भाग्यवान् होता है ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८ ॥

वात पित्त और कफ इन तीन धातुओं से और सदोष पंचमहाभूतों से बना हुआ यह शरीर गुण और इंद्रियों की भयंकर झोली है। यह खुले आम पांच डंकोंवाला काला बिच्छू है। इसको पांच तरहकी अग्नि लगी हुई है। या इस शरीररूपी पिंजड़े में जीवरूपी शेर फँसा हुआ है ॥१०६६-७० ॥शरीर का ऐसा प्रकार होने पर भी इस अनित्य भाव के पेट में शाश्वत आत्मज्ञान की छुरी कोई नहीं भोंकता। तो भी अर्जुन, एक ज्ञानी ऐसा होता है कि जो देह में रहकर भी अपना अहित नहीं करता और आखिर में ब्रह्मपद को पहुँच जाता है। वह पद पाने के लिये योगी योग की सामर्थ्य से अनेक जन्म पार करके अब पुनर्जन्म नहीं लूँगा ऐसा निश्चय करके देह त्याग देता है। जो नामरूप के परे और नाद के परले किनारे तुर्यावस्था के अंतःपुरमें रहता है ऐसा जो परब्रह्म है वहाँ मोक्ष के साथ सब गतिविधियाँ विश्राम करती हैं, जैसे सब नदियाँ समुद्र से मिलती है वैसे ॥१०७१-७५ ॥ जो भूतों को भिन्न देखकर भेदबुद्धि को स्थान नहीं देता, वह देह में होते हुए भी ब्रह्मानंद कां अनुभव करता है। दीप बहुत होने पर भी रोशनी समान होती है, वैसे ही जो पहलेही ऐसा समत्वभाव महसूस करता है कि आत्मा सब जगह व्याप्त हुई है, वह जन्म मरण के चँगुल में नहीं फँसता। इसलिये जो समता की सेजपर स्वस्थ लेटा हुआ है, वह भाग्यवान् है और हम समय पर उसकी तारीफ़ के पुल बाँधते हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९ ॥

वह पूरी तरह जानता है कि मन, बुद्धि, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और पांच कर्मेंद्रियाँ इनके द्वारा प्रकृति ही कर्म करती है ॥१०७६-८० ॥ मकान में वहाँ के लोग चलते फिरते हैं, मगर वह मकान कुछ नहीं करता। वैसेही आसमान में बादल आते जाते हैं फिर भी आकाश स्थिर होता है। उसी तरह यह प्रकृति आत्मा के प्रकाश में हर तरह के खेल खेलती है। तो भी यह आत्मा खम्भेके समान अचल होती है। मगर

यह कोई नहीं जानता। इस तरह उसने निश्चित रूप से बुद्धि के प्रकाश में आत्मा अकर्ता है यह जान लिया है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३० ॥

वरना हे अर्जुन, जिसको भिन्न भिन्न सूरतवाले प्राणी एकरूप दिखाई देते हैं, वह ब्रह्मसंपन्न हुआ है ऐसा समझो। जब उसको यक़ीन होता है कि भूमि के परमाणु के कण, सूर्यमंडल की किरणें, ॥१०८१-८५॥ देह के अवयव, मनके भाव और अग्नि के अंगार जैसे एक वस्तु से पैदा होते हैं वैसेही प्राणिमात्र एक ही आत्मा से उत्पन्न हुऐ हैं, तब हम यह कह सकते हैं कि उसको ब्रह्मरूपी नौका हासिल हुई है। फिर जहाँ जहाँ वह देखेगा वह सब ब्रह्ममय है ऐसा महसूस करेगा। ज्यादा क्या कहूँ, उसको अपार सुख मिलेगा। मेरे इस कथनसे (तुम्हें) प्रकृति और पुरुष इन दोनों की व्यवस्था का तुम अनुभव कर सकोगे। जैसे अमृत प्राप्त हुआ है या धरोहर हासिल हुआ है, उसके समान योग्यता का यह लाभ है ऐसा समझोगे ॥१०८६-९०॥ हे सुभद्रापते, इतने ही अनुभव से तुम अपना निश्चय मत करो, क्योंकि मैं तुम्हें और एक दो गहरे विचार कहनेवाला हूँ। इसलिये तुम अपना चित्त मुझे सौंपकर मेरे विचार समझ लो। ऐसा कह कर जब भगवान ने अपना संभाषण शुरू किया, तब अर्जुन एकाग्र चित्त से सुनने लगा।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१ ॥

जैसे सूरज की परछाई जल में पड़नेपर भी वह सूखा रहता है, वैसे ही परमात्मा शरीर में होते हुए भी उसका स्वरूप शुद्ध रहता है ऐसा समझो। हे अर्जुन, जिस तरह सूरज जल में प्रतिबिंबित होनेके पहले और बाद में भी पहले जैसा था वैसा ही कायम रहता है, मगर उसके प्रतिबिंब को अन्य लोग सच मानते हैं। ॥१०९१-९५॥ वह पहले जहाँ था वहीं होता है। जैसे आईने में कोई अपना मुँह देख कर वह अपनाही मुँह है ऐसा महसूस करता है, वैसे ही आत्मा का निवास देह में है ऐसा कहा जाता है। उसका और देह का वास्ता है ऐसा कहना सर्वथा निरर्थक है। क्या वायु और बालू इनको कभी हम गूँथ सकते हैं ? वैसे ही अग्नि और

रुई इन दोनों को धागे में कैसे गूँथ सकते हैं ? आसमान और चट्टान को कैसे साँध सकते हैं ? एक पूरब और दूसरा पश्चिम में जाने लगा तो उन दोनों की भेंट कभी नहीं हो सकती, वैसेही उन दोनों का संबंध है ॥१०९६-११०० ॥ जैसे प्रकाश और अंधेरा, मृत और जीवित इन दोनोंका वास्ता नहीं होता वैसेही आत्मा और शरीरका संबंध है यह जान लो, जैसे रात और दिन, सोना और कपास इनमें कोई संबंध नहीं है। यह शरीर पाँच महभूतों से बना हुआ है और वह कर्म के धागे में पिरोया हुआ जन्ममृत्यु के चक्कर में घूमता रहता है। यह देह मानो कालरूपी अग्नि के मुँह में डाला हुआ माखन का गोला है। मक्खी को अपना पंख हिलाने में जितना समय लगता है, उतने समय में वह नष्ट हो जाता है। अगर वह शरीर अग्नि में गिर जाये तो वह खाक़ होता है और अगर वह कुत्ते के चँगुलमें फँसा तो उसकी विष्ठा होती है ॥११०१-०५ ॥ हे कपिध्वज, इन दो प्रकारों में से वह छूट भी गया तो वह कीड़ों का पुंज बन जाता है। इस तरह इस देह का घिनौना अंत होता है। शरीर की यह आखिरी अवस्था होती है, मगर आत्मा नित्य, सिद्ध, सहज और अनादि है। वह निर्गुण होने से कलायुक्त नहीं और कलाविरहित भी नहीं, क्रियाशील नहीं और निष्क्रिय भी नहीं, कृश नहीं या मोटी भी नहीं होती। वह निराकार होने से दृश्य नहीं और अदृश्य भी नहीं, रोशन नहीं या निस्तेज भी नहीं, थोड़ा नहीं और ज्यादा भी नहीं। वह शून्य होने से खाली नहीं और व्याप्त भी नहीं, किसीसे सहित नहीं और विरहित भी नहीं, साकार नहीं, और निराकार भी नहीं ॥११०६-१० ॥ आत्मरूप होने से उसको आनंद नहीं और दुःख भी नहीं, वह एक नहीं और अनेक भी नहीं, मुक्त नहीं और बद्ध भी नहीं होता। वह लक्षणरहित होने से वह इतना या उतना, तैयार या बना-बनाया, बातूनी या गूँगा नहीं होता। सृष्टि की उत्पत्ति के साथ यह उत्पन्न नहीं होता और सृष्टि का संहार होनेपर नष्ट भी नहीं होता। यह अस्तित्व और अभाव इन दोनों का लयस्थान है।अव्यय होने से उसका नाप या वर्णन नहीं किया जाता। यह बढ़ता नहीं या घटता नहीं, यह खराब या ख़त्म नहीं होता। हे प्रियतम इस प्रकार की आत्मा शरीर में है यह बात, मठमें भरा हुआ आकाश मठके आकार का है ऐसा कहने के बराबर है ॥१११११-१५ ॥ उसी तरह वह अखंड होने से उसकी देहाकृतियाँ होने पर भी वह देह धारण नहीं करता या देहत्याग नहीं करता, वह जैसा का तैसा होता है। आकाश में जैसे दिन और रात आते जाते हैं, वैसे

आत्माके देह पैदा होते हैं, और नष्ट होते हैं। इसलिये वह देह में होती हुई भी कुछ करती नहीं, करवाती भी नहीं, या शरीर के व्यापार में मशगूल नहीं होती। इसलिये उसके शरीर में रहते हुए भी कम और ज्यादा बदल नहीं होते, इतनाही नहीं, वह तो देहसे अलिप्त रहता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

हे अर्जुन, यह आसमान कहाँ नहीं है ? कोई ऐसी जगह है कि जहाँ उसका अस्तित्व नहीं है ? फिर भी वह मलिन नहीं होता ॥१११६-२०॥ वैसे आत्मा सब शरीरों में रहने पर भी दूषित नहीं होती। यह तुम निरंतर ध्यान में रखो कि क्षेत्रज्ञ क्षेत्र से भिन्न है।

यथा प्रकाशयत्येक कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

चुंबक के पास रखा हुआ लोहा हिलता है, फिर भी लोहा चुंबक नहीं होता। यही प्रमाण आत्मा और देह के लिये भी लागू होता है। दीप की रोशनी में घरके सब व्यवहार किये जाते हैं किंतु दीप और घर इनमें बहुत अंत रहता है। हे अर्जुन, काष्ठ के पेट में अग्नि होती है, मगर वह काष्ठ नहीं होती, इस दृष्टि से आत्मा को देखना होगा ॥११२१-२५॥ आसमान और बादल, या सूरज और मृगजल इनमें जैसा अंतर है, उसी तरह आत्मा देह से भिन्न होती है। जैसे सूरज अकेला होते हुए भी सब लोगों को सदैव प्रकाश देता है, वैसे आत्मा सभी विद्यमान देहोंको प्रकाशित करती है। इसमें कोई शक मत करो।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अंतर समझ में आता है, वही शब्द और अर्थ का सार-तत्त्व जाननेवाली समझदार बुद्धि है। इन दोनों में जो अंतर है उसको जानने के लिये साधक ज्ञानी जनों के द्वार की पूजा करते हैं। ॥११२६-३०॥ इसी के

प्राप्ति के लिये बुद्धिमान लोग शांतिरूपी धन का संचय करते हैं और शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। इसी को जानने के लिये कोई योगाभ्यास के आकाश में उड़ने का साहस करते हैं। और कोई शरीर आदि सब चीज़ें तुच्छ मानकर संतों की पादुकाएँ अपने सिर पर धारण करते हैं। इस तरह वे ज्ञान की साधनाओं का अवलंब कर के चिंतमस्हित हो जाते हैं। इस तरह जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जानते हैं, उनके ज्ञानपर मैं अपना ज्ञान निछावर करता हूँ ॥११३१-३५॥ और महाभूत इत्यादि भिन्न भिन्न रूपों से सजी हुई, जो यह मायामय प्रकृति विस्तारित हुई है और शुकनलिका न्याय से जीवों के लिये बंधक न होती हुई भी लिपटी हुई है, उस का यथार्थ रूप उनको ज्ञात होता है। जिस तरह मालापर होनेवाला व्यर्थ सर्पाभास उसके यथार्थ ज्ञानसे नष्ट होता है, अथवा सीपी के बारे में होनेवाला चांदी का भ्रम दूर हो जाने पर वह उसके सत्यरूप में सीपी सी दिखाई देती है, उसी तरह वे मुझको प्रकृति से भिन्न और अलग जानते हैं और ब्रह्मरूप हो जाते हैं ॥११३६-४०॥ जो ब्रह्म आसमान से व्यापक है, जो प्रकृति के परले तट पर हैं, जिसकी प्राप्ति होने पर समता और विषमता का भेद मिट जाता है, जिसमें आकार, जीवत्व और द्वैत कभी रह ही नहीं सकते, जो शुद्ध अद्वय है, उस परमतत्त्व का स्वरूप वे लोग पाते हैं। वे (पानीसे दूध अलग करनेवाले) राजहंस की भाँति प्रकृति और पुरुष में जो भेदभाव है उसको जानते हैं।

इस तरह श्रीकृष्णने अपने परम प्रिय अर्जुन को आत्मा और अनात्म का तत्त्व स्पष्ट करके समझा दिया। जिस तरह एक कलश से जल दूसरे कलश में उँडेला जाता है, वैसेही श्रीहरी ने अपना ज्ञान अर्जुन को दिया ॥११४१-४५॥ परंतु यहाँ कौन देनेवाला है और कौन लेनेवाला है? क्योंकि अर्जुन नर होने से नारायण ही है। भगवान् कृष्णने भी कहा है कि मैं अर्जुन हूँ। लेकिन यह बात बिना पूछे मैं कैसे बताऊँ? सारांश कि भगवान् ने अर्जुन को अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। लेकिन इससे अर्जुन की तृप्ति नहीं हुई और उसकी ज्ञानलालसा बढ़ने लगी कि मैं श्रीकृष्णका कथन और सुन लूँ। जैसे प्रज्वलित दीपक में तेल भर देने से उसकी रोशनी और भी बढ़ जाती है, वैसे श्रीकृष्ण के कथन से अर्जुन की सुनने की लालसा और भी अधिक हो गयी। जब कोई गृहिणी मुक्त कर से भोजन परोसती है और

भोजन करनेवाला भी रसज्ञ होता है, तो परोसने वाली का हाथ और खानेवाले का हाथ बराबर चलते रहते हैं। ॥११४६-५०॥ बस यही अवस्था श्रीकृष्ण की हुई थी। अर्जुन की सुनने की उत्कंठा देखकर भगवान की व्याख्यान देने की उमंग भी चौगुनी हो गयी। जिस तरह अनुकूल पवन चलने पर बरसनेवाले मेघ एकत्रित होकर वर्षा करने लगते हैं, अथवा चंद्रोदय होनेपर समुद्र में ज्वार आता है, उसी तरह श्रोतओं की वाहवाही सुनकर वक्ता को प्रेरणा मिलती है। संजयने कहा, हे राजन्, अब जिससे सारा विश्व आनंद से परिपूर्ण होगा, उस भगवान का बयान सुनिये। इस प्रकार महाभारतके भीष्मपर्व में व्यास मुनिने अपनी असीम बुद्धि से जो कथा सुनाई है, वह कृष्णार्जुन का संवाद मैं ओवीछंद में सुंदर शैली में स्पष्ट बताता हूँ ॥११५१-५५॥

मैं जो कहनेवाला हूँ, वह शांत रसकी कथा है, किन्तु वह शृंगार रस पर भी मात करेगी। मेरी भाषा देशी ही होगी, लेकिन मैं उसकी योजना ऐसी कौशल से करूंगा कि उससे ललित साहित्य की शोभा बढ़ेगी और उसके माधुर्य के सामने अमृत भी फीका लगेगा। मेरा यह काव्य (शांतरस से) शीतल होकर चंद्रमा पर भी मात करेगा। और उसका लालित्य देखकर नादब्रह्म भी मुँह चुरायेगा। उसके श्रवण से आसुरी संपत्तिवाले आदमी का चित्त भी सात्त्विक बन जायेगा और दैवी संपत्तिवाला पुरुष समाधि का अनुभव करेगा। अब मैं ऐसा वाग्विलास प्रकट करूँगा कि उस से सारा विश्व गीतार्थ से भर दूंगा और मैं उसको आनंद का मंदिर बनाऊँगा ॥११५६-६०॥ इस वाग्विलास से विवेक का दैन्य मिट जाएगा, कान और मन सार्थक हो जाएगा और जहाँ भी देखें वहाँ ब्रह्मविद्या की खान दिखाई देगा सभी को सत्तत्त्व का दर्शन होने लगेगा, सब के लिए सुख का पर्व होगा और सारे विश्व को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति की सुभीता हो जायेगी। अब ऐसे निरूपण करूँगा कि यह सब चरितार्थ हो जायेगा। क्योंकि श्रीनिवृत्तिनाथ ने मुझे अपनाया है। मैं अब इस काव्य में उपमा और श्लेष आदि के ढेर लगा दूंगा और उस ग्रंथ में हर एक पद का अर्थ स्पष्ट कहूँगा। अब मेरे श्रीमंत गुरुदेव ने मुझे सब शास्त्रों में पारंगत किया है ॥११६१-६५॥ और इसलिये मैं जो कहता हूँ वह आप को स्वीकृत होगा। आपके सरीखे श्रोताओं की सभा में गीतार्थ कहने की योग्यता मुझे प्राप्त

हुई है, वह भी उनकी कृपा है । इसके साथ ही मैं आप जैसे संतों के चरणों के समीप आया हूँ, इसलिये मेरे मार्ग में कुछ अड़चन नहीं रही है । महाराज, सरस्वती देवी की कोखसे क्या गूंगा बालक उत्पन्न हो सकता है ? जैसे लक्ष्मी देवी में किसी सामुद्रिक के शुभ लक्षणों की कमी नहीं हो सकती, उसी तरह जो आप संतों के पास आयेगा, वह अज्ञानी रहेगा यह बात भी कभी सोचनी नहीं चाहिये । अब मैं मेरे व्याख्यान में नौ रसों की बौछार करूँगा । फिर, सज्जनो, मुझे कुछ अवसर प्रदान करें, ताकि मैं गीता का अर्थ अच्छी तरहसे स्पष्ट कर दूं ॥११६६-७० ॥

◆ ◆ ◆ ◆

।। चौदहवाँ अध्याय ।।

हे गुरुदेव, आपकी जय हो । आप सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं । बुद्धिरूप प्रकाश के सूरज हैं और आपसे ही सुख का उदय होता है । आप सभीके विश्रामस्थान हैं, सोहंभाव का साक्षात्कार आप करा देते हैं और सब लोगों को हिलोरनेवाले समुद्र आप हैं, आपकी जय हो । हे दीनबंधो, निरंतर करुणा के सागर और ब्रह्मविद्यारूपी दुलहन के सजन, सुनिये । जिससे आप आँख छिपाते हैं उसको विश्वाभास दिखाते हैं और जिनके सामने आप प्रगट होते हैं वे आप सब कुछ हैं ऐसे महसूस करते हैं। जादूगर दूसरों की आँख चुराता है, मगर आपकी लीला ऐसी अद्भुत है कि उससे आदमी अपने आपको खो देता है ॥१-५ ॥ इस दुनिया में आपही किसीको ज्ञान देते हैं और किसीको मायावश करते हैं। इस तरह आप सहज में लीला करनेवाले है, आपको मेरा प्रणाम। दुनिया में जल आपकी वजह से रसपूर्ण हुआ है और पृथ्वी में सहने की शक्ति का कारण आपही हैं। चाँद सूरज जैसी सीपियाँ जो तीनों लोकों को रोशन करती हैं, वह आपके तेज का प्रभाव है। आपकी दैवी शक्ति के कारण वायु हलचल करती है और आसमान भी आपसे लुकाछिपी खेलता है। यह बहुरुपिया माया आपकीही है और ज्ञान भी

आपकी सामर्थ्य से ही देख सकता है। आपका वर्णन करने में वेदों को भी कष्ट होते हैं ॥६-१० ॥ जब तक आपका दर्शन नहीं होता तब तक वेद आप का वर्णन कर सकते हैं। लेकिन आपका दर्शन होतेही उनको और हमको एकसाथ चुप्पी साधे बैठना पड़ता है। सब दुनिया जलमय हो जाने पर उसमें एक बूँद की कदर नहीं होती, बल्कि महानदियाँ भी पहचानी नहीं जातीं। या सूर्योदय होनेपर चाँद भी जुगनू जैसा फीका लगता है। उसी तरह आप के सामने वेदों से हमारी बराबरी होती है और आप के सम्मुख द्वैतभाव मिट जाने पर परासहित वैखरी बानी चुप रह जाती है। फिर मैं आपका वर्णन कैसे कर सकता हूँ ? इसलिये आपकी स्तुति करना छोड़कर चुपचाप आपके चरण छूना ही अच्छा है ॥११-१५ ॥ सो, हे गुरुदेव, आप जैसे भी हैं मैं आपको अभिवादन करता हूँ। मेरा ग्रंथ लिखने का उद्यम सफल करने के लिये आप मेरे महाजन बनिये और आपकी कृपा की चलपूँजी मेरी बुद्धिरूपी झोली में डालिये। आप महान् हैं, इस लिये मुझको ज्ञान प्रदान कीजिये। फिर मैं मेहनत से संतों के कानों में सुहावने विवेकरूपी कर्णाभरण डालूँगा। महाराज, गीतार्थरूपी धरोहर का पता लगने की जो मेरी चाह है वह पूरी करने के लिये अपना स्नेहरूपी अंजन मेरी आँखों में डालिये। यह शब्दसृष्टि एकबार मेरे ज्ञानचक्षुओं को दिखाई दे, इसलिये आपकी करुणारूपी सूर्यकिरण का निर्मल प्रकाश डालिये ॥१६-२० ॥ आप कृपालुओं में श्रेष्ठ बसंत ऋतु बनिये, ताकि मेरी बुद्धिरूपी सुंदर बेल काव्यरूपी फलों से लद जाये। मेरी बुद्धिरूपी गंगा को अर्थरूपी बाढ़ आये, इसलिये उदार होकर अपनी कृपादृष्टि की वर्षा कीजिये। हे विश्व के एकमेव धाम, जैसे चाँद पूनम को पूर्ण शोभा देता है वैसे आप के प्रसाद से मुझे प्रेरणा मिले। ऐसे प्रसादचंद्र को देखने पर मेरे ज्ञानसमुद्र को ज्वार आयेगी और नवरसों की प्रतिभा उमड़ पड़ेगी। उस वक्त श्रीगुरु निवृत्तिनाथ संतुष्ट होकर बोले, तुम प्रार्थना या प्रशंसा के बहाने व्यर्थ द्वैत बढ़ा रहे हो ॥२१-२५ ॥ अब यह व्यर्थ स्तुति रहने दो। जो ज्ञान का विषय है उसको ठीक बयान करो और हमारी उत्कंठा खंडित मत होने दो। तब ज्ञानदेव ने कहा, हे प्रभो, आप अपने मुँह से ग्रंथ आगे बढ़ाने को कहने की ही मैं राह देख रहा था। पहले दूबका अंकुर अमर होता है, तिसपर आपके वचन से अमृत की वर्षा हुई है। अब श्रीगुरु का प्रसाद पाकर मैं मूल गीताशास्त्र के प्रत्येक पद का विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण विवेचन ऐसा करूँगा कि आपके दिल का

संदेह मिटकर सुनने की इच्छा बढ़ जायगी ॥ २६-३० ॥ मैं आपसे कृपा की भीख माँगता हूँ ताकि मेरी वाणी से अच्छे मधुर शब्द निकलें। सो पिछले तेरहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि पुरुष और प्रकृति के संयोग से यह दुनिया पैदा होती है और उस संयोग के कारण आत्मा संसारी बनती है। आत्मा प्रकृति के वश होकर सुख और दुःख का अनुभव करती है और वह जब गुणों के परे हो जाती है तब वह मुक्त हो जाती है। तो संगरहित आत्मा का प्रकृति के साथ संयोग कैसा होता है? वह सुख-दुःख कैसे पाती है? ॥३१-३५ ॥ वे गुण कैसे और कितने हैं? उन गुणों का बंधन किस तरीक़े से होता है? गुणातीत के चिह्न क्या होते हैं, इन सब बातों का विवरण इस चौदहवें अध्याय में है। अब उस वैकुंठनिवासी जगदीश का अभिप्राय क्या है, सुनिये। उन्होंने जो कहा वह श्रवण करने की सब सामग्रियाँ जुटाकर समझ लीजिये। पीछे मैंने यह ज्ञान तुमको बहुत प्रकार से स्पष्ट किया था, लेकिन अब तक तुमने इस ज्ञान का अनुभव नहीं पाया है। ॥३६-४० ॥

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।१ ॥

इसलिये मैं तुम्हें श्रुति में 'पर' शब्द का जो प्रसिद्ध अर्थ है वह सुनाता हूँ। अन्य ज्ञान की चाह संसार और स्वर्ग के परे नहीं जाती। इसलिये आत्मज्ञान उसके परे होता है। इसी अर्थ से 'पर' शब्द का उपयोग किया जाता है। अरे, इसी कारण से मैं इस आत्मज्ञान को उत्तम कहता हूँ। इस ज्ञानरूपी अग्नि के सामने अन्य ज्ञान तिनके के समान होता है। जो ज्ञान केवल संसार और स्वर्ग को सच मानकर यज्ञयागादि कर्मों को सराहते हैं, वे ज्ञान इस आत्मज्ञान के सामने स्वप्न जैसे महसूस होते हैं। जिस तरह आकाश में पैदा हुई आँधी उसमें ही विलीन होती है, ॥४१-४५ ॥ या सूर्योदय होनेपर चंद्र और सितारे निस्तेज होते हैं अथवा प्रलयकाल में नदी और नद इनमें भेदभाव नहीं रहता, उसी तरह आत्मज्ञान का उदय होने पर अन्य सब ज्ञान लुप्त होते हैं। इसलिये हे अर्जुन, हम इस ज्ञान को उत्तम कहते हैं। हे पाण्डुपुत्र, सदियों से अपने पास जो रहा है वह मोक्ष इस ज्ञान से प्राप्त होता है। इसका अनुभव होने पर सब विवेकशील आदमी संसार को सिर पर सवार नहीं होने देते। विषयों का पीछा करनेवाले मन को हटाकर जब वह शान्त हो जाता

है तब वे देहधारी होकर भी उसके अधीन नहीं होते ॥४६-५० ॥ वे शरीर के बाड़ को एकसाथ लाँघ कर समचित्त होकर मेरी योग्यता पाते हैं ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२ ॥

क्योंकि, हे अर्जुन, वे मेरे समान नित्य हो कर पूर्णता को पहुँचे होते हैं । मैं जैसा अनन्त, आनन्दमय और सत्यसिद्ध हूँ वैसे ही वे हो जाते हैं । फिर उनमें और मुझमें कुछ भेदभाव नहीं रहता । मैं जितना और जैसा हूँ वेभी वैसे ही होते हैं । जैसे घट का नाश होनेपर घटाकाश महाकाश में विलीन होता है, या मूल दीप से जलनेवाली बत्तियाँ एकत्रित होनेपर उनकी रोशनी दीपों में समा जाती है, ॥५१-५५ ॥ वैसे ही हे अर्जुन, द्वैतभाव मिट जानेपर 'मैं तुम' इस बात को छोड़कर वे एकसाथ बैठकर संतुष्ट रहते हैं । इसलिये जब समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति होती है तब इन आत्मज्ञानियों को जन्म नहीं लेना पड़ता । फिर जो सृष्टि के समय देह के बंधन में जकड़े नहीं जाते उनको प्रलयकाल में मृत्यु कैसे आयेगी ? इसलिये हे अर्जुन, आत्मज्ञानका आसरा लेकर जो मुझसे एकरूप हुए हैं वे जन्ममरण के परे गये हैं । इस प्रकार अर्जुन में आत्मज्ञान की ओर चाह उत्पन्न करने के लिये श्रीकृष्ण ने उसकी श्रेष्ठता बतायी ॥५६-६० ॥ उस समय अर्जुन की अवस्था ऐसी थी कि उसका हर एक अवयव श्रवण के लिये उत्सुक हो रहा था । और वह पूर्ण ध्यान देकर सुन रहा था । वह भगवान का विवेचन, जो आसमान में समा नहीं सकता था, वह अर्जुन बड़े प्यार और उमंग के साथ जान लेता था । फिर भगवानने कहा, हे अर्जुन मेरी वक्तृत्व के लिये मैं ने तुम में योग्य श्रोता पाया । इसलिये मेरी वक्तृत्वरूपी कन्या को तुम जैसा ज्ञानरूपी दूल्हा प्राप्त हुआ और मैंने उन दोनों का ब्याह कर दिया । तो अब त्रिगुणरूपी बहेलिया मुझको अकेले होते हुए भी जाल फैलाकर अनेक देहों में कैसे फँसाता है और प्रकृति के द्वारा मैं इस दुनिया को कैसे निर्माण करता हूँ वह बताता हूँ, सुनो ॥६१-६५ ॥ देखो, प्रकृति से मेरा मिलन होकर मेरे बीज से प्राणिमात्र पैदा होते हैं, इसलिये प्रकृति को क्षेत्र कहा गया है ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३ ॥

यह प्रकृति महदादि तत्त्वों का लयस्थान है और इसलिये उसने महद् ब्रह्म ऐसा नाम पाया है । हे अर्जुन, इसके संग से विकार बढ़ जाते हैं, इसलिये उसको महद्ब्रह्म कहते हैं । अव्यक्तवादी उसको 'अव्यक्त' कहते हैं । सांख्य उसको प्रकृति कहते हैं । हे बुद्धिमानों के चूड़ामणि अर्जुन, वेदान्ती उसको 'माया' कहते हैं । ज्यादा क्या कहूँ, अज्ञान जो है वही है ॥६६-७० ॥ हे धनंजय, जिसके ज़रिये हम आत्मस्वरूप को भूल जाते हैं वही यह अज्ञान है । और एक बात यह है कि जब हम आत्मस्वरूप के बारे में सोचने लगते हैं तब वह मिट जाता है, जैसे हाथ में दीप लेने से अंधेरा गुम हो जाता है । दूध घोटने से उसमें से मलाई नहीं निकलती और उसको नहीं घोटें तो वह मलाई शीघ्र आती है किंवा जिस समय जाग्रति, स्वप्न या समाधि की अवस्था नहीं होती तब वह गहरी सुषुप्ति होती है । किंवा वायु की हलचल बंद होनेपर सन्नाटा छा जाता है । यह अज्ञान उसी प्रकार का है ॥७१-७५ ॥ आगे खंभा है या कोई व्यक्ति है यह निश्चय से नहीं कह सकते, मगर वहाँ कुछ है ऐसा आभास होता है । वैसेही आत्मा का मूल स्वरूप दिखाई नहीं देता, लेकिन उससे कोई अलग वस्तु है ऐसा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता । पूरा दिन नहीं, पूरी रात नहीं, मगर उनकी संधिवेलाको शाम कहते हैं, उसी तरह जो स्वरूप ज्ञान नहीं है या उसका विपरीत ज्ञान नहीं है ऐसी जो दोनों के बीच की स्थिति है उसको अज्ञान कहते हैं और इस अज्ञान से ढँकी हुई जो आत्मा है उसका नाम जीवात्मा है । अपना विशुद्ध स्वरूप न जानते हुए जो अज्ञान बढ़ता है वही जीवात्माका रूप है ॥७६-८० ॥ यही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग है । यह तुम ठीक समझ लो । क्योंकि यही उसका स्वाभाविक धर्म है । इस प्रकार क्षेत्र से संयोग होने पर क्षेत्रज्ञ अपना निजी रूप भूलकर अनेक रूप धारण करता है । जिस तरह कोई कंगाल भ्रमित होकर 'यह राजा की सवारी आ रही है' ऐसा कहता है, या कोई बेहोश होकर 'मैं स्वर्गलोक हो आया हूँ' ऐसे बकता है, उसीतरह कभी दृष्टि आत्मस्वरूप से ढल जाने पर जो नज़र आता है, उसका नाम सृष्टि है । वह मुझसे ही पैदा हुई है । जैसे आदमी अकेला होता हुआ भी स्वप्न में भ्रांति से बहुत चीजें देखता है, वही प्रकार आत्मस्वरूप भूल जाने से जीव का होता है । ॥८१-८५ ॥ यही सिद्धान्त मैं तुम को दूसरे ढंग से सुलझाकर कहूँगा, उसका तुम अनुभव करो । यह अविद्या जो मेरी स्त्री है वह अनादि और अवर्णनीय गुणवाली युवती है । उसका निश्चित रूप

नहीं है । उसका प्रपंच बहुत बड़ा है । और यह नासमझ के निकट और ज्ञाता से दूर रहती है । मैं जब सोता हूँ तब यह जाग्रत रहती है और आत्मसत्ता के संभोग से गर्भधारण करती है । फिर इस भूतप्रकृति के पेट में आठ विकाररूपी गर्भ बढ़ने लगते हैं ॥८६-९० ॥ आत्मा और प्रकृति इनके संयोग से प्रथम बुद्धितत्त्व और उस बुद्धि से मन पैदा होता है । मन की जवान स्त्री जो ममता है, उससे अहंकार उत्पन्न होता है और उससे पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है । विषय और इंद्रियाँ ये भूतों में अंतर्गत होने से भूतों के साथ ही उनकी उत्पत्ति होती है । जिस तरह बीज का जल से संयोग होनेपर वह अंकुरित हो कर पेड़ बनता है, ॥९१-९५ ॥ उसी तरह मुझसे संयोग होतेही अविद्यामाया से बहुत प्रकार के विश्व के अंकुर आने लगते हैं । हे सुजान अर्जुन, फिर उसके गर्भ का गोला कौन से रूप धारण करता है, सुनलो । उसमें से अण्डज, स्वेदज, उद्‌भिज्ज और जरायुज ऐसे विभाग होते हैं । आकाश और वायु के ज्यादा अंश जिसमें होते हैं उस गर्भ को अण्डज कहते हैं । यह एक विभाग है । तमोगुण और रजोगुण से युक्त होकर जिस में जल और तेज का अधिक अंश होता है उसको स्वेदज कहते हैं । ॥९६-१०० ॥ जल और पृथ्वी इनका विशेष अंश होकर जो घटिया तमोगुणसे पैदा होता है वह स्थावर उद्‌भिज्ज हैं । जो पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और पाँच कर्मेंद्रियाँ की सहायता पाकर मन और बुद्धि से जुड़ा होता है वह जरायुज विभाग है । ऐसे चार विभाग जिसके हाथपाँव हैं, अष्टधा प्रकृति जिसका मस्तक है, प्रवृत्ति जिसका बड़ा पेट है, निवृत्ति जिसकी पीठ है, जिसकी नाभि के ऊपरी भाग में आठ देवयोनियाँ हैं, जिसका गला स्वर्गलोक, धड़ मृत्युलोक और कमर के नीचे का भाग पाताल है, ॥१०१-०५ ॥ ऐसे एक बच्चे को इस अविद्यामाया ने जन्म दिया । तीन लोकों का विस्तार हो कर वह बालक पुष्ट हुआ । चौरासी लक्ष योनियाँ मानो उसके गठन की ग्रंथियाँ होती हैं । यह बालक प्रति दिन बढ़ने लगा । उसको नाना प्रकार के शरीर, अवयव और नाम इनके नित्य नये गहने पहना कर और उसको मोहरूपी दूध पिलाकर माया उसका पालन करने लगी । भिन्न भिन्न सृष्टि उसकी उंगलियाँ और छंगुनियाँ हैं । और उसने उनमें अलग अलग शरीर की अंगूठियाँ पहनायी हैं । इस प्रकार के एक इकलौते चराचर विश्वरूपी बालक को जन्म देकर यह मोहमयी रमणीय प्रकृति अभिमान से फूल गयी ॥१०६-१० ॥ ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव ये इस बालक के प्रभात, दोपहर

और शाम हैं । विश्वका यह खेल आयोजित करने पर यह बालक प्रलय की शय्यापर सो जाता है और फिरसे कल्प के उदय होने पर विपरीत ज्ञानसे जाग्रत होता है । इस तरह यह बालक अज्ञान के घर में शौक से युगक्रम के अनुसार कदम बढ़ाता है । जिसका संकल्प मित्र है और अहंकार साथी है ऐसे इस बालक का अन्त ज्ञान से होता है । अब ये व्यर्थ की बातें बंद करके सिर्फ यही कहता हूँ कि मायाने इस विश्व को मेरा सहयोग लेकर ही जन्म दिया । ॥१११-१५ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४ ॥

इसलिये हे अर्जुन मैं पिता, माया माता, और यह प्रचंड विश्व हमारा बालक है । अब असंख्य देह देखकर इनमें भेदभाव मत करो, क्योंकि मन, बुद्धि, इंद्रियाँ और महाभूत सब एकही हैं । देखो एकही तन में क्या अलग अलग अवयव नहीं होते ? उसी प्रकार यह चित्रविचित्र दुनिया एक से ही उत्पन्न हुई है । एक ही बीज से पैदा हुए पेड़ का जैसे लंबी, छोटी, टेढ़ी और अलग अलग शाखाएँ होती हैं, वैसे ही मेरा दुनिया से सम्बंध है । जिस तरह मटका मिट्टीकी संतान और कपड़ा रुईका पोता है, ॥११६-२० ॥ अथवा समुद्र पर पैदा होनेवाली असंख्य लहरें उसकी संतति है उसी तरह चराचर विश्व से मेरा वास्ता है । अग्नि और ज्वाला दोनों अग्नि के रूप हैं, उसी तरह मैं और यह जगत् एकरूप हैं । इसलिये हमारे बीच में संयोग मान लेना गलत होगा । अगर विश्व की उत्पत्ति से मेरा रूप ढँका जाता है ऐसा कहें, तो इस विश्वरूप से कौन प्रकट होता है ? देखो माणिक की प्रभा से क्या माणिक छिप जाता है ? वैसेही क्या सोने के गहने बनाने पर उसका सोनापन गुम हो जाता है ? अथवा कमल खिल जानेपर क्या उसमें से कमलपन ग़ायब होता है ? हे अर्जुन, क्या कोई चीज़ उसके अंश से ढँक जाती है ? अथवा वह अंश उसका रूप होता है ? ॥१२१-२५ ॥ ज्वार का पौधा बढ़कर उसमें भुट्टा लगने पर कोई कहता है कि वह नष्ट हो गया या बढ़ गया । इसलिये विश्व को हटाकर मुझको देखना संभव नहीं । क्योंकि मैं विश्वरूप हूँ । हे वीरश्रेष्ठ, इस सिद्धान्त को तुम सचमुच पक्की बात मानो । अब यद्यपि मैंने अलग अलग शरीरों में मेरे रूप बताये हैं तथापि उन शरीरों को मैंने ही गुणों से बाँध रखा है ऐसा समझो । हे कपिध्वज, जिस तरह

जागने पर मैं स्वप्न में मरा था ऐसा कोई कहता है, ॥१२६-३० ॥ या जो कामला से बीमार है उसको सब चीजें पीली दिखाई देती हैं, या प्रकाश में जैसे बादल वैसे बादलसे ढँका हुआ सूरज भी नज़र आता है, या अपनी परछाई देखकर उससे जो डरता है वह क्या कोई दूसरा होता है ? उसी प्रकार जिस गुणों के संबंध से असंख्य रूप धारण करके मैं अनेक हुआ, उस संबंध पर तुम गौर करो । मेरा ज्ञान होने पर यह संबध बंधनकारक नहीं होता, मगर मेरा निजी स्वरूप न जानने से वह बंधनकारक होता है । ॥१३१-३५ ॥इसलिये हे अर्जुन, किन गुणों से, कौन सा बंधन हुआ सा महसूस होता है वह सुनो । ये गुण कितने हैं, उनके धर्म क्या हैं, उनके स्वरूप और नाम क्या हैं और वे किससे पैदा हुए हैं यह रहस्य मैं तुम्हें बताऊँगा, सुनो ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५ ॥

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुणों के नाम हैं और उनकी उत्पत्ति प्रकृति से हुयी है । उसमें सत्त्वगुण उत्तम, रजोगुण मध्यम और तमोगुण घटिया है । ये तीन गुण एक ही मनोवृत्ति में दिखाई देते हैं, जिस तरह एकही देह में बचपन, जवानी और बुढ़ापा ये तीन अवस्थाएं होती हैं ॥१३६-४० ॥ या शुद्ध सुवर्ण में हीन धातु मिलाने पर वह जैसे भारी होने लगता है किंतु कसौटी पर सुवर्ण हलका होता है, या सुस्ती से जाग्रति मिट जाने से गहरी नींद आती है, उसी तरह अज्ञान के मारे जो वृत्ति बढ़ने लगती है उसके लिये सत्त्व और रज के सिवा तम कारण होता है । हे अर्जुन, इनको 'गुण' कहते हैं । तो ये गुण जो आदमी को बंधन में फँसाते हैं उनके लक्षण तुम्हें कहता हूँ । जब आत्मा देहाभिमान महसूस कर के जीवदशा पाता है, तब वह समय अशुभ होता है ॥१४१-४५ ॥ फिर वह जन्म से मौत तक 'यह मेरा देहधर्म है' यह कल्पना किया करता है । जैसे काँटे के माँस को जब मछली निगल जाती है तब मछियारा उसको खींच लेता है,

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६ ॥

वैसे सत्त्वगुणरूपी शिकारी सुख और ज्ञान के फंदे से जीव को तानता है

और वह जीव हिरन के समान उस फंदे में फँस जाता है । फिर वह ज्ञान से अकड़ जाता है और अपनी विद्वत्ता की शेखी बघारता है और उसकी वजह से आत्मज्ञानका सुख खो जाता है । फिर किसी ने उसको विद्वान कहकर सम्मान किया तो वह निहाल होता है, थोड़ा सा लाभ होनेपर खुशी मनाता है और 'मैं थोड़े में संतुष्ट हूँ' ऐसी डींग मारता है । ॥१४६-५० ॥ मेरे समान और कोई सुखी नहीं है, मैं कितना भाग्यवान् हूँ ऐसा वह कहता है और आठ सात्त्विक भावों से परिपूर्ण हो जाता है । इससे उसका पीछा नहीं छूटता और एक बंधन खड़ा हो जाता है । विद्वत्ता के अहंकार का पिशाच उसपर सवार होता है । मैं ज्ञानरूप हूँ इसकी जानकारी खो जाने का उसको दुख नहीं होता । उल्टे वह विषयभोग में मगन होकर गगनके समान फूल जाता है । जिस तरह कोई राजा स्वप्न में रंक होकर शहर जाता है और थोड़ी सी भिक्षा पाने पर खुद को इंद्र समझने लगता है, उसी तरह देहातीत आत्मा बाहरी ज्ञान से खुद को देहवान समझने लगता है ॥१५१-५५ ॥ वह प्रवृत्तिशास्त्र जानता है, यज्ञविद्या में प्रवीण होता है और स्वर्गतक उसका ज्ञान पहुँचता है । अपने सिवाय इस दुनिया में और कोई ज्ञाता नहीं और आसमान को जैसे चाँदनी, वैसे चातुर्य उसके चित्त को रोशन करता है ऐसा वह मानता है । यह सत्त्वगुण इस अपाहिज जीव को सुख और ज्ञानका पगहा बाँधकर बैल के समान खींचता है । अब रजोगुण कैसे बंधन में फँसाता है, सुनो ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७ ॥

इस गुण की वजह से जीव सदैव रमता है और उसकी कामवासना हमेशा के लिये जाग्रत होती है, इसलिये उसको रजोगुण कहते हैं ॥१५६-६० ॥ जीव में यह जरासा भी घुस गया तो वह उसको काम का चस्का लगाता है और फिर वह जीव वासना की समीर पर सवार होता है । अग्निकुंड में घी डालनेसे अग्नि जैसे भड़क उठती है और छोटी मोटी चीजें जला देती हैं, वैसेही उसकी इच्छा क्षुब्ध होती है और उससे वह दर्दभरी बातों में सुख महसूस करता है और इंद्रपद भी तुच्छ मानता है । इसप्रकार विषय वासना बढ़ जाने पर अगर मेरु पर्वत भी उसको हासिल हुआ तो भी उससे ही बढ़ी चीज़ पाने के लिये वह तरसता रहता है । एक कौडीपर

वह अपनी जान निछावर करनेपर उतारु होता है और तिनका भी मिला तो वह अपनी सफलता पर संतुष्ट होता है ॥१६१-६५ ॥ आज का अपना धन खत्म होनेपर कल कैसे गुजर बसर होगा इस चिंता से वह बड़े बड़े उद्योग आरंभ करता है, स्वर्गमें जाकर क्या खाने को मिलेगा यह सोचकर वह यज्ञयाग और बहुत व्रत करता है, कुएँ और तालाब बाँधता है और काम्य व्रत के सिवाय अन्य व्रत नहीं करता । जिस तरह गरमी में आख़िर की वायु आराम हराम मानकर बहती है, उसीतरह, हे अर्जुन, वह इस प्रकार के उद्योगों में रातदिन मेहनत करता है । मछली और सुंदरी की तिरछी निगाहें चंचल होती हैं और बिजली भी अति चंचल हैं मगर ये तीनों रजोगुण की तुलना में कम चंचल हैं ॥१६६-७० ॥ इस प्रकार वह जल्दबाज़ी से स्वर्ग और संसार के लाभ की इच्छा से अग्नि में भी कूद पड़ता है । इस तरह जीवात्मा देह से अलग हो कर भी इच्छा की बेडी में जकड़ा जाता है और उद्यम के झंझट में पड़ता है । इस प्रकार देह में रहनेवाले जीव को रजोगुण का पक्का बंधन होता है । अब तमोगुण के लक्षण सुनो ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८ ॥

जिसका पर्दा आनेपर आदमी की व्यावहारिक दृष्टि मुँद जाती है, मानो मोहरूपी रात की घनघोर घटाएँ आयी हों, जो अज्ञान से बढ़ जाता हैं और सारे विश्व को बेहोश बनाकर नचाता हैं, ॥१७१-७५ ॥ वह तमोगुण अविवेक का महान् मंत्र और अज्ञानरूपी शराब का बर्तन है । वह जीव को मूर्च्छित करनेवाला मोहनास्त्र है । हे पार्थ, यही वह तमोगुण है जो देह को आत्मा माननेवालों को चारों ओर से उलझाता है । जब यह अकेला चराचर में बढ़ने लगता है तब दूसरे किसी को गुंजाइश नहीं होती । यह सब इंद्रियों को भारी बनाता है, मन को मूर्च्छित करता है और सुस्ती को आसरा देता है । इससे शरीर ढीला पड़ता है, काम करने का शौक़ मिट जाता है और उसको लगातार जम्हाइयाँ आने लगती हैं ॥१७६-८० ॥ हे अर्जुन, उस व्यक्ति की आँखें खुली होकर भी उसको कुछ नहीं दिखाई देता और उसको पुकारे बिना ही वह भ्रमित जैसे एकदम हाँ कहकर उठ आता है । जैसे कोई शिला नीचे गिर जानेपर दूसरी तरफ़ नहीं मुड़ती, वैसेही जब वह लोटपोट होकर सो जाता है तब करवट नहीं बदलता, चाहे धरती पाताल में गिरे या आसमान टूट

पड़े, मगर वह उठने की इच्छा नहीं करता। सुस्त होकर जब वह लेट जाता है तब उसको योग्य क्या है और अयोग्य क्या है इसकी याद नहीं रहती। क्योंकि जहाँ वह लेटा हुआ है, वहीं लेटा रहना पसंद करता है। वह हाथ मलता रहता है या हार मान जाता है। ॥१८१-८५॥ वह सोना इतना पसंद करता है कि वह स्वर्ग को भी नगण्य मानता है। ब्रह्मदेव की लम्बी उम्र पाकर सदैव सोता रहूँ, बस इसके सिवाय उसको दूसरा व्यसन नहीं होता। अगर रास्ते में चलते समय पाँव फिसलकर वह गिर पड़ा तो वहीं सो जाता है और सो जानेपर उसको किसीने अमृत भी दिया तो वह इन्कार करता है। उसी प्रकार उसको किसी ने ठोंक पीटकर काम में लगाया तो वह आग बबूला हो जाता है। किसी से कैसे पेश आये, किसी से कैसी बातचीत करे किंवा कुछ वस्तु हासिल होगी या नहीं इसका वह विचार नहीं करता ॥१८६-९०॥ जैसे पतिंगा दावानल भड़कने पर अपने पंखों से उसको बुझाना चाहता है, वैसे वह किसी दुस्साहस में फँसकर बुरे कर्म करने पर प्रवृत्त होता है ज्यादा क्या कहूँ लापरवाही ही उसको अच्छी लगती है। इस प्रकार तमोगुण, नींद, सुस्ती और प्रमाद इन तीन फंदों से इस उपाधिरहित जीव को बांध रखता है। जैसे अग्नि काष्ठ से लगनेपर काष्ठ के आकार की होती है, या घट में समाया हुआ आकाश घटाकार महसूस होता है, या जल से भरे हुए सरोवर में चाँद की परछाई दिखाई देती है, वैसेही जीव गुणों के जाल में फँसा हुआ गुणों के लक्षण अपने मानता है ॥१९१-९५॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

जब कफ़ और वात को पीछे हटाकर देह में पित्त बढ़ जाता है तब देह में गरमी बढ़ जाती है। किंवा जैसे गरमी और बरसात समाप्त होनेपर जाड़ा महसूस होता है, अथवा जाग्रति और स्वप्न की अवस्थाएँ समाप्त होनेपर जैसी पलभर के लिये चित्तवृत्ति सुषुप्ति में रहती है, वैसे जब रज और तम इन दोनों से सत्त्वगुण ज्यादा बढ़ता है तब जीव 'मैं सुखी हूँ' ऐसे कहने लगता है। उसी तरह सत्त्व और

रज गुणों का लोप होनेपर जब तम का बल बढ़ता है, तब वह सहजतया प्रमाद करता है। ॥१९६-२०० ॥वैसेही जब सत्त्व और तम गुणों से रजोगुण बढ़ जाता होता है, तब इस देह का स्वामी जीव कर्मसे ज्यादा अच्छा कुछ नहीं है ऐसा महसूस करता है। इस तरह तीन श्लोकों में इन तीनों गुणों का स्पष्टीकरण किया। अब ये सत्त्वादि गुण बढ़ जाने पर क्या लक्षण होते हैं वह ध्यान से सुनो।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५ ॥

देखो, रज और तम इन गुणों पर विजय पाकर जब सत्त्वगुण इस देह में बढ जाता है, तब उसके लक्षण ऐसे होते हैं। बसंत में कमल खिलने पर उसकी सुगंध जैसे फैल जाती है, वैसे उसके चित्तमें भरा हुआ ज्ञान उछलने लगता है। ॥२०१-२०५ ॥ सब इंद्रियों में विवेक मँजा रहता है और सचमुच उसके हाथपाँव भी आँखोंवाले होते हैं। जैसे राजहंस की चोंच दूध और पानी का फैसला करती है, वैसेही उसकी इंद्रियाँ कर्म परखती हैं और नियम उनकी सेवा करते हैं। जिसको सुनना नहीं चाहिये उसको उसके कान नहीं सुनते, जो देखना नहीं चाहिये उसको उसकी आँखें नहीं देखतीं, जो कहना नहीं चाहिये वह उसकी ज़बान टाल देती है। जैसे चिराग से अंधेरा दूर जाता है, वैसे निषिद्ध कर्म इंद्रियों के सामने नहीं आते ॥२०६-१० ॥ देखो, नदी जैसी वर्षाऋतु में लबालब भर जाती है वैसी उसकी बुद्धि सब शास्त्रों में संचार करती है। जिस तरह पूनो के दिन चाँद की रोशनी सारे

आसमान में बिखर जाती है, उसी तरह उसकी चित्तवृत्ति में सर्वज्ञता फैलती है । तब उसकी सब वासनाएँ मिट जाती हैं, उसकी कर्म के प्रति दौड़धूप कम हो जाती है, और मन विषयों से ऊब जाता है । इन लक्षणों के अनुसार उसका सत्त्व गुण बढ़ जानेपर अगर उसको मृत्यु आती है, तो जैसे अच्छी बारिश होनेपर सुकाल होता है और उसी समय कोई त्योहार में अपने स्वर्गस्थ पुरखे मेहमान आये तो सभी को प्रसन्नता होती है, ॥२११-१५ ॥ या जैसे घर में विपुल संपत्ति हो और साथ दान करनेका धीर और उदार स्वभाव हो तो इस लोक में कीर्ति और परलोक की प्राप्ति क्यों न होगी ? हे अर्जुन, इस तरह जिसका आचरण शुद्ध और अनुपम है, उसका सत्त्वगुण बढ़नेपर जब मृत्यु आयेगी, तो वह कहाँ जायेगा ? उसी तरह भोगों का क्षेत्र जो शरीर है उसको त्यागकर और शुद्ध सत्त्वगुण से संपन्न होकर जो देहत्याग करता है, वह केवल सत्त्व का पुतला बनता है । हे धनुर्धर, जब सिंहासन पर बैठा हुआ राजा अरण्य में जाए तो उसको सुख क्या कम मिलता है ? ॥२१६-२० ॥ किंवा हे अर्जुन, इस गाँवसे दीप पडोसी ग्राम में हम ले चलें तो वहाँ भी दीप होता है, वैसेही वह जिस योनि में जन्म लेता है, उसमें उसका सत्त्वगुण शुद्ध होता है, ज्ञान बढ़ने लगता है और उसकी बुद्धि ज्ञान में तैरने लगती है । फिर महत्तत्त्व का उद्गम जिस अनुक्रम से हुआ, वह उसका सोचविचार करता है और उस विचार के साथ आत्मस्वरूप में विलीन होता है । तब छत्तीस तत्त्वों के परे जो सैंतीसवाँ तत्त्व है, चौबीस तत्त्वों के परे जो पचीसवाँ तत्त्व है और गुणों से निराला जो जीवात्मा है, जो सब से उत्तम और सब को समान है, वह अच्छी देह धारण करता है ॥२२१-२५ ॥

उसी प्रकार तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर जब रजोगुण ज्यांदा बढ़ता है और वह अपने शरीररूपी ग्राम में अपनी करतूतों से ऊधम मचाता है, तब उसके लक्षण ऐसे होते हैं । जैसे आँधी आनेपर वह जैसी सब चीजें बटोरकर ऊपर उड़ाती है, वैसे उसकी इंद्रियाँ विषयकी ओर खुल जाती हैं । फिर उसको सुध नहीं होती कि परायी स्त्री को निहारना शास्त्र के विरुद्ध है, और इसलिये उसकी इंद्रियाँ बकरी के समान सब जगह मुँह मारने लगती हैं । उसका लोभ इतना स्वच्छन्द होकर बढ़ने लगता है कि जो चीज उसके चँगुल में नहीं आती वही बच पाती है । ॥२२६-३० ॥

और कोई भी उद्यम उसके सामने आ जाए तो वह हाथ धोकर उसके पीछे पड़ता है। वैसे ही एक मंदिर बाँधना या अश्वमेध यज्ञ करना ऐसे अनोखे शौक में लगा रहता है। कहीं वह शहर बसायेगा, तो कहीं बड़ी झीलें बनवायेगा या बड़े उपवन लगवायेगा ऐसे प्रचंड़ काम में वह हाथ डालता है। तो भी इस लोक और परलोक के बारे में उसकी इच्छाएँ अधूरी रहती हैं। एक बार समुद्र हार मानेगा या अग्नि की दाहक शक्ति कम हो सकती है। पर उसकी इच्छाएँ इतनी बढ़ती हैं कि उनको वह दबा नहीं सकता ॥२३१-३५॥ उसकी आशा-अपेक्षाएँ मन के आगे दौड़ती है और उसने यदि सारा विश्व भी पैर तले रौंद डाला तो भी उसका शौक़ पूरा नहीं होगा। इस तरह रजोगुण बढ़ने के लक्षण दृग्गोचर होने पर वह मर गया, तो वह इस गुण से संपन्न होकर मनुष्य योनि में दूसरी देह धारण करता है। कोई कंगाल सब सुखों के साथ राजमहल में रहा तो वह राजा कैसे हो सकता है ? बैल यदि किसी अमीर सज्जन के बारात में गया तो भी उसके भाग्य में कड़बी नहीं चुकती ॥२३६-४०॥ इसलिये जिनको व्यवहार में रातदिन विश्राम नहीं होता, उनकी पंक्ति में वह जाकर बैठता है। जो रजोवृत्ति के दह में डूबकर मरता है, वह कर्मकांडी के कुल में जन्म लेता है।

फिर जब रजोगुण और सत्त्वगुण को जीतकर तमोगुण ज्यादा बढ़ता है, तब उसके बदनपर जो बाहरी लक्षण दिखाई देते हैं उनको मैं बताता हूँ, ठीक ध्यान देकर सुनो। उसका मन अमावस की रात में सूर्यचंद्र से विरहित आकाश जैसा (माने अंधकार से पूर्ण) होता है, ॥२४१-४५॥ वैसेही उसका अंतःकरण अचेत और शून्य होकर वह विवेक की बात तक नहीं कर सकता। उसकी बुद्धि की मृदुता इतनी कम होती है कि कठोरता में वह पत्थर पर भी मात करता है और उसकी स्मृति नष्ट हुई सी लगती है। उसका शरीर अंतर्बाह्य अविचार के मदसे भरा होता है। उसके लेनदेन के व्यवहार पागल के जैसे होते हैं। दुराचार की हड्डियाँ उसकी इंद्रियों को चुभती रहती हैं और उसके मर जानेपर ही उसके बुरे कर्मों का अंत होता है। जैसे घुग्घू अंधेरी रात में ही देख सकता है, वैसे बुरे कर्म करने का उसको शौक होता है। ॥२४६-५०॥उसी तरह उसको निषिद्ध कर्म करने में अनोखी वासना होती है और उसकी इंद्रियाँ भी उनका पीछा करती है। यह शराब न पीनेपर भी

मस्ती में धुंध होता है, सन्निपात की बीमारी न होनेपर भी बकता है और प्यार के बिना ही पागल सा भ्रमित होता है। उसका चित्त कभी होश में नहीं रहता। मगर वह समाधि नहीं होती क्योंकि तब वह मोह के नशे में रहता है। जब तमोगुण सब सामग्री के साथ बढ़ता है तब ऐसे लक्षण दिखाई देते हैं। और ऐसे समय यदि उसको मौत आई तो वह तमोगुण में ही जन्म लेता है ॥२५१-५५॥ जिस तरह सरसों बोने पर बीज अपना रूप छोड़कर पौधा बनता है और उससे सरसों के बिना कुछ नहीं पैदा होता, किंवा दीप बनने पर अग्नि बुझ भी गयी तो उस दीपसे अग्नि फिर प्रज्वलित होती है, उसीतरह वह संकल्प की गठरी बाँधकर जब मृत्यु पाता है, तब उसको पुनर्जन्म में भी तमोगुण प्राप्त होता है। तमोगुण बढ़नेपर मृत्यु आई, तो वह अगले जन्म में पशु या पंछी, पेड़ या कीड़ा बनता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

इसलिये वेदों में कहा गया है कि जो सत्त्वगुण से पैदा होता है वह सुकृत है ॥२५६-६०॥ अतः सत्त्वगुण से सहज सुख और ज्ञान जैसे अपूर्व फल प्राप्त होते हैं। अब रजोगुण से जो क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं वे इंद्रायण के फल के समान ऊपरसे सुखदायी होती हैं, मगर अंदरसे दुःखदायी होती हैं। अथवा निबौरी के फल ऊपर देखने में मोहक लेकिन अंदर ज़हर के समान कड़वे होते हैं। वैसेही रजोगुण से उत्पन्न हुए हरएक कर्म का फल होता है। जिस तरह विष का कंद बोनेपर उससे विष का अंकुर ही उगता है, वैसेही तमोगुण से पैदा हुआ कर्म अज्ञानरूपी फल देता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

इसलिये, हे अर्जुन, जैसे दिन का कारण सूरज है, वैसे सत्त्वगुण ज्ञान का कारण है ॥२६१-६५॥ और जैसे अद्वय परमात्मा को जीवदशा पाने के लिये अपना स्वरूप भूल जाना पड़ता है, वैसेही लोभ की उत्पत्ति का रजोगुण ही कारण है। हे बुद्धिमान अर्जुन, मोह, अज्ञान और प्रमाद इन तीन दोषों का कारण तमोगुण होता है। जिस तरह हथेली पर आंवला रखकर प्रत्यक्ष दिखाया जाता है, वैसे सोचविचार

करने के लिये ये तीनों गुण अलग अलग करके मैंने कहे हैं। उनमेंसे रज और तम पतन के कारण होते हैं, तो बिना सत्त्वगुण के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये कोई अन्य भक्तियों का त्याग करके चौथी भक्ति को अपनाते हैं और कोई जन्मसे ही सात्त्विक बर्ताव करते हैं, । ॥२६६-७० ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८ ॥

जो सात्त्विक वृत्ति को अपना कर आनंद से नाचते हैं और अंत में देहत्याग करते हैं वे स्वर्ग के निवासी बनते हैं। और जो राजस वृत्ति से जीते हैं और मरते हैं वे मृत्युलोक में आदमी के रूप से जन्म लेते हैं। वहाँ उनको एकही थाली में सुखदुःख की खिचड़ी खानी पडती है और किसी प्रकार उन की मृत्यु नहीं टलती । उसी तरह जो तमोवृत्ति में बढ़ते हैं, उनको मृत्यु के बाद नरक का पट्टा मिलता है। अर्जुन, योंही तुमको आत्मा की सत्ता से बढ़ने वाले तीन गुण उनके कार्यों के साथ स्पष्ट करके बताये ॥२७१-७५ ॥ लेकिन उन गुणों से आत्मा के स्वरूप में कुछ बदल नहीं होता, मगर वह उपाधियों के योगदानसे गुण कार्यों का अनुकरण करती है। जिस तरह स्वप्न में मैं राजा हुआ हूँ और दुश्मन ने हमला किया है ऐसा देखनेवाला जय और पराजय स्वयं बनता है, उसी तरह वह महसूस करता है कि स्वर्ग और पाताल ये सब गुणवृत्ति के भेद हैं। और जब हम गुणों के परे जाकर देखने लगते हैं तो यक़ीन होता है कि वे आत्मस्वरूप हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९ ॥

अब ये लंबी बातें बस हुईं । इस जगत् में आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है यह ध्यान में रखो। अब तुम्हें अगली बात कहता हूँ, उसको समझ लो। आत्मा की सामर्थ्य से ही ये तीन ही गुण अनायास देह के रूप में पैदा होते हैं। ॥२७६-२८० ॥ जिस तरह अग्नि जलते समय लकड़ी के समान दिखाई देती है किंवा जमीन और जल दोनों पेड के रूप में दृग्गोचर होते हैं और दूध जमाने पर उसका दही बनता है किंवा मिठास गन्ने के रूप में व्यक्त होती है, उसी तरह ये तीन गुण अंतःकरण के साथ देह बनते हैं और इस वजह से बंधन का कारण होते हैं। लेकिन हे धनुर्धर, यह एक विलक्षण बात है कि गुणों का इतना बड़ा जाल हो कर

भी मोक्ष के व्यवहार में उलझन नहीं होती । ये तीन गुण अपने अपने धर्म के अनुसार देह से गतिविधियाँ करवाते हैं, मगर उससे गुणों के परे जाने में रुकावट नहीं होती ॥२८१-८५ ॥

इस प्रकार की मुक्ति कैसी सहज प्राप्त होती है, यह मैं तुम्हें अब कहता हूँ । क्योंकि तुम ज्ञानरूपी कमल में बैठे हुए भौंरे जैसे हो । आत्मा गुणों के साथ होकर भी गुणों के समान नहीं होती, यह जो सिद्धान्त मैंने तुम्हें पहले कहा था, वही अब दुहराता हूँ । हे पार्थ, जीव को ज्ञान का अनुभव होने पर यह महसूस होता है, कि आत्मा गुणों से भिन्न है । जैसे जाग्रत होनेपर स्वप्न झूठा लगता है, या नदी के तटपर खड़ा हुआ आदमी हिलते हुए जल में अपनी अनेक परछाइयाँ देखकर मैं उनसे अलग हूँ यह जानकर धोखा नहीं खाता, अथवा नट कुशलता से अलग अलग पात्र बनता है किंतु वह अपना निजी स्वरूप नहीं भूलता, उसी तरह हम गुणमय हैं यह न मानते हुए गुणों की ओर सिर्फ देखना चाहिये ॥२८६-९० ॥ जिस तरह आकाश में तीनोंही ऋतुएँ आती हैं और जाती हैं, लेकिन वह उनसे अपना अलगाव नहीं भूलतीं, उसी तरह गुणोंसे युक्त जीव गुणातीत होकर आत्मस्वरूप में स्थिर होता है और मूल स्वरूप के विषय में उसकी अस्मिता स्थायी रहती है । फिर वह सोचता है कि मैं कर्ता नहीं बल्कि साक्षी हूँ, और गुणही सब कर्मों के नियमन करते हैं । सत्त्व, रज, तम इन गुणभेदों से ही सब क्रियाएँ घटती हैं, इसलिये वे तीन गुणों के विकार हैं । उन तीन गुणों में मैं वैसा हूँ, जैसा बसंत ऋतु वनशोभा का कारण होता है ॥२९१-९५ ॥ अथवा जैसे सितारों का लोप, सूर्यकांत मणि का प्रज्वलित होना, कमल का विकास और अंधकार का नाश, ये सब बातें सूर्योदय के साथ होती हैं, लेकिन उनका सूरज पर कुछ असर नहीं होता, वैसेही मेरी सत्ता से कर्म होने पर भी मैं इस देह में अकर्ता हूँ । मैं जब गुण दिखाता हूँ तब वे दिखाई देते हैं, मैं उन गुणों के धर्म पोसता हूँ और वे नष्ट होने पर जो कुछ शेष रहता है वह मैं ही हूँ । इस प्रकार, हे धनंजय, जिसमें इस ज्ञान का उदय हुआ है वह वास्तव में गुणातीत है ।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२० ॥

अब जो निर्गुण तत्त्व है उसे वह बिलकुल ठीक जानता है । क्योंकि ज्ञान की

मुद्रा उसके मन पर अंकित हुई है ॥२९६-३०० ॥ हे अर्जुन, जैसी नदी समुद्र को मिलती है वैसे वह मेरी सत्ता पाता है। जिस तरह नली से उड़कर तोता भ्रममुक्त होकर पेड़ की शाखा पर जा बैठता है, वैसेही वह गुणातीत होकर मैं ब्रह्म हूँ ऐसे जान लेता है। हे अर्जुन, जो अज्ञानरूपी निद्रा में जोर से खर्राटे भरता था, वह अपने स्वरूप में जाग्रत रहता है। हे वीरश्रेष्ठ, उसके हाथ से बुद्धिभेदरूपी आईना नीचे गिर जाने से अब वह अपनी परछाई उसमें नहीं देख सकता। फिर हे वीर, वायु का बहना बंद होनेपर जैसे समुद्र में लहरें समा जाती हैं, वैसे देहाभिमान के अभाव में जीव और शिव एकरूप होते हैं। ॥३०१-०५ ॥ फिर ऐसा होते ही वह गुणातीत मद्रूप होता है। जिस तरह वर्षा के अंत में आसमान में पैदा हुए बादल उसमें समा जाते हैं, उसी तरह वह मद्रूप होकर देह में रहता हुआ भी गुणों के चँगुल में नहीं फँसता। जिस तरह काँच के घर में दीप रखनेपर उसकी रोशनी ढंक नहीं जाती किंवा वडवानल समुद्र के जल से बुझाया नहीं जाता, उसी तरह गुणों के आने जाने पर उसका ज्ञान मलीन नहीं होता। जैसे चाँद जल में प्रतिबिंबित होकर उससे लीपा नहीं जाता, वैसेही वह देह में अलिप्त रहता है। ये तीन ही गुण अपनी ताक़त से उसकी देह में अलग अलग स्वाँगे रचते हैं। फिर वह उनको देखने के लिये भी अपना अहंब्रह्म का भाव नहीं छोड़ता ॥३०६-१० ॥ इसलिये वह अंदर इतना निश्चल होकर रहता है कि वह शरीर के व्यापार महसूस नहीं करता। साँप अपनी केंचुकी छोड़कर जब बिल में जाता है तब कौन उसकी केंचुकी की रक्षा करता है? वैसाही यहाँ भी होता है। अथवा जैसे कमल से छूटी हुई महक आकाश में मिलती है और कमलकोश में लौटकर नहीं आती, वैसेही आत्मा से एकरूप होकर वह देह और उसके धर्म इत्यादि महसूस नहीं करता। इसलिये जन्म, बुढ़ापा और मरण वगैरह ये जो छः गुण देह से जड़े हुए हैं वे ज्ञाता में नहीं होते। ॥३११-१५ ॥ घट टूट जानेपर जैसे उसमें विद्यमान अवकाश सहजतया आकाश में मिलता है, वैसे देहबुद्धि मिट जानेपर वह अपने मूलस्वरूप को पहचान लेता है और उसको आत्मस्वरूप के बिना और किसी की सुध भी नहीं रहती। इस तरह जिसको आत्मज्ञान हुआ है वह देह में हो कर भी अपने को गुणातीत मानता है। मेघ का गर्जन सुनकर जैसे मोर निहाल हो जाता है, वैसे श्रीकृष्ण के इस भाषण से पार्थ को बहुत सुख हुआ।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१ ॥

फिर संतोष से वह वीर अर्जुन श्रीकृष्ण से बोला, जिसको यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसके लक्षण कौनसे होते हैं ॥३१६-२० ॥ वह गुणातीत कैसे बर्ताव करता है और गुणों को कैसे पार करता है । हे देव, आप कृपा के पीहर हैं, सो मुझको यह स्पष्ट बताइये । अर्जुन के इस सवाल पर उस छः गुणोंवाले भगवान ने क्या जबाब दिया सुनिये । उन्होंने कहा, यह तुम्हारा सवाल मुझे अजीबसा लगता है । अगर उसका बर्ताव हो, तो उसको गुणातीत कहना झूठ होगा । जिसको गुणातीत कहते हैं वह गुणों के अधीन नहीं होता । और यद्यपि वह गुणों में विचरता है, तथापि वह गुणों के चँगुल में नहीं फँसता । ॥३२१-२५ ॥ फिर यदि उसका गुणों से सम्बंध होने से वह गुणों के अधीन है या नहीं यह कैसे जाना जाय, यह तुम्हारा संदेह हो, तो शौक से पूछो । सुनो, उसके लक्षण कहता हूं ।

श्रीभगवान् उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२ ॥

जब रजोगुण प्रबल होने पर जिसकी देह से कर्म के अंकुर निकलते हैं और वह प्रवृत्तिमार्ग में खींचा जाता है, तब मैंही कर्म करनेवाला हूँ ऐसा वह मान कर धनदौलत की शेखी नहीं करता या मैं कंगाल होने से यह काम नहीं कर सका ऐसा वह खेद भी नहीं करता । किंवा सत्त्वगुण बढ़नेपर जब ज्ञान चारों ओर फैल जाता है, तब विद्वत्ता की खुशी से उसका हौसला नहीं बढ़ता । अथवा तमोगुण बढ़ जानेपर मोह उसको नहीं ग्रसता और वह अपने अज्ञान का खेद नहीं करता । ॥३२६-३० ॥जब उसके मनपर मोह का प्रभाव होता है तब वह ज्ञान नहीं चाहता, और ज्ञान के अवसर पर कर्म टालकर दुःखी नहीं होता । जैसे सबेरा, दोपहर और शाम इनकी सूरज परवाह नहीं करता, वैसेही वह गुणों पर ध्यान नहीं देता । इस प्रकार का जो ज्ञानी है उसको अन्य ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? देखो, समुंदर को क्या वर्षा की जरूरत होती है ? वैसे कर्म करते समय क्या वह 'मैं कर्ता हूँ'

ऐसा अभिमान करेगा ? कहो, क्या बर्फसे हिमालय पर्वत काँपता है ? वैसे मोह पैदा होनेपर वह क्या ज्ञानसे वंचित हो सकता है ? क्या कभी गरमी अग्नि को जला सकती है ? ॥३३१-३५ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३ ॥

इसी तरह गुण और शरीर स्वयं होने से वह उससे अलग होना नहीं चाहता। ऐसा जिसको यक़ीन हो चुका है, वह इसी तरह उदासीन वृत्ति से देह में रहता है, जैसे कोई यात्री रात को किसी जगह पर मुक़ाम करता है । रणभूमि जैसी हार और जीत में तटस्थ रहती है, वह यश या अपयश में बाजी नहीं मारता या हार नहीं खाता । और उसी तरह गुणों के अधीन होकर कर्म नहीं करता । किंवा शरीर में विद्यमान प्राण, घर आया मेहमान, या चौराहे का खंभा ये जैसे इर्दगिर्द वस्तुओं के बारेमें उदास रहते हैं अथवा हे अर्जुन, मृगजल की लहरों से मेरु पर्वत अड़िग रहता है, वैसेही वह गुणों की रफ्तार से अस्थिर नहीं होता ॥३३६-४० ॥ ज्यादा क्या कहूँ ? आसमान कभी वायुसे हिला है ? अंधकार कभी सूरज को निगल सका है ? जिस तरह जाग्रति में आदमी सपना नहीं देखता, उसी तरह ज्ञानी गुणों के वश में न आकर दूर से उनका खेल देखता है, जैसे दर्शक कठपुतलियों का खेल देखते हैं । जब सात्त्विक वृत्तियाँ कर्म की ओर, रजोवृत्तियाँ भोग की ओर और तमोवृत्तियाँ मोह की ओर झुकती हैं, तब वह मानता है कि अपनी अपनी सत्ता से गुणों की क्रियाएँ हो रही हैं, जैसे सूरज लौकिक व्यवहारों का साक्षी होता है । ॥३४१-४५ ॥ जिससे समुद्र को ज्वार आता है, सोमकांत मणि झरता है, और श्वेत कमल खिलते हैं, वह चाँद कुछ नहीं करता, बल्कि चुपचाप रहता है । अथवा वायु तो आसमान में बहती है या ग़ायब होती रहती है, तथापि आसमान अविचल रहता है । वैसेही गुणों ने कुछ गड़बड़ की तो भी वह विचलित नहीं होता । हे अर्जुन, इस प्रकार तुम्हें गुणातीत के लक्षण कहे । अब उसका बर्ताव कैसा होता है, सुनो ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४ ॥

हे अर्जुन, जैसे कपड़े के अंदर और बाहर धागे से अतिरिक्त और कुछ नहीं

होता, वैसेही मद्रूप होनेपर वह सब चराचर वस्तुओं में मेराही रूप देखता है। इसलिये सुख और दुःख भाग में आने पर उसका मन तुला के समान समतोल रहता है, जैसे भक्त और दुश्मन दोनों को ईश्वर समान मुक्ति प्रदान करता है ॥३४६-५० ॥ जलमें जैसे मछली रहती है वैसे देह में रहकर वह सुख और दुःख का अनुभव करता है। वह देहाभिमान छोड़कर आत्मरूप हो जाता है, जैसे बोया हुआ बीज अनाज के रूप में परिपक्व होता है। अथवा गंगा समुद्र में मिलनेपर उसकी कलकल बंद हो जाती है, वैसेही वह आत्मस्वरूप में विलीन होनेपर देह के सुख-दुःख में समचित्त रहता है। रात और सबेरा जैसे खंभे को समान लगते हैं वैसे ही देह के सुख और दुःख आत्मा को समान महसूस होते हैं ॥३५१-५५ ॥ जिस तरह सोये हुए व्यक्ति को एकतरफ साँप का और दूसरी तरफ उर्वशी का स्पर्श समान लगता है, उसी तरह अपने स्वरूप में मग्न होने के कारण वह देह के भाग में आनेवाले सुख और दुःख को द्वन्द्व को समान रूपसे अनुभव करता है। इसलिये वह गोबर और सोना समान देखता है और वह रत्न और पत्थर में कोई भेद नहीं करता। घर में चाहे स्वर्गसुख स्वयं चलकर आया या शेर घुसकर आया तो भी उसकी आत्मस्थिति भंग नहीं होती। मरा हुआ आदमी जैसे फिर जीवित नहीं होता या जला हुआ बीज फिर नहीं उगता, वैसेही उसकी समत्वबुद्धि खंडित नहीं होती। यह ब्रह्मदेव है ऐसी कोई प्रशंसा करे या नीच है ऐसी निंदा करे, तो भी जिस तरह राख होनेपर अग्नि को जलने की या बुझनेकी नौबत नहीं आती, ॥३५६-६० ॥ किंवा सूरज के घर में अँधेरा या दिया भी नहीं होता, उसी तरह स्तुति और निंदा सुननेपर उसको सुख या दुःख नहीं होता।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५ ॥

चाहे कोई उसको ईश्वर मानकर उसकी पूजा करे या उसको चोर समझकर पीटे, चाहे कोई हाथी घोड़े देकर उसको राजा बना दे अथवा नातेदार या दुष्मन उसके समीप आकर बैठे, तो भी वह उसके साथ समान पेश आता है। जिस तरह सूरज को रात दिन नहीं मालूम होते किंवा आसमान छहों ऋतुओं में समान रहता है, उसी तरह उसकी बुद्धि में परिवर्तन नहीं होता। उसमें और एक बात होती है कि वह कुछ व्यवहार नहीं करता, ॥३६१-६५ ॥ या कोई भी कर्म शुरू नहीं करता।

तब उसकी प्रवृत्ति खंडित होती है और उसके कर्मों का फल जल जाता है। इस लोक में या परलोक में जो भोग हैं उनका वह विचार तक नहीं करता और यदृच्छा से जो उसको प्राप्त होता है उसका वह उपभोग करता है। वह सुख से निहाल नहीं होता और दुःख से हिम्मत नहीं हारता। जैसे कोई निश्चल पाषाण है, वैसेही वह दिल से किसी का त्याग या स्वीकार नहीं करता। ऐसा जिसका आचरण है, वही गुणातीत है, यह जान लो। इस तरह गुणातीत होने के लिये कौनसे उपाय करने पड़ते हैं यह मैं अब कहूँगा, सुनो। ॥३६६-७० ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६ ॥

जो मुझसे एकनिष्ठ होकर मेरी भक्ति करता है, वह इन गुणों को मिटा सकता है। तो मैं कौन हूँ, मेरी भक्ति कैसी करनी चाहिये, एकनिष्ठता के लक्षण क्या होते हैं यह अब तुम्हें स्पष्ट बताना चाहिये। अर्जुन, सुनो, मैं इस दुनिया में ऐसा हूँ, जिस तरह रत्न और उसकी चमक एक ही है, जल और द्रवत्व, आकाश और अवकाश, चीनी और मिठास अभिन्न हैं, अग्नि और ज्वाला एकही होती है, कमल और उसकी पंखुडियाँ, पेड और उसकी शाखाएँ और फल भिन्न नहीं होते, ॥३७१-७५ ॥ जिस तरह बर्फ के विस्तार से हिमालय हुआ अथवा दूध जमाकर उसका दही बना, वैसेही जिसको विश्व कहते हैं वह सब मैं ही हूँ। देखो, चंद्रकला देखने के लिये उसको छीलना नहीं पड़ता, जमा हुआ घी घीही होता है, अथवा सुवर्ण का कंगन यदि नहीं गलाया तो भी वह सुवर्ण ही होता है, कपड़ा न फाड़ने पर भी तंतुमय होता है, अथवा मटका न तोड़ने पर भी मिट्टी ही होता है, उसी तरह विश्व का लोप होने पर ही मेरी प्राप्ति होती है ऐसा नहीं, विश्व के साथही मुझे जानना होगा। इस ऐक्य बुद्धि से मुझको जानना अव्यभिचारी भक्ति होती है । ॥३७६-८० ॥ मैं और विश्व इनमें भेद की कल्पना कर के कोई भक्ति करे तो वह व्यभिचारी भक्ति होती है। इसलिये तुम हम दोनों में भेद न मानकर एकनिष्ठ चित्त से तुम्हारे साथ मैं इस विश्व में व्याप्त हूँ, ऐसा जानो। हे पार्थ, जैसे सोने की टीक बनाकर सोने के गहने में मढ़ दी तो उसमें भेद नहीं होता, वैसेही अपने से यह विश्व निराला है ऐसा मत मानो। जैसे सूरज से निकली हुई किरण रोशन होकर भी उससे अलग नहीं होती, उसी प्रकार की एकता का ज्ञान तुम्हें होने दो। जमीनपर धूल का कण या

हिमालय पर हिमकण ये दोनों जैसे भिन्न नहीं हैं, वैसेही इस विश्व में मैं ही हूँ ऐसा मानो। ॥३८१-८५ ॥लहर कितनी भी छोटी क्यों न हो, वह समुद्र से निराली नहीं होती, वैसे ईश्वर हम से अलग नहीं है। ऐसी समदृष्टि होकर वह आनंद से भरी हुई हो तो हम उसको भक्ति कहते हैं। यहीं दृष्टि सब से उत्तम ज्ञान है और वही योग का सार है। समुद्र और बादल में जैसे परस्पर संबंध का प्रवाह लगातार चालू रहता है, वैसे उसकी मनोवृत्तियाँ बनती हैं। जैसे कुएँ का मुँह और आकाश इन दोनों में साँधा नहीं होता, वैसे उसमें और परमात्मा में जोड़ नहीं होता ॥३८६-९० ॥ जैसी सूरज की प्रभा सूर्यमंडल से उसकी परछाईं तक रोशन होती है, वैसे ही मैं ब्रह्म हूँ यह चित्तवृत्ति ऊपर उठती है। इस तरह मन की सोहंवृत्ति बनतेही उसका अपनापन लुप्त होता है। जैसे नमक का कंकड समुद्र में डाला तो वह पिघलकर शेष नहीं रहता, या घास जलनेपर अग्नि ही अपने आप बुझ जाती है, उसी तरह भेदभाव मिट जानेपर ज्ञान भी शेष नहीं रहता। मैं परली तरफ़ हूँ और भक्त इस तरफ़ हैं यह मिथ्याभास मिट जाता है और हम दोनों में जो एकता है वही शेष रहती है। ॥३९१-९५ ॥ फिर गुणों पर वह मात करे यह बात भी नहीं रहती। क्योंकि उस एकता से लिपट जाने पर वे गुण मिट जाते हैं। हे मर्मज्ञ अर्जुन, इसी स्थिति को ब्रह्मभाव कहते हैं। जो मेरी भक्ति करता है उसको यह ब्रह्मता वरण करती है। जिस तरह बहते हुए गंगा के जल को समुद्र के सिवाय दूसरी गति नहीं होती, वैसेही जो ज्ञानदृष्टि से मेरी सेवा करता है वह ब्रह्मभाव का चूड़ामणि होता है ॥३९६-४०० ॥ इस ब्रह्मभाव को ही सायुज्य मुक्ति याने चौथा पुरुषार्थ कहते हैं। मगर इस ब्रह्मभाव को पहुँचने के लिये मेरी आराधना ही सीढ़ी है। लेकिन तुम सोचोगे कि मुझसे मेरी प्राप्ति का उपाय अलग है, तो तुम अपने से ब्रह्म अलग है ऐसी कल्पना मत करो।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

हे पांडव, ब्रह्म यह मेरा ही नाम है और इसी नाम से मुझे पुकारते हैं। जैसे चाँद और उसकी परछाईं अलग नहीं है, वैसे ही, हे मर्मज्ञ अर्जुन, मैं और ब्रह्म इनमें भेद नहीं है। मैं ब्रह्म से अलग नहीं हूँ। ॥४०१-०५ ॥ वह ब्रह्म नित्य, अचल, स्वत:सिद्ध, धर्मरूप, बहुत सुख देनेवाली अद्वितीय वस्तु है। ज्ञान अपना कार्य

समाप्त करके जिसमें विलय पाता है, वह सिद्धान्त से तय हुआ अन्तिम स्वरूप मैं ही हूँ। एकनिष्ठ भक्तों का मित्र जो परमात्मा वह श्रीकृष्ण ऐसा शूर पार्थ से बोले। तब धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा, "मेरे कहे बिना तुम ये निरर्थक बातें क्यों सुनाते हो ? इस समय (मेरे पुत्रों की) विजय की शुभ वार्ता सुनाकर मेरा संदेह दूर करो और इन फालतू बातों को छोड़ दो " ॥४०६-१० ॥ तब संजय को विस्मय हुआ और उसने मन में कहा, "आह, भाग्य का फेर कैसा है देखो कि इसको युद्ध की ही चिंता है। फिर भी वह कृपालु भगवान् प्रसन्न होकर इसको विवेक का घूँट पिला दें और इसकी मोहरूपी बीमारी नष्ट करें। जब वह इस तरह मन में सोच रहा था तब उसको कृष्ण और अर्जुन का वार्तालाप याद आया और उसके मन में आनंद की बाढ़ उमड़ आई। इसलिये श्रीकृष्णने आगे क्या कहा वह सब संजय उमंग से कहेगा। निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं "उसके कथन का अभिप्राय मैं आपके मन पर अंकित करूँगा" ॥४११-१५ ॥

◆ ◆ ◆

॥ पंद्रहवाँ अध्याय ॥

अब मैं अपने हृदय की बैठक बनाकर उस पर श्रीगुरु की पादुकाओं की स्थापना करूँगा। अब इस इंद्रियरूपी खिले हुए फूल ऐक्यभाव की अंजली में लेकर इस पुष्पांजली से श्रीगुरु को अर्घ्य चढ़ाऊँगा। अनन्य भक्तिरस से शुद्ध की गयी एकनिष्ठ वासना को चंदन समझकर उसका उबटन श्रीगुरु को लगाऊँगा। निर्दोष प्रेमरूपी शुद्ध सोने के पायल बनाकर वे श्रीगुरु के कोमल चरणों में पहनाऊँगा। अव्यभिचारी भक्तिभाव से शुद्ध की गई, घने प्यार की अँगूठिया उनकी उँगलियों में डालूँगा। ॥१-५॥ आनंद की महक से उमड़े हुए आठ सात्त्विक भावों का खिला हुआ आठ पंखुडियों का कमल उनपर चढाऊँगा और इन गुरुचरणों पर अहंकाररूपी धूप जलाकर, निरभिमान से आरती उतारकर सोहंभाव छाती से लगाऊँगा। मेरी देह और प्राण ये दो खडाऊएँ उनके चरण के नीचे रखकर भोग और मोक्ष दोनों उनपर निछावर करूँगा। मेरा उद्देश्य यही है कि मैं गुरुचरणों की सेवा के योग्य बनूँ और सब पुरुषार्थों के अधिकार प्राप्त करूं। ज्ञान की रोशनी ब्रह्मभाव के विश्रामस्थान पर इस तरह सीधी चले कि मेरी वाणी क्षीरसागर की मिठास पाये । ॥६-१०॥ जिस वक्तृत्व पर असंख्य पूर्णचंद्रों को न्योछावर करें, ऐसी मिठास मैं प्रत्येक अक्षर में समाऊँगा। पूरब में सूरज आते ही दुनिया को जिस तरह रोशनी का राज प्राप्त होता है, वैसे ही मेरी ज़बान श्रोताओं के लिये ज्ञान की दिवाली मनायेगी है। भाग्य खुलने पर मुँह से ऐसे शब्द निकलते हैं कि उनके सामने नादब्रह्म भी नीरस दिखता है और कैवल्य भी नहीं सुहाता। मेरी वाणी

की बेल ऐसी फैल जाती है कि श्रवणसुख के मंडप के नीचे सब संसार लगातार बसंत की शोभा का अनुभव करता है। जिसका थाह न लगनेपर निराश होकर मन सहित वाणी को वापस आना पड़ा, उस परमात्मा का शब्दों से ज्ञान हुआ, यह कैसा चमत्कार है? ॥११-१५॥ जो ज्ञान को अगम्य और ध्यान को अप्राप्य है वह अतींद्रिय ब्रह्म इन शब्दों में समाया हुआ है। यह भाग्य श्रीगुरु के चरणकमलों का पुष्परज मिलने से वाणी को प्राप्त होता है। मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि गुरु का जो प्यार होता है, वह माता के सिवा अन्य किसी में नहीं होता। मैं नन्हा बालक हूँ, फिर भी श्रीगुरु का इकलौता बेटा हूँ। इसलिये उनकी कृपा मुझे लगातार प्राप्त होती है। देखिये जैसे बादल अपनी संपत्तिजल चातक को देता है, वैसे ही श्रीगुरु मुझपर कृपा की बौछार करते हैं। ॥१६-२०॥ इसलिये जब मेरी बोलीभाषा बकबक करने लगी, तो उसमें से गीता का मीठा रहस्य बाहर निकला। भाग्य खुल जाने पर बालू का रत्न होता है, और आयु समाप्त न होने पर हत्यारा भी कृपादृष्टि से देखने लगता है। मगर ईश्वर ने मन में ठाना तो उधान में पडे हुए कंकडों का भी अमृततुल्य मीठा चावल बनता है। उसी तरह जिसको श्रीगुरु ने अपनाया, उसको संसार भी मोक्षप्रद होता है। देखिये, उस सनातन विश्ववंद्य नारायण ने पांडवों को क्या कुछ कम होने दिया? ॥२१-२५॥ उसी प्रकार श्रीनिवृत्ति महाराज ने मेरे अज्ञान को ज्ञान की योग्यता प्रदान की। ख़ैर, ऐसा बोलने से केवल प्रेम अधिक बढ़ता है। नहीं तो श्रीगुरु की महिमा वर्णन करने के लिये मुझ में ज्ञान कहाँ है? इस लिये उस श्रीगुरु के प्रसाद से गीता का अभिप्राय कहकर आप सज्जनों की चरणसेवा करूँगा।

अब चौदहवें अध्याय के अंत में मोक्षदाता श्रीकृष्ण ने ऐसा फैसला किया था कि जिसको ज्ञान हुआ है, उसीको ही मोक्ष प्राप्त होता है, जिसतरह सौ यज्ञ करनेवाले को स्वर्ग का वैभव प्राप्त होता है, ॥ २६-३० ॥ या जो अपने सौ जन्म ब्रह्मकर्म में बिताता है वही ब्रह्मदेव का पद पाता है, दूसरा नहीं। अथवा जैसे सूरज का प्रकाश आँखोंवाले को ही उपयोगी होता है, वैसे ही मोक्ष का आनंद ज्ञाता को प्राप्त होता है। मगर यदि हम देखें कि यह ज्ञान पाने की योग्यता किसमें है, तो दुनिया में एकाध ही नजर आता है। जैसे भूमिगत धन अंजन से दिखाई देता है,

मगर वह अंजन पाँव की ओरसे पैदा हुएँ व्यक्ति की आँखों में डालना पड़ता है, वैसे ही ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं। किंतु उसको टिकाने के लिए मन की शुद्धि होनी चाहिए । ॥३१-३५ ॥ इसलिए श्रीकृष्ण ने विचार करके ऐसा तय किया कि वैराग्य के बिना ज्ञान टिक नहीं सकता। यह वैराग्य किस प्रकार का है और वह मन में कैसे बसता है इसका सर्वज्ञ श्रीहरी ने विचार किया है। जिस तरह किसी आदमी को भोजन के लिए बैठने पर मालूम होता है कि अन्न में ज़हर डाला है, तो वह थाली छोड़कर चला जाता है, उसी तरह संसार अनित्य है इसका ज्ञान होने पर भी वैराग्य को हटा दिया तो फिर भी वह पीछा करता है। अब यह संसार कैसा अनित्य है यह इस पंधरहवें अध्याय में वृक्ष की उपमा देकर कहा गया है । ॥ ३६-४० ॥ अन्य पेड़ उखाड़ देने पर जैसे सूख जाते हैं वैसे यह संसार वृक्ष सूखता नहीं। इस तरह संसार को कुशलता से वृक्ष का रूपक देकर श्रीकृष्ण जन्ममरण के चक्कर से मुक्ति देते हैं। संसार मिथ्या है यह जानकर, मैं आत्मस्वरूप हूँ यह जानकारी देने के लिए यह पंद्रहवाँ अध्याय कहा गया है। इस अध्याय में इस ग्रंथ का तात्पर्य विस्तार से और अच्छी तरह कहा जाएगा, इसलिए अब ध्यान दीजिए। महानंद का सागर या पूर्ण पूनम के चाँद जैसे वे द्वारिका के राजा ऐसा बोले ॥४१-४५ ॥

श्रीभगवानुवाच :

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१ ॥

हे अर्जुन, आत्मस्वरूप के स्थान को पहुँचने में जो विश्वाभास आड़े आता है, वह इस विश्व का पसारा नहीं बल्कि यह संसार एक बढ़ा हुआ बड़ा वृक्ष है ऐसा समझो। अन्य पेड़ों के नीचे जड़े और ऊपर की शाखाएँ होती हैं, वैसा यह नहीं है। इसलिए इसको कोई जान नहीं सकता। इसके तले आग जला दी या कुल्हाड़ी चलाई तो भी उसका नाश नहीं होता, बल्कि वह अधिक हराभरा होता है। दूसरे पेड़ जड़ से काटने पर शाखाओं के साथ गिर जाते हैं, वैसी बात यहाँ नहीं होती। यह साधारण वृक्ष नहीं है । ॥ ४६-५० ॥ हे अर्जुन, यह एक अजीब बात है कि यह वृक्ष असाधारण होकर उसकी वृद्धि नीचे की ओर होती है।

जिस तरह सूरज की ऊँचाई जानी नहीं जाती, मगर उसकी किरणें नीचे फैल जाती हैं, वैसे ही यह संसारवृक्ष विलक्षण है । और इस दुनिया में जो कुछ चीजें हैं उन सबको इस वृक्ष ने व्याप्त किया है । प्रलयकाल में जैसे जल से सारा आकाश व्याप्त होता है, या सूर्यास्त होनेपर रात्रि का घना अंधकार छा जाता है, वैसे ही इस वृक्ष ने सारा आसमान व्याप्त किया है । उसमें चखने को फल नहीं, सूँघने को फूल नहीं, यह सिर्फ एक वृक्ष है । ॥५१-५५ ॥ इसकी जडें ऊपर जाती हैं, लेकिन उनको कोई उखाड़ नहीं सकता, इसलिये वह सदैव हराभरा रहता है । और यदि इसको ऊपर जड़ें हैं ऐसा कहें, तो उसको नीचे भी असंख्य जड़ें हैं । चारों ओर तेजी से यह पीपल या बरगद के समान बढ़ता है और उसके बरोह या जटाएँ फूट आती हैं । हे अर्जुन, इस संसारवृक्ष के नीचे ही शाखाएँ हैं ऐसी बात नहीं, बल्कि उसके ऊपरी भाग में भी अनेक शाखाओं के गुच्छे फैले हुए हैं । ॥५६-६० ॥ इसको देखकर ऐसा लगता है कि आसमान को कोपलें निकल आई हैं, या वायु ने वृक्ष की शकल धारण की है, या उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन अवस्थाओं ने इस रूप को ग्रहण किया है । इस प्रकार यह ऊपर की ओर जड़वाला घना वृक्ष विश्वाकार होकर पैदा हुआ है ।

अब इस वृक्ष के ऊपर कौन है, इसका मूल क्या है, उसके लक्षण क्या होते हैं, यह नीचे क्यों फैलता है, इसकी शाखाएँ क्या होती हैं, इसको नीचे की जो जड़ें हैं उस पर शाखाएं कौनसी और कैसे उत्पन्न होती हैं, इस वृक्ष को अश्वत्थ यह नाम कैसे मिला और तत्त्वज्ञों ने इससे क्या तात्पर्य निकाला, ॥६१-६५ ॥ यह सब अच्छी तरह जैसे आपको बोध हो वैसे स्पष्टीकरण करता हूँ । तो हे भाग्यवान् अर्जुन, इसका विचार करने के लिये तुम ही योग्य हो, इसलिये सब इंद्रियाँ कान में इकट्ठा ला कर सुनो । जब यादववीर श्रीकृष्ण ने इस प्रकार प्यारसे भरा हुआ भाषण किया, तब अर्जुन सावधानी का पुतला बन गया । जिस तरह दस दिशाएँ आसमान को लिपटने लगीं, उस तरह अर्जुन का सुनने का शौक इतना बढ़ा कि उसको भगवान का निरूपण अधूरा लगा । श्रीकृष्ण के बयानरूपी समुद्र को अर्जुन अगस्त्य ऋषि के समान एकही घूँट में पीने के लिये आगे बढ़ा । ॥६६-७० ॥ अर्जुन में सुनने के लिये इतना असीम शौक पैदा हुआ देखकर भगवान प्रसन्न हो गये और उन्होंने

अपना संतोष उस पर उतार दिया। फिर भगवान् श्रीकृष्णने कहा, हे धनंजय, इस वृक्ष के ऊपर ब्रह्म है इसलिये वह ऊर्ध्वमूल हुआ। अन्यथा उस ब्रह्म में मध्य, ऊपर और नीचे ऐसा कुछ नहीं है, बल्कि वह अद्वितीय है और एक है। वह नाद है जो सुनने में नहीं आता, वह फूल का सुगंध है जो घ्राणेंद्रियों का विषय नहीं होता, वह आनंद है जो संभोग के सिवाय पैदा होता है। वह इस ओर, और उस ओर, आगे और पीछे सर्वत्र बिना आँखों के देखता है मगर स्वयं अदृश्य है ॥७१-७५॥ जिसका उपाधियों से संबंध होकर नामरूपात्मक विश्व बनता है, जो ज्ञाता और ज्ञेय से विरहित केवल ज्ञान है वह ज्ञान इस दुनिया में सूक्ष्म रूप से भरा हुआ है। जो कार्य नहीं, कारण भी नहीं, जो अनेक नहीं, एक भी नहीं, मगर अपना स्वरूप जाननेवाला है, वह शुद्ध ब्रह्म इस संसार वृक्ष की ऊपर की जड़ है। और इस जड़ से उसमें अंकुर फूटते हैं। ये अंकुर माया इस नाम से प्रसिद्ध हैं, जिसका अस्तित्व नहीं है, जैसे बाँझ को संतान नहीं होती। ॥७६-८०॥ जिसके बारे में वह है या नहीं है, यह हम नहीं कह सकते और जो ज्ञान के सामने टिक नहीं सकती, ऐसा उसका तरीक़ा है। उसको अनादि कहते हैं। वह विविध तत्त्वों की संदूक होकर वह विश्व का आश्रय है, जैसे आसमान बादलों का आधार है और वह ब्रह्म विश्वरूपी वस्त्र की परत है। वह संसार वृक्ष का बीज और प्रपंच का मूल स्थान है और उसमें मिथ्याज्ञान का धूमिल प्रकाश जमा हो गया है। वह माया निर्गुण ब्रह्म में इस तरह रहती है मानो वह है ही नहीं और वह उस ब्रह्म के तेजसे प्रकट होती है, जैसे नींद आनेपर हम चुप होते हैं या कालिखसे चिराग़ की रोशनी धुंधली होती है। ॥८१-८५॥

अपने प्रियतम के साथ सोयी हुई युवती सपने से जाग्रत हो कर उसको गले लगाने के बहाने से कामासक्त करती है, उसी तरह हे धनंजय, ब्रह्म से उत्पन्न हुई यह माया उसको अपने निजी स्वरूप के बारे में भ्रम में डालती है। यह उस संसारवृक्ष का पहला मूल है। ब्रह्म को जो आत्मस्वरूप की भूल पड़ी, वही इस वृक्ष का ऊपर का मूल कंद है। यही ब्रह्मवादियों में 'बीजभाव' इस नाम से प्रसिद्ध है। घनी अज्ञानमयी सुषुप्ति 'बीजांकुर भाव' कहलाती है। और स्वप्न और जाग्रत अवस्थाएँ दोनों उसके फलभाव होते हैं। इस तरह ब्रह्मवादियों का निरूपण करने का तरीक़ा

है। ख़ैर, अभी इन सब बातों का मूल कारण अज्ञान है यह समझ लो । ॥८६-९० ॥

ऊपर जो निर्दोष आत्मा है उसमें से, नीचे और ऊपर की ओर जडें निकलती हैं और वे मायारूपी क्यारी में पनपती हैं। फिर उन जड़ों के मध्यभाग से नीचे चार प्रकार के अंकुर निकलते हैं। इस प्रकार इस संसारवृक्ष के मूल को ब्रह्म से बल मिलता है और फिर उसको नीचे अंकुरों के गुच्छे आते हैं। फिर उस चित्वृत्ति में से प्रथम पैदा हुआ महत्तत्त्व नामक एक कोमल पत्ता निकलता है। अनंतर सत्त्वरजतमात्मक अहंकाररूपी तीन पत्तों वाला कल्ला नीचे निकल आता है । ॥९१-९५ ॥ फिर उससे बुद्धिरूपी दूसरा कल्ला निकल कर वह भेद को बढ़ाता है। फिर वहाँ मनरूपी डाली को नमी मिलने से वह हरीभरी होती है। इस तरह मूल प्रबल होनेपर उसको अज्ञानरस से युक्त चित्तके चार प्रकार की कोमल डालियाँ निकलती हैं। फिर उनमें से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूतों की सीधी टहनियाँ वेग से निकल आती हैं। उसी तरह बाद में उन टहनियों से श्रोत्रादि इंद्रियाँ और उनके विषय ऐसे कोमल नाजुक और विचित्र कोंपलें निकलती हैं ।

फिर शब्दरूपी अंकुर बढ़कर श्रवणेंद्रियों को डेढ़ गुना बढ़ाता है और फिर उसको आकांक्षा के पोर निकल आते हैं। ॥९६-१०० ॥ बाद में बदन रूपी बेल को त्वचारूपी कोंपल निकल आती है और उसको स्पर्शरूपी अंकुर फूट आता है, और फिर नए विकारों की भरमार होती है। इसके बाद रूप की कोंपल निकलकर नयन उस पोर के पीछे लगते हैं और मोह बढ़ने लगता है। फिर उससे रसरूपी कोंपल वेग से निकल आने पर रसना के लिये असंख्य इच्छाएँ पैदा होती हैं। उसीतरह गंधरूपी कोंपल निकलने पर घ्राणेंद्रिय की इच्छा बढ़ जाती है और उससे लोभ पैदा होता है। इस तरह महत्तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन और पाँच महाभूतों से यह संसार वृक्ष बढ़ता है। ॥१०१-१०५ ॥ इन आठ अंगों से यह संसाररूपी वृक्ष लहलहाता है। लेकिन जिस तरह सीपी पर रजत भासमान होता है, किंवा समुद्र के विस्तार पर लहरों का फैलाव होता है, उसी तरह ब्रह्मही यह अज्ञान मूलक संसारवृक्ष बनता है। जैसे स्वप्न में हम अकेले होकर भी सारा परिवार खुद बन जाते हैं, वैसे

ही यह सारी दुनिया ब्रह्म का विस्तार और फैलाव है । इस तरह यह अजीब वृक्ष बढ़ने लगता है और उसके महदादि तत्त्वों के अंकुर नीचे की ओर निकलते हैं ।

इस वृक्ष को ज्ञानी लोग अश्वत्थ क्यों कहते हैं वह मैं अब तुम्हें बताता हूँ, सुनो ॥१०६-११० ॥ श्वः इसका अर्थ 'कल' ऐसा है, कलतक भी यह वृक्ष एक सरीखा नहीं रहता । जैसे क्षण क्षण में बादल के रंग बदलते हैं किंवा विद्युत् निमिष-मात्र पूरी नहीं टिकती अथवा हिलते हुए कमल के पत्ते पर जल, या परेशान व्यक्ति का चित्त स्थिर नहीं रहता, वैसेही इस संसार वृक्ष की हालत है । वह प्रत्येक क्षण में नष्ट होता है, इसलिये उसको अश्वत्थ वृक्ष कहते हैं । व्यवहार में इसको लोग पीपल कहते हैं, लेकिन श्रीहरि का यह तात्पर्य नहीं है । ॥१११-१५ ॥मगर जब वह पीपल कहलाया गया था तब मैं उसका सच्चा अभिप्राय जान गया था । अब इस व्यवहार की भाषा में कहने का कुछ प्रयोजन नहीं है । इसलिये इस अलौकिक ग्रंथ को आगे सुनिये । सारांश, यह संसारवृक्ष क्षणिक है इसलिये इसको अश्वत्थ कहा है ।

और यह वृक्ष अव्यय याने शाश्वत इस अर्थ से भी प्रसिद्ध है । लेकिन इसका सारगर्भित अभिप्राय यह है । समुद्र एक तरफ मेघों से सोंखा जाता है और दूसरी तरफ नदियों से भरा जाता है, इसलिये वह सूखता नहीं और बढ़ता भी नहीं । जबतक यह मेघों का और नदियों का कार्य नहीं रुक जाता तबतक वह पूर्ण रहता है । ॥११६-२० ॥ उसी तरह इस संसारवृक्ष का होना और जाना इतना जल्द हो जाता है कि हम उसका अंदाज नहीं लगा सकते । इसलिये लोग इसको अव्यय कहते हैं । जैसे दाता धन खर्च कर के पुण्य का संचय करता है, वैसे यह वृक्ष व्यय याने क्षय होने पर भी अव्यय याने अक्षय होता है । जब रथ वेगसे चलता है तब उसके पहिये की गति दिखाई नहीं देती और वह पहिया ज़मीन में गड़ा हुआसा आभास होता है उसी तरह समयानुसार इस वृक्ष की जब प्राणिरूपी शाखाएँ सूखकर गिर पड़ती हैं तब उसको फिर और असंख्य अंकुर फूट आते हैं । लेकिन कोई शाखा कब गिरी और कब वे असंख्य शाखाएँ निकल आयीं, यह जाना नहीं जाता, जिस तरह आसमान में कौनसे बादल आये और कौनसे गये यह मालूम नहीं होता । ॥१२१-२५ ॥

प्रलयकाल के अंतमें इस संसारवृक्ष की शाखाएँ गिर जाती हैं और सृष्टि के आरंभ में फिर वे बढ़ जाती हैं । प्रलयकाल की आँधी से इस वृक्ष की छालें नीचे गिर जाती हैं और कल्प के आरंभ में उससे फिर गुच्छ उगते हैं । फिर एक मन्वंतर के बाद दूसरा मन्वंतर, बाद में सूर्यवंश, सोमवंश ऐसा उसका विस्तार होता है, जैसे गन्ना पोर पोर से बढ़ता है । कलियुग के अंत में चारों युगों के वृक्ष की छालें गिरकर वह सूख जाता है और कृतयुग शुरू होनेपर वे ही छालें डेढ़ गुना बढ़ जाती हैं, जैसे प्रचलित साल समाप्त होनेपर अगले साल को न्याता देता है, अथवा दिन कब उगा और कैसे गया यह जान नहीं पड़ता । ॥१२६-३० ॥ जैसे वायु के झकोरे आने पर उनमें जोड़ कहाँ है यह समझ में नहीं आता, वैसेही कितनी शाखाएँ गिरती हैं और कितनी उगती हैं यह मालूम नहीं पड़ता । एक देह का अंकुर टूट पड़ते ही उससे सैंकड़ों अंकुर निकलते हैं इसलिये यह संसारवृक्ष अव्यय है ऐसा आभास होता है । नदी का जल जिस वेग से बहता है, उसी वेग से उसके पीछे का जल मिल जाता है ।

इस लिये यह दुनिया नश्वर हो कर भी नित्य समझी जाती है । किंवा आँख की पलकें झपकने से पहले समुद्र में असंख्य लहरें आती हैं और ग़ायब होती हैं, इसलिये वे लहरें स्थायी मालूम होती हैं । कौआ अपनी एक आँख की पुतली क्षण भर में दोनों आँखोंकी ओर घुमाता है, इसलिये उसकी दो आँखें हैं ऐसा दुनिया को भ्रम होता है । ॥१३१-३५ ॥जैसे लट्टू अति वेग से घूमने लगा कि वह ज़मीनपर गड़ा हुआ है ऐसा आभास होता है, अंधेरे में लुकटी वेग से घुमाई तो वह चक्राकार दिखाई देती है, वैसे ही उस संसार वृक्ष की टूटफूट होने पर भी वह बढ़ता रहता है, यह न जानकर लोग उसको अव्यय मानते हैं । लेकिन इस संसारवृक्ष का वेग जानकर यह क्षणभंगुर है और निमिषार्ध में असंख्य बार पैदा होता है और ग़ायब होता है यह जो समझता है और जो ऐसा पूरीतरह जानता है कि इसका अज्ञान के सिवाय और दूसरा कुछ कारण नहीं है और इसका अस्तित्व मिथ्या है, ॥१३६-४० ॥ वही आदमी, हे अर्जुन, सर्वज्ञ है, वही वेदान्त को जाननेवाला है और वही मुझको वंदनीय है । योग का फल उसीको मिलता है, उसी के योगदान से ज्ञान को ही जीवन मिलता है । यह बहुतेरा कथन पर्याप्त है । इस प्रकार संसार

वृक्ष अनित्य है यह जो जानता है उसका वर्णन कौन कर सकता है ?

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा । गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि । कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२ ॥

फिर इस संसारवृक्ष की शाखाएँ नीचे ज़मीन में गड़ जाने पर उसको ऊपर भी शाखाएँ पैदा होती हैं । जो डालें नीचे आई हैं उनको जडें निकल कर नीचे की ओर बेल बढ़ती है और उसको कोपलें आती हैं । ॥१४१-४५ ॥यह जो मैंने पहले कहा था वही अब सरल कर के कहता हूँ । इस वृक्ष की जड़ अज्ञान है और महदादि अष्ट प्रकृति की सत्ता से वेदों के बड़े बन उत्पन्न होते हैं । फिर उसको पहले स्वेदज, जारज, अंडज और उद्भिज्ज ऐसी चार बड़ी शाखाएँ पैदा होती हैं । इन में प्रत्येक शाखा से चौरासी लक्ष योनिरूपी डालें उत्पन्न होती हैं । और उनको जीवरूपी टहनियाँ निकलती हैं । इन सरल टहनियों से जो बहुत प्रकार की तिरछी टहनियाँ अंकुर लेती हैं वे अलग अलग जातियाँ होती हैं । ॥१४६-५० ॥ स्त्री, पुरुष और नपुंसक ऐसे व्यक्तियों के भेद होकर वे विकारों के दबाव से परस्पर मिलन करते हैं । जैसे बरसात में आकाश में बादल आते हैं, वैसेही अज्ञान के कारण अनेक जाति के प्राणी पैदा होते हैं । फिर गुणों की साम्यावस्था में जब क्षोभरूपी वायु बहने लगती है, तो इस वृक्ष की शाखाएँ अपने बोझ से झुककर परस्पर उलझ जाती हैं । फिर ये गुण बेहद बढ़नेपर इस ऊर्ध्वमूल वृक्ष को तीन लकीरें फूट आती हैं ।

इस प्रकार रजोगुण की वायु जोर से बहने पर मनुष्यजात की शाखा बढ़ने लगती है । ॥१५१-५५ ॥ उस लकीर को ऊपर और नीचे शाखाएँ नहीं उगतीं, मगर बीच में मृत्युलोक की चार वर्णों की शाखाओं की भीड़ पैदा होती है । उन शाखाओं के विधिनिषेधरूपी पत्ते और वेदवाक्यों की नित्य नयी कोपलें आती हैं । और अर्थ और काम ये दो पुरुषार्थ विस्तार पाकर उनको इस लोक में क्षणिक सुख के अंकुर निकलते हैं । उसके बाद प्रवृत्ति मार्ग को बढ़ावा देने के लिये कितने शुभ और अशुभ कर्मों के खंभे लगाये जाते हैं यह समझ में नहीं आता । उसी तरह भोगक्षय होने पर एक तरफ़ पिछले देह के सूखे हुए तने गिर जाते हैं और दूसरी तरफ़ उसको नयी देहरूपी टहनियाँ फूट आती हैं । ॥१५६-६० ॥ और फिर शब्दादि विषयों की सुंदर रंगों की सुहावनी स्वाभाविक कोंपलें नित्य नयी उगने

लगती हैं। इसप्रकार जब रजोगुण की आँधी बहने लगती है, तब मनुष्यरूपी शाखाओंका समुदाय बढ़कर मनुष्यलोक पैदा होता है।

और रजोगुणरूपी वायु बंद होकर जब तमोगुणरूपी वायु जोरसे बहने लगती है, तब इस मनुष्यरूपी शाखाओं को बुरी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और उनसे कुकर्म की टहनियाँ फूटती हैं। फिर कुमार्ग की सरल और प्रबल डालें निकल आती हैं और उनसे प्रमादरूपी टहनियाँ और पत्ते उगते हैं। ॥१६१-६५ ॥ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ने जो नियम और निषेध कहे हैं, उनकी डालों के सिरों पर पत्तियाँ पैदा होती हैं। जिनमें जारणमारणादि मंत्रक्रिया कही गयी है उन आगमरूपी पत्तों को अंकुर उगने पर उससे वासनारूपी बेल फैलती है। फिर कुकर्म की जडें जैसे जैसे बढ़ती जाती हैं वैसे वैसे जन्मरूपी टहनियाँ फूट आती हैं। फिर उस वृक्ष के चांडालादि नीच योनियों की लकीर निकल आती है और कुकर्म से भ्रांत हुए उन कर्मभ्रष्टों को उन योनियों में जन्म लेना पड़ता है। जानवर, पंछी, सूअर, शेर, बिच्छू, साँप इस प्रकार की तिरछी टहनियाँ बहुत उगती हैं। ॥१६६-७० ॥ इस तरह इस वृक्ष के सारे शरीर पर नित्य नयी शाखाएँ आती रहती हैं और वे नरकभोग के फलों से लद जाती हैं। फिर विषयों के साथ साथ हिंसा आती है और उससे कुकर्म की ओर जो डाल लगती है, उसके सिर पर वैसे ही अंकुर उग कर बढ़ते हैं। इस प्रकार पेड़, घास, लोहा, मिट्टी और पत्थररूपी टहनियाँ उत्पन्न होती हैं और उनको वैसे ही फल आते हैं। हे अर्जुन, ध्यान में रखो कि मनुष्य से स्थावर तक सब शाखाओं की वृद्धि नीचे होती है। इसलिये मनुष्यरूपी शाखा नीचे जानेवाली शाखाओं का मूल होकर उससे यह संसारवृक्ष बढ़ने लगता है। ॥१७१-७५ ॥ इसीतरह हे पार्थ, यदि हम ऊपर जानेवाली शाखाओं के मूल देखने लगे तो ऊपर और नीचे जानेवाली शाखाओं के बीचोंबीच जो शाखा होती है वह यही है। तमोगुण और सत्त्वगुण रूपी कुकर्म और सत्कर्म से भरी हुई शाखाएँ इस मँझली शाखा से ही ऊपर और नीचे जाती हैं। हे अर्जुन, वेदत्रयरूपी पत्ते अन्य किसीको नहीं लागू होते और मनुष्य के सिवाय उनके विधानों के लिये दूसरा विषय नहीं है। इसलिये मनुष्यरूपी शाखा यदि ऊपरकी जड से बढ़ गयी तो भी कर्म करने की जो बुद्धि है वह उससे पैदा होती है। और दूसरे पेड़ों का यही तरीक़ा है कि शाखाएँ बढ़नेपर

उनकी जड़ें गहरी होती हैं और जड़ें गहरी होनेपर शाखाएँ फैल जाती हैं। ॥१७६-८० ॥

यही शरीर की बात है। जबतक कर्म है, तबतक देह और संसार है और जबतक देह है तबतक कर्म को ना नहीं कह सकते। इसलिये यह मनुष्यदेह कर्मरूपी शाखा का फल होता है और उसका सिलसिला नहीं टूटता, ऐसा वे जगत्पिता श्रीकृष्ण बोले। फिर उन्होंने कहा कि तमोगुण की वह आँधी शांत होनेपर सत्त्वगुण की आँधी जोर से शुरू होती है। तब इस मनष्यरूपी जड़ को सद्वासनारूपी अंकुर उगते हैं और उनसे सुकृतरूपी कल्ले उत्पन्न होते हैं। फिर ज्ञान फैल जाने पर उससे तीक्ष्ण बुद्धि के अंकुर उगते हैं और एक निमिष में उनका विस्तार होता है। ॥१८१-८५ ॥ फिर बुद्धिरूपी सरल टहनी का विस्तार होता है, उसमें आत्मप्रेरणा का बल आता है और बुद्धि को विवेक सूझता है। उस स्थान पर मेधारस से भरी हुई निष्ठारूपी सुहावनी पत्तियाँ निकल आती हैं और उनसे सद्वृत्ति के सरल अंकुर पैदा होते हैं। उनमें से सदाचाररूपी बहुत छोर निकल कर उनसे चारों ओर वेदघोष, सभ्य व्यवहार, वेदोक्त आचरण और विविध प्रकार के यज्ञकर्म ऐसे पत्तोंपर पत्ते निकल आते हैं। इस प्रकार यमदमरूपी घौदवाले तप की शाखाएँ और वैराग्यरूपी सुंदर कोमल टहनियाँ उगती हैं। ॥१८६-९० ॥ विशेष प्रकार के व्रतों की टहनियाँ धीरज के तीक्ष्ण अंकुर से निकलकर वेग से ऊपर जाती हैं। जबतक सत्त्वरूप आँधी रहती है तबतक वेदों की घनी कोपलें उगकर उससे सुविद्या का जोश बढ़ता है। फिर धर्मरूपी एक सरल टहनी फैल जाती है और उससे स्वर्गादि फलों की तिरछी टहनी उगती है।

दूसरी वैराग्यरूपी लाल टहनी उगकर उसको मोक्षरूपी नित्य नयी कोंपलें पैदा होकर वे फैल जाती हैं। आगे रवि, चंद्र इत्यादि ग्रह, पितर, ऋषि और विद्याधर जैसी तिरछी टहनियाँ आती हैं। ॥१९१-९५ ॥इन टहनियों से भी दूसरी टहनियाँ उगकर वे इंद्रलोक जैसे बहुत फलों से लद जाती हैं। फिर उन डालों पर तप और ज्ञान में श्रेष्ठ मरीचि, कश्यप इत्यादि दूसरी ऊँची टहनियाँ आती हैं। इस प्रकार टहनियों की कतार लगनेपर वे ऊपर फैल जाती हैं। फलों से लदा हुआ यह वृक्ष

तले में छोटा और छोरपर बड़ा हुआ है । उसके ऊपर भी दूसरी टहनियाँ आती हैं, और, हे अर्जुन, ब्रह्मलोक और कैलास ऐसे अंकुर निकलते हैं और फलों के बोझ से डालें झुककर जडों को छूती हैं । ॥१९६-२०० ॥ अन्य साधारण पेड़ भी फलों से लद कर नीचे झुक कर तले को लगते हैं । वैसे ही, हे अर्जुन, यह संसार वृक्ष जिस जड़से पैदा हुआ है, ज्ञान की वृद्धि होनेपर उस जड़से सटा हुआ होता है ।

इसलिये ब्रह्मा और शिव इनके परे जीव नहीं जा सकता, क्योंकि वहाँ से ऊपर ब्रह्म ही होता है । लेकिन ये ब्रह्मादिक शाखाएँ संसारवृक्ष की बराबरी नहीं कर सकती । और निवृत्ति मार्गपर जो सनकादिक शाखाएँ हैं वे निष्फल और निर्मूल होकर ब्रह्मरूप होती हैं ॥२०१-०५ ॥ इस प्रकार मनुष्यरूप शाखासे जो ब्रह्मलोकादिरूप की डालें हैं वे बहुत ऊंची गयी हैं । हे पार्थ, वे मनुष्यरूपी शाखा से ही उत्पन्न हुई हैं, इसलिये ये नीचे की शाखाएँ उनकी जड़ें हैं । इस प्रकार जो ऊर्ध्वमूल हैं और जिस के ऊपर और नीचे शाखाएँ निकल आई हैं उस अलौकिक संसारवृक्ष का मैंने वर्णन किया । इस तरह इस वृक्ष की जो नीचे की जड़ें हैं उनका मैंने विस्तार के साथ विवेचन किया । अब इस वृक्ष को कैसे उखाड़ सकते हैं, वह सुनो ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते । नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेण छित्त्वा ॥३ ॥

लेकिन, हे पार्थ, तुम्हारे मन में ऐसा संदेह होगा कि इतने प्रचंड वृक्ष को कैसे उखाड़ सकते हैं ? ॥२०६-१० ॥ क्योंकि जिसके ऊपरकी शाखाएँ ब्रह्मलोक तक पहुँची हुई हैं और जिसका मूल ऊपर निराकार ब्रह्म में है, जिसकी नीचे की शाखाएँ स्थावर के तल में फैली हुई हैं, जिसके बीच में मृत्युलोक बसा हुआ है, उस विस्तृत और प्रबल वृक्ष को कौन नाश करेगा ऐसा क्षुद्र खयाल तुम मत करो । देखो, इस वृक्ष को उखाड़ देने में क्या श्रम होते हैं ? बालक को दिखाये हुए हौवे को निकाल देने के लिये क्या उसको दूसरे ग्राम को भेजना पड़ता है ? बादल में जो किले दिखाई देते हैं उनको क्या ढ़हाना पड़ता है ? वैसे ही क्या खरगोश का सींग तोड़ना पड़ता है ? आसमान में अगर फूल आया तो क्या उसको तोड़ना संभव है ? ॥२११-१५ ॥ उसी तरह हे अर्जुन, यह संसार वृक्ष सच्चा नहीं है । उसको

उखाड़ देने में क्या साहस लगता है ? मैंने जो इस वृक्ष की जड़ें और शाखाएँ कहीं, वे 'बाँझ के बहुत संतानें हुईं ' इस कथनके समान है । क्या स्वप्न में किये भाषण का जाग्रति में कुछ प्रयोजन होता है ? वैसे ही इस वृक्ष की कहानी बेकार है ।

लेकिन मैंने जैसे वर्णन किया है वैसे इस वृक्ष की जडें मजबूत होतीं और उसका वास्तव में विस्तार हुआ होता तो किस माता का पूत जन्मा है जो उसको उखाड़ सकता है ? ॥२१६-२० ॥हे धनंजय, जैसे कछुवी के घी से व्यंजन बना कर राजा को खिलाया, उसी तरह वृक्ष के रूपक से संसार का जो वर्णन किया, वह सारी माया है । अरे, मृगजल के तालाब दूर से ही देखने लायक होते हैं । क्या उसके जल में धान या केले के पेड़ लगा सकते हो ? पहले जहाँ अज्ञान ही मिथ्या है, वहाँ उससे बना हुआ कार्य और क्या हो सकता है ? इसलिये वास्तव में यह संसार वृक्ष मिथ्या है । और इस वृक्ष को अंत नहीं ऐसा जो कहा जाता है वह भी एक प्रकार से सही है । जबतक व्यक्ति जाग नहीं उठता, तबतक क्या निद्रा का अंत होता है ? और जब तक रात समाप्त नहीं होगी, तबतक तड़का कैसे होगा ? ॥२२१-२५ ॥ वैसे ही, हे पार्थ, जब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तबतक इस संसाररूपी अश्वत्थवृक्ष का अंत नहीं होता । जबतक वायु बहने से रुक नहीं जाती, तबतक समुद्र में लहरों का अंत नहीं होता ।

जैसे सूर्यास्त होनेपर मृगजल का आभास बंद होता है, किंवा दीपक बुझ जानेपर रोशनी ग़ायब होती है, वैसे इस संसार वृक्ष की जड़ जो अज्ञान है वह ज्ञान के उदय के बिना नष्ट नहीं होता । उसको जो अनादि कहते हैं वे उसपर दोष नहीं लगाते हैं, उनका कहना उस के लक्षण के अनुरूप है । ॥२२६-३० ॥ क्योंकि अगर संसारवृक्ष सच्चा नहीं है, तो उसका आरंभ कैसा होगा ? जो सचमुच कहीं से पैदा होता है उसका आदि है यह कहा जा सकता है । अब जो नहीं है, उसका आदि कैसे होगा ? जो जन्माही नहीं, उसकी माता के बारे में कैसे कहें ? इसलिये उसका अस्तित्व न होने से वह अनादि कहा जाता है, यही सही है । बाँझ के बेटे की जन्मकुंडली कैसे बनेगी ? वैसे ही आसमान का निजी रंग नीला है ऐसी कौन कल्पना करेगा ? हे अर्जुन, गगनपुष्प का डण्ठल क्या कोई काट सकता है ?

इसलिये जो संसार वृक्ष विद्यमान नहीं, उसका आरंभ कैसे होगा? ॥२३१-३५ ॥मिट्टी का घट बनाने के पहले उसका अस्तित्व नहीं होता। उसी तरह यह समूचा वृक्ष अनादि है ऐसा जानो। इसलिये हे अर्जुन, इस वृक्ष को आदि और अंत नहीं है और इन दोनों में बीच की स्थिति का जो आभास होता है वह भी मिथ्या है।

मृगजल जैसे ब्रह्मगिरि से निकलकर समुद्र को जाकर नहीं मिलता और बीच में जो उसका आभास होता है वह भी व्यर्थ है, उसी प्रकार इसको कोई, आदि नहीं है न कोई अंत और यह किसी भी हालत में सच्चा नहीं है। मगर कैसा आश्चर्य है कि यह मिथ्या होकर भी सच सा महसूस होता है ! इंद्रधनु जैसे रंग से भरा हुआ दिखाई देता है, वैसे ही यह संसारवृक्ष नासमझ को सुहावना सा लगता है ॥२३६-४० ॥ इस प्रकार वह बीच में आभास पैदा करता है और अज्ञोंकी आँखों पर पर्दा डालता है, जैसे बहुरुपिया अपने स्वाँगों से लोगों का मन बहलाता है। और आसमान रंगविरहित होते हुए भी वह नीला है ऐसा आभास होता है। फिर वह रंग क्षण में दिखाई देता है और क्षण में ग़ायब होता है। अगर स्वप्न की खोटी चीजें सच्ची मानें तो क्या उनसे निर्वाह हो सकता है? उसी तरह यह जगदाभास क्षणिक और रीता होता है।

वह देखने में सच्चा सा महसूस होता है फिर उसको पकड़ने गये तो वह हाथ नहीं लगता, जैसे कि बंदर जल में अपनी परछाई देखता है, मगर उसको वह पकड़ नहीं सकता। इस संसारवृक्षका होना और जाना इतना जल्द होता है कि वह एकसाथ आनेवाली लहरों को या चमकती हुई विद्युत् को भी परास्त कर देता है। ॥२४१-४५ ॥ गरमी में आखिरी वायु सामनेसे आती है या पीछे से यह जैसे मालूम नहीं होता, वैसी ही हालत इस असत् संसारवृक्ष की है। इस प्रकार जिसको आदि, अन्त, स्थिति और रूप नहीं है, उस वृक्षको उखाड़ने के लिये क्या कूंथना पड़ता है? हे अर्जुन, अपने स्वरूप के अज्ञान से यह वृक्ष बढ़ गया था न? तो फिर इसको आत्मज्ञान के शस्त्र से काट देना होगा। इसको काटने के लिये ज्ञान के सिवाय जो उपाय तुम करोगे, उससे तुम इस वृक्ष में फँस जाओगे और उसकी शाखाओं पर ऊपर नीचे आया जाया करोगे। इसलिये इसकी जड़ जो अज्ञान है उसको सही

ज्ञानसे नष्ट करो। ॥२४६-५० ॥ नहीं तो रज्जु पर भासमान साँप मारने के लिये कोई लाठियाँ बटोरने लगेगा तो उसका वह श्रम व्यर्थ होगा। अथवा जिस तरह मृगजल की नदी पार करने के लिये दौड़धूप करनेवाला बन में नाले में गिर कर डूब जाता है, उसी तरह, हे वीरश्रेष्ठ, इस असत् संसार के नाश के लिये उपाय करनेवाला आत्मज्ञान से वंचित होता है और संसार सत्य है यह उसकी सनक बढ़ जाती है।

हे धनंजय, जैसे स्वप्न के घाव को जाग्रति ही दवा होती है, वैसे अज्ञान से उत्पन्न हुए संसारवृक्ष को काटने के लिये ज्ञान का ही खड्ग चाहिये। परंतु वह ज्ञानखड्ग सहज चलाने के लिये बुद्धि को वैराग्य की सहायता आवश्यक होती है। ॥२५१-५५ ॥ वैराग्य दृढ होनेपर वह धर्म, अर्थ और काम के परे जाता है, जैसे कुत्ता कै करके चला जाता है। हे अर्जुन, प्रत्येक वस्तु के बारे में जब घृणा पैदा होती है, तभी वह वैराग्य प्रबल होता है। फिर देह की अहंतारूपी म्यान से यह खड्ग एकदम निकाल कर उसे अंतर्मुखी बुद्धिरूपी हाथ में लो। फिर वह खड्ग विवेकरूपी सान देकर आत्मबोध से तीक्ष्ण करो। फिर उस खड्ग को निश्चयरूपी मुट्ठी में लेकर एक दो बार आजमा कर मनन से उसको परख लो। ॥२५६-६० ॥ फिर निदिध्यासन से उस खड्ग से एकरूप होने पर उसके सामने कुछ भी टिक नहीं सकता। वह आत्मज्ञान का खड्ग अद्वैत प्रभा की रोशनी से संसारवृक्ष को कहीं भी रहने नहीं देगा। जिस तरह शरद ऋतु के आरंभ में वायु आसमान का कचरा झाड़ देती है किंवा सूर्योदय होने पर सब अंधेरा मिट जाता है, अथवा जाग्रति में स्वप्न का ऊधम समाप्त होता है, उसी तरह ज्ञानखड्ग की पैनी धार अपना कार्य करती है। फिर जैसे ज्योत्स्ना आनेपर मृगजल अदृश्य हो जाता है, वैसेही संसारवृक्ष के ऊपर और नीचे की जड़ें और नीचे बढ़ा हुआ शाखाओं का विस्तार ग़ायब हो जाता है ॥२६१-६५ ॥ इस प्रकार, हे वीरश्रेष्ठ, तुम आत्मज्ञान के खड्ग से इस ऊर्ध्वमूल अश्वत्थवृक्ष को काट दो।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं, यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४ ॥

फिर 'यही वह' ऐसा हम जिसका निर्देश नहीं कर सकते, और जिसकी प्राप्ति होनेपर अहंता मिट जाती है, ऐसा जो आत्मस्वरूप है, उस रूप को देखो। लेकिन मूर्ख जैसे आईने में अपना एकही रूप दो है ऐसा देखता है, वैसा तुम मत करो। हे अर्जुन, अपना रूप ऐसा देखना चाहिये कि जैसे कुआँ बंद करने पर उसमें सोते का पानी अपने उद्गम में सही सलामत रहे, किंवा जल सूख जानेपर प्रतिबिंब मुख्य बिंब में, या घट फूटने पर उसमें विद्यमान अवकाश आकाश में ॥२६६-७० ॥ अथवा ईंधन समाप्त होनेपर अग्नि निजी स्वरूप में विलय पाती है, वैसे ही, हे अर्जुन, तुम्हें अपना स्वरूप देखना चाहिये। जिस तरह जिह्वा अपना स्वाद, या आँख अपनी पुतली देखती है, वैसेही अपना स्वरूप निहारना चाहिये। प्रभा जैसे प्रभा से मिल जाती है, आकाश आकाश में लौट जाता है, अथवा जल जैसे जल में समा जाता है, वैसे ही अद्वैत दृष्टि से अपना स्वरूप देखना पड़ता है, यह मैं निश्चय से कहता हूँ। बिना देखे जो देखा जाता है, बिना जाने जो जाना जाता है ऐसा जो आद्य स्थान है उस को 'आदिपुरुष' कहते हैं। ॥२७१-७५ ॥

उपाधि का आसरा लेकर उसी का वेद वर्णन करते हैं और उस को नाम और रूप हैं ऐसा निरर्थक बोलबाला होता है। लेकिन स्वर्ग और संसार से जो ऊब गये हैं वे पुनर्जन्म न पाने की प्रतिज्ञा कर के योग और ज्ञान की ओर मुड़ते हैं। फिर वे विरक्त होकर बीड़ा उठाकर संसार से मुँह मोड़ लेते हैं और कर्ममार्ग से प्राप्त होने वाली जो अंतिम मंज़िल ब्रह्मलोक, उसको लाँघकर आगे बढ़ते हैं। बाद में वे ज्ञानी अहंकारादि भावों को त्यागकर निजधाम को जाने के लिये प्रवेशपत्रिका प्राप्त करते हैं। हे पार्थ, उस निज धाम से जो इस विश्व का सिलसिला बढ़ा है, वह अभागे की आशा की तरह निरर्थक है। ॥२७६-८० ॥ जिस आत्मस्वरूप के अज्ञान से इस संसार के विस्तार का आभास होता है और 'मैं, मेरा और तू, तेरा' ऐसा द्वैतभाव बना रहता है, उस आत्मस्वरूप को स्वयं देखना चाहिये, जैसे कि बर्फ़ से बर्फ़ को जमाना पड़ता है। हे धनंजय, उसकी पहचान के लिये और एक चिह्न है। उस स्वरूप से भेंट होने पर वहाँ से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। जैसे महाप्रलय के काल में सब जगत् जल से लबालब भर जाता है, वैसेही जो ज्ञान से पूरी तरह संपन्न हुए हैं, ऐसे लोग उस स्वरूप को जाकर मिलते हैं।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५ ॥

वर्षा के अंत में जैसे बादल आसमान से निकल जाते हैं, वैसे इन पुरुषों को मोह और अभिमान छोड़ जाते हैं । ॥२८१-८५ ॥ निर्धन और निर्दयी आदमी से जैसे रिश्तेदार तंग आकर चले जाते हैं, वैसे वे विकारों के चँगुल में नहीं फँसते । केले के पेड़ को पौधा उगनेपर जैसा वह मूल से उखड़ जाता है, वैसे आत्मप्राप्ति से उनकी क्रियाएँ धीरे धीरे बंद पड़ती हैं । पेड़ को आग लगनेपर जैसे पंछी तितर बितर होकर उड़ जाते हैं, वैसे सब विकल्प उनको छोड़कर जाते हैं । उनमें भेदबुद्धि का नामोनिशान भी नहीं रहता । सूर्योदय होते ही जैसे रात अपने आप चली जाती है वैसे उनका देहाभिमान अज्ञान के साथ मिट जाता है ॥२८६-९० ॥ जैसे आयुहीन आदमी को शरीर अचानक छोड़ जाता है, वैसेही मोह में डालनेवाला द्वैतभाव उनको छोड़ जाता है ।

पारसमणि को जैसे लोहा दुर्लभ है, या सूरज की अंधकार से भेंट नहीं होती, वैसे उनमें द्वैतभाव का अभाव होता है । इस काया को जो सुखदुःख का द्वंद्व महसूस होता है, वह उनके पास नहीं आता । जिस प्रकार स्वप्न में प्राप्त हुआ राज्य या आई हुई मौत से जाग्रति में हर्ष या शोक नहीं होता, वा गरुड के सामने साँप नहीं आता उसी तरह पाप और पुण्य पैदा करनेवाला सुखदुःखरूपी द्वंद्व उनपर असर नहीं करता । ॥२९१-९५ ॥ अनात्मवस्तुरूपी जल छोड़कर आत्मरूपी दूध सेवन करनेवाले वे विचार करनेवाले राजहंस हैं । जैसे सूरज धरती पर वर्षा कर के उसीको अपनी किरणों से सोख लेता है, वैसे ही अज्ञान के कारण आत्मवस्तु का जो सर्वत्र फैला हुआ आभास होता था, वह ज्ञानदृष्टि पानेपर आत्मस्वरूप में समा जाता है । आत्मा के विषय में उसका विचार निश्चित होता है, जैसे गंगा का प्रवाह समुद्र से एकरूप होता है । आसमान जैसे एक ओर से दूसरी ओर नहीं जा सकता वैसे ही आत्मरूप होनेपर वह ज्ञानी पुरुष किसी की इच्छा नहीं करता । ॥२९६-३०० ॥ जैसे अग्नि के पहाड़पर बोया हुआ बीज नहीं उगता, वैसेही उसके मन में कोई भी विकार नहीं आते । समुद्रमंथन के बाद जब मंदराचल को निकाला तब वह जैसे अचल रहा, वैसे ज्ञानी के मन में काम की लहरें नहीं आतीं । जिस तरह चाँद सोलह

कलाओं से पूर्ण होनेपर किसी भी तरफ कम नहीं दिखाई देता, उसीतरह उसको आशा की पीड़ा नहीं होती। ऐसी कितनी निरुपम बातें तुम्हें कहूँ? जैसे वायु के सामने पृथ्वी के धूल के कण नहीं टिकते, वैसे विषय उसके सामने स्थिर नहीं रहते। इस प्रकार जिन्होंने ज्ञानाग्नि में सब विषयों का हवन किया है, वे खरे सुवर्ण में खरे सुवर्ण के समान 'वहाँ' जाकर मिलते हैं। ॥३०१-३०५॥ यदि तुम पूछोगे कि वे किस धाम को पहुँचते हैं, तो मैं कहूँगा कि वही धाम जो कभी नष्ट नहीं होता, लेकिन वह ऐसी वस्तु नहीं है जो देखने से दिखाई देता है, जानने से जाना जाता है, या जिस को अमुक वस्तु है ऐसा हम कह सकते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

लेकिन दीपकी रोशनी में, चाँद की प्रभा में, सूरज के प्रकाश में जब सब वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, तब वह धाम दिखाई नहीं देता। उसके अज्ञान से ही विश्वका आभास होता है। जैसे जैसे सीपी का ज्ञान कम हो जाता है, वैसे वैसे उस पर रजत का आभास सच्चा महसूस होता है। ॥३०६-१०॥ जिस वस्तु की रोशनी ढँक जानेपर चंद्रसूर्य इत्यादि अपने प्रखर तेज से प्रकाश देते हैं, वह आत्मवस्तु अतीव तेजोमय और सर्वव्यापक होकर सूरज और चाँद को भी प्रकाश देती है। इसलिये उनका प्रकाश इस आत्मा की प्रकाश की परछाई सी लगती है। क्योंकि इस आत्मवस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि वह प्रकाशमय पदार्थों को उजाला देता है। और इस वस्तु की रोशनी में चंद्रसूर्य के साथ सब दुनिया का विलय हो जाता है। जिस तरह सूर्योदय होनेपर चाँद और सितारे ग़ायब हो जाते हैं, किंवा जाग्रति में स्वप्न का आडंबर मिट जाता है, अथवा शाम होते ही मृगजल अपने आप लुप्त होता है, ॥३११-१५॥ उसी तरह जिस वस्तु में कुछ आभास नहीं होता वही मेरा मुख्य धाम है। उस धाम को जो पहुँच जाते हैं वे सागर में विलीन हुए जलप्रवाह के समान वापस नहीं आते। जिस तरह नमक से बनी हुई हथिनी समुद्र में डूबने पर लौट नहीं आ सकती किंवा आसमान में गयी हुई अग्नि की ज्वाला वापस नहीं आती अथवा तपे हुए लोहेपर डाला हुआ पानी सूख जाता है, वैसेही शुद्ध ज्ञान से जो मद्रूप होते हैं वे फिर जन्म नहीं लेते। ॥३१६-२०॥

तब बुद्धिरूपी धरतीका राजा अर्जुन बोला, प्रभो यह आपकी मुझपर कृपा है। लेकिन मेरी एक प्रार्थना है, वह भी ध्यान से सुनिये। तो जो भगवान् से मिलकर वापस नहीं आते वे क्या पहले भगवान् से भिन्न थे या वे उससे एकरूप थे ? यदि वे अनादिसिद्ध भिन्न थे तो वे लौट कर नहीं आते, यह बात बेतुकी लगती है। फूलों में जो भौंरे मकरंद खाने जाते हैं वे क्या फूल बनते हैं ? वैसे ही निशाने पर छोड़े हुए बाण लक्ष्य भेदकर नीचे गिरते हैं अर्थात् वापस आते हैं। नहीं तो, अगर वास्तव में वे आपही हैं तो कौन किससे मिलता है ? क्योंकि शस्त्र अपने आपको कैसे छेद सकता है ? ॥३२१-२५॥ इसलिये भगवन् आपसे जीव भिन्न है, अन्यथा हम कैसे कह सकते हैं कि उनका आप से संयोग या वियोग होता है ? जैसे अवयव और शरीर अलग होते हैं ऐसे नहीं कह सकते वैसे भले जो तुम से अलग हैं वे कभी आपसे एकरूप नहीं होंगे। फिर वे वापस आते हैं या नहीं यह बात भी क्या व्यर्थ नहीं होती ? हे विश्वतोमुख, आपके स्वरूप में मिल जानेपर वे कैसे वापस नहीं आते यह मुझको समझा दीजिये।

यह अर्जुन का संदेह सुनकर सर्वज्ञों के चूड़ामणि श्रीकृष्णने जान लिया कि उसको पूर्ण बोध हुआ है और वे सन्तुष्ट हुए। फिर भगवान् ने कहा कि मद्रूप होनेपर जो वापस नहीं आते उनमें भिन्न और अभिन्न दोनों प्रकार के लोग हैं ॥३२६-३०॥ विचार करनेपर मालूम होता है कि हम दोनों एकरूप हैं और ऊपरी तौरपर विचार करें तो वे अलग हैं ऐसा समझ में आता है। जिस तरह पानी हिलने पर उसपर आनेवाली लहरें उससे अलग महसूस होती हैं, लेकिन वे सिर्फ पानी ही होती हैं किंवा सोने का गहना उससे भिन्न दिखाई देता है, मगर ध्यान से देखें तो वह सोना ही जान पड़ता है, उसी तरह, हे किरीटी, ज्ञानदृष्टि से देखनेपर वे मद्रूप हैं ऐसा मालूम होता है, फिर वे अलग हैं ऐसा जो महसूस होता है, वह अज्ञान से ही होता है। और सच में आत्मवस्तु पर विचार किया, तो मुझ अकेले में भिन्न और अभिन्न ऐसे व्यवहार कैसे होंगे ? ॥३३१-३५॥ जब सूर्यमंडल ने सब आसमान व्याप्त किया तो उसकी परछाईं कहाँ उठेगी और उसकी किरनें कहाँ जायेंगी ? किंवा हे धनंजय, कल्पान्त में सब जलमय होनेपर क्या पानी को ज्वार-भाटा आता है ? इसलिये विकार रहित मुझ अकेले में खंड कैसे पड़ेंगे ?

परंतु प्रवाह के कारण पानी सरल होनेपर भी टेढ़ा दिखाई देता है, अथवा जल में सूरज का प्रतिबिंब पड़ते ही उसमें द्वैतभाव आता है । भला आसमान चोकोर या गोल कैसे कहा जा सकता हैं ? लेकिन वही घट मठ से संबद्ध होकर वैसा दिखाई देता है । सपने में जब आदमी राजा बनता है, तब निद्रा में वह स्वयं स्वप्न की दुनिया बनता है । ॥३३५-४० ॥ सोलह कस के शुद्ध सुवर्ण में हीनधातु मिला दिया तो उसके कस भिन्न होते हैं, वैसे ही मैं शुद्ध होकर भी मेरी माया की उपाधि से जीव और ईश्वर ऐसे भेद पैदा होते हैं । उस समय अज्ञान चारों ओर बढ़ता है और आदमी 'मैं कौन हूँ ' ऐसे विकल्प में फँस जाता है । फिर सोचविचार से वह निश्चय करता है कि मैं देह हूँ ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७ ॥

इस प्रकार आत्मा का ज्ञान केवल शरीर में ही सीमित रहता है, तब तनिक भास होनेसे वह मेरा अंश है, ऐसा आभास होता है । वायु से समुद्र पर लहर उत्पन्न हुई तो वह समुद्र का अंश है ऐसा महसूस होता है । वैसे ही हे पांडुपुत्र, इस मृत्युलोक में इस अचेतन शरीर को चेतना देनेवाला और उसमें अहंकार उत्पन्न करनेवाला ही जीवके रूप से भासमान होता है । ॥३४१-४५ ॥ जीव की बुद्धि को जो दृष्टिगोचर होता है, उसको जीवलोक ऐसा नाम है । अरे, जिसमें जन्म और मृत्यु सच माने जाते हैं उसको मैं जीवलोक याने संसार कहता हूँ । जैसा चाँद पानी से अलग होकर भी पानी में प्रतिबिंबित होता है, वैसे मैं इस जीवलोक में हूँ, ऐसा समझो । जैसे स्फटिक का टुकड़ा कुंकुम पर रखने से लाल दिखाई देता है, परंतु वह लाल नहीं होता, वैसे ही मेरा अनादिपन और अकर्तापन भंग नहीं होता । तथापि मैं कर्ता और भोक्ता हूँ ऐसा जो महसूस होता है, वह सिर्फ भ्रममूलक है ऐसा समझो । ॥३४६-५० ॥ यह शुद्ध आत्मा प्रकृति से संयोग पाकर उसके धर्मों का अपने ऊपर अध्यारोप करता है ।

फिर प्रकृति से पैदा हुई पाँच इंद्रियाँ मेरी हैं ऐसा समझ कर मनुष्य उनके व्यवहार में फँस जाता है । जैसे संन्यासी आपही परिवार बनकर उसके मोह से

दौड़धूप करता है, वैसे जीवात्मा अपना स्वरूप भूलकर अपने को प्रकृति के समान मानता है और उसकी सेवा करता है। फिर वह मनरूपी रथ पर चढ़ता है, और श्रवणेंद्रियों के द्वारा बाहर निकलकर शब्दों के बन में प्रवेश करता है। ॥३५१-५५॥ वही प्रकृति का आसरा लेकर त्वचा के द्वारा स्पर्श के घने अरण्य में जाता है। किसी समय पर नेत्रों के द्वारा बाहर निकलकर रूप के पहाड़ पर वह मनमौजी फिरता है। अथवा हे वीरश्रेष्ठ, जिह्वाके द्वारा निकलकर रस की घाटी में घूमता है। अथवा, यह मेरा अंश नाक के द्वारा बाहर निकलकर गंध के भयानक जंगल में मारा मारा फिरता है। इस प्रकार यह जीव देह और इंद्रियों में जो मुख्य मन है उसकी सहायता लेकर शब्दादि विषयों का उपभोग करता है। ॥३५६-६०॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

जब यह जीव किसी शरीर में प्रवेश करता है, तब वह मैं कर्ता और भोक्ता हूँ ऐसा महसूस करता है। जिसतरह, हे अर्जुन, कोई धनवान और विषयासक्त पुरुष तभी पहचाना जाता है, जब वह राजधानी में रहने के लिये आता है, वैसे ही जब जीव देह धारण करता है तब उस का अहंकार बढ़ जाता है और विषय और इंद्रियों का ऊधम मुच जाता है। अथवा जब वह शरीर का त्याग करता है तब वह साथ देनेवाली इंद्रियों का काफिला ले जाता है। जिस तरह अतिथि का अपमान करने पर वह हमारा पुण्य ले जाता है, रस्सी न होनेपर कठपुतलियों की हलचल थम जाती है, ॥३६१-६५॥ या सूर्य अस्त होनेपर लोगोंकी दृष्टि भी उसके साथ चली जाती है, उसी तरह, हे धनंजय, जब जीव शरीर को छोड़ जाता है, तब वह पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और छठा मन अपने साथ ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

इस लोक में या स्वर्गलोक में जहाँ जीव देहधारण करता है, तब मन और पाँच इंद्रियाँ उसको वश करती हैं। हे अर्जुन, जैसे दीपक बुझने पर अपनी रोशनी के साथ मिट जाता है, फिर उसको सुलगाने से रोशनी के साथ प्रकट होता है, वैसे ही हे अर्जुन, वही प्रकार अज्ञ की दृष्टि में जीव और शरीर के संबंध में होता है। ॥३६६-७०॥ आत्मा इस शरीर में आयी और विषयों का उपभोग करके शरीर

के साथ चली गयी यही सत्य है, ऐसा लोग मानते हैं । योंही जन्म लेना और मरना, किंवा करना और भोगना ये प्रकृति के धर्म हैं, परंतु वे आत्मा के धर्म हैं ऐसा माना जाता है ।

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११ ॥

इस छोटे से शरीर में जब चेतना आने पर हलचल होती है, तब उसने जन्म लिया है ऐसा कहते हैं । हे अर्जुन इस जीव के सम्पर्कमें जब इंद्रियाँ अपने अपने विषय सेवन करती हैं वही उसका उपभोग है । फिर शरीर भोग से जर्जर होकर ग़ायब होता है, तब वह मर गया ऐसा मान कर शोक व्यक्त करते हैं ॥३७१-७५ ॥ पेड जहाँ हिलता है वहीं वायु होती है और जहाँ पेड नहीं हैं वहाँ वायु नहीं होती, क्या ऐसा समझना होगा ? किंवा आईने के सामने आकर उसमें अपना रूप देखकर हम हैं और उसके पहले हम नहीं थे, ऐसा मानना क्या उचित होगा ? अथवा यदि वह आईना एक तरफ हटा दिया और उसमेंसे हमारा प्रतिबिंब नष्ट हुआ तो हम नहीं हैं ऐसा क्या निश्चय करना होगा ? शब्द आकाश का गुण होने पर भी विद्युत् की गडगडाहट बादलों से होती है ऐसा लोग अभियोग लगाते हैं, अथवा बादलों की गति चाँदपर लगाते हैं । उसी तरह देह का जन्मना और मरना ये अवस्थाएँ निर्विकार आत्मा की हैं ऐसे मोहांध लोग निश्चय करते हैं । ॥३७६-८० ॥ इस शरीर में आत्मा अंतर्यामी होकर वह देह के धर्म केवल देखती है ऐसे जाननेवाले लोग अलग हैं । जो ज्ञानदृष्टि से देह को आत्मा की खोल मानकर उसमें लगे नहीं रहते, और ज़िन का विवेक गरमी में प्रखर सूर्यकिरन के समान फैल कर जिनको आत्मस्वरूप का स्फुरण कराते है ऐसे ज्ञानी लोग आत्मा को जानते हैं । जब सितारों से भरा हुआ आसमान का समुद्र में प्रतिबिंब दिखाई देता है तब हमें यक़ीन होता है कि आसमान समुद्र में गिर नहीं पड़ा है, वह जहाँ है वहीं है । फिर पानी में जो दिखता है वह उसका झूठा आभास है । उसी तरह शरीर में जो जीव है वह आत्मा ही है । ॥३८१-८५ ॥ कलकल आवाज से बहनेवाले प्रवाह में यद्यपि चाँद के प्रकाश के

अंश प्रतिबिंबित होकर हिलते हुए देखने में आते तथापि चाँद में वह प्रकाश धीमा होता है, अथवा डबरा भर जानेपर उसमें सूरज की परछाईं देखने में आती है और वह सूख जानेपर अदृश्य होती है, परंतु सूरज जैसा था वैसा ही रहता है, उसी तरह देह आने जानेपर मैं जैसे था वैसा ही हूँ ऐसा ज्ञानी पुरुष जानते हैं । मिट्टी का घट या मठ बनाया, या उसको भंग किया तो भी उसमें का आकाश जैसे था वैसे ही स्थिर रहता है, वैसे ही आत्मतत्त्व अखंड होता है और उसपर अज्ञान से कल्पित देह बनते हैं और लुप्त होते हैं ऐसा ज्ञानी लोग जानते हैं । आत्मा बढ़ती नहीं या घटती नहीं, वह कर्म करती नहीं या करवाती नहीं इस सही ज्ञान से वे मुझ को जानते हैं । ॥३८६-९० ॥और यह ज्ञान प्राप्त होनेपर उनकी बुद्धि इतनी सूक्ष्म होती है कि वह परमाणु की भी जाँच कर सकती है । और वे सब शास्त्रों में पूरे जानकार होनेपर भी अगर उस विद्वत्ताके साथ उनके मन में वैराग्य न हो, तो सर्वव्यापक जो मैं उनको प्राप्त नहीं हूँगा । अंतःकरण में विषयों को स्थान देकर यदि उन्होंने विवेक की मुँह खोलकर बातें की तो भी वे मुझ को निश्चय से नहीं पाते । यदि वे पढ़े हुए ग्रंथ स्वप्न में भी रट सकते हैं तो भी क्या उनके संसार के बंधन टूट सकते हैं ? पोथियाँ सुरक्षित रखने से क्या वे पढ़ी जाती हैं ? अथवा किसी की आँखें बंद करने पर उसके नाक को मोती लगाया, तो क्या वह उसका मूल्य और माप कर सकता है ? ॥३९१-९५ ॥उसी तरह सब शास्त्र उसके कंठस्थ होनेपर भी जब तक उसके मनमें अहंकार होता है, तबतक असंख्य जन्म में भी मैं उसको प्राप्त नहीं हूँगा । अब मैं अकेला सब प्राणिमात्र को कैसे व्यापता हूँ, वह तुम को स्पष्ट बताता हूँ ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२ ॥

जिस प्रकाश से यह विश्व की रचना हम देख सकते हैं, वह प्रकाश सूरज को लेकर मेरा है ऐसा समझो । सूरज से सब जल सोख जानेपर दुनिया को नमी देनेवाली चाँदनी, हे अर्जुन, मेरी ही है । और जलाना और पकाना आदि कार्य करनेवाला जो अग्नि का तेज है वह भी मेरा है ॥ ३९६-४०० ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३ ॥

मैं पृथ्वी में प्रवेश करके उसको आधार देता हूँ और इससे वह मिट्टी की राशि होकर भी समुद्र के अपार पानी में नहीं घुलती । और जिन असंख्य चराचर भूतों को यह पृथ्वी धारण करती है, उनमें भी मैं प्रवेश करके उनको धारण करता हूँ । हे अर्जुन, मैं आकाश में चाँद के रूप में चलनेवाला अमृत का सरोवर हूँ । वहाँ से जो किरनें नीचे फैलती हैं, उनकी अमृत की नहरें बनाकर सब वनस्पतियों का मैं पोषण करता हूँ । इस प्रकार मैं अनाज आदि का पोषण और विपुलता करके अन्न के रूप में सब प्राणियों को जीवन देता हूँ । ॥४०१-०५ ॥ मगर यह पैदा हुआ अन्न पचाकर प्राणिमात्र कैसे संतोष पा सकते हैं ?

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४ ॥

इसलिये हे अर्जुन, मैं प्राणिमात्र के नाभिस्कंध पर अंगीठी जलाकर उसके जठर में अग्नि बना हूँ । प्राण और अपान इनकी धौंकनी रातदिन फूँककर उसके जठर में कितना अन्न खा जाता हूँ इसका हिसाब नहीं । सूखा, चिकना, पका हुआ और कच्चा ऐसे चार प्रकार का अन्न मैं हज़म करता हूँ । इस प्रकार सब प्राणी, अनाज जो उनका जीवन है और जठराग्नि जो इस जीवन का प्रमुख साधन है, मैं ही हूँ । ॥४०६-१० ॥ मेरी व्यापकता कितनी अजीब है यह मैं तुमसे कैसे कहूँ ? अरे, इस दुनिया में मेरे सिवाय और कोई नहीं है, मैं ही सर्वत्र व्याप्त हुआ हूँ । फिर तुम पूछोगे कि इस दुनिया में कोई सदा सुखी, कोई दुःख से पीडित दिखाई देते हैं वह कैसे ? जैसे एकही शहर में एक चिरागसे दूसरे दिये जलाये तो उन में से कुछ प्रकाश देते हैं, कुछ नहीं देते ऐसा कभी हो सकता है ? इस प्रकार की दलीलें तुम करोगे तो मैं तुम्हारा संदेह दूर करता हूँ सुनो । देखो मैं ही सर्वत्र भरा हुआ हूँ, मुझसे अलग कुछ भी नहीं है । लेकिन जैसी लोगों की बुद्धि होती है, वैंसे मैं उनको जँचता हूँ । ॥४११-१५ ॥ जिस तरह ध्वनि आसमान का गुण होते हुए भी भिन्न वाद्यवृंद के अनुसार उसके अलग अलग सूर सुनने में आते हैं, किंवा एकही सूरज उदय पाकर लोगों के भिन्न व्यवहारों को सहायता देता है, अथवा जल समान होते हुए भी उससे बीजों के धर्मानुसार भिन्न पेड़ पैदा होते हैं, उसीतरह अलग अलग प्राणियों में मेरा स्वरूप परिणत हुआ है । जब एक नासमझ और दूसरा सयाना पुरुष दो

कड़ीवाला नीलमणियोंका हार देखते हैं तब वह नासमझ को साँप जैसा महसूस होता है, तो सयाना उसको हार समझकर खुश होता है । स्वाती नक्षत्र का जल सीप में पडतेही उसका मोती बनता है और यदि वह साँपके मुँह में पड़ा तो उसका विष बनता है । उसी तरह ज्ञानी मुझसे सुख और अज्ञ दुःख पाते हैं । ॥४१६-२० ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो । मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो । वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५ ॥

इसीतरह सब प्राणियों के हृदयमें जो मैं अमुक हूँ ऐसी बुद्धि का रातदिन स्फुरण होता है, वह मैं ही हूँ । लेकिन संतों के समागम से, याग और ज्ञान के अध्ययन से और गुरु की वैराग्ययुक्त सेवा करनेसे, ऐसे सदाचरण से उसका अज्ञान नष्ट होता है । उसका अहंभाव आत्मस्वरूप में विलीन होता है । उस समय अपने आप मेरी पहचान पाकर मेरी आत्मतत्त्व की जानकारी से वह तृप्त होता है । ऐसी उसकी हालत होने में मेरे सिवा और क्या कारण हो सकता है ? हे धनंजय, सूर्य उदय होनेपर उसके प्रकाश में ही उसको देखना होता है वैसेही मेरे ज्ञान का कारण मैं ही हूँ । ॥४२१-२५ ॥ इसके बदले जिनका अहंभाव शरीरकी सेवा करने में और संसार की प्रशंसा सुनने में शरीर के साथ बँधा हुआ है, वे स्वर्ग और संसारसुख पाने के लिये कर्ममार्ग का आचरण करते हैं और उसके कारण दुःख के बड़े भागी बनते हैं । लेकिन, हे अर्जुन, यह स्थिति उनको मुझसेही प्राप्त होती है । जैसे जाग्रति में हम जो कुछ देखते हैं वही स्वप्न का कारण होता है, या दिन में घटाएँ आनेपर प्रकाश कम होता है यह भी प्रकाश से महसूस होता है, उसीतरह मेरे विषय में अज्ञान होने से जो विषयों का ध्यान करते हैं वह भी मेरी वजह से होता है । इसप्रकार, हे धनंजय, निद्रा और जाग्रति इनके लिये अज्ञान मूल कारण होता है, वैसेही मैं ज्ञान और अज्ञान का मूल कारण हूँ । ॥४२६-३० ॥ हे धनुर्धर, जैसे रस्सी से सर्प का आभास या यथार्थ ज्ञान होता है, वैसेही मैं ज्ञान और अज्ञानमूलक संसार का कारण हूँ यह सिद्ध होता है । इसलिये हे धनंजय, मेरे अज्ञान से जब वेद मुझे जानने के लिये प्रयत्न करने लगे, तब उनकी शाखाएँ बन गयीं । फिर वे शाखाएँ भिन्न होनेपर भी उनसे मेराही ज्ञान होता है । जिस तरह पूरब और पश्चिम में बहनेवाली नदियाँ समुद्र को जा कर मिलती हैं या गंधयुक्त वायु आकाश में जाकर बंद होती है, उसी

तरह महासिद्धान्त के विषय में श्रुतियों की मति कुंठित होती है और जिसके विषय में वे लज्जित होकर चुप हो जाती हैं वह ब्रह्मस्वरूप मैं ही प्रकट करता हूँ। ॥४३१-३५ ॥ अनंतर जब वेदों के सहित सब विश्व जिसमें विलीन होता है, उस शुद्ध आत्मज्ञान को जाननेवाला मैं ही हूँ। जिसतरह सोया हुआ आदमी जाग्रत होनेपर स्वप्न में भासमान वस्तु भिन्न नहीं थी बल्कि मैं ही वह सब हुआ था ऐसा समझता है, वैसेही इस दुनिया में उपाधिरहित जो मेरा अद्वितीय स्वरूप है उसको मैं जानता हूँ और उसका बोध मैंही करता हूँ। हे अर्जुन, जैसे कपूर जल जानेपर अग्नि और काजल शेष नहीं रहते, वैसे अज्ञान निगलनेवाले ज्ञानका जब विलय होता है, तब वह है या नहीं इसके बारे में कुछ नहीं जाना जा सकता ॥४३६-४० ॥ हे पार्थ, कल्पान्त में जो चोर अपना सुराग़ न छोड़ इस विश्व को ले जाता है, उसको कौन कहाँ खोज सकता है ? उस समय जो कुछ शुद्ध स्वरूप शेष रहता है वह मैं ही हूँ।

इस तरह स्वयं इस अचेत और सचेत जगत् को कैसे व्याप्त कर रहता हूँ यह कहकर मोक्षदाता श्रीकृष्ण ने अंत में अपने उपाधिरहित शुद्ध स्वरूप का वर्णन किया। जिस तरह चंद्रोदय होनेपर उसकी पूरी परछाईं क्षीरसमुद्र में पडती है, उसी तरह श्रीकृष्णका किया हुआ उपदेश अर्जुन के मन में पूरी तरह अंकित हुआ। दीवार रगड़कर जब चिकनी की जाती है, तब उसमें सामने की भीतपर अंकित हुआ चित्र प्रतिबिंबित होता है। उसी तरह वैकुंठनायक श्रीकृष्ण द्वारा किया हुआ बोध अर्जुन के अंतःकरण में मुद्रित हुआ। फिर वह अनुभव रखनेवालों में श्रेष्ठ अर्जुन बोला, यह क्या आश्चर्य है कि जैसे जैसे मैं इस आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ वैसे वैसे मेरी दिलचस्पी बढ़ती है। ॥४४१-४५ ॥ लेकिन हे भगवन्, आप जब अपने व्यापकपन के बारे में कहने लगे थे तब आपने अपने निरुपाधिक स्वरूप का वर्णन किया। उसका वर्णन एक बार पूरी तरह कहिये। तब द्वारकानाथ ने कहा, “तुमने अच्छा सवाल किया है। हे अर्जुन, हमको कहने का शौक है लेकिन क्या करें ? हमको तुम जैसा पूछनेवाला कोई नहीं मिला। अब तुमने मुँह खोलकर यह सवाल पूछा है, इससे मेरा मनोरथ सफल हुआ। यह सवाल पूछकर तुम मुझको अद्वैतानुभव का सुख प्राप्त करा देते हो। ॥४४६-५० ॥ जैसे आईने के पास

जानेपर उसमें अपने सरीखा रूप दिखाई देता है, वैसे तुम मेरे समान निर्मल संवाद में निपुण हो । तुमने जानने के लिये कुछ बात पूछी और मैं तुम्हें किसी तरह समझा दूँ ऐसी तुम्हारी योग्यता नहीं है । यह कहकर भगवानने अर्जुन को गले लगाया और उसकी ओर कृपादृष्टि से देखकर वे जो कुछ बोले, वह मैं आपको बताता हूँ । उन्होंने कहा, जैसे दो होंठ होनेपर भाषण एकही होता है, दो पाँव होनेपर चलना एकही होता है वैसे तुम्हारा पूछना और मेरा कहना एकही है । इस तरह हम दोनों का आशय एकही होना चाहिये, क्योंकि पूछनेवाले तुम और कहनेवाला मैं ऐसे दोनों एकही हैं ॥४५१-५५ ॥ ऐसे कहते कहते भगवान प्यारसे मोहित होकर और अर्जुन को आलिंगन देकर खड़े हो गये । फिर उनको भान हुआ कि इतना प्यार अच्छा नहीं । गन्ने का रस उबालते समय उसमें हीन क्षार नहीं डाला तो जैसे गुड़की भेली खराब होती है, वैसे ही यदि द्वैतभाव बचा नहीं रखा तो हम इस संवादसुख से वंचित रहेंगे । पहलेही यह नर और मैं नारायण होने से हम दोनों में अलगाव नहीं है, इसलिये यह मेरा दिल भर कर आया हुआ प्रेम मुझमें समा जाये । इस विचार से श्रीकृष्ण ने पूछा, हे वीरश्रेष्ठ तुमने मुझे क्या सवाल किया वह मुझे बताओ । यह सुनतेही जो अर्जुन श्रीकृष्ण के रूप में विलीन हो जा रहा था, होश में आया और सवाल का जबाब सुनने को तैयार हुआ । ॥४५६-६० ॥

तब सद्गदित होकर अर्जुन बोला, हे भगवन् आपके निरुपाधिक रूप के बारे में मुझे बताइये । यह कहने के लिये श्रीकृष्ण ने दो प्रकार की उपाधियों का वर्णन किया । फिर निरुपाधिक रूप के बारे में पूछने पर श्रीकृष्ण उपाधियों की बात क्यों करते हैं यह आपको संदेह होगा । देखिये, दूध में से छाछ का अंश अलग किये बिना मक्खन नहीं निकाला जाता, हीन धातु जलाये बिना सुवर्ण शुद्ध नहीं होता, जल में से काई दूर करने पर ही शुद्ध जल शेष रहता है, किंवा घटाएँ ग़ायब होनेपर आकाश रहता है, ॥४६१-६५ ॥ अथवा धान का भूसा निकालने पर चावल के कण प्राप्त करने में क्या कोई दिक्कत होती है ? उसी तरह आत्मस्वरूप की उपाधियाँ निकालने पर वही शुद्ध स्वरूप शेष रहता है यह किसीको कहना नहीं पड़ता । पति का नाम लेनेपर कुलस्त्री चुप रहकर वही अपने पति का नाम है ऐसा सूचित करती है, वैसेही जहाँ मौन पाला जाता है वही अनिर्वचनीय शुद्ध स्वरूप

है। वह स्वरूप कहा नहीं जा सकता यही सूचित करने के लिये लक्ष्मीपति प्रथम उपाधि के बारे में बातें करते हैं। प्रतिपदा की चंद्ररेखा दिखाने के लिये जैसे पेड़ की शाखा का आधार लेना पड़ता है, वैसेही आत्मा का निरुपाधिक स्वरूप कहने के लिये पहले उपाधि की चर्चा करनी पड़ती है। ॥४६६-७० ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६ ॥

फिर श्रीकृष्ण ने कहा, हे सव्यासाची अर्जुन, इस संसाररूपी शहर में बस्ती बहुत कम याने दो पुरुषों की होती है। जैसे आसमान में दिन और रात रहते हैं वैसे इस संसाररूपी राजधानी में ये दोनोंही रहते हैं। और एक तीसरा पुरुष है, मगर वह इन दोनों का नाम भी नहीं लेता। क्योंकि जब वह आता है, तब वह शहरके साथ इन दोनों को निगल जाता है। खैर ! इन बातों को छोड़ो, अब इन दोनों के बारे में सुनो, जो इस संसाररूपी नगर में निवास करने आये हैं ।उनमें से एक अन्धा, पगला और अपाहिज़ है और दूसरा सब अवयवों से परिपूर्ण है। ये दोनों एक गाँव में रहते हैं, इसलिये इनका सहवास हुआ। ॥४७१-७५ ॥ उसमें एक का नाम 'क्षर' और दूसरे का 'अक्षर' है। इन दोनों से यह संसार लबालब भरा हुआ है। अब इस क्षर और अक्षर के लक्षण क्या हैं यह तुमको प्रकट करता हूँ। हे धनंजय, महत्तत्त्व लेकर घास के पत्ते तक जो कुछ छोटा बड़ा स्थावर और जंगम, मन और बुद्धि को ज्ञात होता है और पंचमहाभूतों से बनकर नाम औंर रूप पाता है, जो सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के टंकसाल से बाहर निकलता है, ॥४७६-८० ॥ और, जिससे भूतों के आकार के सिक्के बनते हैं, जिस द्रव्य से काल जुआ खेलता है, जो विपरीत ज्ञान से जाना जाता है और जो क्षणक्षण में बनता बिगड़ता है, वह भ्रांति के बन में जाकर सृष्टि का रूप खड़ा करता है। ज्यादा क्या कहूँ, इसीका जगत् नाम है। इसका पीछे अष्टधा प्रकृति और छत्तीस तत्त्वों से बने हुए क्षेत्र के रूप में वर्णन किया है। लेकिन इन पिछली बातों को क्यों दुहराये ? उसका वर्णन अभी अभी संसारवृक्ष के रूप में मैंने किया है । ॥४८१-८५ ॥ यह दुनिया ही अपने रहने का शहर है, यह मानकर आत्मा भी उसके समान बनी है। जैसे सिंह कुएँ में अपनी परछाई देखकर यह दूसरा कोई सिंह है, ऐसे समझकर क्रोध से कुएँ में कूद पड़ता है, किंवा आसमान जहाँ खड़ा हो वहीं रहकर जल में प्रतिबिंबित होता है, वैसे

एकरूप होकर भी आत्मा दूसरा रूप धारण करता है । हे अर्जुन, इस प्रकार सृष्टिरूपी शहर की कल्पना करके और अपना निजी स्वरूप भूलकर आत्मा उसमें सो जाता है। फिर जिस तरह स्वप्न में कोई आदमी बिस्तर देखकर सो जाता है वैसेही जीवात्मा इस दुनिया में आराम से सो जाता है । ॥४८६-९० ॥ बाद में गहरी नींद में मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ ऐसे खर्राटे लेता है और मैं और 'मेरा' ऐसे शब्द बकता है । यह मेरा पिता, यह मेरी माँ, मैं गोरा, मैं काला, मैं पूर्ण, यह पुत्र, यह धन, यह औरत मेरीही नहीं क्या ? ऐसे स्वप्न में जब वह जीवात्मा संसार और स्वर्ग के बन में घूमता रहता है, तब हे अर्जुन, उस पुरुष को 'क्षर' पुरुष यह नाम है । अब जिसको 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं और जिस दशा में सारी दुनिया उसको 'जीव' ऐसा पुकारती है, वह जब आत्मस्वरूप भूलकर सब भूतमात्र का रूप लेता है, तब वह 'क्षर' पुरुष इस नामसे पहचाना जाता है ॥४९१-९५ ॥ क्योंकि उससमय उसकी आत्मस्थिति खंडित नहीं होती, इसलिये वह 'पुरुष' कहलाता है और वह देह (पुर) में वास करता है इसलियेही उसको पुरुष कहते हैं । और उपाधि का स्पर्श होने से उसपर 'क्षर' याने नश्वर होने का झूठा अभियोग लगा हुआ है । जैसे कलकल आवाज़ करके बहनेवाले पानी में चाँद हिलता हुआ दिखाई देता है, वैसे उपाधि के विकारों से आत्मा क्षर है ऐसा आभास होता है । परंतु वही जल सूख जानेपर वह चाँद का प्रतिबिम्ब ग़ायब होता है, उसीतरह उपाधि का नाश होनेपर वह आत्मा उपाधिरहित होती है। इस उपाधि के संयोग से वह क्षणिक होता है और इस प्रकार उसने हलकापन आनेसे क्षर नाम पाया ॥४९६-५०० ॥ इसतरह सब जीव क्षर कहे जाते हैं।

अब अक्षर के लक्षण क्या होते हैं वह स्पष्ट करूँगा । तो हे अर्जुन, जो दूसरा अक्षर पुरुष है वह तटस्थ है । क्योंकि जैसे मेरु पर्वत पृथ्वी, पाताल या स्वर्ग इन तीनों लोकों में अखंड है, उसीतरह यह ज्ञान और अज्ञान इन दोनों में किसी के अंतर्गत नहीं आता । वह यथार्थ ज्ञान से एकरूप नहीं होता और विपरीत ज्ञान से वह द्वैतभाव से भी प्रभावित नहीं होता इन दोनों अवस्थाओं में जो बीचवाली अज्ञानावस्था है वह उसका स्वरूप है । मिट्टी का गोला बनानेपर उसका मिट्टीपन मिट गया है और लेकिन उसके घट बरतन इत्यादि आकार नहीं बने होते । वैसेही

इस अक्षर पुरुष की बीचवाली अवस्था है। ॥५०१-५॥ सागर सूख जानेपर उसमें लहरें नहीं होतीं और जल भी नहीं होता, उसी प्रकार उसकी यह आकाररहित दशा होती है। हे पार्थ, जाग्रतावस्था जाकर स्वप्नावस्था आनेके पहले जो निद्रावस्था होती है, उसके समान इस अवस्था का स्वरूप है ऐसा समझो। जगत् का आभास ग़ायब होना और आत्मबोध न होना इनके बीचवाली जो अज्ञानदशा है उसको अक्षर कहते हैं। अमावस में कलारहित चंद्रमा का जैसा रूप होता है वैसा ज्ञानविरहित अक्षर का रूप है। जब फल गदराने लगता है तब उसमें पेड़ बीजरूपसे रहता है। ॥५०६-१०॥ वैसे ही सब उपाधियाँ नष्ट होनेपर जहाँ जीव विलीन होकर रहता है, उसको अव्यक्त ऐसा कहते हैं। सुषुप्ति याने गहरी नींद की अवस्था में पूर्ण अज्ञान होता है, इसलिये इस को 'बीजभाव' कहते हैं। और स्वप्न और जाग्रत अवस्थाएँ 'फलभाव' हैं। वेदान्त में जिसको बीजभाव कहते हैं वह उस अक्षर पुरुष का ही स्थल है। वहाँसे विपरीत ज्ञान पैदा होकर वह जाग्रति और स्वप्न की अवस्थाओं में फैल जाता है और अनेक बुद्धिरूपी बनों में संचार करता है। हे अर्जुन, जहाँसे जीव विश्व के झमेले में पड़ता है, और व्यक्त अव्यक्त से मिलता है; जीव की वह अवस्था 'अक्षर पुरुष' है ॥५११-१५॥ दूसरा क्षर पुरुष यह देह धारण करके जाग्रति और स्वप्नावस्था का अनुभव करता है। ये दोनों अवस्थाएँ ज़िससे उत्पन्न होती हैं वह पूर्ण अज्ञान से भरी हुई अवस्था सुषुप्ति इस नाम से प्रसिद्ध है। इस अवस्था में ब्रह्मप्राप्ति की कमी है। हे वीरश्रेष्ठ, इस सुषुप्ति से यदि स्वप्न और जागृति इन अवस्थाओं का प्रादुर्भाव नहीं होता, तो उसको ब्रह्मभावही कहना पड़ता। इस सुषुप्तिरूपी आसमान में जब प्रकृति और पुरुषके रूप में बादल आते हैं, तब उनमेंसे स्वप्नरूपी जीव और देहकी बारिश होती है। खैर ! इस नीचे फैलनेवाले संसारवृक्ष का मूल यह अक्षर पुरुष है। ॥५१६-२०॥ फिर जब वह यह पूरी तरह आत्मा ही है तब उसको 'पुरुष' क्यों कहते हैं ? क्योंकि यह पूर्णरूप से निद्रिस्त रहता है और मायारूपी पुर (शहर) में सोता है । इसलिये जिस गाढ़ी निद्रावस्था में विकार और विपरीत ज्ञान का आभास नहीं होता, वह इसका रूप है। इसलिये यह अक्षर पुरुष सहज नष्ट नहीं होता और उसका नाश ज्ञान के बिना नहीं होता। इसलिये यह वेदान्त में अक्षर नामसे महासिद्धान्तरूप में सबको परिचित है। इसतरह माया की उपाधिसे आत्मा जो जीव का रूप धारण करती है उसको

अक्षर पुरुष समझो ॥५२१-२५ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७ ॥

इस प्रकार विपरीत ज्ञान से जाग्रति और स्वप्न ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न होकर गहरे अज्ञान में लुप्त होती हैं । फिर वह अज्ञान मिट जानेपर जब ज्ञान सम्मुख आता है, तब वह अज्ञान को नष्ट करके और ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करके खुद गायब होता है, जैसे कि अग्नि काष्ठ को जलाकर बुझ जाता है । उस समय जानकारी के बिना जो जानता रहता है, वही हे अर्जुन, पुरुष है । पीछे कहे हुए दोनों पुरुषों से भिन्न यह तीसरा पुरुष है ऐसा इसका अभिप्राय है । हे अर्जुन, सुषुप्ति और स्वप्न इनसे अलग बोध करनेवाली जाग्रतावस्था होती हैं । ॥५२६-३० ॥ जैसे सूर्यकिरन और मृगजल इनसे सूर्यमंडल पृथक् होता है, वैसे यह उत्तम पुरुष उन दोनों से अलग रहता है । इतनाही नहीं, जैसे लकड़ी में छिपी हुई अग्नि लकड़ी से भिन्न होती है, वैसे ही वह क्षर और अक्षर इन दोनों में से अलग है । कल्पान्त के समय जिस तरह महासागर की मर्यादा टूटकर सब कुछ जलमय होता है और नदियाँ और नद उससे एकरूप होते हैं, वैसे स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रति इनका वहाँ नामोनिशान नहीं रहता । जिस तरह प्रलयकाल का तेज रात और दिन निगल जाये, उसी तरह सन्नाटे में आकर अनुभव नष्ट होने से द्वैत और अद्वैत भाव नहीं रहता और क्या है यह भी समझ में नहीं आता । ॥५३१-३५ ॥ ऐसे जो कुछ तत्त्व हैं, उसको उत्तम पुरुष समझो, उसीको इस लोक में परमात्मा कहते हैं । फिर अर्जुन, यह कहना भी उसको स्पर्श नहीं करता, लेकिन जीवदशा का आश्रय लेकर कहना पड़ता है । जिस तरह किनारे पर खड़ा हुआ आदमी किसीके डूब जाने की बात कह सकता है, वैसे ही विवेक के तीर पर खड़े हुए वेद इधर की और उधर की बातें कर सकते हैं । इसलिये वे इधर के क्षर और अक्षर पुरुष को जानकर उधर के पुरुष को परमात्मा कहते हैं । इसलिये, हे अर्जुन, परमात्मा शब्द से उत्तम पुरुष सूचित करता है, यह तुम ध्यान में रखो । ॥५३६-४० ॥ वैसे ही जहाँ मौन रखना ही कथन है, कुछ जानकारी नहीं होना यही जानना है और कुछ न घटना यही होना है, ऐसी वह आत्मवस्तु है । वहाँ सोहंभाव भी नष्ट होता है, बनानेवाला ही बनाने की वस्तु हो जाता है और द्रष्टा के साथ दृश्य गायब हो जाता है । अब बिंब और उसका जल में पडा हुआ प्रतिबिंब

इन दोनों के बीच में जो प्रभा है उसको हम नहीं देख सकते, फिर वह नहीं है यह हम कैसे कह सकते हैं ? किंवा नाक और फूल इन दोनों के बीच में जो सुगंध है यह दिखाई नहीं देती, फिर भी वह नहीं है ऐसा हम कैसे कह सकते हैं ? उसी तरह जब द्रष्टा और दृश्य गायब होते हैं तब अमुक वस्तु शेष है यह कौन कह सकता है ? इस अवस्था में जो कुछ अनुभव होगा वही उसका रूप समझना चाहिये। ॥५४१-४५॥ प्रकाशित होनेवाली वस्तु के बिना जो प्रकाश है, नियमन किये जानेवाले पदार्थ के सिवाय जो नियमन करनेवाला है, वह अपना ही स्वरूप है। वह नाद सुनने की शक्ति देनेवाला नादब्रह्म, स्वाद की शक्ति देनेवाला मूलस्वाद, आनंद की शक्ति देनेवाला ब्रह्मानंद, पूर्णता का शिखर, पुरुषों में पुरुषोत्तम, विश्राम का विश्रामस्थान, सुख का सुख, तेज का तेज और शून्य का जो लयस्थान वह महाशून्य है। वह सृष्टि का विकास या लय होने पर उसके परे होता है और सब बडों में बडा है। ॥५४६-५०॥ जिस तरह सीप रजत सी दिखाई देती है, किंवा अलंकारदशा में सुवर्ण होते हुए भी वह सुवर्ण नहीं है ऐसा आभास होता है, उसी तरह वह विश्व न होते हुए भी विश्वरूप धारण करता है। जैसे जल और तरंग अलग नहीं होते, वैसे यह विश्व और परमात्मा जगत् के विस्तार और प्रलय का कारण है, जैसे कि जल में पड़े हुए प्रतिबिंब का चंद्रमा कारण है यदि वह विश्वरूप हुआ तो भी उसमें फर्क़ नहीं होता। और विश्व का प्रलय होने पर भी वह कहीं नहीं जाता, जैसे रात और दिन होने से सूर्य में कुछ अंतर नहीं पडता। ॥५५१-५५॥ उसी प्रकार वह किसी अवस्था में किसी से नष्ट नहीं होता, उसकी तुलना उससे ही हो सकती है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

हे धनंजय, वह आपही अपनेको प्रकाशित करता है। जिसमें द्वैत नहीं है वह मैं निरुपाधिक और क्षर और अक्षरसे उत्तम एकमेव तत्त्व हूँ, इसलिये वेद और लोग मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
या सर्वविद्भजाति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे अर्जुन, ऐसे मुझे पुरुषोत्तम को जो जानता है, उसको ज्ञान की प्रभात हुई है। जाग्रत होनेपर जैसे स्वप्न गायब होता है, वैसे ज्ञान का उदय होनेपर सब जगत् निरर्थक लगता है ॥५५६-६० ॥ जैसे हाथमें लेने से हार पर जो सर्पाभास हुआ था वह मिट जाता है, वैसेही मेरा ज्ञान होने पर जगत् के मिथ्याभास का धोखा नहीं रहता। गहना सोनाही है यह जो जानता है, वह गहना मिथ्या है ऐसे मानता है। वैसे ही मेरा स्वरूप जानकर वह भेदभाव त्याग देता है। फिर वह कहता है कि मैं स्वयंसिद्ध सच्चिदानंद सर्वत्र हूँ और मैं उससे अलग नहीं हूँ ऐसा भाव रखता हुआ मुझको जानता है। उसने सब कुछ जाना है ऐसा कहनाभी अपर्याप्त होता है, क्योंकि उसमें द्वैतभाव कहीं भी नहीं होता। इसलिये हे अर्जुन, वही मेरी भक्ति के योग्य है, जैसे आसमान को गले लगाने के लिये आसमानही योग्य है। ॥५६१-६५ ॥ जैसे क्षीरसागर को क्षीरसागर की ही दावत देनी होती है या अमृतरूप होकरही अमृत से मिला जा सकता है या शुद्ध सोने में शुद्ध सोना मिलाने पर वह शुद्ध सोना ही होता है, वैसे मद्रूप होने पर मेरी भक्ति बनती है। देखो, अगर नदी समुद्र से अलग होती तो वह समुद्र को कैसे मिलती ? वैसे ही मद्रूपता और मेरी भक्ति में परस्पर संबंध है। जिस तरह समुद्र की लहरें उससे भिन्न नहीं हैं उसी तरह मुझमें और मेरे भक्त में अलगाव नहीं है। सूर्य और उसकी प्रभा दोनों जैसे एकरूप हैं, वैसे मेरा और उसकी भक्ति का सम्बंध है ॥५६६-७० ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२० ॥

इस प्रकार इस अध्याय के प्रारंभ से सब शास्त्रों में से प्राप्त होनेवाला उपनिषद्रूपी कमलदलों से गीतारूपी सुगंध फैल गया। यह गीता व्यासमुनि की प्रज्ञा से वेदों को मथकर निकाला हुआ नवनीत है। यह ज्ञानामृत की गंगा है, या आनंदरूपी चंद्रमा की सत्रहवीं कला है, या क्षीरसागर के मथन से निकली हुई विचाररूपी दूसरी लक्ष्मी है। इसलिये, उसके शब्दरूपी आकार को और अर्थरूपी हृदय को मेरे सिवाय अन्य गति नहीं है। इसके सम्मुख क्षर और अक्षर पुरुष खड़े होने पर भी, उनको टालकर उसने मुझ पुरुषोत्तम को अपना तन मन अर्पण किया है। ॥५७१-७५ ॥ इसलिये यह गीता जो तुमने सुनी है वह मेरी एकनिष्ठ पतिव्रता

है। सचमुच यह गीता कहकर बताने योग्य नहीं है। यह गीता शास्त्र नहीं बल्कि संसारपर विजय पाने के लिये शस्त्र है । इस गीता के अक्षर आत्मप्राप्ति करा देनेवाले मंत्र हैं। हे अर्जुन, तुमको मैंने जो गीता कही, वह मेरा गुप्त धन है। जो मैं चैतन्यरूपी श्रीशंकर हूँ, उस मेरे मस्तक से गीतारूपी गंगा निकालनेवाला तुम दूसरे गौतम हो गये हो। हे धनंजय, मेरा शुद्ध स्वरूप देखने के लिये तुम आईना बने हो ॥५७६-८० ॥ जैसे आसमान से सागर चंद्रमा को सितारों के साथ सागर में प्रतिबिंबरूप में हमारे पास लाता है वैसेही गीता के साथ तुमने अपने मन में मुझे जगह दी। हे अर्जुन, तुम्हारे मन से त्रिगुणरूपी गंदगी निकल जाने से तुम गीतासहित मेरा निवासस्थान हो गये हो। गीता यह मेरी ज्ञानलता है और जो उसको जानता है वह सब मोह से मुक्त होता है। हे पांडुपुत्र, जिस तरह कोई अमृतपान करके अमर हो कर रोगमुक्त होता है, वैसे गीता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेवाला मोहरहित होता है इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ? इस आत्मज्ञान से वह आत्मस्वरूप से एकरूप होता है ॥५८१-८५ ॥ यह आत्मज्ञान प्राप्त होनेपर अपना जीवनकार्य समाप्त हुआ यह जान कर उसका कर्म भी लुप्त होता है। हे वीरश्रेष्ठ, जैसी खोई हुई वस्तु मिल जानेपर खोजने का कार्य समाप्त होता है, वैसेही कर्म-मंदिरपर ज्ञान का कलश चढने से कर्म अपने आप थम जाता है। इसलिये ज्ञानी पुरुष को कर्म करने का प्रयोजन नहीं रहता, ऐसे अनाथों के नाथ श्रीकृष्ण बोले। वह श्रीकृष्ण का वचनामृत सुनकर अर्जुन का दिल उमड़कर भर आया और वह व्यासमुनि से संजय को प्राप्त हुआ। संजय ने वह वचनामृत राजा धृतराष्ट्र को दिया, और इसी कारण से उसको जीवन का भार महसूस नहीं हुआ ॥५८५-९० ॥ योंही देखने से ऐसा लगता है कि गीता सुनने के लिये यदि कोई योग्य नहीं है, तो भी अंत में उसकी उन्नति होती है। अंगूर की बेल को दूध सींचने से वह व्यर्थ हुआ ऐसा लगता है, परंतु जब उस बेल को अंगूर के गुच्छे लगते हैं तब उसका प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के वचन संजयद्वारा धृतराष्ट्र को सुनाने पर वह भी सुखी हुआ। वही वचनामृत मैंने देशी भाषा में मेरी जानकारी के अनुसार बेढ़ब तरीक़े से बताया। अरसिक आदमी सेवंती के पौधे विशेषत: मोहक नहीं महसूस करता। लेकिन भौंरे के समान जो रसिक हैं वे उसकी सुगंध सूँघ लेते हैं ॥५९१-९५ ॥ तो मेरे कहने में जो सार है वह आप लीजिये और जो त्रुटि है उसको मुझे लौटा दीजिये। क्योंकि अज्ञान ही

बालक का स्वभाव होता है । लेकिन अज्ञानी बालक को भी देखकर माँबाप का संतोष उनके दिल में नहीं समाता और वे उसका लाड़ प्यार करते हैं । उसी तरह आप सज्जन मेरे पीहर हैं । आपसे भेंट होनेपर मैं जो प्यारसे बातें करता हूँ उनको मैंने इस ग्रंथ के रूप में आपके लिए अंकित किया है ऐसा समझिये । मैं ज्ञानदेव कहता हूँ, मेरे गुरु निवृत्तिनाथ जो विश्वव्यापक हैं वे मेरी ग्रंथरूपी सेवा स्वीकृत करें ॥५९६-९९ ॥

॥ सोलहवाँ अध्याय ॥

जगदाभास मिटानेवाला और अद्वैतरूपी कमल को खिलानेवाला एक अनोखा सूर्य निकल आया है। उसको मेरा प्रणाम। यह श्रीगुरुरूपी सूर्य अविद्यारूपी रात्रिका नाश करता है और ज्ञानाज्ञानरूपी सितारोंका लोप कर के ज्ञानी पुरुषों को आत्मबोध का सुदिन दिखाता है। यह सूर्योदय होते ही जीवरूपी पंछी ज्ञानचक्षु पाकर देहाभिमानरूपी घोंसला छोडकर चले जाते हैं। इस सूर्योदय के प्रभावसे वासनात्मक सूक्ष्म देहरूपी कमल में बंद किया हुआ जीवरूपी भौंरा बंधमुक्त होता है। शास्त्र के तर्कों में उलझे हुए बुद्धि और आत्मबोध अज्ञानांधकार से घिरे जानेपर जब यह चकवों.का युग्म भेदरूपी नदी के दोनों किनारों पर विरह दुख से चिल्लाते रहते हैं, ॥ १-५ ॥ तब यह भुवनदीप ब्रह्मरूपी आकाश में उस युग्म को परस्पर मिलाकर उनको संतोष देता है। फिर ज्ञान का सबेरा होते ही जब यह भेदरूपी लुटेरा समय बीत जाता है, तब योग मार्ग के यात्री आत्मानुभव के रास्ते पर चलने लगते हैं। उस श्रीगुरुरूपी सूर्य की किरणों से ज्ञानरूपी सूर्यकांत मणि प्रदीप्त होकर संसाररूपी बन को जला देता है। जब उस सूर्य की प्रखर किरणें आत्मस्वरूप के पठार पर पड़ती हैं, तब महासिद्धिरूपी मृगजल में बाढ़ आती है।

जब वह सूर्य आत्मबोध के माथे पर सोहंरूप दुपहर में आता है तब 'मैं देह हूँ ' यह भ्रान्तिरूपी छाया पाँवतले रहती है ॥६-१० ॥ उस समय मायारूपी बात संमाप्त होने पर विश्वरूपी स्वप्न और विपरीतज्ञानरूपी निद्रा का किस को स्मरण होता है ? इसलिये अद्वैतज्ञानरूपी नगर में महानंद पर्याप्त होने से सुखानुभव की लेन-देन कम होती है । इस सूर्य के प्रकाश में कैवल्यमुक्ति का सुदिन बारबार आता है । इस आत्मस्वरूपी आसमान का राजा जो यह सूर्य है उसका उदय होते ही वह पूर्वादि दिशाओं के साथ उदय और अस्त इनकी स्थिति को मिटा देता है । ज्ञान के साथ अज्ञान को मिटाकर उनसे ढँका हुवा आत्मज्ञान प्रकट करता है । ज्यादा क्या कहूँ ? वह एक अनोखा उषःकाल है ॥११-१५ ॥ जो प्रकाशित होनेवाले पदार्थों के बिना स्वयंप्रकाशित है ऐसे दिन और रात के परे रहनेवाले ज्ञानसूर्य को कौन देख सकता है ? ऐसे जो चैतन्यरूपी सूर्य है, उन निवृत्तिनाथ महाराज को मैं बार बार वंदन करता हूँ । क्योंकि उनकी शब्दों से प्रशंसा करने में कठिनाई होती है । इस गुरुदेव की महिमा देखकर उन का गुणगान अच्छी तरह करने के लिये श्लाघ्य वस्तु के साथ बुद्धि एकरूप होनी पड़ती है । सब पदार्थों का ज्ञान नष्ट होने पर ही जिसका ज्ञान होता है, मौन रखने से ही जिसका वर्णन होता है, और स्वत्व मिट जाने से ही जिसकी प्राप्ति होती है, उसका गुणगान करने में परा पश्यन्ती और मध्यमा इनके साथ वैखरी वाणी का भी लोप हो जाता है । ॥१६-२० ॥ मैं आपको सेवाभाव से शाब्दिक स्तवनों का जो ठाटबाट कर रहा हूँ उसको आप स्वीकार कीजिये ऐसा कहना अद्वैत के आनंद में त्रुटि लाना है । जब कोई कंगाल अमृत का सागर देखकर उसका स्वागत कैसे करे यह न जानकर उसको तरकारी का भोजन देता है, तब उसकी उमंग ध्यान में रखकर उसका दिया हुआ भोजन दावत ही समझना चाहिये, किंवा सूर्य की कोई बत्ती से आरती उतारने लगे तो वह तुच्छ न मान कर उसकी भक्ति की कदर करनी चाहिये ।

बालक को योग्य क्या है यदि यह समझ में आया तो उसका छुटपन कैसे शेष रहा ? फिर भी उसकी माँ उसके बालों को सराह कर निहाल होती है । देखिये, नाले का पानी जब गंगा में मिलने आता है, गंगा क्या उसको लौट जाने को कहती है ? ॥ २१-२५ ॥ भृगु ऋषि ने छाती पर लात मारकर जब श्रीविष्णु की बेइज्जती

की तब वही भगवान ने प्यार से किया हुआ सम्मान मान कर क्या वे प्रसन्न नहीं हुए ? जब अंधकार से काला पड़ा हुआ आसमान सूर्य की अगवानी करता है तो क्या सूर्य उसको 'हट जा' ऐसे कहता है ? हे गुरुदेव उसी तरह भेदबुद्धि की तराजू में आपकी सूर्य के साथ तुलना की इसलिये मुझे क्षमा कीजिये । जिन्होंने आपका ध्यान कर के आपको प्राप्त किया और वेदवाक्यों से आपका यशोगान गाया, वह आपने सह लिया । उनको जैसी आपने क्षमा की वैसे ही मेरे साथ पेश आइये । आपका गुणगान करने की जो मुझे प्रखर इच्छा हुई है, उसको मेरा गुनाह मत समझिये । मगर आप कुछ भी करें, मैं अपना शौक पूरा किये बिना नहीं रहूँगा । ॥२६-३० ॥ जब आपने मुझे अमृत के समान गीता नाम का प्रसाद दिया, तब मैं उसका दिलचस्पी से वर्णन करने लगा और उससे दुगुनी सामर्थ्य पाकर मैं भाग्यवान् सिद्ध हुआ । हे प्रभो, मेरी जबान से मैंने असंख्य जन्म सत्य कहने का जो तप किया था, उसके फलस्वरूप मैं इस भवसागर में गीता नामक टापू पर आ पहुँचा हूँ । मैं आजतक किये हुए पुण्य के प्रभाव से मैं आपका यशोगान करने की शक्ति पा कर आप से उऋण हुआ । जो मैं मृत्युरूपी ग्राम में जीवनरूपी जंगल में फँसा हुआ था वह संकट आज दूर हुआ । जो गीता नाम से विख्यात है और अविद्या का नाश करके शक्तिशाली बनी है, उसका वर्णन मुझसे कराया यह आपकी कृपा है । ॥३१-३५ ॥ देखिये, जिस घर में महालक्ष्मीजी स्वेच्छासे आती है, उसको क्या कंगाल कह सकते हैं ? अथवा अंधकार के घर में सूरज मेहमान आया तो क्या वह जगत् को रोशन नहीं करता ? जिस ईश्वरके बड़प्पन की तुलना में यह विश्व परमाणु के समान भी नहीं प्रतीत होता, वह भक्त के लिये कौनसा रूप धारण नहीं करता ? इसलिये मैं जो गीतार्थ कहने लगा हूँ वह आकाश सूँघ लेने के समान अद्‌भुत घटना है । लेकिन आप जो समर्थ हैं, आपने वह मेरा शौक पूर्ण किया है । इसलिये ज्ञानदेव कहते हैं कि आपकी कृपा से मैं गीता के सब श्लोकों का स्पष्ट विवेचन करूँगा । ॥३६-४० ॥

पंद्रहवें अध्यायमें श्रीकृष्णने अर्जुनसे गीताशास्त्र का सिद्धान्त प्रकट किया । जैसे शरीर में भिदे हुए रोग का वैद्य निदान करता है, वैसेही उपाधिरूपी विश्व के लिये रूपक की योजना करके अलंकारिक भाषा में वर्णन किया । फिर अविनाशी

जीवात्मा का 'अक्षर पुरुष' शब्दसे स्पष्ट वर्णन किया। इस तरह चैतन्य उपाधियुक्त होकर साकार हुआ। इसके बाद केवल शुद्ध जो आत्मतत्त्व है उसको 'उत्तम पुरुष' इस शब्दसे विशद किया। आत्मप्राप्ति के लिये अंतरंग साधन जो ज्ञान है, वह भी स्पष्ट करके बताया। ॥४१-४५॥ इसलिये इस अध्याय में कहने योग्य कुछ नहीं रहा, किंतु गुरुशिष्य का संबंध वैसेही क़ायम रहा। इसके अलावा, पिछले अध्याय में कहा हुआ तत्त्वज्ञान ज्ञानियों को जँचा, लेकिन जिज्ञासुओं की आकांक्षाएँ अधूरी रह गयीं। ज्ञान की साधना करके जो मर्मज्ञ मुझ पुरुषोत्तम से आ मिलता हो वही सर्वज्ञ और भक्त चूड़ामणि है। त्रैलोक्यनायक श्रीकृष्ण ने पिछले अध्याय के अन्तिम श्लोक में इस तरह ज्ञान की महिमा बतायी थी। इस ज्ञान से संसार का घूँट लेकर जीव ब्रह्म से ऐक्य पाता है और उसको आनंद साम्राज्य में सम्मान का स्थान प्राप्त होता है। ॥४६-५०॥ ब्रह्मप्राप्ति का इतना प्रभावित दूसरा साधन नहीं है और सब उपायों में प्रत्यक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। इसतरह जो जिज्ञासु थे उन्होंने संतोषसे और आदरभाव से अपने प्राण ज्ञानपर निछावर किये। अब जिसके विषय में रुचि पैदा होती है, उसके विचार मन में बार बार आते हैं ऐसा एक प्रेम का लक्षण है। इसलिये, जिज्ञासुओं में जिनको ज्ञान का अनुभव नहीं था, उनको ज्ञान पाकर उसको कैसे बचाना चाहिये इसकी चिंता पैदा हुई। इसलिये यह ज्ञान प्राप्ति में कौनसी रुकावटें हैं यह समझ लेना चाहिये। ॥५१-५५॥ फिर ज्ञान के विरुद्ध जो बातें हैं, उन्हें टाल कर ज्ञानप्राप्ति के लिये जो हितकारक है, उसका दिल से विचार करना होगा। यह जो जिज्ञासु श्रोताओं का इरादा है वह पूरा करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण अब भाषण करेंगे। वे अब जो ज्ञान को प्राप्त करा देती है और शांति को बढ़ा देती है, ऐसी दैवी संपत्ति के प्रभाव का वर्णन करेंगे और विषयानुभव से रागद्वेष को स्थान देनेवाली जो आसुरी संपत्ति है, उसके घोर रूप का वर्णन करेंगे। ॥५६-६०॥ जिनकी लीलासे लोग अनिष्ट और इष्ट कर्म करते हैं उन दोनों संपत्ति यों का निर्देश नौवें अध्याय में किया था। लेकिन तब दूसरा विषय सामने आया, इसलिये अब दोनोंका स्पष्टीकरण भगवान् करेंगे। यह जो विवेचन सोलहवें अध्यायमें किया गया है वह पिछले विषय का विस्तृत विवेचन है ऐसा समझना चाहिये। अब प्रस्तुत विषय में ज्ञान को हितकारक और हानिकारक दो संपत्तियाँ हैं

जो मोक्षमार्ग में साथ देती हैं और मोहरूपी रात में राह दिखाती है वह धर्मरूपी ज्योती है । उस दैवी संपत्ति का वर्णन पहले सुनो । ॥६१-६५ ॥ किसीने परस्पर पुष्टि देनेवाले पदार्थों को बटोरा हो तो उसको लोग संपत्ति कहते हैं । यह सुखकर संपत्ति किसीको दैवी विधान से प्राप्त होती है इसलिये उसको दैवी कहते हैं ।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१ ॥

अब इस दैवी संपत्ति में जो अग्रेसर गुण है उसको अभय कहते हैं । जो बाढ़ में नहीं कूदता उसको डूबने का भय नहीं होता या जो पथ्य करता है उसको रोग की चिन्ता नहीं होती । उसीतरह जो कर्म करता हुआ या न करता हुआ अहंकार को उत्पन्न नहीं होने देता, उसको संसार का डर नहीं होता । ॥६६-७० ॥अथवा चित्त में अद्वैतभाव फैल जानेपर यह सब दुनिया ब्रह्ममय है ऐसा जानता है और डर की बात को भूल जाता है । जब जल नमक को डुबाने लगता है तब नमक ही जल रूप हो जाता है, वैसेही अद्वैतभाव से भय मिट जाता है । अरे, अभय जिसको कहते हैं उसके ये लक्षण हैं और उसके ठीक पीछे पूरा ज्ञान प्राप्त होता है । अब सत्त्वशुद्धि जिसको कहते हैं उसको इन लक्षणों से पहचानना चाहिये । जिस तरह राख जलती नहीं या बुझती नहीं, किंवा अमावस बीत चुकी है मगर पड़वा शुरू नहीं हुई है ऐसे क्षण में चंद्रमा का जो सूक्ष्म रूप होता है, ॥७१-७५ ॥अथवा ग्रीष्म के अंत में और वर्षा के प्रारंभसे पहले गंगा का जल जैसा स्वच्छ होता है, उसीतरह उस समय संकल्प और विकल्प इनका आकर्षण टालकर और रजोगुण और तमोगुण का बोझ फेंक कर उसकी बुद्धि को आत्मस्वरूप के ध्यान की चाह पैदा होती है । इंद्रियाँ जब उसे भले बुरे विषय दिखाती हैं तब उसकी बुद्धि तनिक भी विचलित नहीं होती । जैसे पति के परदेश जाने पर पतिव्रता का मन विरह से व्याकुल होकर हानिलाभ से अस्थिर नहीं होता, वैसे ही आत्मस्वरूप के लगाव से बुद्धि एकनिष्ठ होती है । तब उसको सत्त्वशुद्धि कहते हैं, इसतरह केशी दैत्य को मारनेवाले श्रीकृष्ण बोले । ॥७६-८० ॥ अब आत्मप्राप्ति के लिये ज्ञान या योग पर अपनी इच्छा के

अनुसार सब चित्त की वृत्तियाँ लगा दो, जैसे निष्काम होकर कोई पूर्णाहुति देता है।अथवा जिस तरह कुलीन आदमी अच्छे परिवार में कन्या दे कर इच्छारहित हो जाता है, अथवा समुद्रमंथन से निकलकर लक्ष्मीजी ने निश्चित भाव से विष्णु का वरण किया उसी तरह विकल्परहित होकर ज्ञान या योग में चित्त स्थिर रखना यह ज्ञान का तीसरा लक्षण है, ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। अब बैरी को भी दुःखी देखकर उसको तनमन से यथाशक्ति देकर खाली हाथ न भेज देना यही सच्चा दान है। ॥८१-८५॥ हे धनंजय, जैसे वृक्ष अपने फल, फूल, छाया, जड़, और पत्ते कुछ पथिक को देने में नहीं चूकता, वैसेही थके माँदे आये हुए अतिथि को अवसर पर उदारता से उसको मनचाहा धनधान्य देता है। इसीको दान कहते हैं और यह मोक्ष की निधि प्रकट करनेवाला अंजन है। अब दम के लक्षण कहता हूँ, सुनो। जैसे तलवारबहादुर दुश्मन का वध करता है, वैसेही योगी विषय और इंद्रियाँ का जो संयोग होता है उसको भंग करता है। उसी तरह इंद्रियों द्वारा आनेवाले विषयों की जो वायु बहती है, वह उसपर ध्यान नहीं देता और सब इंद्रियों को बाँधकर प्रत्याहार के स्वाधीन कर देता है याने इंद्रिय निग्रह करता है। ॥८६-९०॥ दस इंद्रियों में वैराग्य की ज्वाला लगा कर चित्त में छुपे हुए प्रवृत्ति को बाहर निकाल देता है। विविध प्रकार के व्रत, जो प्राणायाम से भी कठिन होते हैं, उनको आराम न करता हुआ पालता है। दम जिसको कहते हैं उसके ये लक्षण हैं।

अब यज्ञ के लक्षण संक्षेप से कहता हूँ, सुनो। आगे बैठे हुए ब्राह्मण और पीछे बैठी हुई स्त्रियाँ, और उनके बीचवाले सब अपने अपने अधिकार के अनुरूप जो कुछ देवकार्य उन्हें अभिप्रेत हैं उनको वे शास्त्रोक्त विधि से करें। ॥९१-९५॥ ब्राह्मण को षट्कर्म का आचरण करना होगा और शूद्र को उसको प्रणाम करना होगा, ऐसा करनेसे उनको यज्ञ समान रूपसे फलित होता है।इसतरह अधिकारानुरूप हर एक यज्ञ करे, फिर फलाशारूपी विष की आहुति उसमें न डाले। और देहाभिमान मन में रखकर मैं यज्ञकर्ता हूँ, ऐसी भावना न करे और शास्त्रीय विधानों का पालन करे। अर्जुन, इसीको सशास्त्र यज्ञ कहते हैं और यह यज्ञ मोक्षमार्ग में एक सयाना साथी है। जिस तरह कोई गेंद को जमीनपर पटक देता है ताकि वह लौटकर फिर हाथ में आये, या फसल ध्यान में रखकर किसान बीज बोता है,

॥९६-१०० ॥ किंवा कहीं रखी हुई वस्तु देखने के लिये कोई दीपक लेता है अथवा कोई पेड़ की जड़ को सींचता है ताकि वह फले फूले, अथवा अपना स्वरूप आईने में ठीक देखने के लिये कोई उसको लगन से जैसे बार बार साफ पोंछता है, उसीतरह वेदों का प्रतिपाद्य विषय जो ईश्वर है उसका स्वरूप जानने के लिये वेदों का सतत अध्ययन करना पड़ता है । आत्मप्राप्ति के लिये ब्राह्मण उपनिषदों के ब्रह्म पर रचे हुए सूक्त और दूसरे स्तोत्र सतत गाते हैं या ईश्वर का नाम लेते हैं । श्रीकृष्ण ने कहा कि जिसको स्वाध्याय कहते हैं वह यही है । ॥१०१-१०५ ॥अब मैं तुमको तप शब्द का मर्म बताता हूँ, सुन लो । अपना सर्वस्व देकर अर्थ को सार्थक बनाना ही तप है । जैसे कडुआ वृंदावन फल देकर सूख जाता है, धूप (सुगंध देकर) खुद अग्नि में जल जाता है, किंवा शुद्ध होनेपर सुवर्ण वजन में कम हो जाता है, अथवा कृष्ण पक्ष में जडीबूटियों का पोषण करनेके लिये चंद्रमा क्षय पाता है, उसीतरह, हे अर्जुन, आत्मानुभव के लिये प्राण, इंद्रियाँ और शरीर खपाना इसको ही तप कहते हैं । अन्य जो तप हैं उनकी जाँच कर लेना चाहिये । जैसे हंस दूध में अपनी चोंच डालकर दूध जल से अलग करता है, वैसे देहभाव दूर करके जीवभाव को जो अलग करता है उस विवेकको अंतःकरण में जाग्रत रखना चाहिये । ॥१०६-११० ॥ इस आत्मा के बारे में विचार करनेपर विषयों के प्रति दौड़ बंद होती है, जिस तरह जाग्रति आनेपर नींद और स्वप्न दोनों गायब होते हैं । हे अर्जुन, जिसके ज़रिये आदमी आत्मविचार की ओर मुड़ता है, वही तप का सच्चा स्वरूप है । जैसे माता का दूध बालक को हितकर होता है किंवा चैतन्य सब भूतों में समान होता है, वैसे प्राणिमात्र से सज्जनता से पेश आना आर्जव कहा जाता है ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२ ॥

और तन मन वाचा से संसार को सुख प्राप्त हो इस हेतु से बर्ताव करना यही अहिंसा का लक्षण है ऐसा समझो । अब फूल की कली नोकदार होनेपर भी कोमल होती है किंवा चंद्रमा का तेज शीतल होता है । ॥१११-१५ ॥ बीमारी दूर करनेवाली और जिह्वा को कडुआ न लगनेवाली दवा मिलती नहीं है, इसलिये उसकी उपमा सत्य को लागू नहीं होती । जैसे जल आँखों की पुतलियों पर मलने से भी

वह नहीं चुभता, मगर वही पहाड़ की ढलान चीर देता है, वैसे तो वह सत्य संदेह को मिटाने में जो लोहे के समान तीक्ष्ण और सुनने में मधुरता से भी मीठा है, और उसको सुनकर कान चावसे स्वाद लेते हैं, मगर वह सचाई के बल पर ब्रह्म को भी भेदता है। वह प्रिय होकर भी किसीको धोखा नहीं देता और सच होनेपर भी किसीको नहीं खटकता ॥११६-२० ॥ नहीं तो बहेलिये का गाना मधुर लगता है, परंतु सच में उसमें बुरा मतलब होता है। अग्नि प्रकटरूप से अपना कार्य करता है, मगर आग लगे उसके सचाई को। उसी तरह कर्ण को जो मधुर लगती है लेकिन अपने आशय से कलेजा जलाती है वह वाचा सुंदर नहीं, चुड़ैल है। माँ का क्रोध दीखने में कठोर लगता है मगर लाडप्यार से वह फूल से भी मृदु होता है। ऐसा जो माँ का स्वरूप है वैसेही जो भाषण कर्ण को सुख देकर अच्छा असर करता है और विकारों से अलिप्त होता है वह सत्य भाषण है। अब जिस तरह पत्थर पर पानी डालने से उसपर अंकुर नहीं उगते, किंवा छाछ का निचरा हुआ पानी मथने पर उससे मक्खन नहीं निकाला जाता, ॥१२१-२५ ॥ अथवा साँप की केंचुली पर पैर रखनेपर वह फन नहीं उठाता, किंवा बसंत ऋतु आनेपर भी आकाश को फूल नहीं लगते, अंथवा रंभा अप्सरा का रूप देख कर भी शुक मुनि के मन में वासना पैदा नहीं होती किंवा भस्म में घी डालने पर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं होती, अथवा हे पांडुपुत्र, ब्रह्मदेव के चरण छूने पर भी मरा हुआ आदमी जिंदा नहीं होता, उसी तरह जो शब्द सुनते ही अनजान बालक भी आगबबूला हो जाता है ऐसे शब्दों से भी उसको क्रोध नहीं होता, ऐसी स्थिति को 'अक्रोध' कहते हैं, ऐसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा। ॥१२६-३० ॥ जैसे मिट्टी का, धागे का और बीज का त्याग करने पर घट, वस्त्र और पेड का त्याग अपने आप होता है किंवा दीवार का, निद्रा का, पानी का, वर्षा का, धन का त्याग करने से समूचे चित्र का, सब स्वप्नों का, लहरों का, घटाओं का और विषयभोग का त्याग सहज घटित होता है, वैसेही बुद्धिमान लोग संसार का त्यागं करते हैं, उसीको 'त्याग' कहते हैं, ऐसे यज्ञ का भोक्ता श्रीकृष्ण बोले। यह जानकर उस भाग्यवान् पार्थ ने पूछा। ॥१३१-३५ ॥ हे प्रभो, शांतिके लक्षण क्या होते हैं वे मुझे स्पष्ट कहिये। तब भगवान ने कहा तुमने यह अच्छा सवाल किया है।

अब ध्यान दो, जब ज्ञेय वस्तु पूरी तरह जान लेनेपर जिस अवस्था में ज्ञाता

और ज्ञेय इन दोनों का लोप होता है, उस अवस्था को शांति कहते हैं। जैसे जब प्रलयकाल की बाढ़ विश्व के विस्तार को डुबाकर सर्वत्र भरी होती है, तब नदियों का उद्‌गम, बहाव और समुद्र से मिलना ऐसे भिन्न क्रियाकलाप बंद होते हैं और सब विश्व जलमय हुआ है यह बोध भी किसी को नहीं होता, वैसेही ज्ञाता ज्ञेयसे एकरूप होने पर ज्ञातृत्व भी लुप्त होता है, फिर जो कुछ शेष रहता है, वही शांति का रूप है। ॥१३६-४० ॥ जिस तरह जो आदमी बीमारी से या मानसिक पीडा से व्यथित है, उसको अपना या पराया न मानकर वैद्य उसकी चिकित्सा करता है, किंवा आदमी कीचड़ में जब गौ फँस जाती है तब वह दूध देनेवाली है या नहीं इसका सोचविचार न करता हुआ उसको बाहर निकालता है, अथवा डूबनेवाला आदमी ब्राह्मण है या शूद्र है यह न पूछता हुआ उसका वह बचाव करता है, किंवा घने जंगल में विवस्त्र की हुई स्त्री जबतक कपडे नहीं पहनती तबतक उसपर शिष्ट नज़र नहीं डालता, उसीतरह जो अज्ञान और प्रमाद से या पूर्वसंचित से सब प्रकार के निंद्य कर्मों में लगे रहते हैं उनकी वह यथाशक्ति मदद करता है ताकि वे अपना दुःख भूल जायें। ॥१४१-४५ ॥अरे जो आदमी उसके सामने आता है उनके दोष अपनी कृपादृष्टि से सुधार कर उसको देखता है। अथवा जिस तरह भक्त ईश्वर की पूज़ा कर्के फिर उसका ध्यान करता है या किसान बीज बोकर खेत में रखवाली करता है, अथवा अतिथि को संतुष्ट करके उसकी दुवा लेता है, उसीतरह अपने सामने आये हुए आदमी की त्रुटियाँ अपने गुणों से दूर करने पर ही वह उसपर नज़र डालता है। वरन् किसी के वर्मपर आघात नहीं करता, किसीको दुष्कर्म में नहीं फँसाता और किसी के ऐब पर ऊँगली उठाकर उसको दोषी नहीं कहता। ॥१४६-५० ॥ जिसका पतन हुआ है, उसका उद्धार करता है, किंतु वैसा करते समय उसके साथ मर्मभेदक बातें नहीं करता और हे अर्जुन, उसके दोषों को ध्यान में रखकर और उसकी उत्तम पुरुष से तुलना करके उसको तुच्छ नहीं मानता, यही अपैशुन्य का सच्चा लक्षण है। और वह मोक्षमार्ग की सुखकर मंजिल है।

अब दया ऐसी होनी चाहिये। जिस तरह पूनम का चाँद छोटा, बड़ा ऐसा भेदभाव न करके सभी को शीतलता देता है, उसी तरह दुखी का दुःख दयालु होकर दूर करते समय वह अच्छा है या बुरा है ऐसा विचार नहीं करता। ॥१५१-५५ ॥ देखो, इस दुनिया में खुद नष्ट होकर सूखे हुए तृण की रक्षा करनेवाले जल के समान

क्या कोई चीज़ है ? वैसेही वह दु:खी आदमी को अपना सर्वस्व देकर भी उसको कम समझता है। पानी जब बहता है तब वह रास्ते में गढ़ा भरे बिना आगे नहीं जाता। उसी तरह अपने सामने आये हुए थके माँदे आदमी को राहत दिये बग़ैर वह आगे कदम नहीं उठाता। जैसे पाँव में काँटा चुभनेपर उसकी कसक चेहरे पर मुद्रित होती है, उसीतरह दूसरे को विपत्ति में फँसा हुआ देखकर उसका दिल भर आता है। और जैसे पैरों में ठंडक पहुँचने पर आँखें शीतल हो जाती हैं, वैसे दूसरे को सुखी देखकर उसको सुख होता है। ॥१५६-६० ॥ जैसे प्यास बुझाने के लिये दुनिया में पानी पैदा हुआ है वैसे दु:खितों के लिये वह जीवित है। ऐसा जो पुरुष है वह दया का पुतला है और मैं जन्म से ही उसका देनदार होता हूँ। सूर्य का उदय होने पर कमल खिलता है किन्तु वह उस फूल को सूँघता नहीं, किंवा वसंत ऋतु आनेपर बहुतसे पेड़ हरेभरे होते हैं, किंतु वसन्त उनमेंसे किसीका उपभोग न लेकर चला जाता है। लक्ष्मीजी सब सिद्धियों के साथ यदि श्रीविष्णु के पास जाती है, तो भी वह उसपर ध्यान नहीं देते । ॥१६१-६५ ॥ वैसेही इहलोक के किंवा परलोक के भोग प्राप्त होने पर भी उनका उपभोग लेने का विचार उसके मन में नहीं आता। जिस अवस्था में कुतूहल से भी विषय की कामना नहीं करता वही अलोभ दशा है ऐसा समझो। जैसे मधुमक्खियों के लिये छत्ता, जलचरों के लिये पानी, और पंछियों के लिये खुला आसमान प्रिय होता है, या बेटे पर जैसे माता का प्यार होता है, या वसंतऋतु के आगमन से मलय पर्वत से मंद सुगंधित वायु बहती है, या प्रिय जनों से भेंट होने पर आँखें तृप्त होती हैं, या कछुवी जैसे अपनी निगाह से अपने पिल्लों का पोषण करती है, वैसेही वह भूतों से प्यार से पेश आता है ॥१६६-७० ॥ स्पर्श को मृदु, जिह्वा को स्वादिष्ट, नाक को सुगंधित और रूप से स्वच्छ कपूर खानेपर अगर पीड़ा नहीं देता तो वह उसकी उपमा के लिये योग्य होता है। ऐसे महाभूतों को जो अपने पेट में समा लेता है, अणुरेणुओं में व्याप्त रहता है और आकाश के समान विश्वाकार होता है, इस प्रकार जो विश्व के लिये ही जीवित रहता है, उसके गुणको मैं 'मृदुता' कहता हूँ।

अब परास्त होने पर राजा जैसे लज्जा से क्लेश महसूस करता है, या हीन दशा प्राप्त होने पर आत्माभिमानी पुरुष जैसे निस्तेज होता है, ॥१७१-७५ ॥ या

कोई श्रेष्ठ परिव्राजक अछूत के घर में अचानक जाए या किसी क्षत्रिय को रण के मैदान से भाग जाना पड़े तो वह शरमिंदा होता है, पतिव्रता को विधवा ऐसे पुकारने पर उसको लज्जास्पद लगता है, या सुंदर आदमी को श्वेत कुष्ठ होनेपर, या शरीफ आदमी पर झूठा कलंक लगाने पर वह आदमी जैसे लज्जा से गड़ जाता है, वैसेही इस साढ़ेतीन हाथ के शरीर में मृतवत् जीना, बार बार जन्म लेकर मरना, और गर्भाशय में मेद के साँचे में रेत और रक्त से बने हुए शरीर में रहना उसको लज्जास्पद लगता है। ॥१७६-८०॥ उसे देह धारण करके नामरूप पाना इससे दूसरी कोई बात लज्जाप्रद नहीं लगती। ऐसे गंदे शरीर की, निष्पाप पुरुष जो घृणा करता है वही लज्जा है। किंतु निठल्ले को उसी में मोह होता है। जिस तरह कठपुतली की रस्सी टूट जानेपर उसकी हलचल बंद होती है, उसी तरह प्राणसंयम करने पर कर्मेंद्रियों की गति बंद होती है। सूर्यास्त होनेपर जैसे किरनों का फैलाव बंद होता है वैसेही मनःसंयम करने पर ज्ञानेंद्रियों के व्यापार रुक जाते हैं। इस तरह मन और प्राणों का संयम करने से दसोंही इंद्रियाँ निर्बल होती हैं उसको 'अचापल्य'- व्यर्थ कर्मों का त्याग कहते हैं। ॥१८१-८५॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

किन्तु जिसको ईश्वरप्राप्ति के लिये ज्ञानमार्ग पर निर्भर होने की तीव्र इच्छा हुई है, उसके निश्चय में न्यूनता नहीं होती। जिस तरह अग्निप्रवेश करके मौत का अवसर आने पर भी पति की मृत्यु के बाद पतिव्रता सती जाने में पीछे नहीं हटती, उस तरह अपना स्वामी जो आत्मा है उसके प्रति उत्कंठित होकर विषयों को विषवत् मानकर जीव निराकार ब्रह्म की ओर ले जानेवाले साधना के कठिन मार्ग का अवलंब करता है। इस मार्ग में विधि और निषेध की बाधाएँ नहीं होतीं और उसको महासिद्धियों का भी मोह नहीं होता। इस तरह जिसका मन ईश्वर के पास अपने आप दौड़ जाता है, उसको आध्यात्मिक तेज ऐसी संज्ञा है। ॥१८६-९०॥ और सहनेवालों में मैं ही श्रेष्ठ हूँ ऐसे गर्व के अभाव को 'क्षमा' कहते हैं, जैसे शरीर को अपने असंख्य रोगों की सुध नहीं होती। और विषयभोग के लिये इंद्रियाँ उत्कंठित हुईं किंवा कुछ पुरानी बीमारी उमड़ आयी अथवा प्रियोजनोंसे वियोग या अप्रिय

जनोंसे संयोग जैसी अनिष्ट घटनाओंकी बाढ़ आई, तो भी वह अगस्त्य ऋषि के समान धीरज रखकर उनका सामना करता है । आसमान में धुएँ का बड़ा बादल आया तो उसको वायु का एक झोंका नष्ट कर देता है । उसी तरह, हे अर्जुन अगर त्रिविध ताप उसके भाग में आये, तो वह उनको पचाता है । ॥१९१-९५ ॥ इस तरह चित्तक्षोभ के अवसर आने पर धैर्य कायम रखना इसको 'धृति' कहते हैं । सुवर्ण का कलश स्वच्छ करके उसमें गंगा का पानी भरा तो वह जैसे शुद्ध रहता है, उसी तरह वह होता है । कारण निष्काम कर्म करना और मन में विवेक रखना यह अंतर्बाह्य शुचिता का लक्षण है । और जिस तरह गंगा का जल स्नान करनेवालों का पाप और ताप दूर करके किनारे पर स्थित पेड़ों का भी पोषण करता है किंवा सूरज अंधकार नाश कर और शोभा के दालान खोल कर आसमान में परिक्रमा करता है, ॥१९६-२०० ॥ वैसेही यह बद्ध को मुक्त करके संसारसागर में डूबे हुए लोगों को बाहर निकालना और दुःखितों का संकट दूर करना, रातदिन दूसरों को सुख देने में अपना स्वार्थ समझना और अपने स्वार्थ के लिये अन्य लोगों का अहित करनेका संकल्प न करना, इसको हे अर्जुन, 'अद्रोह' कहते हैं । और यह मैंने तुमको ऐसे कहा है कि तुम समझ सको । हे पार्थ, श्रीशंकर ने गंगाजी को अपनी जटा में धारण करने के बाद वह जैसी लज्जित हुई थी, वैसेही सम्मान प्राप्त होनेपर झिझकना, ॥२०१-२०५ ॥इसको हे बुद्धिमान् अर्जुन, अमानित्व कहते हैं । इसके बारे में तुमसे पहले बहुत कुछ कहा है, वही फिर क्यों दुहराऊँ ? ऐसी यह छब्बीस गुणों की दैवी संपत्ति है, जो मोक्ष के सम्राट परमात्मा की देन है । अथवा यह दैवी संपत्ति गुणरूपी तीर्थोंसे नित्य नयी होकर वैराग्यरूपी सगर का उद्धार करने के लिये गंगा प्राप्त हुई है । अथवा यह मुक्तिरूपी वधू गुणरूपी फूलोंकी माला लेकर विरक्त पुरुष को वरण करने आई है । अथवा इन छब्बीस गुणरूपी बत्तियों को जलाकर गीता आत्मरूपी पति की आरती उतारने के लिये नीरांजन लेकर आयी है । ॥२०६-१० ॥ अथवा यह गुणरूपी निर्दोष मोती गीतारूपी समुद्र की दैवी संपत्तिरूपी सीप से बाहर आयी हैं । इस दैवी संपत्ति का और कितना वर्णन करूँ ? वह स्वयं अनुभव करना पड़ता है । इस तरह गुणों से पूर्ण दैवी संपत्ति के लक्षण मैंने कहे ।

किन्तु आसुरी संपत्ति अंतःकरण की दुःखरूपी बेल है । यह दोषरूपी काँटों

से भरी हुई है। उसको ठीक समझ लो। कारण यह है कि त्याज्य वस्तु निरर्थक होने पर भी उसको यथाशक्ति जान लेना चाहिये ताकि तुम उसको त्याग सको। जीवों को भयंकर नरकव्यथा देने के लिये भीषण दोषों ने जो संगठन किया है वह यह आसुरी संपत्ति है ॥२११-१५ ॥ अथवा सब प्रकार के जहर एकत्रित करने पर जैसे उसका जालिम विष बनता है, वैसेही यह आसुरी संपत्ति सब ऐबों का संग्रह है।

दंभो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४ ॥

इस आसुरी संपत्ति में जो प्रमुख दोष प्रसिद्ध है वह दंभ है। अपनी माता को नग्न कर के लोगों के सामने लाया तो वह तीर्थरूप होकर भी अपने पतन का कारण होती है। अथवा गुरु से ब्रह्मविद्या प्राप्त कर के उसकी चौराहे पर चर्चा की तो वह हितकर होकर भी दुःखके लिये एक कारण बनती है। देखो, जो नौका ख़ुद बाढ़में जाकर अन्य लोगों को नदी के पार ले जाती है, उसको सिर पर रखनेसे वह हमको डुबा देती है। ॥२१६-२० ॥ हे पांडुपुत्र, जीवित का बचाव करनेवाला अन्न उत्तम कहकर ज्यादा सेवन किया, तो वह विष के समान घातक होता है। उसी तरह इस और पर लोक का जो धर्म है यदि वह हमने चार लोगों के बीच जाहिर किया, तो वह धर्म अधर्म हो जाता है और यही दंभ है ऐसा समझो। जिस तरह मूर्ख की ज़बान पर अक्षरों के संस्कार होतेही वह ब्रह्मज्ञों की सभा में संतोष नहीं पाता, चाबुकसवार का मगरूर घोड़ा ऐरावत को भी तुच्छ मानता है, कँटीले पेड़पर चढ़ा हुआ गिरगिट स्वर्ग को भी नाटा समझता है, ॥२२१-२५ ॥ घास का इंधन पाकर अग्नि की लपटें आसमान को जाकर भिड़ती हैं, डबरे की मछली उसके जोरपर समुद्र को भी अँगूठा दिखाती है अथवा एक दिन पराया भोजन करके भिखमंगा मस्त होता है, उसीतरह स्त्री, धन, विद्या, प्रशंसा और सम्मान आदिसे वह उन्मत्त होता है। जिस तरह किसी दिन बादलों की छाया पड़ी हुई देखकर अभागा आदमी अपना घर तोड़ देता है अथवा कोई अक्ल का दुश्मन मृगजल देखकर घर में का कुआँ भर देता है, उस तरह संपत्ति की वजह से गर्व से फूलना इसको दर्प के सिवाय दूसरी संज्ञा नहीं है। और दुनिया की वेदों में श्रद्धा होने से ईश्वर सब को वंदनीय

है और इस जग को रोशन करनेवाला सूर्यभी वही है। ॥२२६-३० ॥ सब लोगों को अपने लिये बड़ा पद, सार्वभौम पद पानेकी इच्छा होती है और अपनी मौत न हो ऐसी चाह होती है यह निर्विवाद है। इसलिये लोग बड़े उत्साह से वेदों की और ईश्वर की स्तुति करते हैं तो वह सुनकर ईर्ष्या से आगबबूला होता है। वह कहता है कि मैं ईश्वर को खा जाऊँगा, वेदों को ज़हर पिलाऊँगा और मेरी सामर्थ्य से उनके प्रभुत्व को मिटा दूँगा। पतिंगा दीप का प्रकाश पसंद नहीं करता, जुगनू सूरज से घृणा करता है और टिटहरी समुद्र के साथ बैर करती है। इसलिये अभिमान से मस्त होकर यदि ईश्वर का नाम किसीने पुकारा तो वह बरदाश्त नहीं करता। और पिता भी संपत्ति का हिस्सा न माँगे इसलिये वह उसके साथ सौतेले भाव से पेश आता है। ॥२३१-३५ ॥ इस प्रकार वह पुरुष अहंभावना से घमंडी और उन्मत्त होता है। ऐसा अभिमान नरक का आम रास्ता है। दूसरों को सुखी देखकर उसके मन में क्रोधाग्नि का ज़हर चढ़ता है। तपे हुए तेल में ठण्डा पानी डालने पर वह ज्यादा उछलता है, या चंद्रमा को देखकर सियार अपने मन में झल्लाता है, या विश्व को प्रकाश देनेवाला सूर्य सबेरे निकल आया तो उल्लू आँखें खो देता है, या दुनिया को आनंद देनेवाला भोर चोरों को मौतसे ज्यादा पीड़ाकारक होता है, या साँप को दूध पिलाने पर उसका जालिम विष होता है, ॥२३६-४० ॥ या गहरे समुद्र का पानी पीता हुआ भी वडवानल अधिक प्रज्वलित होकर कभी शांत नहीं होता, उसी तरह दूसरों की विद्या, भोगविलास, वैभव और भाग्य देखकर वह आगबबूला हो जाता है। इसीको क्रोध समझो। जिसका मन साँप के बिल जैसा, दृष्टि बाणों की वृष्टि जैसी, भाषण जैसे अंगारों की वर्षा और अन्य चेष्टाएँभी तीक्ष्ण आरे जैसी हैं और जिसका अंतर्बाह्य बर्ताव लोगों को पीड़ाकारक होता है, समझो कि वह आदमी अधम होकर निष्ठुरता का पुतला है। अब अज्ञान के लक्षण कहता हूँ, सुनो ॥ २४१-४५ ॥ जिसतरह पत्थर शीतल और गरम स्पर्श महसूस नहीं करता किंवा जन्मांध रात और दिन नहीं समझता, अग्नि भड़कने पर योग्य और अयोग्य का ख़याल नहीं करता अथवा पारसमणि लोहा हो या सोना हो उसकी परवाह नहीं करता किंवा चम्मच को भिन्न भिन्न रसों में डाला तो भी वह उनका स्वाद नहीं ले सकता अथवा वायु को मार्ग और कुमार्ग का भेद नहीं होता, जिस तरह सत्कर्म या दुष्कर्म के बारे में जो अंधा होता है किंवा प्राप्त हुई चीज़ भली है या बुरी है यह न

देखकर बालक उसको मुँहमें डालता है, ॥२४६-५० ॥ उसी तरह पापपुण्य की खिचड़ी खाते समय उसमें कडुआ मीठा न जाननेवाली जो दशा है उसको अज्ञान कहते हैं, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं। इस तरह इन दोषों के लक्षण मैंने तुमको बताये। इन छः दोषों से यह आसुरी संपत्ति मोटी ताजी हुई है। साँप का शरीर छोटा होनेपर भी उसका विष भयंकर होता है किंवा अग्नि के तीन प्रकार होते हुए भी उसकी आहुति के लिये यह विश्व पर्याप्त नहीं होता, अथवा त्रिदोष होनेपर ब्रह्माजी को शरण जानेपर भी मौत नहीं चूकती। यहाँ तो तीनों से दुगुना दोष हैं। ॥२५१-५५ ॥ इन छह दोषोंपर आसुरी संपत्ति निर्भर होने से उनमें कुछ कमी नहीं है। किंतु पापग्रहों की युती जैसे एकही राशी में होती है किंवा निंदक को सब पाप जैसे लगते हैं अथवा मौत के समयपर समस्त रोग हमला करते हैं किंवा कुसमय पर सब कुयोग उत्पन्न होते हैं अथवा चोर पर भरोसा रखनेपर कोई उसीके चँगुल में फँस जाता है, किंवा थका हुआ आदमी महापूर में गिरता है, वैसेही इन दोषों से आदमी का बहुत बुरा होता है। अथवा जैसे बकरी मरते समय सात काले बिच्छुओं से कांट जाये वैसे ये छह दोष आदमी को प्राप्त होते हैं। ॥२५६-६० ॥ उसके मोक्ष की ओर जानेवाले सब मार्ग बंद हो जाने से वह संसारसागर में डूबता है। फिर वह अधम योनि की सीढ़ी से फिसलकर स्थावर योनि के तले पहुँचता है। सारांश कि उसमें ये छह दोष इकट्ठे होकर आसुरी संपत्ति को बढ़ा देते हैं। इस प्रकार इस संसार में जो दो संपत्तियाँ प्रसिद्ध हैं, उनके अलग अलग लक्षण मैंने तुम्हें बताये।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५ ॥

इन दोनों में जो दैवी संपत्ति है, वह मोक्षरूपी सूर्योदय के पहले आनेवाला उषःकाल है। ॥२६१-६५ ॥ दूसरी जो आसुरी संपत्ति है वह सचमुच जीव के लिये मोहरूपी लोहे की शृंखला है। किंतु यह सुनकर तुम डरो मत। देखो, सूर्य रात से क्यों डरे ? हे धनंजय इस आसुरी संपत्ति के बंध में वही फँसता है जो इन छह दोषों को आश्रय देता है। हे अर्जुन, तुम तो ऐसे जन्म में आये हो कि कहे हुए दैवी गुणों के तुम निधान हो। इसलिये हे अर्जुन, तुम इन दैवी गुणों का स्वामी

बनकर मोक्षसुख का अनुभव करो ॥२६६-७० ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६ ॥

इन दैवी और आसुरी संपत्ति से युक्त जो लोग हैं उनके आचरण अनादिकाल से प्रसिद्ध हैं । जैसे रात में निशाचरों के और दिन में आदमी आदि के व्यवहार प्रचलित होते हैं, वैसे ही, हे अर्जुन, इन दैवी और आसुरी लोगों के व्यवहार चालू रहते हैं । इसी तरह पिछले अध्याय में ज्ञान का विवरण करते समय दैवी संपत्ति का विस्तृत वर्णन किया है । अब आसुरी लोगों के बारे में तुमको कहूँगा, उसपर ध्यान दो ॥२७१-७५ ॥ जैसे वाद्य के सिवा सुर सुनने में नहीं आते, किंवा फूलों के बिना शहद नहीं मिलता, वैसेही आसुरी संपत्ति किसी शरीर का आश्रय किये बिना दिखाई नहीं देती । फिर काष्ठ में जैसे अग्नि व्याप्त होती है, वैसे मानव शरीर का आश्रय लेकर यह आसुरी संपत्ति उसपर क़ब्ज़ा करती है । उस समय जैसे गन्ना बढ़तेही उसमें रस भी वृद्धि पाता है वैसेही जैसे जैसे आदमी बड़ा हो जाता है वैसे वैसे यह आसुरी संपत्ति बढ़ती जाती है । अब, हे अर्जुन, जो आसुरी संपत्ति के दोषों से युक्त है, उनके लक्षण तुम्हें कहता हूँ ॥२७६-८० ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७ ॥

पुण्य की ओर प्रवृत्ति और पापसे निवृत्ति इन दोनों के विषय में उसका मन अँधेरे में रहता है । कोशकीटक बाहर आने के लिये और प्रवेश करने के लिये रास्ता है या नहीं इसका विचार न करता हुआ जोश से कोश तैयार करके उसमें फँस जाता है, अथवा जैसे दिया हुआ धन लौटायेगा या नहीं इसका विचार न रखते हुए मूर्ख चोर को अपनी पूँजी सौंप देता है, वैसेही आसुरी संपत्ति के लोग प्रवृत्ति को और निवृत्ति को नहीं जानते और शुचिता क्या होती है इसका वे स्वप्न में भी विचार नहीं करते । जिस तरह किसी समय कोयला अपना कालापन छोड़ देगा, कौआ सफेद होगा और राक्षसी को मांस से घृणा होगी, ॥२८१-८५ ॥वैसेही हे अर्जुन, ये आसुरी लोग शुचिता नहीं रखते, जैसे कि शराब का पात्र पवित्र नहीं

होता। वे शास्त्रोक्त कर्म करने की इच्छा नहीं रखते, बड़ों के मार्ग से नहीं चलते और सदाचार की भाषा भी नहीं जानते। जिसतरह बकरी कहीं भी चरती है, वायु जी चाहे वहाँ बहती है और अग्नि प्रज्वलित होकर कुछ भी जलाती है, वैसेही आसुरी लोगों का आचरण स्वच्छंद होता है और सच्चाई के साथ उनका कट्टर बैर होता है। अगर बिच्छू काटकर गुदगुदी पैदा कर सकता है, तो उसके भाषण में सत्य दिखाई देगा। ॥२८६-९० ॥ अथवा गुदद्वार से यदि सुगंधित वायु निकलेगी तो इन आसुरी लोगों से सत्य सुनाई देगा। और उन्होंने कुछ भी नहीं किया हो तो भी वे स्वभावतः दुष्ट होते हैं। अब उनकी बातें भी कितनी अजीब होती हैं यह मैं कहता हूँ। योंही ऊँट को देखें तो उसका कौनसा अंग सीधा होता है ? वैसेही आसुरी लोगों का प्रकार है। परंतु मैं प्रसंग के अनुसार कहता हूँ, सुनो ! चिमनी से जैसे धुएं के बहाव बाहर आते हैं, वैसेही उसके मुँह से बोल बाहर आते हैं ऐसा समझो।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८ ॥

यह दुनिया अनादि काल से है और ईश्वर उसका नियंता और शासक है और वेद चौकी में नीति और अनीति का फैसला करते हैं। ॥२९१-९५ ॥ वेद जिनको अन्यायी ठहराते हैं उनको नरकवास की सज़ा होती है और जिनको नीतिमान तय करते हैं वे स्वर्ग में सुख से रहते हैं। हे पार्थ, अनादि काल से आई हुई विश्व की व्यवस्था है ऐसा जो कहा जाता है वह सब झूठ है ऐसे वे बकते हैं। जो यज्ञ के पीछे पागल हैं वे यज्ञ कर के धोखा खाते हैं। जो देवों के पीछे पागल हैं वे मूर्तिपूजा करते हैं और जो गेरुए वस्त्र धारण कर के योगी होते हैं वे समाधि के भ्रम में फँस जाते हैं। इस दुनिया में अपनी कार्यक्षमता से जो कुछ प्राप्त हो उसका उपभोग किये बिना, अन्य पुण्य नहीं है और विषयोपभोग मिलनेपर भी उनको भुगतने के लिये शरीर में शक्ति न होनाही पाप है ॥२९६-३०० ॥ धनी लोगोंकी हत्या करना यदि पाप है तो सब उनकी संपत्ति हमारे हाथ लगती है, वह क्या पुण्य का फल नहीं है ? यदि बलवान्द्वारा दुर्बल का नाश करना आपत्तिजनक है तो देखो कि बडी मछलियाँ छोटी मछली खाती है, फिर भी वे बड़ी मछलियाँ निःसंतान क्यों नहीं होती ? और वधु वर के पक्ष के लोग जब प्रजोत्पत्ति की इच्छा से मुहूर्त देखकर उनका ब्याह करते हैं, तो फिर पशुपक्षियों की जो अनगिनत संतति होती है उनका

शुभ मुहूर्त देखकर कौन ब्याह करता है ? चुराये हुए धन का किसी ने उपभोग किया, तो वह क्या उसको विष के समान बाधक होता है ? और प्यारसे परस्त्री के साथ किसी ने समागम किया तो उसको क्या श्वेतकुष्ठ होता है ? ॥३०१-३०५ ॥ इसलिये ईश्वर इस दुनिया का मालिक होकर वह जीवों को धर्म और अधर्म का फल भोगने के लिये विवश करता है, और इस लोक में किये हुए कर्म का फल परलोक में भुगतना पड़ता है ऐसे जो वेद कहते हैं वह सब झूठ है। पापपुण्य करनेवाला यदि मर गया, तो उसका फल भोगने के लिये कौन रहता है ? जिस तरह स्वर्गलोक में इंद्र उर्वशी के साथ सुख से रहता है, वैसेही कीचड़ में ही कीड़ा संतोष मानता है। इसलिये नरक और स्वर्ग पापपुण्य का फल नहीं है। क्योंकि दोनों स्थानों में कामवासना तृप्त होने से ही सुखोपभोग प्राप्त होते हैं। इसलिये कामवासना के दबाव से ही स्त्री और पुरुष एकत्र आते हैं और जगत् की उत्पत्ति होती है। ॥३०६-१० ॥ अत: स्वार्थ के लिये जो इच्छा कर के कुछ पाता है उससे ऊब जानेपर वह नष्ट होती है। इसलिये जगत् की उत्पत्ति के लिये काम के बिना अन्य कारण नहीं है ऐसे आसुरी लोग कहते हैं। अब इस बुरी बात की चर्चा रहने दो, क्योंकि इसमें वाणी को व्यर्थ श्रम होते हैं।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धय: ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माण: क्षयाय जगतोऽहिता: ॥९ ॥

और लोग ईश्वर से घृणा करके केवल बकबक करते हैं मगर उनमें कुछ निश्चय नहीं होता। हम पाखंडी हैं ऐसा वे जाहिर करते हैं और उनका मन पाखंडसे पूरा भरा रहता है ॥३११-१५ ॥ स्वर्ग की ओर श्रद्धा और नरक का डर ये दोनों मनोवृत्तियाँ उनमें जलकर खाक़ होती हैं। फिर वे देहरूपी काठ में फँसकर गंदे पानी में जैसे बुदबुदे होते हैं उनके समान विषयरूपी कीचड़ में डूबते हैं। मछलियों की मृत्यु का समय आनेपर मछियारे इकठ्ठा होकर दह में जाल डालते हैं किंवा देहपात का समय आने पर रोग होते हैं, दुनिया पर संकट आने के समय धूमकेतु दिखाई देता है, उसी तरह लोगों के विनाश के लिये ही आसुरी लोग जन्म लेते हैं। जिस तरह अशुभ बीज बोने पर अशुभ अंकुर आते हैं, वैसे वे पाप के चलते-फिरते कीर्तिस्तंभ हैं। ॥३१६-२० ॥ जैसे अग्नि जलाने के समय आगे पीछे नहीं देखता,

वैसे वे पास आनेवाले व्यक्ति का नाश करते हैं। और जिस घमंड से वे अपना कार्य करते हैं, अब उसका मैं वर्णन करूँगा, सुनो । इसतरह श्रीकृष्ण पार्थ से बोले।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१० ॥

जैसे जाली में पानी भरनेपर भी वह नहीं भरती किंवा अग्नि कितनी भी इंधन डालने पर तृप्त नहीं होती, वैसे ही कभी तृप्त न होनेवाली वस्तुओंमें जो प्रमुख है, वह काम सदा बुभुक्षित होता है। उसको आश्रय देकर, हे पांडव, उससे दंभ और सम्मान साथ जोड़ते हैं। मस्ती पर आये हाथी को शराब पिलाने पर वह जैसा अधिक उन्मत्त होता है, वैसेही आसुरी लोग बड़े होते हुए भी मद से उन्मत्त हो जाते हैं । ॥३२१-२५॥ वे पहले दुराग्रही होतेही हैं और फिर उनको मूर्खता की सहायता प्राप्त होती है। फिर उनके निश्चयकी मंजिल कहाँ रुकेगी यह हम कैसे कह सकते हैं ? जिससे लोगों को पीड़ा हो या उनका प्राणनाश हो ऐसे कर्म करने पर वे जन्म से ही उतारू होते हैं। फिर वे दुनिया को तुच्छ मानकर अपने कर्मों का डंका बजाते हैं और चारों ओर अपनी इच्छा के जाल फैलाते हैं। जैसी अनर्गल गौ खेत में जहाँ चाहे वहाँ चरती है वैसेही ये आसुरी लोग अपने घमंड में पाप की वृद्धि करते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११ ॥

ऐसी सामुग्रियाँ जुटाकर वे कर्म करते हैं कि मौत के बादभी सुख प्राप्त करें। ॥३२६-३३०॥ यह चिंता पाताल से भी गहरी और आसमान से भी ऊँची होती है और उसकी तुलना में त्रिभुवन भी नाटा दिखाई देता है। योग के नियमों को बाधक होनेवाली यह जीवको लगी हुई अनिर्बंध चिंता मरण के समय भी उनको नहीं छोड़ती। जैसे पतिव्रता अपने पति से बिछुड़ नहीं जाती, इस प्रकार असार विषयों का चिंतन करते हुए आसुरी लोग उनकी प्राप्ति के बारे में अपार चिंता करते रहते हैं। वे चाहते हैं कि स्त्रियों का गाना सुनें, उनका रूप आँखों से निहारें, समस्त इंद्रियों से उनको गले लगायें और इस सुखपर अमृत भी निछावर करें। उन्होंने

निश्चय किया होता है कि स्त्रीसुख से बढ़कर सुख नहीं हैं । ॥३३१-३५ ॥ और इस स्त्री सुख के लिये वे स्वर्ग में, पाताल में किंवा दिशाओं के पार जाने के लिये तैयार रहते हैं ।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायंणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२ ॥

कँटिया लगाये हुए प्रलोभन की आशा से मछली विचार किये बिना उसको निगल जाती है, वैसेही वे विषयवासना से अविचारी बनते हैं । यदि उनको इच्छित पदार्थ प्राप्त नहीं हुए तो विषयों की शुष्क आशा से कोशकीटक के समान बंधन में फँस जाते हैं । और इच्छा पूर्ण न होनेपर उनमें क्रोध पैदा होता है और उन्हें लगता है कि काम और क्रोध के सिवा दूसरा पुरुषार्थ नहीं है । जैसे संतरी को काम के लिये दिनरात फिरना और गश्त लगाना पड़ता है और इस कारणसे उसको दिनरात आराम नहीं मिलता, ॥३३६-४० ॥वैसेही काम के कगारसे लुड़ककर ये जीव क्रोध के टीलेपर आ टकराते हैं । फिर भी उनका काम और क्रोध के विषय में प्रेम कम नहीं होता । जब इसतरह के विषयों की लिप्सा उनके मनमें पैदा होती है, वह धन के बिना कैसे पूरी हो सकती है ? इसलिये विषयोपभोग पाने की इच्छा से पर्याप्त धन कमाने के लिये वे लोगों पर डाका डालते हैं । किसी को अकेला देखकर उसको मार डालते हैं, किसीका सर्वस्व हरण करते हैं और किसीको खत्म करने के लिये षड्यंत्र रचते हैं । जैसे पारधी पाश, बोरा, जाली, कुत्ते, बाज़, चिकाटी और भाला साथ लेकर पहाड़ पर शिकार करने जाते हैं ॥३४१-४५ ॥ और अपना पेट भरनेके लिये बहुत प्राणी मारकर लाते हैं, वैसेही ये बुरे कर्म करते हैं । दूसरों का प्राण हरण कर के वे धन प्राप्त करते हैं और धन मिलते ही उनको कितना संतोष होता है यह सुनो ।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३ ॥

वह आसुरी वृत्ति का आदमी अनेकोंकी संपत्ति पर हाथ मारकर 'मैं धन्य हुआ हूँ,' ऐसी वह शेखी बघारता है । उसी क्षण उसके मन में लालच उत्पन्न होता है कि और भी बहुत लोगों का धन लूटकर लाऊँ और आजतक जो प्राप्त हुआ है

उस धनपर स्थावर जंगम संपत्ति जोड़ूँ। ॥३४६-५०॥ इस प्रकार इस दुनिया में सब दौलत का मालिक मैं बन जाऊँगा और जो मेरे दृष्टिपथ में आयेगा उसको छीनने बगैर मैं नहीं छोड़ूँगा, ऐसी धुन उसपर सवार होती है।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

आजतक जिन दुश्मनों को मैंने मार डाला है व॰ कुछ भी नहीं। अब और बड़े दुश्मनों को मार डालूँगा और मैं अकेला यश पाकर सुखसे जीऊँगा। फिर मेरे दासों के अलावा जो अन्य लोग हैं उनका मैं नाश करूँगा। इस चराचर विश्व का मैं ही स्वामी बनूँगा। मैं इस मृत्युलोक का राजा होकर सब सुखों का आगार बनूँगा। फिर मेरा ऐश्वर्य देखकर इंद्रभी लज्जित होगा। मैं तन मन से जो कुछ करूँगा वह सफल कैसे नहीं होगा ? मेरे सिवाय आज्ञा करनेमें कौन समर्थ है ? ॥३५१-५५॥ जब तक मुझ महाशक्तिमान को देखा नहीं है, तब तक काल भलेही अपने बलकी डींग मारे। लेकिन सचमुच मैं सब सुखों की राशि हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

कुबेर धनी है, किन्तु वहभी मेरी बराबरी नहीं कर सकता और मेरी जैसी धनदौलत लक्ष्मीपति की भी नहीं हैं। मेरे परिवार का नाम और कीर्ति और रिश्तेदारों का मेला इनकी तुलना में ब्रह्मदेव भी कम होंगे। इसलिये जो ईश्वर के नामपर घमंड करते हैं उनमें किसी को भी मेरी जैसी योग्यता नहीं हैं। अब जारण मारण आदि मंत्रतंत्रों का जो लोप हुआ है उसका जीर्णोद्धार करके लोगोंको पीड़ा करनेवाले याग मैं करवाऊँगा। ॥३५६-६०॥ मेरे जो पँवाड़े गायेंगे और नाचगाना करके मेरा मन बहलायेंगे, उनकी माँगें मैं पूरी करूँगा। इस त्रिभुवन में मैं नशीली चीजों का और स्त्रियों के आलिंगन का आनंद लूट लूँगा। हे अर्जुन, आसुरी वृत्ति के ये पागल लोग इसतरह बड़ी आशासे आकाश पुष्प सूँघना चाहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

जिस तरह ज्वरके प्रभावसे मरीज़ कुछ भी बर्‌राता है, उसी तरह, आसुरी लोग अपने विचार बकते रहते हैं । उनकी अज्ञानरूपी धूली से आशारूपी आंधी उत्पन्न होती है और वह मनोरथरूपी आसमान में चक्कर लगाती है । ॥४६१-६५ ॥ जिस तरह आसाढ़ में एक के ऊपर दूसरा बादल आता है, या समुद्र में लहरोंपर लहरें आती हैं, उसीतरह वे लगातार कामोपभोगों की इच्छा करते हैं । फिर उनकी मनोरथरूपी बेल फैल जाती है और जैसे काँटों से फूल नोच लेनेपर वे फट जाते हैं किंवा पत्थर पर हाँडी पटक देनेपर वह टूट जाती है, वैसेही उनके मनोरथ चकनाचूर हो जाते हैं । जैसी जैसी रात बढ़ती है वैसे वैसे अंधेरा अधिकाधिक घना होता जाता है, वैसेही उनके अंतःकरण में मोह बढ़ता जाता है और जैसे जैसे मोह की वृद्धि होती है वैसे वैसे विषयवासना बढ़ती जाती है और फलस्वरूप वहाँ पाप को आश्रय मिलता है । ॥३६५-७० ॥ फिर पाप बढ़कर ठोस होता है, और उनको जीवन मेंही नरकयातना भोगनी पड़ती है । उनके मनमें बुरी वासनाएँ आती हैं और वे अन्त में वहाँ निवास करते हैं जहाँ तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तों के पेड़ हैं, खैर के अंगारों के पहाड़ हैं और उबाले हुए तेल के समुद्र उछलते हैं, जहाँ नित्य नयी यमयातनाओं की कतार लगी रहती है । ऐसे भयंकर नरक में वे पड़ते हैं । ऐसे नरक के चुनिंदे भाग में जो जन्म लेते हैं वे यज्ञयाग आदि कर्म करने में व्यस्त रहते हैं । ॥३७१-७५ ॥ ऐसा देखने में आता है कि यद्यपि ये यज्ञयाग अंतमें फल देते हैं, तो भी बहुरूपियों के समान आचरण करके वे व्यर्थ फँस जाते हैं, जैसी वेश्या किसी एक व्यक्ति का आश्रय लेकर सुहागिन होने का आनंद मानती है ।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७ ॥

वैसे वे बडप्पन का रोब जमाकर गर्व से फूलते हैं । फिर वे लोहे के खंभे के समान या आसमान में ऊँचे उठे हुए शिलासमूहों के समान नहीं झुकते । इसी प्रकार वे अपनी धनदौलत के भोगविलास में मग्न हो कर अन्य लोगों को तिनकों सेही तुच्छ मानते हैं । ॥३७६-८० ॥ ऊपर वे संपत्ति के मद से उन्मत्त होकर योग्य और अयोग्य का विचार छोड़ देते हैं । अरे, जिनके तन में ऐसा घमंड भरा हुआ है, वे यज्ञ कैसे करेंगे ? परंतु पागल लोग क्या कर बैठेंगे इसका कोई नियम नहीं ।

इसलिये वे कभी कभी गँवारों की तरह यज्ञ का स्वांग रचने पर उतारू होते हैं। फिर उनको अग्निकुंड, मंडप, वेदी किंवा यज्ञ के लिये आवश्यक साधनसामुग्री की ज़रूरत नहीं होती। और उनका किसीभी विधिविधान से सदा बैर होता है। देवता और ब्राह्मणों का नाम भी उन्होंने सुना तो वह उनको सहन नहीं होता। ऐसी हालत में उनके यज्ञ में कौन आयेगा ? ॥३८१-८५॥ किन्तु जिस तरह चतुर लोग मरे हुए बछड़ेकी खाल में घासफूस भरकर उसको गौ के सामने रखकर उसका दूध निकालते हैं, वैसेही वे यज्ञ के बहाने लोगों को न्योता देते हैं और उनसे नेग लेकर उनको लूटते हैं। इसतरह वे यज्ञ करके शान दिखाते हैं और लोगों का सर्वनाश हो ऐसी इच्छा करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

फिर वे हम दीक्षित हैं ऐसा डंका, भेरी और निशान बजाकर अपने दीक्षितपन को प्रसिद्धि देते हैं। इस झूठे बड़प्पन से उन पापियों को बड़ा गर्व होता है। जिस तरह अंधकार को काजल का लेप लगायें, ॥३८६-९०॥ उसी तरह उनकी मूर्खता और उद्दंडता बढ़ जाती है और साथ साथ अहंकार और अविवेक दुगुने होते हैं। फिर लोग दूसरों का नाम न लें इसलिये वे अपना बड़प्पन और बढ़ाने लगते हैं। इस तरह अहंकार बढ़नेपर उनका दर्परूपी सागर अपनी मर्यादा लाँघकर बहने लगता है। फिर दर्प बेहद होनेपर काम की पित्त ऊबलने लगती है और उसकी आँच में क्रोधाग्नि अधिक भड़क उठती है। फिर जैसे गरमी के दिनों में प्रखर अग्नि, तेल और घी के कोठार में लग जाती है और उसी समय वायु भी बहने लगती है, ॥४९१-९५॥ वैसे उनका अहंकार प्रबल होता है और कामक्रोध में दर्प आ उलझता है। फिर जब इन दोनों का मेल होता है तब वे अपनी इच्छा से किन किन प्राणियों की हिंसा नहीं करते यह सोच लो। हे धनुर्धर, ये दीक्षित जादूटोने के फंदे में आकर अपने लहू और मांस खर्च करते हैं। उस समय वे देह को जो कष्ट देते हैं, उससे मुझको याने देह के अंतर्यामी आत्मा को तक़लीफ होती है। और जारणमारणादि कर्मों से वे जिनको पीड़ा देते हैं उनमें मैं चैतन्य रूप से विद्यमान होने के कारण वह उपद्रव भी मुझको ही होता है। ॥३९६-४००॥ और उनके

उस जारणमरण के आघात से यदि कोई बच भी गया तो उसको वे अपनी कुत्सित बातों के बाणों से मारकर परेशान करते हैं। साध्वी स्त्रियाँ, साधुसंत, दानी, याज्ञिक, असाधारण तपस्वी और संन्यासी भक्त और महात्मा, ये जो मेरे निवास के स्थान हैं और श्रौतादि होमकर्मों से पवित्र हुए हैं, उनपर कालकूट विष से पोते हुए तीक्ष्ण और भयंकर कटु वचनों की भरमार करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९ ॥

इस तरह जो मुझसे बैर करने के लिये प्रवृत्त होते हैं उन पापियों को मैं क्या सज़ा देता हूँ, सुनो। ॥४०१-४०५॥ मानवदेह धारण करके जो दुनियापर रूठ जाते हैं, उनका मनुष्यपन मैं छीन लेता हूँ और मैं क्लेशरूपी गाँव के घूरे या संसाररूपी नगर के गंदे पनघट जैसी तामस योनि में मैं उन मूढों को डालता हूँ। अथवा जहाँ खाने को कुछ भी नहीं होता ऐसे बन में उनको बाघ, बिच्छू इत्यादि योनि में जन्म देता हूँ। इन योनियों में भूख से तड़पकर वे अपनेही शरीर के टुकड़े दाँतों से काटते हैं और मरने के बाद उस योनि में फिर जन्म लेते हैं। जिनके गरल की उलटी की आँच से त्वचा जल जाती है, ऐसे साँपों के जन्म दे कर मैं उनको बिलों में बंद कर देता हूँ । ॥४०६-१०॥ परंतु अंदर लिया हुआ श्वास बाहर छोड़ने के लिये जितना समय लगता है, उतना समय भी उनको आराम करने के लिये मैं नहीं देता। जिसकी गिनती करने के लिये असंख्य कल्प कम होते हैं उतने कालतक मैं उनको कष्टों से आराम नहीं देता। मगर उनको जहाँ जाना है उसकी यह पहली मंजिल है। फिर जब वे अंतिम मुक़ाम पर पहुँचते तो उनको क्या इससे भी अधिक भयंकर कष्ट नहीं होंगे ?

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२० ॥

ऐसे आसुरी स्वभाव से वे अधोगति पाते हैं। फिर व्याघ्रादि योनि में देह के आधार पर जो थोडा आराम मिलता है, ॥४११-१५॥वह भी मैं छीन लेता हूँ। फिर जहाँ अंधकार जाकर घना और कालाकलूटा बनता है ऐसे तम में मैं उनको डाल देता हूँ। उस तम की पाप को भी घृणा होती है, नरक को भी डर लगता है

और वहाँ की पीड़ा से कष्ट को भी चक्कर आते हैं । जिनके संयोग से मैल भी मैला होता है, ताप कोही तकलीफ़ होती है और जिनका नाम लेनेपर महाभयही चौंकता है, जिनसे पाप भी ऊब जाता है, जिनका स्पर्श अशुभ वस्तुओं को भी अमंगल लगता है और जिनकी छुआछूत से छूत को भी डर लगता है ऐसे ये अधम लोग, हे धनंजय, तामस योनियों को भोगने पर समस्त दुनिया में जो निकृष्ट अवस्था है, उसको पहुँचते हैं । ॥४१६-२० ॥ उस तम का वर्णन करते समय वाणी रोने लगती है, और उसका स्मरण होतेही मन चक्कर खाकर पीछे हटता है । हाय हाय ! इन मूढों ने कैसा नरक का साधन जुटाया है । जिस आसुरी संपत्ति से इतनी बरबादी होती है, उसको वे क्यों व्यर्थ पालते हैं ? इसलिये हे अर्जुन, तुम वह राह मत पकड़ो । जिस स्थान पर दंभादि छः दोषों से भरे हुए लोग रहते हैं उसको टालना ही उचित है ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।२१ ॥

जहाँ काम, क्रोध और लोभ इन तीनों का महत्त्व बढ़ता है वहाँ अशुभ फलता है ऐसा जानो । ॥४२१-२५ ॥हे धनंजय, मानो सब दुःखों ने ये तीन पथप्रदर्शक नियुक्त किये हैं ताकि उनका अनुभव सभी को मिले । अथवा पापियों को नरकभोग देने के लिये पापों की यह बड़ी सभा संपन्न हुई है । जब तक ये तीन दोष अंतःकरण में नहीं उठते, तब तक रौरव नरक की ख्याति पुराणों में ही रहती है । इनके द्वारा विपत्तियाँ लगातार आती हैं, यातनाएँ सस्ती होती हैं, दुनिया में जिसको हानि कहते हैं वह हानि नहीं हैं । सच में हे वीरश्रेष्ठ, ये तीन हानिकारक और निकृष्ट दोष नरक के द्वार हैं । ॥४२६-३० ॥काम, क्रोध और लोभ इनका तन, मन से जो स्वीकार करता है, वह नरकपुरी की सभा में सम्मान पाता है । इसलिये, हे किरीटी, मैं तुम्हें बारबार कहता हूँ कि तुम कामादि अनिष्ट गुटका त्याग करो ।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गीतम् ॥२२ ॥

हे अर्जुन जबतक इन तीन मनोविकारों से छुटकारा नहीं होता तब तक पुरुषार्थों की बात ही नहीं उठ सकती । ये तीन मनोविकार जबतक अंतःकरण में

जाग्रत हैं, तबतक किसीके हित की बात मैं कानों से नहीं सुनूँगा, ऐसा श्रीकृष्ण बोले। जिसको स्वहित की इच्छा है या आत्मनाश का डर है उसको चाहिये कि सजग रहकर वह इन तीनों को आश्रय न दे ॥४३१-३५॥ अगर पेट पर पत्थर बाँधकर कोई भुजाओं से समुद्र तैर कर पार गया किंवा कालकूट विष खाकर जिंदा रहा, तो कामक्रोध की संगति से कार्यसिद्धि संभव हो सकती है। इसलिये तुम इनको हृदय से निकाल दो। जिस समय ये तीन कडियोंवाली शृंखला सहज तुम्हारे पैरों से टूट जायेगी, तब स्वहित के रास्ते पर तुम सुख से चलोगे। कफ़, वात और पित्त इन से मुक्त हुआ शरीर, चुगली और व्यभिचार इनसे अलिप्त शहर और आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तापों से रिहा हुआ अंतःकरण इनसे जैसे सुख होता है, वैसे इन तीन मनोविकारों से छुटकारा पानेवाला सुखी होता है और उसको सत्संग मिलने पर वह मोक्षमार्ग पर चलने लगता है। ॥४३६-४०॥ फिर वह सत्संग के प्रभाव से और सच्छास्त्र की सहायता से जन्ममृत्यु की बंजर भूमि के पार जाता है। तब जहाँ आत्मानंद निरंतर वास करता है ऐसी गुरुकृपा का स्थान उसको प्राप्त होता है। फिर जो प्रेम की परम सीमा है उसकी आत्मरूपी माँ से भेंट होती है और उसके आलिंगन में संसार का शोरगुल थम जाता है। इस तरह जो काम, क्रोध और लोभ से छुटकारा पाता है, वह आत्मलाभ का मालिक बनता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

फिर इस आत्मलाभ की इच्छा जिसको नहीं होती वह कामादि विकारों में मन लगाकर रहता है, और आत्मघात करता है। ॥४४१-४५॥ इस दुनिया में सब लोगों पर समान कृपा करनेवाले और हित और अहित दिखानेवाले जो दीप हैं उन वेदों से वह घृणा करता है। वह शास्त्रोक्त विधिनिषेध का लिहाज़ नहीं करता और अपना हित न देखता हुआ इंद्रियों से प्यार करता है। वह काम, क्रोध और लोभ का पीछा नहीं छोड़ता और उनकी बात नहीं काटता। फिर वह मोक्ष का राजमार्ग छोड़कर स्वैर आचरण के घने जंगल में प्रवेश करता है। जो इन विकारों से थोड़े समय के लिये भी मुक्त नहीं होता, उसके स्वप्न में भी मोक्ष की बात नहीं आती।

परलोक से तो वह वंचित होताही है, परंतु इहलोक के भोग का उपभोग भी उसको नहीं मिलता। ॥४४६-५० ॥ जैसे कोई ब्राह्मण मछली पकडने के लिये पानी में जाकर डूब जाता है, और साथही उसको लोग पाखंडी कहते हैं, वैसेही वह विषयों का चसका लगने से परलोक से वंचित होता है और मृत्यु के चँगुल में फँस जाता है। इसलिये उसको स्वर्ग तो दूर रहा, इहलोक के विषयभोग भी प्राप्त नहीं होते। फिर मोक्षप्राप्ति का मौक़ा उसको कैसे प्राप्त होगा ? इसलिये जो काम के दबाव से विषयों का सेवन करना चाहता है, उसको न विषयभोग और न तो स्वर्ग प्राप्त होता है और उसका उद्धार भी नहीं होता।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४ ॥

इसलिये, भाई अर्जुन, जिसको स्वहित की चाह है उसको यह नहीं चाहिये कि वेदों का अनादर करे। ॥४५१-५५ ॥ जैसे पति का मन रखने से पतिव्रता स्त्री स्वहित अनायास प्राप्त कर लेती है किंवा सद्गुरु का उपदेश ध्यान में रखकर बर्ताव करनेवाला शिष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है, जैसे स्वयं ही रखी हुई निधि प्राप्त करने के लिये दिया आगे करना पड़ता है, वैसेही पार्थ, जो सब पुरुषार्थों का मालिक बनना चाहता है, उसको श्रुति और स्मृति सिर आँखों पर लेना चाहिये।जिस बात टालने को शास्त्र में कहा गया है, वह राज्य भी हो तो उसको तिनके के समान मानना चाहिये और जो बातें करने को योग्य कही गई हैं वे विष के समान हो तो भी उनका विरोध नहीं करना चाहिये। ॥४५६-६० ॥ हे वीरश्रेष्ठ, ऐसी जिसकी वेदोंपर अचल श्रद्धा है, उसका अनिष्ट कैसे हो सकता है ? अरे, अहित से छुड़ानेवाली और हित बढ़ानेवाली इस श्रुति के बिना कोई दूसरी माँ इस दुनिया में है ही नहीं। इसलिये उस श्रुति को नहीं छोड़ना चाहिये जिससे ब्रह्मप्राप्ति होती है। तुम भी विशेषतः श्रुति के नियमों का पालन करो। हे अर्जुन, तुमने पूर्व जन्मों में धर्म का आचरण किया है, इसलिये सच्छात्र को सार्थक करनेके लिये तुमने जन्म लिया है। और धर्मराज का छोटा भाई ऐसा नाम तुम्हें सहज प्राप्त हुआ है, इसलिये तुम वेदबाह्य कर्म मत किया करो। ॥४६१-६५ ॥ देखो कार्य एवं अकार्य का विचार शास्त्र का आधार लेकर ही करना चाहिये और जो बुरा कर्म है उसको टालना चाहिये। फिर जो सचमुच अपना कर्तव्यकर्म है उसको आस्थासे निभाकर पूरा करना चाहिय।

हे बुद्धिमान् अर्जुन, अब तुम्हारे हाथ में विश्व में प्रमाणित सिक्केकी अंगूठी है, अतः लोगों को पथप्रदर्शन करनेके लिये तुम समर्थ हो । इस प्रकार आसुरी संपत्ति के लक्षण कहकर उससे मुक्त होने का मार्ग भी भगवान ने अर्जुन को बताया ।

इसपर आगे वह पांडुपुत्र अर्जुन श्रद्धा के बारे में सवाल करेगा, उसको गौर से सुनिये । ॥४६६-७० ॥ इस अवसर पर संजयने व्यास की आज्ञा से जो बयान किया, वह मैं निवृत्तिमहाराज की कृपा से आपसे कह रहा हूँ । अगर आप सज्जन मुझको कृपा की दृष्टि से देखेंगे, तो मैं आप जैसा बड़ा बनूँगा ऐसा ज्ञानदेव कहते हैं । अगर आप अवधान देने की कृपा करें तो मेरे मनोरथ सफल होंगे । ॥४७१-७३ ॥

॥ सत्रहवाँ अध्याय ॥

हे गुरुदेव, कल्प के अंत में जिनकी योगनिद्रा खुलने पर इस विश्व की आकृति विकसित होती है वह श्रीगणेश आप हैं । आपको मेरा प्रणाम । जैसे त्रिपुरों में फँसे हुए श्रीशंकर आपके नामस्मरण से मुक्त हुए वैसे आपके स्मरण से जीवरूपी किले में अटकी हुई आत्मा मुक्त हो गयी । इसलिये श्रीशंकर से आपकी तुलना करने पर आपका पलड़ा भारी है, फिर भी अपने भक्तों को पार करने में आप कुम्हड़े से भी हलके हैं । जो आपको नहीं जानते, वे आपको वक्रतुंड यानी टेढी सूँडवाले कहते हैं, किंतु जानकारों को आप सदैव सरल दिखाई देते हैं । आपके दिव्य नयन देखने में छोटे हैं, तथापि उनके खोलने मुँदने से आप विश्व की उत्पत्ति और प्रलय लीला करते हैं । ॥१-५ ॥जब आप प्रवृत्तिरूपी एक कान हिलाते हैं, तब मद की गमकीली वायु बहने लगती है और जीवरूपी भ्रमर आपके गंडस्थल पर आ बैठते हैं । तब ऐसा लगता है मानो नीलकमलों से आपकी पूजा की गयी है । जब आप अपना दूसरा निवृत्तिरूपी कान हिलाते हैं तब वह पूजा विसर्जित होती है और उस समय आप का शुद्ध स्वरूप बहुत लुभावना दिखाई देता है । यह जो जगदाभास है, वह आपकी माया का नृत्यविलास है और आप तांडवनृत्य का बहाना कर के सारे विश्व

का व्यवहार चालू रखते हैं । अस्तु, हे दातारा, यह कितनी अजीब बात है कि जिसके साथ आप का रिश्ता होता है उससे (द्वैतभाव मिट जाने से) आप का नाता टूट जाता है और उसका कर्मबंधन लुप्त हो जाता है । इसलिये आप विश्वबंधु हैं इस भाव से जो संतोष से आपकी सेवा करते हैं, ॥६-१० ॥ उनकी देह भावना भी शेष नहीं रहती । मगर जो आपको अलग समझ कर आपकी प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न उपाय सोच कर दौड़धूप करते हैं, उनको आप दर्शन नहीं देते । जो आप का ध्यान करता है उसका आपको कुछ पता नहीं होता । किंतु ध्यान करने पर उसको अपनी देह का विस्मरण हुआ, तो वह आपको प्रिय होता है । जो आपका स्वयंसिद्ध रूप नहीं जानता, वह ' मैं सर्वज्ञ हूँ ' ऐसी शान दिखाता है । वेदों ने आप का जो वर्णन किया है, उसको आप सुनी अनसुनी कर देते हैं । आपका राशिनाम 'मौनी' होगा ऐसे मुझे लगता है, तो मैं आपकी स्तुति करने की इच्छा क्यों करूँ ? ॥११-१५ ॥ अगर मैं आपका सेवक बनना चाहूँ तो भेदभाव का द्रोह प्राप्त होता है । इसलिये आपके लिये कुछ न करना उचित होगा । हे आराध्यमूर्ति गुरुराय, जब यह भेदभाव सब प्रकार से मिट जाता है, तब आपका अद्वय स्वरूप ज्ञात होता है, यह आपका रहस्य मैंने जान लिया है । अतएव अलगाव न रखते हुए पानी जैसे नमक को अपने में समा लेता है, वैसे आप मेरा प्रणाम स्वीकार करें । इससे ज्यादा हम क्या कह सकते हैं ? जैसे खाली घड़ा समुद्र में डूबने पर भर जाता है, किंवा दीप के साथ संपर्क होने से बत्ती दीप बन जाती है, वैसे ही, हे निवृत्तिनाथ, आपको नमन करके मैं कृतार्थ हो गया हूँ । ॥१६-२० ॥

जब सोलहवें अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान ने निश्चित रूप से निर्णय किया कि भले और बुरे आचरण का फैसला करने में शास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिये, तब अर्जुन ने सोचा कि यह क्या है । कोई कर्म करने में शास्त्र से निर्णय क्यों लेना चाहिये ? साँप के पास जा कर उस के फन से हम मणि कैसे निकाल सकते हैं ? और सिंह की नाक का बाल कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? फिर उस मणि को उस बाल में गूँथ कर वह गहना गले में डालने न मिला, तो क्या गला खुला ही रखें ? ॥२१-२५ ॥उसी तरह अलग अलग शास्त्रों को एकत्रित कौन करेगा और उनके ऐकमत्य का फल हम कैसे निकालेंगे ? और उनका ऐकमत्य होने पर

भी उसका आचरण करने के लिये समय कैसे मिलेगा ? इतनी लम्बी आयु किस के भाग्य में होती है ? और शास्त्र, धन, देश और काल एक ही समय पर हासिल करने का उपाय सब को कैसे प्राप्त होगा ? इसलिये हर तरह सोच लेने पर ऐसा लगता है कि शास्त्र के अनुसार कोई कर्म नहीं हो सकता। फिर मोक्ष की इच्छा रखनेवाले लोग क्या करें ? यह अभिप्राय जानने के लिये अर्जुन ने जो बात छेड़ी, वह सत्रहवें अध्याय में है। ॥२६-३०॥अब जो सब विषयों के प्रति उदासीन, सकल कलाओं में पारंगत, अर्जुन के रूप में श्रीकृष्ण को आनंद देनेवाला, शौर्य का आश्रय, सोमवंश का भूषण, अपनी लीला से भगवान को सुख देनेवाला, बुद्धि का वल्लभ, ब्रह्मविद्या का विश्रामस्थान, हमेशा श्रीकृष्ण के अंतःकरण में रहनेवाला अर्जुन बोला :-

अर्जुन उवाच-

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विता: ॥
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तम: ॥१॥

हे तमालश्याम कृष्ण, आप तो इंद्रियगोचर परब्रह्म हैं, फिर भी आप की यह बात संदेहयुक्त लगती है। जीव, शास्त्र के बिना, दूसरे किसी उपाय से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता यह आपने कैसे कहा ? ॥३१-३५॥ शास्त्र के अध्ययन के लिये अनुकूल स्थान और समय चाहिये, शास्त्र के अध्यापक गुरु मिलना तो दूर की बात है, अध्ययन के लिये साधन सामग्री भी पास नहीं होती। वैसे ही पूर्वकर्म अनुकूल न होने से बुद्धि भी सहायता नहीं करती। इस कारण से जिस का शास्त्राध्ययन रुक गया हो और शास्त्र में गति न होने के कारण उसका विचार करना ही उसने छोड़ दिया हो (तो वह क्या करे) ? फिर भी जो शास्त्र का अध्ययन और उसका यथाविधि अनुष्ठान करके तृप्त रहते हैं, ॥३६-४०॥उनके समान होने की इच्छा से वह उनके मार्ग का अनुकरण करता है। हे दातार, जिस तरह पाठ में जो अक्षर होते हैं उनपर जैसे बालक हाथ फिराता है अथवा हट्टेकट्टे आदमी का आधार लेकर दुबला आदमी चलता है, वैसे ही जो सकल शास्त्रों में पारंगत हैं,उनका आचरण वह श्रद्धा से प्रमाण मानता है और शिवजी आदि देवताओं की पूजा, भूदान, अग्निहोत्र इत्यादि श्रद्धा से करता है। उसको, हे पुरुषोत्तम, सात्त्विक, राजस और तामस इनमें से कौनसी

गति प्राप्त होती है, वह मुझको बताइये। ॥४१-४५ ॥ तब जो वैकुंठपीठ के अधिदेवता, वेदरूपी कमल के पराग हैं और जिनकी छाया में यह समस्त विश्व जीवित रहता है, महाकाल के जो स्वाभाविक गुण अलौकिकता, बडप्पन, अद्वैतत्व, गूढता और आनंदघनता, जिनकी सामर्थ्य से स्तुति के पात्र होते हैं, वे श्रीकृष्ण अपने मुख से बोल रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच :

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

भगवान ने कहा, हे पार्थ, मैंने तुम्हारा अभिप्राय जान लिया। तुमको शास्त्राध्ययन की कठिनाई महसूस होती है यह सही है। परंतु, हे बुद्धिमान अर्जुन, तुम केवल श्रद्धा से मोक्ष प्राप्त करना चाहते हो तो वह भी उतनी सुलभ नहीं है। ॥४६-५० ॥ तुम केवल श्रद्धा की बात पर विश्वास मत करो। शूद्र के साथ हेलमेल से क्या ब्राह्मण भी शूद्र नहीं बनता ? और शराब के बरतन में यदि गंगाजल रखा, तो उसका स्वीकार नहीं करना चाहिए। तुम इस पर विचार करो। चंदन शीतल होता हैं, मगर जलते हुए चंदन काष्ठ को हाथ में लोगे तो क्या हाथ झुलस नहीं जाएगा ? हीन-कस सोना गलाकर उसमें शुद्ध सोना मिलाया तो उस खरे सोने में खोट नहीं आएगी ? उसी तरह श्रद्धा का निजी स्वरूप शुद्ध होने पर भी वह जीवों के सम्पर्क में आ कर शुद्ध नहीं रहती। ॥५१-५५ ॥ क्योंकि जीव यह स्वभावतः माया से प्रभावित हो कर तीन गुणों से बना हुआ है। उनमें से जब दो गुण क्षीण हो कर तीसरा भारी होता है, तब उस तीसरे गुंण के अनुसार उस जीव की मनोवृत्तियाँ बनती हैं। तब वृत्तियों के सदृश मन बनता है, मन के सदृश क्रियाएँ होती हैं और मृत्यु के बाद फिर जीव कर्मों के अनुसार देह धारण करता है। बीज नष्ट होने पर पेड़ बढ़ता है और पेड़ नष्ट होने पर वह बीज में समा जाता है। असंख्य कल्प बीत जाने पर भी उस पेड़ की निजी जात नष्ट नहीं होती। उसी तरह जीव के असंख्य जन्म होने पर भी इन तीन गुणों में परिवर्तन नहीं होता। ॥५६-६० ॥ इसलिये किसी व्यक्ति के हिस्से में जो श्रद्धा आती है, वह इन तीन गुणों पर ही निर्भर होती है। सत्त्वगुण बढ़ जाने से ज्ञान की वृद्धि होती है, मगर उसको दो गुण प्रतिकूल होते हैं। सात्त्विक श्रद्धा मोक्षफल तक पहुँचाती है, मगर रजोगुण और तमोगुण

चुपचाप कैसे बैठे रहें ? और सत्त्वगुण पर मात करके जब रजोगुण बढ़ जाता है, तब श्रद्धा कर्म की ओर झुकती है । फिर जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब श्रद्धा की ऐसी रीति होती है कि वह गलत विषयोपभोगों में फाँस लेती है । ॥६१-६५ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३ ॥

इस प्रकार, हे चतुर अर्जुन, इन जीवों के समुदाय में इन तीन गुणों से भिन्न श्रद्धा नहीं है । इसलिए, सत्त्व, रज और तम इन तीन भेदों से यह श्रद्धा त्रिगुणात्मक है । जल प्राणियों का जीवन है मगर उसमें विष डालने पर वह घातक, काली मिर्च डालने पर तीखा और गन्ने में डालने पर मीठा होता है । तथा तमोगुण बढ़ने पर जीव जन्म और मृत्यु पाता है और उसकी श्रद्धा तमोगुण में परिणत होती है । स्याही और काजल में जैसे फ़र्क नहीं होता, वैसे ही वह तामसी श्रद्धा उस आदमी से भिन्न नही होती । ॥६६-७० ॥ उसी तरह राजस व्यक्ति की श्रद्धा रजोमय और सात्त्विक व्यक्ति की श्रद्धा सत्त्वमय होती है । ऐसे यह समस्त विश्व सचमुच श्रद्धा से व्याप्त है । परंतु त्रिगुणों पर निर्भर होने से इस श्रद्धा में जो भिन्न प्रकार के लक्षण होते हैं, उनको तुम पहचान लो । जैसे पेड़ के फूल से उसके फल का हम अनुमान कर सकते हैं, या भाषण से आदमी के विचार मालूम पड़ते हैं, या इस जन्म में जीव को जो भोग प्राप्त होते हैं, उनसे उसका प्राक्तन कर्म पहचाना जाता है, उसी तरह जिन लक्षणों से श्रद्धा के भिन्न रूप हम पहचान सकते हैं, वे मैं तुमको बताता हूँ ॥७१-७५ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४ ॥

जिन का शरीर सत्त्वमय श्रद्धा से बना हुआ है, उसकी बुद्धि का रुख बहुधा स्वर्ग के प्रति रहता है । वे सब विद्याएँ पढ़ते हैं और विशिष्ट यज्ञ करते हैं । और अंत में वे देवलोक को जाते हैं । हे वीरश्रेष्ठ, जिनका शरीर रजोमय श्रद्धा से बना हुआ है, वे आकाशचारी यक्ष और दैत्यों को भजते हैं । लेकिन जिनका शरीर तमोगुण से बना है, वे केवल पापराशि हो कर अत्यंत कठोर और निर्दयी होते हैं । वे प्राणियों को बलि देकर भूत, प्रेत आदि की स्मशान में पूजा करते हैं ॥७६-८० ॥

ये तमोगुण का अर्क निकाल कर बनाये गये लोग तमोगुणमयी श्रद्धा के आगर होते हैं । इस तरह श्रद्धा के तीन प्रकार होते हैं और यह मैं इसलिये बता रहा हूँ कि साधक इन में से सत्त्वमयी श्रद्धा की रक्षा करे और इसके प्रतिकूल रजोमयी और तमोमयी श्रद्धा का त्याग करे । इस सत्त्वमयी श्रद्धा की जो रक्षा करता है उसको मोक्ष प्राप्ति की चिंता नहीं होती । उसने यदि ब्रह्मसूत्र या शास्त्रों का अध्ययन न किया हो और वेदान्त भी स्वयं न पढ़ लिया हो, ॥८१-८५॥ तो भी जिन योगियों ने श्रुति और स्मृति का अभिप्राय ध्यान में रख कर और उनका आचरण कर के जो दुनिया को पूजनीय हुए हैं उन सात्त्विक पुरुषों का अनुकरण जो करता है, उसको उनके अध्ययन से प्राप्त होनेवाला फल मिल जाता है । हे पार्थ, किसीने अगर बड़े प्रयास से दीप जलाया और उस पर से किसी दूसरे ने अपना दीप सुलगाया, तो क्या उसकी कुछ हानि होती है ? किंवा किसीने बहुत खर्च कर के मकान तैयार किया, तो उसमें क्या कोई दूसरा रहनेवाला सुख नहीं भोगता ? जो तालाब बाँधता है क्या वही उसके पानी से प्यास बुझा सकता है या घर में भोजन पकानेवाले को ही तृप्ति मिलती है, क्या अन्यों की नहीं ? ॥८६-९०॥ गौतम ऋषि गंगा को धरती पर ले आये, इसलिये क्या उस ऋषि के लिये ही वह पवित्र होती है और दूसरों को नाले के समान होती है ? इसलिये अपने से अधिक जो दक्षता से शास्त्र का अनुष्ठान करते हैं, उनका अनुकरण जो श्रद्धा से करता है, वह मूढ होकर भी मुक्त होता है ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

जो शास्त्र का नाम भी नहीं लेते और शास्त्रज्ञों को घर की देहलीपर भी खड़ा नहीं रहने देते, जो बड़ों की पूजा-अर्चा देख कर मुँह चिढ़ाते हैं और पंडितों के प्रवचन सुन कर तालियाँ बजा कर उनकी खिल्ली उड़ाते हैं और धनदौलत के नशे से पाखंडियों के तप का आचरण करते हैं, ॥९१-९५॥ वे अपने और दूसरों के शरीर पर गँड़ासे से घाव डाल कर रक्त और मांस से यज्ञपात्र भरते हैं और उसको जलते हुए कुंड में डाल कर क्षुद्र देवताओं को आहुति देते हैं और उनकी मनौती के लिये बालकों की भी बलि देते हैं । वे क्षुद्र देवताओं से वर पाने के लिये दुराग्रह से सात सात दिन उपवास कर के अनुष्ठान करते हैं । हे सुजान अर्जुन, वे तमोरूपी

भूमि में आत्मक्लेश और परपीड़ा का बीज बोकर उस की फसल काटते हैं। ठूँठा हो कर जो नाव का आसरा नहीं लेते हुए नदी में कूद पड़ता है, उसकी हालत बुरी होती है। ॥९६-१००॥ जो मरीज वैद्य के द्वेष से पैर से काढ़ा लुढ़का देता है उसको जिंदगी से हाथ धोना पड़ता है। जो आँखवाले से झगड़ा कर के अपनी आँखें निकाल कर फेंक देता है, उसको घर में ही रहना पड़ता है। वैसी ही हालत आसुरी लोगों की होती है। क्योंकि वे शास्त्रोक्त मार्ग छोड़ कर मोहरूपी अरण्य में तितर बितर होकर इधर उधर भागते हैं और काम के इशारे पर कर्म करते हैं और क्रोध के अधीन हो कर दूसरों की मारपीट करते हैं और मुझ को दुःख के गढ़े में डालते हैं।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

जो अपने और दूसरों के शरीरों को पीड़ा देते हैं, उससे मुझ को याने हृदयस्थ आत्मा को क्लेश होते हैं। ॥१०१-०५॥ ऐसे पापी का नाम भी लेना नहीं चाहिये, मगर उसको टालने के लिये तुमसे यह कहना पड़ा। शव को घर से बाहर निकाल देना पड़ता है, या अंत्यज से कुछ बात कर के उसको टालना पड़ता है। परंतु यह सब स्वच्छता के प्रयोजन से किया होता है, इसलिये उसको दोष नहीं लगता। वैसे ही पापी लोगों को टालने के लिये उनका वर्णन किया। इसलिये, हे अर्जुन, उनका दर्शन होते ही मेरा स्मरण करो, क्योंकि इसके अतिरिक्त दूसरा प्रायश्चित्त नहीं है। अतः सात्त्विक श्रद्धा की सदैव रक्षा करनी चाहिये। ॥१०६-१०॥

हे अर्जुन, ऐसे लोंगों की संगत रखो कि जिससे सात्त्विक श्रद्धा बढ़ने लगेगी और सदा सत्त्वगुण बढ़ानेवाला आहार करो। वास्तव में स्वभाव बनाने में आहार के बिना दूसरा उपाय नहीं है। तुम देखते हो कि कोई सजग आदमी शराब पीने से शीघ्र उन्मत्त हो जाता है। आदमी जो भोजन करता है, वह उससे वात, कफ़ आदि से व्याप्त होता है, फिर उसको यदि बुखार आया तो क्या दूध पीने से वह बुखार कम होगा? जैसे अमृत का सेवन करने पर मृत्यु टलती है और विष खाने से मौत आती है, ॥१११-१५॥वैसे ही जैसा आहार करोगे वैसे ही शरीर में धातु बनेंगे और इन धातुओं के संयोग से ही मन में भावनाएँ पैदा होती हैं। जैसे बरतन गरम

होने से उसमें रखा हुआ जल भी गरम होता है, वैसे ही धातुओं के अनुसार चित्तवृत्तियाँ बनती हैं। इसलिये सात्त्विक आहार लेने से सत्त्वगुण बढ़ता है और दूसरा आहार लेने से रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होती है। अब सात्त्विक आहार कौनसा और राजस और तामस आहार के लक्षण क्या होते हैं यह बताता हूँ, तुम सादर सुन लो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७ ॥

हे अर्जुन, आहार एक सरीखा होता है, फिर भी उसके तीन प्रकार कैसे होते हैं वह मैं स्पष्ट कहता हूँ। ॥११६-२० ॥ हे पार्थ, भोजन करनेवाले की जैसी रुचि होती है, वैसा भोजन तैयार करना पड़ता है और भोजन करनेवाला तो गुणों का गुलाम है। जो जीव कर्ता और भोक्ता है, वह स्वभावतः तीन प्रकार की चित्तवृत्तियों से बर्ताव करता है, इसलिये आहार तीन प्रकार का और यज्ञ, दान और तप में भी तीन प्रकार होते हैं। मगर आहार के जो लक्षण मैंने तुमसे प्रथम कहना चाहा उन को अब तुम्हें स्पष्ट बताऊँगा, ध्यान से सुनो ।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८ ॥

जब भाग्य से जीव सत्त्वगुण की ओर झुकता है, तब उसकी मधुर अन्न खाने में रुचि होती है। ॥१२१-२५ ॥ सात्त्विक अन्न के पदार्थ स्वभावतः रसयुक्त, मीठे, अति स्निग्ध और पूरी तरह पके हुए होते हैं। उनका आकार बड़ा नहीं होता और उनका स्पर्श मृदु होता है। वे जिह्वा पर झट से घुल जाते हैं और स्वादिष्ट होते हैं। वे रसयुक्त और नरम होते हैं और उनमें स्थित द्रव भाग अग्नि की आँच से सूख जाता है। जैसे श्रीगुरु की वाणी में अक्षर कम होते हैं, परंतु उनका असर बड़ा होता है, वैसे ये पदार्थ कम खाने पर भी उनसे बहुत तृप्ति होती है। वह अन्न खाने के सभय स्वादिष्ट लगता है और उसका असर भी मधुर होता है। ॥१२६-३० ॥ ये सात्त्विक आहार के लक्षण और गुण हैं, और उससे आयु लम्बी होती है। जब ऐसे सात्त्विक रसों के मेघ देह में वर्षा करते हैं, तब प्रतिदिन आयुरूपी नदी को बाढ़ आती है। हे सुजान अर्जुन, जैसे सूर्य की वजह से दिन बढ़ता जाता है, वैसे इस

प्रकार के आहार से सत्त्वगुण का पोषण होता है। इस आहार से ही शारीरिक और मानसिक बल बढ़ता है। फिर बीमारी का क्या बस हो सकता है ? सात्त्विक आहार लेने से तन्दुरुस्ती को बढ़ावा मिलता है। ॥१३१-३५॥ फिर वह उपभोक्ता (खानेवाला) स्वयं सुख का भोग ले कर दूसरों को सुखी करता है। इस तरह उसकी चेष्टाएँ सुखदायक होती हैं और उसको आनंद साथ देता है। इस प्रकार सात्त्विक आहार का असर बड़ा होता है और वह शरीर को अंतर्बाह्य उपकारक होता है। अब रजोगुणी को कौनसा आहार प्रिय होता है, यह तुमको प्रसंग के अनुसार कहता हूँ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

वह आहार कालकूट विष के समान घातक नहीं बल्कि कड़ुआ, चूने से अधिक दाहक परंतु खट्टा, आटा भिगाने के लिये जितना जल लगता है उतना नमक और अन्य नमकीन चीजें डाल कर बनाये हुए खारे पदार्थ ॥१३९-४०॥ रजोगुणी पुरुष को प्रिय होते हैं। वह इतना गरम अन्न खाता है मानो अग्नि निगल रहा हो। जिस पदार्थ की बाफ पर दिया भी जला सकते हैं, ऐसी गरम चीजें वह खाने के लिये चाहता है। पत्थर फोडनेवाले सब्बल की नोक जैसी तीखी चीजें वह खाता है, जो घाव के बिना भी पीड़ा करती हैं। तथा वह राख के समान अंतर्बाह्य सूखे और चटपटे पदार्थ चाहता है। जिनको खाने के लिये दाँतों से घिसना पड़ता है ऐसे कड़े पदार्थ खाने में उसको मज़ा आता है। ॥१४१-४५॥ पहले ही चटपटा और तीखा, तिसपर सरसों का बघार दिया हुआ पदार्थ उसको पसंद होता है, जिसको खाने पर नाक और मुँह में जलन होती है। अग्निपर भी जो मात करता है वैसा रायता जैसा पदार्थ रजोगुणी पुरुष को प्राणों से भी प्रिय होता है। इस प्रकार का अन्न खाने पर भी वह अतृप्त रहता है और जिह्वा के अधीन होकर पेट में धधकती हुई आग डालता है। तथा लौंग और सोंठ खा कर वह जमीन पर लोटता है और मुख से जल का पात्र अलग नहीं करता। यह तो अन्न नहीं है, बल्कि शरीर में सुप्त व्याधिरूपी सर्प को जगानेके लिए दिया हुआ नशीला पदार्थ है। ॥१४६-५०॥ उसके साथ ही बीमारियाँ परस्पर ईर्ष्या से अचानक उठाव करती हैं। इस तरह इस

राजस अन्न से सिर्फ दुःख फलता है । हे अर्जुन, इस प्रकार मैंने राजस आहार का वर्णन किया और उसके असर का भी विचार किया ।

अब तमोगुणी आदमी को जो घिनौना आहार प्रिय होता है वह तुमको बताता हूँ । भैंसा जैसे सानी खाता है, वैसा वह जूठा और सड़ियल अन्न खाता है । उससे अपना अहित होगा यह विचार उसके मन में नहीं आता ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१० ॥

फिर सुबह पकाया हुआ अन्न दुपहर में किंवा दूसरे दिन वह बड़ी रुचि से खाता है । ॥१५१-५५ ॥ अथवा अधा पका या बहुत जला हुआ नीरस अन्न तामस प्रकृति के पुरुष को अच्छा लगता है । जो ठीक पका हुआ है या रसपूर्ण है वह उस को कतई नहीं भाता । ऐसा उत्तम भोजन करने का मौक़ा उसको मिला तो वह बाघ के समान उसको दुर्गंधयुक्त होने तक रख देता है । बहुत दिन रखा हुआ, फ़ीका या सूखा हुआ, सड़ियल या कृमियुक्त और बालबच्चों के हाथों मसल कर कीचड़ के समान किया हुआ अन्न वह बालबच्चों के साथ एक थाली में खाता है । ॥१५६-६० ॥ इस प्रकार गंदा अन्न खाने से उसको मज़ा आता है और उसको भोजन किया सा लगता है । किंतु इससे भी वह तृप्त नहीं होता । और यह एक अनूठी बात है कि जो शास्त्र में निषिद्ध माना गया है वह पेय पीने की और खाना खाने की उसको तीव्र इच्छा होती है । हे वीरश्रेष्ठ, ऐसे पदार्थ वह बड़े शौक से चखता है और उसका फल भी उसको तुरंत मिल जाता है । क्योंकि जब वह उन अपवित्र पदार्थों का सेवन करता है, तब वह शीघ्रही पाप के योग्य बनता है । ॥१६१-६५ ॥ वह जो कुछ खाता है वह भोजन करने का सही तरीक़ा नहीं है, अपितु यातनाओं से पेट भरना है । शिरच्छेद या अग्निप्रवेश के समय क्या बीतता है इसका वह थोड़ा बहुत अनुभव करता है, मगर वह उसको सह लेता है । इसलिये श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस तामस अन्न का परिणाम और भिन्न प्रकार से कहने का कारण नहीं है । अब आगे आहार के समान यज्ञ के भी तीन प्रकार होते हैं । हे दातारों में श्रेष्ठ अर्जुन, सात्त्विक यज्ञ का लक्षण प्रथम कहता हूँ, सुनो । ॥१६६-७० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११ ॥

जिस तरह साध्वी स्त्री पति के बिना अन्य पुरुष के लिये कामना नहीं करती अथवा समुद्र से मिलने के बाद गंगा नदी आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करती, अथवा आत्मदर्शन होनेपर वेद मौन रखते हैं उसी तरह वे स्वहित में मनोवृत्तियाँ लगा कर उसके फल के बारे में तनिक भी अहंभाव नहीं रखते । जैसे जल पेड़ की जड़ में जाकर वापस नहीं आता, बल्कि उसके तने में समा जाता है, वैसे ही वे तन मन से निश्चय कर के उसके फल में इच्छारहित हो कर यज्ञकर्म में मग्न होते हैं । ॥१७१-७५ ॥ और स्वधर्म के सिवा अन्य बातों की ओर विरक्त हो कर सांग यज्ञ की पूर्तता करते हैं । परंतु जैसे आँख दर्पण में अपना रूप देखती है, अथवा हथेली पर रखा हुआ रत्न दीप के प्रकाश में स्पष्ट दिखाई देता है, या सूर्योदय होने पर अगला मार्ग साफ़ देखने में आता है, वैसेही वेदोक्त विधिविधानों का पालन कर के निश्चित रूप से अग्निकुंड, मंडप, वेदी इत्यादि यज्ञ की साधनसामग्रियाँ इस तरह बटोरते हैं, मानो वेदों ने ही खुद आकर उनकी सिद्धता की है । जैसे योग्य अवयवों पर और स्थानानुकूल गहने पहनने से ही वे शोभा देते हैं, वैसे ही यज्ञ के पदार्थ अच्छी तरह रखने से होता है । ॥१७६-८० ॥ और किन शब्दों से उस यज्ञ का वर्णन करूँ ? उस यज्ञमंडप को देख कर ऐसा लगता है कि मानो मूर्तिमंत यज्ञविद्या ही इस यज्ञ के बहाने से वहाँ आ गई है । इस तरह गौरव की इच्छा न रख कर वह यज्ञ सांगोपांग किया जाता है, जैसे तुलसी के पौधे से फल, फूल या छाया मिलने की आशा नहीं होते हुए भी लोग उसकी नहर के पानी से परवरिश करते हैं । सारांश कि जो यज्ञ फलाशा के बिना और युक्ति से किया जाता है, वही सात्त्विक यज्ञ है ऐसा समझो ।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२ ॥

और, हे वीरश्रेष्ठ, राजस यज्ञ भी इसी तरह विधिपूर्वक किया जाता है । लेकिन श्राद्ध में जैसे राजा को न्योता देते हैं, ॥१८१-८५ ॥ ताकि उसके घर आने से प्रतिष्ठा मिले और श्राद्ध भी पूरा हो, वैसे ही स्वर्गप्राप्ति, संसार में सम्मान, और यज्ञ

की पूर्तता भी हो, इसलिये जो यज्ञ किये जाते हैं, वे, हे अर्जुन, राजस यज्ञ कहलाते हैं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

और पशुपक्षियों के गठबंधन में काम के अतिरिक्त पुरोहित आवश्यक नहीं होता, वैसे तामस यज्ञ का मूलकारण भी दुराग्रह होता है। अगर समीर बहने को मार्ग खोजे, या मृत्यु मुहूर्त देखे, या अग्नि निषिद्ध पदार्थ जलाने से डरे, ॥१८६-९०॥ तो तामस यज्ञ को विधिका नियंत्रण हो सकता है, इसके कारण से वह यज्ञ उद्दण्ड होता है। यज्ञ करनेवाले को शास्त्रोक्त विधि की परवाह नहीं होती, मंत्रों की आवश्यकता भी नहीं होती और वहाँ मक्खियों को भी अन्न नहीं मिलता। वे ब्राह्मणों का द्वेष करते हैं, फिर वहाँ उनको दक्षिणा देने का विचार ही कौन करेगा? जैसे समीर की सहायता से अग्नि दावानल जैसी भड़कती है, अथवा निपुत्रिक का घर उसके पश्चात् लुट जाता है, वैसे ही यज्ञ द्रव्य का व्यर्थ खर्च होता है, क्योंकि उसमें श्रद्धा तनिक भी नहीं होती। ऐसा जो दिखावटी यज्ञ है उसको तामस यज्ञ कहते हैं, ऐसा रमापति श्रीकृष्ण बोले ॥१९१-९५॥

अब जैसे गंगा का जल भिन्न भिन्न पात्रों में कहीं गंदा तो कहीं शुद्ध होता है, वैसे ही इन तीन गुणों से संयोग से तप भी तीन प्रकार का होता है। उनमें से एक कारण पाप का होता है, और दूसरा उन्नति का। हे अर्जुन यदि तुम जानना चाहते हो कि ये तीन प्रकार के तप क्या होते हैं तो तप का लक्षण प्रथम समझ लो। उसका स्वरूप मैं तुम्हें बताता हूँ। फिर तीन गुणों के संयोग से उनके तीन प्रकार कैसे होते हैं यह मैं बाद में बताऊंगा। तप के शारीरिक, वाचिक और मानसिक ऐसे तीन प्रकार होते हैं। ॥१९६-२००॥ अब उनमें शारीरिक तप क्या होता है यह पहले बताऊंगा, सुनो। शंकर या विष्णु जिसके इष्ट देवता हैं,

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

उस देवता के मंदिर में जाने के लिये उसके पैर आठों प्रहर चलते हैं और उस देवता का आँगन सुशोभित करने, पूजा का सामान बटोरने और देवता की सेवा

करने के लिये उसके हाथ तैयार रहते हैं। वह शिवजी का लिंग या विष्णु की मूर्ति देखने पर दंडवत् प्रणाम करता है और विद्या, विनय इत्यादि गुणों से जो ब्राह्मण पूजनीय हैं उनकी सेवा करता है। ॥२०१-०५॥ अथवा जो थके हुए यात्री हैं और विपत्ति से जो पीड़ित हैं उनको वह सुख देता है। वह सब तीर्थों में श्रेष्ठ जो मातापिता, उनकी सेवा करने में अपनी देह निछावर करता है। और जो इस दुस्तर संसार में अपने दर्शन से कष्ट दूर कर के सदयता से विद्यादान करता है, उस गुरुदेव की वह सेवा करता है। और स्वधर्म की अँगीठी में योगाभ्यास के पुट देकर देहाभिमान का मल नष्ट करता है। प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है यह सोच कर उसको प्रणाम करता है, परोपकार करने में तत्पर रहता है, और स्त्रीसमागम के विषय में संयम रखता है। ॥२०६-१०॥ जन्म होने के समय स्त्री के साथ देहस्पर्श होता है, इस लिये वह पुनः उससे स्पर्श होने नहीं देता और आजन्म निर्मल रहता है। भूतमात्र में जीवन है यह जान कर वह तृण को भी पैरों से नहीं कुचलता और किसी भी पदार्थ की तोड़ फोड़ नहीं करता। इस तरह जब देह के व्यापार शुद्ध होते हैं, तब शारीरिक तप सफल हुआ ऐसा समझो। हे पार्थ, ये सब व्यापार जब शरीर के द्वारा होते हैं, तब उसको मैं शारीरिक तप कहता हूँ। इस तरह शारीरिक तप के लक्षण मैंने तुमको बताये। अब निर्दोष वाचिक तप कैसा होता है वह मैं बताता हूँ, सुनो। ॥२११-१५॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

हे पार्थ, पारस लोहे को उसकी आकृति और भार कम न कर के उसको सुवर्ण बनाता है। वैसे ही पास के आदमी को कष्ट न दे कर वह ऐसी सरल बातें करता है कि उसको सुख मिले। जैसे पेड़ को जल देने पर उसके निकट का तृण भी बढ़ता है, वैसे ही उसकी किसी से कही हुई बात सब को हितकर होती है। अमृत की गंगा प्राप्त होनेपर वह प्राणियों को अमृत पिला कर अमर करती है, उसमें स्नान करने से वह उनका पाप और ताप मिटाती है, और जीभ भी मीठी करती है, वैसे ही उसकी बातें सुननेवाला अविचार छोड़ देता है, अपने अनादि आत्मस्वरूप को पहचान लेता है, और बार बार सुनने पर भी उसको अरुचि पैदा नहीं होती। ॥२१६-२२०॥

अगर कोई पूछता है तो वह बोलता है, नहीं तो वह वेद का अध्ययन करता है या श्रीहरि का नाम लेता है ।ऋग्वेदादि तीनों वेदों को अपने वाचारूपी मंदिर में स्थापित करके वह अपने बदन की वेदशाला बनाता है अथवा शिवजी का और श्रीविष्णु का या किसी देवता का नाम अपनी ज़बान पर नित्य रखता है । इस को वाचिक तप समझो । लोकपालों के स्वामी श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं अब मानसिक तप के लक्षण बताता हूँ, सुन लो ।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६ ॥

जैसे लहरों के बिना सरोवर, बादल के बिना आसमान, सर्पविरहित चंदन का उद्यान, ॥२२१-२५ ॥ या कलाओं से परिपूर्ण चंद्रमा, निश्चिंत राजा, अथवा मेरुपर्वत के बिना क्षीरसमुद्र, वैसे विकल्पों की गुत्थी से मुक्त उस तपस्वी का मन आत्मस्वरूप में मग्न रहता है । अथवा जैसे उष्णता के बिना अन्न, या पोल के बिना अवकाश, वैसे वह अपना स्वरूप देखता है । जैसे शरीर जाड़े से सिकुड़ जाने पर उसको शीत से पीड़ा नहीं होती, वैसे वह अपना चंचल स्वभाव तज देता है । फिर निश्चल और निष्कलंक चंद्रमंडल जैसे नित्य पूर्ण होता है, वैसे उसका मन शुद्ध और प्रेमयुक्त होता है । ॥२२६-३० ॥तत्पश्चात् उस वैराग्य का ताप के मिट जाने पर उसके मन का लालच और डर नष्ट हो जाता है और सिर्फ़ आत्मबोध की भाप शेष रहती है । शास्त्र का उपदेश देने के लिये जिसका उपयोग किया जाता है, वह मुख अनर्गल बात का धागा न पकड़ कर मौन रखता है । जिस तरह नमक पानी में याने उसके निजी स्वरूप में घुल जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानं होने पर उसके मन का ममत्व मिट जाता है । ऐसे समय पर उसके मन में ऐसे भाव कैसे पैदा होंगे, जिनके द्वारा उसका मन इंद्रियों के मार्ग पकड़ कर विषयरूपी गाँव में भटकता रहे ? इसलिये हथेली जैसे केशरहित होने से साफ़ रहती है, वैसे ही उसके मन में भावों की शुचिता होती है । ॥२३१-३५ ॥ हे अर्जुन, जब ऐसी अवस्था प्राप्त होती है, तब मन मानसिक तप इस संज्ञा के लिये पात्र बनता है । मानसिक तप के जो लक्षण है वे मैंने तुमको बता दिये, ऐसा भगवान बोले । इस तरह शरीर, वाचा और मन इनके

द्वारा जो तप के तीन प्रकार होते हैं, वे तुमको स्पष्ट कह दिये । अब तीन गुणों के संपर्क से ये तीन प्रकार के तप कैसे होते हैं वह तुम बुद्धि के बल से सुनो ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७ ॥

हे बुद्धिमान् अर्जुन, यह जो मैंने त्रिविध तप तुम को बताए, उनकी फलाशा त्याग कर पूरी श्रद्धा से आचरण करो ॥२३६-४० ॥ जब चित्त पूरी तरह शुद्ध रख कर श्रद्धा से यह तप किया जाता है, तब ज्ञानी लोग उसको सात्त्विक तप कहते हैं ।

संत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८ ॥

अथवा कोई तप का बहाना कर के भेदभाव उत्पन्न करता है ताकि त्रिभुवन में उसीको सम्मान मिले, और वह चाहता है कि उसीको बडप्पन के सिखरपर बैठने को मिले, अथवा सभा में या भोजन के अवसर पर उसीको सम्मान का स्थान प्राप्त हो, दुनिया के लोग उसी की स्तुति करें और उसका दर्शन करने आयें, और इस लिये वह अन्य किसी का आश्रय न ले कर उसकी ही पूजा करें और सब महत्त्वपूर्ण भोग उसीको भोगने को मिले । ॥२४१-४५ ॥ जैसे कोई कुरूप व्यक्ति तड़क भड़क कपड़े पहनता है, वैसे वह अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये तप का ढोंग करता है । धन और मानसम्मान की कामना कर के जो तप किया जाता है उसको राजस तप कहते हैं । जब पहुरन कीड़ा गाभिन गौ के स्तन को लगता है, तब वह गौ ब्याने पर भी दूध नहीं देती, अथवा खेत में जानवर चराने से फसल प्राप्त नहीं होती, वैसे ही प्रसिद्धि के लिये किया हुआ तप व्यर्थ होता है । फिर उस तप की विफलता देख कर वह उस को बीच में ही अधुरा छोड़ देता है, इस लिये उसके तप में स्थिरता नहीं होती ॥२४६-५० ॥आसमान में असमय आये हुए बादल गरज कर ब्रह्मांड में गूँजते हैं, वे क्या घड़ीभर भी टिक सकते हैं ? वैसेही राजस तप बाँझ के समान व्यर्थ होता है और उसका आचरण भी दृढ़ नहीं रहता । अब वही तप यदि तामस प्रकार का बना होता है, तो उससे स्वर्ग या कीर्ति प्राप्त नहीं होते ।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

हे धनुर्धर, जब कोई मूर्खता का आश्रय करता है, और अपने शरीर को शत्रु समझकर उसको शारीरिक पंचाग्नि से जलाते हैं। ॥२५१-५५॥ या अपने सर पर अंगीठी रख कर उसमें गुग्गुल जलाते हैं, या पीठ को कँटिया लगाते हैं या चारों ओर आग लगा कर शरीर को दाग देते हैं, या कोई श्वासोच्छ्वास बंद कर के व्यर्थ अनशन करते हैं, या अपने को उलटे लटका कर धुआँ लेते है, या बर्फ़ के समान ठंडे पानी में आकंठ खड़े रहते हैं, या नदी की चट्टान पर या तट पर बैठ कर जीते जी अपने शरीर का मांस नोचते हैं, हे धनंजय तब वे अपने शरीर को दुःख दे कर दूसरों का सर्वनाश करने के लिये तप करते हैं। जैसे पहाड़ से अपने ही भार से लुढ़का हुआ पत्थर नीचे गिरता है और चकनाचूर होता है, और उस समय कोई वस्तु उसके रास्ते में आयी तो वह उसको भी चूरचूर कर देता है, ॥२५६-६०॥ वैसे ही जो सुखी और मान्यवर लोग होते हैं, उनको वश करने के लिये अपने शरीर को कष्ट दे कर जो तप किया जाता है, वह, हे अर्जुन, बुरा और क्लेशयुक्त तप है, वह तामस तप है। इस प्रकार सत्त्वादि गुणों के ज़रिये जो तप के तीन विभाग होते हैं, उनका मैंने स्पष्टीकरण किया। अब प्रसंग के अनुसार दान के भी तीन प्रकार कैसे होते हैं वह मैं कहूँगा। उनमें जो सात्त्विक दान है, वह कैसा होता है यह सुनो। ॥२६१-६५॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

स्वधर्माचरण कर के जो धन कमाता है और वह धन आदरपूर्वक दूसरे को दान करता है, जैसे कि किसी समय अच्छा बीज मिलने पर भी उत्तम जमीन और पानी की न्यूनता होती है, वैसी ही दान की स्थिति होती है। अनमोल रत्न हाथ आने पर उसको जड़ाने के लिये सुवर्ण दुर्लभ होता है और यदि वे दोनों मिल भी गये तो गहने प्रहनने के लिये शरीर योग्य नहीं होता। पर्वदिन, आप्त वर्ग, मित्र और संपत्ति इन तीनों की युति अच्छे भाग्य परही निर्भर होती है। वैसे ही दान के लिये भी सत्त्वगुण की सहायता चाहिये और स्थल, काल, सत्पात्र और धन इनकी भी

अनुकूलता चाहिये। ॥२६६-७० ॥ इसलिये दान करने के लिये कुरुक्षेत्र, काशी अथवा उनके समान अन्य किसी पुण्य स्थल जाया करे। और उस तीर्थक्षेत्र में सूर्य या चंद्रमा का ग्रहण जैसा पुण्य काल हो, उस क्षेत्र में और उस पर्व-दिन पर ऐसे सत्पात्र पुरुष को ढूंढा जाये जो पवित्रता की मूर्ति हो। जो सदाचार का मूल पीठ और वेदविद्या में पारंगत हो उस योग्य ब्राह्मण को खोज कर कोई उसको अपना धन प्रदान करे। जिस तरह औरत अपने पति के पास मर्यादा से जाती है, ॥२७१-७५ ॥ या किसी की धरोहर उसको संतोष से लौटा कर आदमी ऋण हो जाता है, या सेवक नम्रता से राजा को पान देता है, उसीतरह निष्काम भाव से भूमि आदि दान ब्राह्मण को कोई दे दे, परंतु उससे किसी फल की इच्छा न करे। और दान देने के लिये ऐसा आदमी चुने कि जिससे किसी प्रकार का लाभ न हो सके। आसमान में पुकारने पर प्रत्युत्तर नहीं आता, या दर्पण के पीछे देखने से प्रतिबिंब नहीं दिखाई देता या पानी पर गेंद पटक देनेपर वह उछल कर ऊपर नहीं आता, ॥२७६-८० ॥ या सांड को दिया हुआ घास या कृतघ्न पर किया हुआ उपकार विफल होता है, वैसे ही दान उसी को दिया जाये जिस से लाभ की आशा नहीं होती। और दान देते समय मैं देनेवाला और वह लेनेवाला है ऐसी विषम भावना मन में नहीं होती। हे वीरश्रेष्ठ, ऐसी सब बातें जुटने पर जो दान किया जाता है, वह सात्त्विक दान होता है, जो सब दानों में उत्तम होता है। और स्थल, काल और सत्पात्र ब्राह्मण इनका मेल होनेपर जो दान किया जाता है, वही निर्दोष और उचित होता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम्। ॥२१ ॥

परन्तु कोई दूध के लिये गौ को घास प्रदान करता है किंवा अनाज रखने के लिये खत्ता बनवा कर फिर बीज बोता है। ॥२८१-८५ ॥ यो कोई सौगात पाने के लिये रिश्तेदारों को निमंत्रण देता है किंवा उसी व्रतस्थ को वायन देता है जो उसको वापस लौटा देगा या कोई रिश्वत लेकर दूसरों का काम करता है या वैद्य शुल्क ले कर दवा देता है, या कोई प्रसिद्ध होने के लिये दान देता है। कोई रास्ते में जानेवाले ब्राह्मण को जो दिया हुआ दान लौटा नहीं सकता, उस ब्राह्मण को एक कौड़ी देकर समस्त आप्तवर्ग के लिये प्रायश्चित्त का संकल्प कर के उदक छोड़ता

है। ॥२८६-९० ॥ और परलोक का सब सुख चाहनेवाला जो ब्राह्मण को ऐसा दान देता है जिससे उसकी एक समय की भूख भी नहीं शमती और जब वह ब्राह्मण दान लेकर चला जाता है, तब वह अपने नुक़सान के विचार से व्याकुल होता है, मानो चोर ने उस का सर्वस्व लूट लिया हो। हे बुद्धिमान् अर्जुन, इस मनोवृत्ति से जो दान किया जाता है, वह राजस दान है ऐसा समझो।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

फिर कोई म्लेच्छों के बस्ती में, अरण्य में, जंगली प्रांत में, डेरे में किंवा नगर के चौराहे पर शाम या रात को चुराये हुए धन का दान उदारता से देते हैं, ॥२९१-९५ ॥और यह दान भी वे भाट, मदारी, गणिका, जुआरी, जादुगरों को उनसे मोहित हो कर देते हैं। वे स्त्रियाँ रूप और नृत्य से उनकी दृष्टि मोहित करती हैं और भाटों द्वारा की हुई स्तुति उन कानों में गूँजती रहती है। एवं फूलों और इत्र की सुगंध ले कर वे संभ्रम के वेताल बनते हैं और दूसरों से लूटे हुए द्रव्य का दान करते हैं। इस प्रकार का जो दान है उसको मैं तामस दान कहता हूँ। इंस के सिवाय और एक प्रकार का दान संयोग से कभी कभी होता है, सुनो। ॥२९६-३०० ॥भ्रमरों से लकड़ी कुरेदने पर उसमें किसी तरह घुनाक्षर निकलें किंवा तालीयाँ बजाने के समय पर उसपर कौआ आ जाये, उसी तरह तामस दानी को क्षेत्र में अनायास पर्वदिन का लाभ होता है। वहाँ संयोग से कोई योग्य याचक आता है और वह दाता उसको कुछ दान देने का विचार करता है। लेकिन श्रद्धारहित होने के कारण वह उसको नत होकर प्रणाम नहीं करता अथवा उसको अर्घ्य नहीं देता और दिलवाता, और उसको बैठने के लिये आसनभी नहीं देता। तब गंध और अक्षत से उसकी पूजा करने की बात ही क्या ? इस तरह वह उस याचक के साथ पेश आता है। फिर कर्ज़दार को जैसे धुत्कारते हैं, वैसे वह उस के हाथ पर कुछ धन रख कर उससे तूतड़ाक करता है। ॥३०१-०५ ॥उसको जो कुछ देता है वह अच्छी तरह गिन कर देता है और उससे टेढ़ी बातें करता है, फिर उसको बाहर निकाल देता है और इस तरह उसको अपमानित करता है। इस प्रकार जो दान किया जाता है, उसको तामस दान कहते हैं। इसतरह अपने अपने लक्षणों से युक्त हो कर दान तीन प्रकार का होता है, वह मैंने तुमको स्पष्ट बताया।

अब, हे अर्जुन, तुम्हारे मन में यह संदेह होगा कि कर्मबंधन से मुक्त करनेवाला सात्त्विक कर्म ही होता है, तो दूसरे कर्मों का वर्णन क्यों किया ? ॥३०६-१० ॥ परंतु जैसे पिशाच को भगाये बिना गुप्त निधि हाथ नहीं लगती, किंवा धुएं को सहन किये बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती, वैसे शुद्ध सत्त्व के आड़ में जो रज-तम का पर्दा है उस हटाने में आपत्ति क्या हो सकती है ? मैंने श्रद्धा से लेकर दान तक कर्मों के बारे में जो कुछ कहा, वे सब कर्म इन तीन गुणों से व्याप्त है । इन तीन गुणों का बयान करने का मेरा इरादा नहीं था । परंतु सत्त्वगुण प्रकट करने के लिये दूसरे दो गुणों का वर्णन भी करना पड़ा । दो गुणों का त्याग करने पर ही तीसरा गुण दिखाई देता है, जैसे रात और दिन बीत जाने पर ही शाम होती है । ॥३११-१५ ॥ उसी तरह रज और तम नष्ट होने पर ही तीसरा जो बढ़िया सत्त्व गुण है वह अपनेआप प्राप्त होता है । इसलिये सत्त्वगुण प्रकट करने के लिये तुमको तम और रज के लक्षण बताये । तुम इन दोनों का त्याग करके सत्त्वगुण की सहायता से अपना काम सँभाल लो । इस शुद्ध सत्त्वगुण से तुम यज्ञादि कर्म करो, जिससे तुम अपना निजी स्वरूप प्राप्त करोगे । अगर सूरज दिखाता है तो क्या नहीं दिखाई देता ? वैसेही सत्त्वगुण से कर्म किया तो वह सफल कैसे नहीं होगा ? ऐसी शक्ति जिस को हम चाहते हैं, सत्त्वगुण में है सही, ॥३१६-३२० ॥किंतु मोक्षदायक वस्तु दूसरीही है । जब उस की सहायता होती है तब हम मोक्ष के गाँव में कदम रख सकते हैं । हे पार्थ, जब पंधरा कस के शुद्ध सुवर्ण पर राजमुद्रा प्राप्त होती है, तब वह सिक्का चलता है । स्वच्छ, ठंड़ा और सुगंधित जल सुखद होता है, फिर वह तीर्थक्षेत्र के संबंध से ही पवित्र होता है । नहरों का पानी विपुल क्यों न हो, जब वह नदी से मिलता है, तभी उसको समुद्र में प्रवेश मिलता है । वैसे ही सात्त्विक कर्म के आचरण से मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में जिस से बाधा नहीं पैदा होती, वह बात अलग है । ॥३२१-२५ ॥ यह बात सुन कर अर्जुन की उत्कंठा उसके मन में समा न सकी । उसने कहा, "हे भगवन्, कृपया आप वह मुझको बताइये" । तब दयानिधि श्रीकृष्ण ने कहा, सात्त्विक पुरुष को वह मुक्तिमणि कैसे प्राप्त होती है वह कहूंगा, सुनो ।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३ ॥

जो सारे विश्व का विश्राम स्थान है, उस परब्रह्म के तीन नाम हैं । सच में परब्रह्म को नाम और जात नहीं है, परंतु श्रुति भगवती ने उसको नाम रखा जिससे अज्ञानांधकार में पड़े हुए लोग उसको पहचान सके । नवजात शिशु को नाम नहीं होता, फिर उसके रखे हुए नाम से पुकारने पर वह जवाब देता है । ॥३२६-३० ॥ उसी तरह जब संसारदुःख से पीड़ित लोग अपना दर्द सुनाने को उसका नाम पुकारते हैं, तब परब्रह्म वह सुन कर जवाब देता है, यही उसकी निशानी है । जो परब्रह्म शब्दातीत है, उसके अद्वैत स्वरूप से मिलने के लिये वेदों ने सदय होकर एक मंत्र ढूँढ निकाला । उस मंत्र से भगवान को पुकारने पर वह अदृश्य होते हुए भी सम्मुख खड़ा हो जाता है, परंतु जो वेदरूपी पहाड़ के शिखर पर उपनिषद्रूपी नगर में ब्रह्मदेव के साथ जा बैठते हैं वे ही उसको जानते हैं । इस नाम के जप से ही ब्रह्मदेव ने सृष्टि निर्माण करने का सामर्थ्य पाया । ॥३३१-३३५ ॥ हे वीरश्रेष्ठ सृष्टि के निर्माण के पहले ब्रह्मदेव अकेले थे और बावले से थे । वे मुझ ईश्वर से परिचित नहीं थे और सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकते थे । इस नाममंत्र से ही उनको महत्त्व प्राप्त हुआ और जब उन्होंने इन तीन प्रकारों के नाम का जप किया तब उनको विश्व निर्माण करने की योग्यता प्राप्त हुई । तब उन्होंने ब्राह्मणों को उत्पन्न किया और उनको वेदों की आज्ञा का पालन करने को और उनके निर्वाह के लिये यज्ञकर्म करने को कहा । उन्होंने असंख्य लोग उत्पन्न किये कि जिनकी गिनती नहीं की जा सकती और उनको तीन लोक इनाम में दिये ताकि उनका निर्वाह हो सके । ॥३३६-४० ॥

जिस नाममंत्र से ब्रह्मदेव को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उसका लक्षण सुनो, ऐसे रमापति बोले । उनमें सब मंत्रों में श्रेष्ठ जो ॐकार वह मूल वर्ण है, तत्कार दूसरा और सत्कार तीसरा वर्ण है । इस प्रकार ॐ तत्सत् यह ब्रह्म का तिहरा नाम है । वह उपनिषदों का नामरूपी सुंदर फूल है, उसकी तुम सुगंध लो । इस नाम से एकरूप होकर जो सात्त्विक कर्म का आचरण करता है, उसके घर में मोक्ष सेवा करता है । भाग्य से किसी को कपूर के गहने प्राप्त होने पर उनको कैसे धारण करे यह जानना मुश्किल होता है, ॥३४१-४५ ॥ वैसे ही सत्कर्म किया, ब्रह्मनाम का उच्चार भी किया, मगर विनियोग का याने शास्त्रोक्त विधि का ज्ञान नहीं हुआ, जैसे

साधुसंत घर आनेपर उनका अनादर किया तो पुण्यक्षय होता है, किंवा टीक आदि सुंदर गहने बना कर उनकी गठरी गले में बांध ली, वैसे मुँह से ब्रह्मनाम लेकर सात्त्विक कर्म किया, तो उसका विनियोग जानने बिना वह व्यर्थ होता है । भोजन तैयार है और भूख भी लगी है, किंतु नवजात शिशु भोजन करना नहीं जानता, इसलिये उसको फ़ाका करना पड़ता है, ॥३४६-५० ॥ अथवा, हे अर्जुन, तेल, बाती और अग्नि पास होने पर भी दिया जलाने का हस्तकौशल नहीं हो, तो प्रकाश नहीं कर सकते । अगर योग्य समयपर कर्म किया है, मंत्र भी याद है, परंतु विनियोग का ज्ञान नहीं है, तो वह सब निरर्थक है । इसलिये तीन वर्णवाले परब्रह्म के नाम का विनियोग कैसे करना चाहिये यह अब बताऊंगा, सुनो ।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४ ॥

इस ब्रह्मनाम के जो तीन अक्षर हैं, उनकी योजना कर्म के प्रारंभ में, बीच में और अंत में करना चाहिये । हे अर्जुन, इस खूबी से ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप को पहुँचे हैं । ॥३५१-५५ ॥शास्त्रों में जैसा कहा है वैसे ब्रह्मरूप होने के लिये वे यज्ञ आदि कर्मों का त्याग नहीं करते । प्रारंभ में वे ॐकार का स्वरूप ध्यान में रखते हैं और बाद में उनका उच्चार करते हैं । इस तरह उसका ध्यान कर के और उसका स्पष्ट उच्चार कर के वे कर्म शुरु करते हैं । अंधेरे में जाते समय न बुझने वाला दीप हाथ में लेना चाहिये, या जंगल में जाने के लिये कोई समर्थ आदमी को साथ लेना चाहिये, वैसेही कर्म के आरंभ में ॐकार का उच्चार करना चाहिये । ब्रह्मज्ञानी इष्ट देवता के लिये धर्म से कमाया हुआ धन खर्च करके ब्राह्मणों से यज्ञ करवाते हैं । ॥३५६-६० ॥। आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण इन तीन अग्नियों में वे यथाविधि हवन करते हैं । इस तरह वे विविध प्रकार के यज्ञ कर के अप्रिय उपाधियों का त्याग करते हैं । वे न्याय से कमाया हुआ धन और भूमि योग्य देश और समय देख कर पवित्र ब्राह्मणों को देते हैं । अथवा एक दिन छोड़ कर दूसरे दिन भोजन करते हैं किंवा एक माह छोड़ कर दूसरे माह में (चांद्रायण) व्रत का आचरण करते हैं और शरीर को शुष्क करके तप करते हैं । इस प्रकार किये हुए यज्ञ, दान और

तप बंधनकारक होते हैं यह बात प्रसिद्ध है। उनको ॐकार के साथ उच्चार करने पर मोक्ष सुलभ होता है। ॥३६१-६५॥ जमीन पर नौका भारी जान पड़ती है, किंतु उस की सहायता से जल पार कर सकते हैं। उसी तरह इस नाम से बंधनकारक कर्मों से छुटकारा होता है। अब यह रहने दो। यज्ञ आदि जो क्रियाएँ हैं उनका ॐकार की सहायता से आरंभ किया जाता है। फिर जब वे कर्म फल देने लगते हैं तब तत् शब्द का उपयोग करना चाहिये।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रिया ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

जो सब विश्व के परे हैं और जो अकेला सब का साक्षी है, उस परब्रह्म का 'तत्' ऐसा भी नाम है। वह सब का मूल कारण है यह समझ कर उसके स्वरूप का ध्यान करते हैं और तत् का स्पष्ट उच्चार कर के अपना कर्म उसको समर्पित करते हैं। ॥३६६-७०॥ वे कहते हैं कि तत्स्वरूप ब्रह्म को ये सब क्रियाएँ फल के साथ अर्पित हों और हमारे भोग के लिये कुछ भी न बचे। इस प्रकार वे तत्स्वरूप ब्रह्म को सब कर्म 'न मम' कह कर अर्पण करते हैं और बंधमुक्त हो जाते हैं। अब ॐकार के उच्चार से आरंभ किया हुआ कर्म तत्कार से ब्रह्म को अर्पण किया, इस से तुम सोचोगे कि यह कर्म ब्रह्मरूप हुआ। लेकिन इससे कर्म संपन्न नहीं होता। क्योंकि जो कर्म करता है, उसमें द्वैतभाव शेष रहता है। नमक पानी में घुल जाता है, यह बात ठीक ही है, किंतु उसका क्षारपन अलग रहता है। वैसे ही कर्म ब्रह्मरूप हुआ यह जानना भी द्वैत है। ॥३७१-७५॥ और जब तक द्वैत का अस्तित्व रहता है, तब तक संसारभय स्थायी रहता है, यह भगवान् स्वमुख से कहते हैं और वेद भी ऐसा बताते हैं।

ब्रह्म जो पराया महसूस होता है, वह आत्मानुभव में परिणत हो इसलिये सच्छब्द रखा हुआ है। इसलिये ॐकार और तत्कार के उच्चार से जो कर्म किया जाता है, वह (कर्तृत्वाभिमान के अभाव में) ब्रह्मरूप बनता है। तब उसको प्रशस्त कर्म कह कर उसकी प्रशंसा करते हैं। इस प्रशस्त कर्म के बारे में जो सत् शब्द का विनियोग होता है, वह सुनने योग्य है, वह मैं कहता हूँ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६ ॥

इस सच्छब्द से असत् के नकली सिक्के का निरसन होने से सत्ता का निर्दोष स्वरूप सिद्ध होता है । ॥३७६-८० ॥ यह सत् किसी समय या किसी देश में दूसरे के समान नहीं होता और अखंड आत्मस्वरूप होता है । यह दृश्य विश्व मिथ्या होने से उस का सत्-तत्त्व में समावेश नहीं होता । क्योंकि आत्मरूप मेंही सत्-तत्त्व का अनुभव होता है । वही प्रशस्त कर्म है जो सर्वात्मक ब्रह्मरूप हो कर सत्-शब्द के विनियोग से कर्म करने वाले का द्वैत नष्ट कर के उन दोनों का ऐक्य करता है । जो कर्म ॐकार और तत्कार के विनियोग से ब्रह्माकार होता है, वह घुल कर एक सरीखा सत्-रूप हो जाता है । इस तरह सत्-शब्द का अन्तस्थ विनियोग जान लेना चाहिये, ऐसे श्रीहरी ने कहा, (ज्ञानदेव कहते हैं) मैं यह नहीं कहता हूँ । ॥३८१-८५ ॥ऐसे कहने पर श्रीहरी के बारे में द्वैत पैदा हो कर अधूरापन आता है, इसलिये यह भगवान् का कहना है ।

अब सुनो कि यह सत्-शब्द दूसरे प्रकार से कैसे सात्त्विक कर्म को सहाय्यकारी होता है । अगर यह सत्कर्म अधिकार के अनुसार अच्छी तरह से किया जाए, तो भी उस में कुछ न्यूनता रह जाती है । तब जैसे किसी अवयव के बिना शरीर के व्यापार रुक जाते हैं, वैसे कर्म सत् याने नेक होने पर भी वह किसी गुण के अभाव में असत् याने बुरा होता है । ॥३८६-३९० ॥ उस समय ॐकार और तत्कार की सहायता से सत्-शब्द उस सदोष कर्म का जीर्णोद्धार करता है । यह सत्-शब्द अपने सत्त्व के बल पर उसका असत्पन दूर करता है और उसको सद्भाव की योग्यता प्रदान करता है । जैसे दिव्य औषधि पाकर बीमार आदमी स्वस्थ हो जाता है या हताश आदमी मदद पा कर सँभल जाता है, वैसे सत्-शब्द के उच्चार से कर्म सब प्रकार से परिपूर्ण होता है । कभी कुछ प्रमाद से कर्म अपनी मर्यादा छोड़कर निषिद्ध मार्ग पर चलने लगता है । क्योंकि कोई पथिक कुछ समय पर मार्ग भूल जाता है या परखनेवाला भ्रम में पड़ता है, ऐसे व्यवहार में क्या कुछ नहीं होता । ॥३९१-९५ ॥ वैसे अविचार से जब कर्म अपनी सीमा लाँघ कर बुरा बनता है और उसका नाम खराब होता है, तो उन दोनों से जो भला सत्-शब्द है वह उस बुरे

कर्म को ठीक कर देता है। लोहे को जैसे पारस से घर्षण, नेहर को जैसे गंगा से भेट, और मृत आदमी पर जैसे अमृत की वर्षा, वैसे ही हे वीरश्रेष्ठ, सदोष कर्म के लिये सत्-शब्द की योजना होती है। 'सत्' इस नाम की यह महिमा है। इस तरह सच्छब्द का मर्म जान कर तुम उसका नाम लोगे, तो तुम्हें ज्ञात होगा कि वह केवल ब्रह्म ही है। ॥३९६-४००॥ हे पार्थ, ॐतत्सत् अक्षर मुमुक्षों को उसके पास ले जाते हैं जिससे ये दृश्य पदार्थ रोशन होते हैं। जो शुद्ध और गुणधर्मों से विरहित परब्रह्म है, उसका अंतरंग दिखानेवाला ॐतत्सत् नाम है। किंतु आसमान को जैसे आसमान का ही आसरा होता है, वैसे ॐतत्सत् नाम का ब्रह्म ही आधार होता है। आसमान में उदय पाने पर सूरज अपने को प्रकाशित करता है, वैसे इस नाम के उच्चार से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसलिये इन तीन अक्षरों का नाम न हो कर केवल ब्रह्म ही है ऐसा समझो। और इसलिये तुम जो जो कर्म करोगे, ॥४०१-०५॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

फिर वह यज्ञ, दान या कठोर तप क्यों न हो, वह संपन्न हो या उसमें कुछ न्यूनता क्यों न हो, अगर वह तुम ब्रह्मार्पण करोगे तो उससे तुम ब्रह्मरूप हो जाआगे। जब पारस के स्पर्श से लोहा सुवर्ण हो जाता है, तब उस के कस में शुद्ध और अशुद्ध की बात होही नहीं सकती। जैसे समुद्र में नदियाँ मिलने पर उनको अलग नहीं किया जा सकता, वैसे ही उस कर्म में न्यून - पूर्ण ऐसा भेद शेष नहीं रहता। इस प्रकार, हे अर्जुन, मैंने ब्रह्मनाम के सामर्थ्य का युक्तियुक्त विवेचन किया और हे वीरश्रेष्ठ, ब्रह्मनाम के हर एक अलग अलग विनियोग चारु रूपसे बताया। ॥४०६-१०॥ अब तुमने जाना कि इस ब्रह्मनाम की महिमा क्या है? यदि श्रद्धा तुम्हारे मन में बढ़ जायेगी, तो तुम जन्मबंधन से मुक्त हो जाओगे। अगर इस सत्-शब्द का तुम अच्छी तरह विनियोग कर के कर्म करोगे, तो वह यथाविधि संपन्न हो कर वेदरूप बनेगा।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अगर इस मार्ग को छोड़ कर तुमने श्रद्धा के बिना दुराग्रह से असंख्य यज्ञ

किये, सब पृथ्वी रत्नों के सहित दान की, पैरों के अंगुठों पर खड़े हो कर हजारो तप किये, ॥४११-१५ ॥समुद्र के समान बड़े तालाब बांधे, तो वह सब व्यर्थ है । जैसे चट्टान पर बारिश हुई, या राख में आहुति दी, या छाया को गले लगाया, या आकाश में चपत मारी, वैसे हाथ में लिये हुए सब कर्म विफल होते हैं । कोल्हू में कंकड़ डाल कर छाने से तेल या खली नहीं मिलती, सिर्फ़ गरीबी हासिल होती है । पल्ले में खप्पर बांध कर अगर कोई विदेश की सफ़र करे तो उस को जैसे फ़ाके पड़ेंगे, ॥४१६-२० ॥वैसे इन सब कर्मों से इस लोक में सुख नही मिलता, तो उसको परलोक में प्राप्त करने की अपेक्षा कैसे करे ? इसलिये ब्रह्मनाम के बिना जो कर्म करता है वह यहाँ और परलोक में व्यर्थ श्रम उठाता है । ऐसे वे पापरूपी हाथी का नाश करनेवाले सिंह, त्रितापरूपी अंधेरा मिटानेवाले सूर्य, लक्ष्मीजी के पति और सब वीरों में श्रेष्ठ भगवान श्रीकृष्ण निरूपण करते हैं । फिर पौर्णिमा की चांदनी में चंद्रमा जैसे छिप जाता है, वैसे अर्जुन परमानंद में मग्न हो गया । सज्जनो, संग्राम एक बनिया है और बाणों की नोक से उसका नाप होता है, जिस से वह जीवन तौल लेता है । ॥४२१-२५ ॥देखिये, ऐसे कठिन समय पर भी अर्जुन कैसे ब्रह्मानंद के साम्राज्य का उपभोग ले रहा है ? ऐसा भाग्य किसीको नसीब नहीं हुआ । संजय ने कहा, हे कुरुराज, इस समय इस दुश्मन के गुण देख कर उससे प्यार पैदा होता है और सुखप्राप्ति के लिये यह हमारा गुरु हो गया है । अगर इसने सवाल नहीं किये होते, तो भगवान अपने मन की बातें कैसे कहते और हमको परमार्थ कैसे प्राप्त होता ? जो हम अज्ञानरूपी अंधकार में पड़े थे, हम अब आत्मज्ञान के मंदिर में आ पहुँचे । इतना अर्जुन ने हम पर उपकार किया है, इसलिये वह व्यास मुनि के समान हमारा गुरु हुआ । ॥४२६-३० ॥ तब संजय ने सोचा कि ये जो मैं अर्जुन की तारीफ़ कर रहा हूँ वह शायद धृतराष्ट्र के मन में खटकेगी । सो अब ज्यादा नहीं बोलना चाहिये । अतः संजय ने इस बात को छोड़कर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो दूसरी बात छेड़ी थी उसके बारे में कहना शुरू किया । निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं कि संजय ने जैसे बयान किया उसको मैं अब दुहराता हूँ, ध्यान दीजिये । ॥४३१-४३३ ॥

◆ ◆ ◆

॥ अठारहवाँ अध्याय ॥

हे निर्मल गुरुदेव, आप की जय हो । आप भक्तों का पूरी तरह मंगल करते हैं, और आप जन्म और वार्धक्यरूपी मेघ समूहों को बिखराने वाले प्रभंजन हैं । आप समर्थ होकर अशुभ की जड़ का नाश करने वाले हैं और वेद और शास्त्र इन्नका फल देनेवाले हैं । आप परिपूर्ण होकर, जिनकी विषयवासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं ऐसे भक्तों पर प्रेम करने वाले हैं । आप काल की विचित्र करतूत जानते हुए भी काल के परे हैं, आप की जय हो । आप अचल हैं और भक्तों के चंचल चित्त निगल कर आप की तोंद निकल आई है । बार बार जगत् को उत्पन्न करना आप की प्रिय लीला है । आपका रूप शुद्ध है, जो आनंद को स्फूर्ति देता है और समस्त पापों को मिटा देता है । आप इस सृष्टि का आदितत्त्व हैं ॥१-५ ॥ हे भगवान, आप स्वयंप्रकाश हैं और आसमान के समान जगद्रूप मेघों को धारण करनेवाले हैं । तथा विश्वरूप प्रासाद की रचना का मूलस्तंभ हो कर संसार का नाश करनेवाले हैं । आप उपाधिहीन होकर वृत्तिजन्य ज्ञान के उद्यान को नष्ट करनेवाले हाथी हैं और शम और दम के द्वारा काम के मद का नाश करनेवाले दया के समुद्र हैं । हे देव, आप एकरूप होकर कामरूपी सर्प के गर्व का परिहार करनेवाले हैं और भक्तों के भावमंदिर में

दीपक बन कर सांसारिक ताप नष्ट करने वाले हैं। हे देव, आप का रूप अद्वितीय है और आप पूर्णतया विरक्त भक्तों से प्यार करने वाले हैं। आप भक्तों के अधीन होने से भजन के लिये योग्य हैं और आप माया को अगम्य है। हे श्रीगुरु, आप कल्पना के अतीत वस्तुएँ प्रदान करनेवाले हैं और आत्मज्ञानरूपी वृक्ष के बीज की जन्मभूमि हैं ॥६-१० ॥ आप के कुछ भी गुणधर्म नहीं हैं तो आप की कितने भाषा-अलंकारों से स्तुति करूँ ? मैं जानता हूँ जिन जिन विशेषणों से मैं आप की स्तुति करता हूँ, वह आपका सत्य रूप नहीं होगा । इसलिये आप की प्रशंसा करने में मुझे शरम आती है । सागर को मर्यादा है यह जो उसकी ख्याति है, वह चंद्रोदय तक टिकती है। चंद्रकांत मणि पिघलकर चंद्रमा को अर्घ्य नहीं देता, चंद्रमा ही उससे यह करवाता है। वसंत ऋतु का आगमन होते ही पेडों में कैसे कोंपले तुरन्त आती हैं यह वे नहीं जानते। ॥११-१५ ॥ सूर्य किरनें आने पर जैसी कमलिनी लज्जा छोड़ कर खिल जाती है, किंवा जल का स्पर्श होने पर नमक अपने को भूल जाता है, वैसे आप का स्मरण होने पर मैं अपने को खो जाता हूँ। फिर भोजन से तृप्त होकर आदमी जैसे डकार देता है, वैसी आपने मेरी हालत बना दी है। आपकी वजह से मैं अपना अहंभाव भूल गया हूँ और ज़बान से आपकी स्तुति करने की सनक मुझपर सवार हुई है। हाँ, अगर देह का भान रख कर मैं आप की स्तुति करना चाहूँ, तो गुण और गुणी दोनों की विशेषता जान लेनी चाहिये। आप तो एक ही रस की मूर्ति हैं, तो आप में से गुण और गुणी को कैसे विभक्त करूँ ? मोती को तोड़ कर उसको फिर से जोड़ने के बदले क्या उसको अखंडित रखना ही उचित नहीं होगा ? ॥१६-२० ॥ अगर मैं आपको माँ बाप कहूँ तो आपकी स्तुति नहीं होगी, क्योंकि मैं आपकी संतान हो जाऊंगा और इस उपाधि से आपको दोष लगेगा। अगर मैं आपका नौकर हूँ, तो आपको मालिक कैसे कहूँ ? क्योंकि इस उपाधि से आप दूषित होंगे। आपके रूप का वर्णन मैं कैसे करूँ ? हे गुरुवर, मैं यदि आपको मेरी आत्मा कहूँ, तो मैंने आपको अंतःकरण से बाहर निकाल दिया है ऐसा लगता है। अतः इस दुनिया में आपकी स्तुति करना मुश्किल होता है और सिवाय मौन के, आपको मौखिक अलंकारों से सजा नहीं सकता। सो कुछ नहीं कहना यही आपकी स्तुति है, कुछ नहीं करना यही आपकी पूजा है और आपके निकट बैठना आपमें विलीन हो जाना है ॥२१-२५ ॥ जैसे कोई भ्रमित आदमी

पागलपन से बकवास करे, वैसा यह मेरा किया हुआ वर्णन है, तो, हे गुरुदेव, आप इसको सह लीजिये। अब गीतार्थ प्रकट करने के लिये मेरी वाचा में ऐसी मुहर लगाइये कि मेरा कथन सज्जनों की सभा में मान्य होगा। तब श्रीनिवृत्तिनाथ ने कहा कि तुम यह बार बार क्यों कहते हो ? लोहे को सुवर्ण बनाने के लिये क्या उसको पारस से लगातार घिसना पड़ता है ?

तब ज्ञानदेव ने कहा कि महाराज, यही आपका प्रसाद मैं चाहता था। अब जो मैं गीतार्थ कहूँगा उस पर ध्यान दीजिये। गीताग्रंथ ज़डाऊँ मंदिर है और उसका कलश अर्थरूप चिंतामणियों से बना हुआ है ॥२६-३० ॥ इस दुनिया में ऐसी एक परिपाटी है कि कलश का दर्शन दूर से करने से देवता का दर्शन हुआ ऐसा मानते हैं। वही रस्म यहाँ भी है। क्योंकि यह एक अध्याय पढ़ने से सब गीताशास्त्र समझ में आता है। इसी वजह से मैं कहता हूँ कि वेदव्यास जी ने गीतारूपी मंदिर पर इस अठारहवें अध्याय का कलश चढ़ाया है। मंदिर का कलश के चढ़ने पर मंदिर के निर्माण कार्य में कोई काम शेष नहीं रहा। वैसे यह अठारहवा अध्याय गीता की समाप्ति सूचित करता है। व्यास मुनि जन्म से ही बुद्धिमान थे, इसलिये उन्होंने वेदरूपी पहाड़ खोद कर उपनिषद्रूपी समतल भूमि करा दी ॥३१-३५ ॥ उस मैदान में धर्म, अर्थ और कामरूपी अलग अलग आकार के बहुत पत्थर निकले, उन्हें इकठ्ठा करके उन्होंने महाभारतरूपी परकोटा बनाया। फिर उन्होंने आत्मज्ञान से श्रीकृष्ण के संवादरूपी उत्तम पत्थर कुशलता से बनाये। फिर निवृत्तिरूपी सूत्र से मोक्षरेखा खींच कर और शास्त्रार्थ उसमें भर कर मंदिर का निर्माण पूर्ण किया। इस तरह उन्होंने मंदिर की रचना करने पर पंद्रह अध्याय के पंद्रह मंजिलें बनायीं और जमीन साफ करके अध्यात्म मंदिर का काम पूरा किया। उस के बाद सोलहवें अध्याय की गोल ग्रीवाघंटा बना दी और सत्रहवें अध्याय से कलश का गोल आधारस्थान बनवाया ॥३६-४० ॥ उस आधारस्थान पर अठारहवें अध्याय के कलश की स्थापना करके उस पर गीतारूपी ध्वज फहराया। इसलिये पहले जो अध्याय हैं वे एक पर एक चढ़ाये हुए तल्ले हैं और वे पूर्ण हो चुके हैं ऐसे यह अठारहवाँ अध्याय सूचित करता है। कलश से स्पष्ट होता है कि मंदिर में कोई न्यूनता नहीं रही। इससे मालूम होता है कि अठारहवें अध्याय में आदि से अंत

तक गीता स्पष्ट कही गयी है । इस तरह व्यास मुनि ने कुशलता से यह गीतामंदिर बना कर हर प्रकार से प्राणिमात्र का उद्धार किया है । कोई जप करते हुए उसकी परिक्रमा करते हैं । कोई गीता श्रवण करने के लिये उस मंदिर के साया में बैठते हैं । ॥४१-४५ ॥ कोई कोई ध्यानरूपी बीड़ा और पैसा लेकर मंदिर के अर्थज्ञानरूप गर्भगृह में प्रवेश करते हैं और आत्मबोध के द्वारा परमात्मा से शीघ्र मिलते हैं । परंतु मोक्षमंदिर में उन सभी की योग्यता समान है । बड़े घर में ऊँचे और नीचे की पंगत में एक ही मिष्टान्न परोसा जाता है । उसी तरह गीता के श्रवण से, अर्थज्ञान से या अध्ययन से मोक्ष ही प्राप्त होता है । इस तरह गीता वैष्णवों का मंदिर है और अठारहवाँ अध्याय उसका कलश है ऐसा भेदभाव मैंने जानबूझ कर किया ।

अब सत्रहवें अध्याय के बाद यह अध्याय कैसा आया यह मैं अपनी बुद्धि के अनुरूप समझाता हूँ । ॥४६-५० ॥ गंगा और यमुना के प्रवाह अलग होते हुए भी वे जलरूप से एक ही हैं । अर्धनारीनटेश्वर के रूप में स्त्री-पुरुष के आकार होते हुए भी शरीर एक ही होता है । शुक्लपक्ष में चंद्रकला बढ़ जाती है लेकिन वह कला पूनो में पूर्ण चंद्रमा से अलग नहीं दिखाई देती । वैसे ही श्लोक चार पदों से और अध्याय श्लोकों से अलग अलग दिखाई देते हैं, लेकिन उनके अर्थ में अंतर नहीं होता । अनेक रत्न एक ही सूत्र में पिरोये जाते हैं । ॥५१-५५ ॥ अनेक मौक्तिक पिरोने पर एकावली बनती है, मगर उनकी चमक एक ही होती है । फूल और फूलों के हार हम गिन सकते हैं, मगर सुगंध की गिनती उँगली से नहीं होती । उसी प्रकार श्लोक और अध्याय समझना चाहिये । गीता में सात सौ श्लोक और अठारह अध्याय होते हुए भी भगवान का कहना एक ही है, उस में भेद नहीं । उनके द्वारा निर्धारित मार्ग से ही मैंने इस ग्रंथ का स्पष्टीकरण किया है । इस समय वही रवैया अपनाकर मैं इस अठारहवें अध्याय का निरूपण करूँगा, सुनिये ।

सत्रहवें अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान् ने कहा था, ॥५६-६० ॥ कि हे अर्जुन, इस ब्रह्मनाम के विषय में श्रद्धा के बिना जो कर्म किये जाते हैं वे व्यर्थ हैं । यह श्रीकृष्ण की बात सुन कर अर्जुन को संतोष हुआ । उसने सोचा कि यह अच्छा हुआ कि भगवान् ने कर्मनिष्ठता पर दोष लगाया । वह बेचारा अज्ञान से

अंधा हुआ था, इसलिये उसने भगवान् का आशय नहीं जाना । फिर उसकी समझ में ब्रह्मनाम का मर्म कैसे आयेगा ? रज और तम गुणों के क्षय के बिना श्रद्धा अधूरी रहती है, फिर उसे ब्रह्मतत्त्व में लगाव कैसे होगा ? फिर जैसे बरछे का आलिंगन करना, समाचार सुनते ही दौड़ना, या नागिन को हाथ में पकड़ कर खेलना ॥६१-६५ ॥ ऐसी बातें घातक होती हैं, वैसे ही ये कर्म बहुत से ऊधम मचाते हैं और जीव को असंख्य जन्म मरणों में दुस्तर कठिनाईयाँ प्राप्त होती हैं । सौभाग्य से अगर शुभ कर्म किये गये तो ज्ञान की योग्यता प्राप्त होती है, नहीं तो नरक में जाना पड़ता है । कर्म करने में ही बहुत रुकावटें आती हैं । इसलिये कर्मनिष्ठ मोक्ष कैसे पा सकता है ? कर्म की परेशानी मिटाने के लिये निर्दोष कर्मसंन्यास सादर स्वीकार करना होगा, जिस से कर्म की बाधा न हो और आत्मज्ञान प्राप्त हो सके । ॥६६-७० ॥ जो ज्ञान का आवाहन करने का मंत्र है, जो ज्ञान प्राप्त करने का क्षेत्र है, और जो ज्ञान को खींच कर लानेवाला सूत्र है, उनके द्वारा त्याग और संन्यास के अनुष्ठान से मुक्ति कैसे मिलेगी यह भगवान् से पूछें । ऐसा पार्थ ने सोच कर सवाल किया कि वह संन्यास और त्याग का रूप कैसे जान सके । उस सवाल का भगवान् श्रीकृष्ण ने जो जवाब दिया, वह इस अठारहवें अध्याय का विषय है । इस प्रकार जन्यजनक भाव से एक अध्याय अगले अध्याय को जनाता है । पिछले अध्याय के अन्त में भगवान् ने जो कहा था वह समझ कर अर्जुन को खेद हुआ । ॥७१-७५ ॥भगवान् ने जो सिद्धान्त विशद किये थे उनको वह पूरी तरह जानता था । फिर भी श्रीकृष्ण कुछ न बोल कर चुप रहे यह भी उसको अच्छा नहीं लगा । बछड़ा दूध पी कर तृप्त होता है, फिर भी वह चाहता है उसकी माँ जो गौ उसको छोड़ कर दूर न जाये । अनन्य प्रेम की यही रीत है कि अपने प्रिय व्यक्ति से कारण के बिना बातचीत करे और देखकर भी देखता रहे । ऐसा प्रेम का अनुभव होता है और उससे प्यार बढ़ भी जाता है । प्यार का ऐसा तरीक़ा होता है । अर्जुन ऐसे प्यार का पुतला ही था, इसलिये भगवान् का चुप हो जाना उसको नहीं भाया । ॥ ७६-८० ॥ अर्जुन संवाद के द्वारा ब्रह्म का अनुभव कर रहा था, जैसे कोई आईने में अपना रूप देख रहा है । फिर भाषण के समाप्त होने पर यह सुखानुभव बंद हुआ । किंतु इस सुखानुभव का चटोरा बना हुआ अर्जुन यह कैसे सह सकता था ? इसलिये त्याग और संन्यास के बारे में पूछ कर अर्जुन ने गीतारूप वस्त्र की

फिरसे तह खोल दी। सो वह अठारहवाँ अध्याय नहीं है, बल्कि यह एकाध्याय गीता ही है। देखिये, जब बछड़े के लिये गौ पेन्हाती है, तब उसको कितना समय लगता है? वैसे गीता समाप्त हो रही थी तो अर्जुन उसको पहली स्थिति पर लाया। फिर सेवक द्वारा सवाल करने पर स्वामी जवाब नहीं दे ऐसा कभी हुआ है? ॥ ८१-८५ ॥ अर्जुन ने कहा, भगवन्, मेरी प्रार्थना पर ध्यान दीजिये।

अर्जुन उवाच :

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१ ॥

अर्जुन ने कहा, हे भगवन्, संन्यास और त्याग दोनों का एक ही अभिप्राय है, जैसे संघ और संघात शब्दों का एक ही अर्थ है। वैसे संन्यास शब्द से त्याग का ही बोध होता है। लेकिन उनके अर्थ अगर भिन्न हैं तो मुझे स्पष्टकर के बताइये। तब श्रीकृष्ण ने कहा, अरे ये दोनों शब्द भिन्न हैं। किंतु, हे अर्जुन, यदि तुम को ये दो समान अर्थ के प्रतीत होते हैं, तो वह भी सही है। ॥८६-९० ॥ असल में इन दोनों का त्याग के अर्थ में ही प्रयोग होता है, फिर भी उनमें भिन्नता है। सब कर्मों का त्याग करना संन्यास है, और कर्म का फल तजना तत्त्वतः त्याग है। अब मैं स्पष्ट करता हूँ कि किस कर्म का फल त्यागना चाहिये और कौन से कर्म को जड़मूल से तजना चाहिये। वह ध्यान से सुनो। जैसे अरण्य में और पहाड़ पर असंख्य पौधे अपनेआप उगते हैं, परंतु धान के पौधे या बाग के पेड़ पैदा नहीं होते, न बोते ही तृण जितना चाहे उतना उगता है, लेकिन धान के लिये भूमि जलाकर बोआई करनी पडती है, ॥९१-९५ ॥ शरीर स्वाभाविक उत्पन्न होता है, किंतु गहने मेहनत से बनाये जाते हैं, नदी नैसर्गिक होती है, लेकिन कुआँ खोदना पड़ता है, वैसे ही नित्य और नैमित्तिक कर्म स्वाभाविक होते हैं, मगर काम्य कर्म कामना के बिना नहीं होता।

श्रीभगवानुवाच :

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२ ॥

इच्छा के ज़ोर पर अश्वमेध आदि याग होते हैं, कुएँ खोदना, बाग बनाना, अग्रहार देना, नया शहर बसाना या विविध प्रकार के व्रत धूमधाम से करना, ऐसे

जो इष्टापूर्त कर्म हैं उनका मूल कारण कामना है । वह कर्मबंधन में डाल कर फल का भोग कराती है । ॥९६-१०० ॥ हे अर्जुन, देह के गाँव में आने पर जन्म-मृत्यु के व्यापार होते ही रहते हैं । भाग्य में लिखा हुआ कभी नहीं टलता अथवा शरीर का काला या गोरा रंग धोने से नहीं बदलता । वैसे काम्य कर्म भोग कराने के लिये धरना देते है, जैसे कर्ज़ा चुकाने के बिना ऋणी छुटकारा नहीं पाता । हे अर्जुन , यह काम्य कर्म इच्छा के बिना भी किया तो भी उसका फल भोगना पड़ता है । जैसे मज़े में भोथरे बाणों से लड़ने पर भी चोट लगती है, किंवा अनजाने भी मुँह में डाला हुआ गुड़ मीठा लगता है अथवा अग्नि को राख समझ कर उस पर पाँव रखा तो वह जल जाता है, ॥१०१-१०५ ॥उसी तरह काम्य कर्म में फलभोग कराने की स्वाभाविक सामर्थ्य है । इसलिये मुमुक्षु को कुतूहल से भी उसका आचरण नहीं करना चाहिये । यदि ज़हर पेट में जाए, तो कै करना पड़ता है, वैसे यह काम्य कर्म छोड़ देना चाहिये । फिर उस त्याग को संन्यास कहते हैं । इस प्रकार वे हृदयस्थ और सर्वसाक्षी भगवान् बोले । फिर उन्होंने आगे कहा कि जैसे द्रव्य का त्याग करने पर चोर से डर नहीं होता, वैसे काम्यकर्म का त्याग करने से वासनाओं का जड़मूल से नाश होता है । चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण के पर्वदिन पर, या माँ बाप के श्राद्ध के दिन पर ॥१०६-१० ॥ या अतिथि के आगमन पर जो कर्म किया जाता है, उसको नैमित्तिक कर्म कहते हैं । वर्षाकाल में आसमान में बादलों की गड़गड़ाहट होती है, किंवा वसंत ऋतु में बन की शोभा बढ़ती है, अथवा जवानी में शरीर कांतिमान् बनता है, किंवा चंद्रकांतमणि चंद्रकिरणों से झरता है, अथवा सूर्यकिरणों से कमल खिल उठते हैं, इनमें जो मूल में है वही बढ़ता है, अन्य कुछ पैदा नहीं होता । वैसे ही नित्य कर्म को कुछ निमित्त कारण हुआ तो वह नैमित्तिक नाम से कहा जाता है । जो कर्म प्रतिदिन सुबह, दोपहर और शाम को करना होता है, वह नित्यकर्म है । आँख की दृष्टि अधिक नहीं होती, ॥१११-११५ ॥ पाँव में गति स्वाभाविक होती है, दीप में रोशनी सहज होती है, और चंदन में मूल में सुगंध होती है, वह अधिकार का लक्षण है । ऐसे कर्म को, हे पार्थ, लोग नित्यकर्म कहते हैं । इस तरह तुम्हें नित्य और नैमित्तिक कर्म बताये । ये दोनों कर्म अवश्य करना चाहिये, इस लिये कुछ लोग इनको बेकार मानते हैं । लेकिन भोजन करने पर क्षुधा का शमन होता है, वैसे नित्य और नैमित्तिक कर्म सब प्रकार से उपयुक्त होता है ॥११६-२० ॥ जैसे

अशुद्ध सुवर्ण अग्नि में डालने पर उसका शुद्धितत्त्व बढ़ता है, वैसे इस कर्म का फल मिलता है। उससे चित्त के दोष निकल जाते हैं, योग्यता बढ़ जाती है और उससे शीघ्र सद्गति मिलती है। नित्यनैमित्तिक कर्म से यद्यपि ऐसा फल प्राप्त होता है, तो भी मूल नक्षत्र पर जनमे हुए बालक के समान उसका त्याग करना चाहिये। वसंत ऋतु में लताएँ लहलहाती हैं और आम के पेड़ों में कोपलें आती हैं, तो भी वे उनको हाथ नहीं लगाते। वैसे कर्म की मर्यादा न छोड़ कर नित्यनैमित्तिक कर्म के आचरण पर ध्यान देना चाहिये। और उससे प्राप्त होनेवाला फल कै के समान त्याज्य मानना चाहिये। ॥१२१-२५॥ इस कर्म-फल के त्याग को ही विद्वान 'त्याग' कहते हैं। इस तरह त्याग और संन्यास का स्वरूप मैंने तुमको बताया। इस तरह के संन्यास में काम्य कर्म की बाधा नहीं होती, निषिद्ध कर्म निषेध करने से किया नहीं जाता और फलत्याग से नित्यनैमित्तिक कर्म अपने आप नष्ट हो जाता है, जैसे सिर काटने पर धड़ नीचे गिरता है। फिर जैसे अनाज की फसल आने पर पौधे नहीं बढ़ते, वैसे कर्मक्षय होने पर आत्मज्ञान अपने आप उसकी खोज में आता है। इस युक्ति से जो नित्यनैमित्तिक कर्मों के फलों का त्याग और काम्य कर्मों का संन्यास करता है वह आत्मज्ञान का पात्र होता है ॥१२६-३०॥ फिर इस युक्ति को छोड़ कर जो कोई अंदाज से त्याग करना चाहते हैं उससे कर्म का त्याग नहीं होता, वरन् वह अधिक संभ्रम में पड़ता है। रोग की चिकित्सा न कर दवा की, तो वह विषवत् होती है या भोजन छोड़ देने पर क्या मृत्यु की नौबत नहीं आती? इसलिये जो कर्म त्याज्य नहीं उसका त्याग और जो त्याज्य है उसका लोभ नहीं करना चाहिये। त्याग करने की युक्ति में अगर गलती हो जाए, तो सब कर्मों का त्याग करने पर आदमी कर्म बंधन के बोझ के नीचे आही जाता है। इसलिये जो विरक्त होते हैं वे त्याज्य कर्मों का आचरण नहीं करते।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

फलाशा से छुटकारा नहीं होता इसलिये कर्म बंधनकारक है ऐसा कोई कोई लोग कहते हैं। जैसे नग्न आदमी उसको नंगा कहनेवाले को झगडालू कहता है, ॥१३१-३५॥ किंवा जिह्वालंपट आदमी खाना न पचने पर अन्न को दोष लगाता है, अथवा कोढ़ी अपने सड़े हुए शरीर की दुर्दशा न देखकर उस पर बैठी हुई

मक्खियों पर रूठ जाता है, वैसे ही जिनमें फलत्याग करने की ताक़त नहीं है, लेकिन फल की इच्छा है, वे इस निर्णय पर आते हैं कि कर्म बुरा है और उसका त्याग आवश्यक है। और कोई कहते हैं कि यज्ञ आदि कर्म करना चाहिये, क्योंकि उसके सिवाय दूसरा चित्तशुद्धि का उपाय नहीं है। चित्तशुद्धि पर विजय पाना है, तो कर्म करने में सुस्ती नहीं करनी चाहिये। सुवर्ण शुद्ध करने के लिये उसको अग्नि में डालने को अलसाना नहीं चाहिये। आईने में देखने के लिये उसके ऊपर का मैल साफ करने के लिये राख जमा करने में लापरवाही नहीं करनी चाहिये। ॥१३६-४०॥ कपडे साफ़ धोने के लिये धोबी के कुंडी को मैली नहीं कहना चाहिये। खाना पकाने बिना स्वादिष्ट भोजन कैसे प्राप्त होगा ? उसी तरह कर्म क्लेशकारक हैं इसलिये उनको त्यागना उचित नहीं हैं। इस विचार से कोई कर्माचरण पर ध्यान देते हैं। इस प्रकार त्याग वाद का विषय हुआ है। इसलिये इस मतभेद को दूर करने के लिये त्याग का निश्चित स्वरूप क्या है, इसका मैं ठीक स्पष्टीकरण करता हूँ, सुनो।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविध: संप्रकीर्तित: ॥ ४ ॥

हे अर्जुन, यह त्याग तीन प्रकार का है, अब वे तीन प्रकार स्पष्ट कर के बताता हूँ। ॥१४१-४५॥ यदि मैंने त्याग के तीन प्रकार कहे हैं तो भी उसका सारांश जो मैंने अभी कहा वही है। मुझ सर्वज्ञ की राय में जो मुझे सच लगता है, वह मेरा निश्चित मत सुनो। संसार से पूर्णत: मुक्त होने के लिये जो मुमुक्षु सजग रहता है, उसको सदा यही करना चाहिये।

यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

राही को जैसे कदम उठाना नहीं छोड़ना चाहिये, वैसे यज्ञ, दान और तप ये आवश्यक कर्म त्यागना नहीं चाहिये। खोई हुई चीज मिलने तक उसकी तलाश बंद नहीं करनी चाहिये, अथवा पेट भरे बिना थाली दूर नहीं करनी चाहिये। ॥१४६-५०॥ जिस तरह परले किनारे पहुँचने के पहले नाव बीच में नहीं छोड़ सकते, अथवा फल देने से पहले केले का पेड़ तोड़ नहीं सकते, या गुम हुई वस्तु

देखने के पहले दीप नहीं बुझाना चाहिये, उसी तरह जब तक आत्मज्ञान का निश्चय नहीं होता तबतक यज्ञ आदि कर्म के बारे में उदासीन नहीं होना चाहिये । फिर अपनी अपनी योग्यता के अनुसार यज्ञ, दान, और तप का आचरण सदैव उचित प्रकार से करना चाहिये । जल्द चलनेवाले को विश्रांति के लिये अधिक समय मिलता है । वैसे ही कर्म का आचरण नैष्कर्म्य की प्राप्ति के लिये उपयुक्त होता है । मरीज़ दवा लेने का अच्छा प्रबंध करे तो वह शीघ्र तन्दुरुस्त हो जाएगा । ॥१५१-५५ ॥ उसी तरह कर्म शीघ्र और विधिपूर्वक किया, तो रज और तम जड़-मूल से नष्ट हो जाते हैं । सुवर्ण को एक के बाद एक क्षार का पुट देने से उसमें रही सही अशुद्ध धातु नष्ट होती है और वह शुद्ध होता है । वैसे ही निष्ठा से कर्म करने पर रज और तम का नाश होता है और सत्त्वशुद्धि का प्रभाव निखर आता है । इसलिये, हे अर्जुन, चित्तशुद्धि के लिये सत्कर्मों को तीर्थस्थान की योग्यता प्राप्त होती है । तीर्थ से बाह्य मैल नष्ट होती है । लेकिन कर्म के द्वारा अंदर की मैल नष्ट होती है । अतः चित्तशुद्धि के लिये सत्कर्म तीर्थ के समान होता है । ॥१५६-६० ॥जैसे प्यासे आदमी को निर्जल प्रदेश में अमृत का झरना प्राप्त हो, अंधे की आँखों में सूर्यप्रकाश जाये, डूबने वाले को बचाने के लिये नदी दौड़ आये, गिरनेवाले को धरती गले लगाये, अथवा मृत्यु मरनेवाले की आयु बढ़ाये, वैसे ही, हे अर्जुन, कर्म से ही मुमुक्षु कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है । रसायन की प्रक्रिया जिस को मालूम है, वह विष से मरनेवाले को बचा सकता है । वैसे ही कर्म युक्तिपूर्वक करने से वह बंधनकारक होते हुए भी मोक्षदाता होता है । अब, हे अर्जुन, कर्म से कर्म का नाश कैसे करते हैं, वह युक्ति मैं तुमको स्पष्ट बताता हूँ । ॥१६१-६५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६ ॥

महायज्ञ आदि मुख्य कर्म विधिपूर्वक करता हुआ भी वह कर्ता अपने कर्तृत्व के अंहकार से फूला नहीं समाता । जो दूसरे के धन से तीर्थयात्रा करता है, उसको आत्मसंतोष नहीं होता । अथवा अन्य बलवान् योद्धा के बलपर जो दूसरे राजा को पकड़ कर लाता है, उसको विजय का गर्व नहीं होता । और जो दूसरे का आसरा ले कर तैरता है, उसको तैरने का घमंड नहीं करना चाहिये । राजा का पुरोहित अपने

स्वामी के लिये जो दान करता है उसके दातृत्व का अभिमान नहीं रखता। उसी तरह कर्तृत्व का अहंकार न करता हुआ वह समय पर करने योग्य कर्म विधिपूर्वक करता है। ॥१६६-७० ॥ हे अर्जुन, किये हुए कर्म से जो फल प्राप्त होता है, उसकी कामना वह नहीं करता। हे धनंजय, प्रथम फलाशा छोड़ कर कर्म शुरू करना चाहिये, जैसे धाय पराये बच्चे का पालनपोषण करती है। फल की आशा से जैसे कोई पीपल को पानी नहीं डालता, वैसे फल की आशा छोड़ कर कर्म करना चाहिये। दूध की आशा छोड़ कर जैसे चरवाहा गाँव की गउओं को चराता है, वैसे कर्मफल के बारे में निरीह होना चाहिये। इस युक्ति से जो कर्म करता है, उसको अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। ॥१७१-७५ ॥ इसलिये फलाशा और कर्तृत्व का अभिमान छोड़ कर कर्म करना चाहिये यह मेरा अत्युत्तम संदेश है। जो संसार के बंधन से थका हुआ है और उस से मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील है, उसको मेरी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये, यह मैं तुमसे बार बार कहता हूँ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७ ॥

जैसे कोई आदमी अंधेरे में ठोकर खाकर क्रोध से अपने नाखून आँखों में चुभाता है, वैसे कर्म बंधनकारक है इस विचार से कुछ लोग सब कर्मों का त्याग करते हैं। इस त्याग को मैं तामस कहता हूँ। सिर में दर्द होने पर गुस्से में सिर काटना अच्छा नहीं। अरे रास्ता खराब होने पर उसको कदम उठा कर ही पार करना पड़ता है। नहीं तो रास्ता खराब होने पर क्या कोई अपने पाँव काट देता है ? ॥१७६-८० ॥ अगर भूखे को गरमगरम भोजन परोसने पर वह थाली को ठुकरा दे, तो उसको उपवास करना पड़ेगा। इसलिये कर्म से ही कर्मबंधन नष्ट कराने की युक्ति तामस आदमी भ्रांति से नहीं जानता। इसलिये स्वभाव के अनुसार जो उसका कर्तव्यकर्म है वह छोड़ देता है। ऐसे तामस आदमी को तुम मत छुओ।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्। ॥ ८ ॥

अथवा कोई अपना अधिकार और कर्तव्यकर्म समझ कर भी क्लेश के डर से उस कर्म से उचट जाता है। जैसे पाथेय ढोने में भारी लगता है, वैसे कर्म का

प्रारंभ कुछ समय तक दुष्कर लगता है । ॥१८१-८५ ॥ जैसे नीम जिह्वा को कड़ुआ और हड़ कसैला लगता है, वैसे कर्म आरंभ में और अंत में कठिन लगता है । गौ दूध देती है, परंतु उसके मारनेवाले सींग होते हैं । फूल देनेवाला सेवती का पौधा कँटीला होता है । भोजन से सुख तो मिलता है, लेकिन खाना पकाने का झंझट है । वैसे कर्म आरंभ में दुष्कर होने से, उसको करने में श्रम होते हैं ऐसा वह मानता है । नहीं तो समझ कर वह विहित कर्म शुरू करता है, परंतु कष्ट होने पर वह उसको बीच में छोड़ देता है । वह सोचता है कि बड़े भाग्य से नरदेह जैसी उत्तम चीज़ मैंने पायी है, तो पापी आदमी के समान कर्म करके उसको कष्ट क्यों दूँ ? ॥१८६-९० ॥ अगर कर्म करने के पश्चात् सुख मिले तो वह मुझे नहीं चाहिये । आज जो सुखोपभोग प्राप्त हुए हैं उनका उपभोग क्यों न करूँ ? इस प्रकार, हे अर्जुन, शरीर को क्लेश होंगे इस डर से जो कर्म छोड़ देता है, उसको राजस त्याग कहते हैं । यह भी कर्मत्याग है, परंतु उससे त्याग का फल नहीं मिलता । घी उफन कर अग्नि में गिरा तो वह हवन नहीं होता । अथवा कोई डूब कर मर गया तो उसको जलसमाधि नहीं बल्कि दुर्घटना कहते हैं । वैसे ही देह की आसक्ति से कोई कर्म को तिलांजलि देता है, तो उसको त्याग का फल नहीं मिलता । ॥१९१-९५ ॥ जैसे सुबह होते ही सितारे लुप्त होते हैं, वैसे ज्ञान का उदय होते ही उसकी सब क्रियाएँ अज्ञान के साथ नष्ट होती हैं । तब ऐसे कर्मत्याग से मोक्ष प्राप्त होता है । हे अर्जुन, जो अज्ञान से कर्म का त्याग करता है, उसको मोक्ष प्राप्त नहीं होता । इसलिये वह सच्चा कर्मत्याग नहीं है, बल्कि राजस त्याग है । अब किस त्याग से मोक्ष अपने घर चला आता है, यह मैं कहूँगा, सुनो ।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९ ॥

जो कर्म स्वाभाविक रूप से प्राप्त होता है उसका वह अपने अधिकार के अनुसार बड़े आदर से यथाविधि और गौरवपूर्वक आचरण करता है । ॥१९९-२०० ॥ लेकिन मैं यह कर्म कर रहा हूँ यह भावना उसके मन में नहीं होती और वह फलाशा को तिलांजलि देता है । हे अर्जुन, माता की अवज्ञा करना या उसके बारे में अभिलाषा रखना ये दोनों बातें पतन के कारण होती हैं । इसलिये इन दोनों

का त्याग कर के माता की सेवा करनी चाहिये। गौका मुँह अपवित्र होने से उसको क्या कोई त्याग देता है ? अपने प्रिय फल की छाल और गुठली नीरस है इसलिये क्या कोई उसको फेंक देता है ? उसी तरह कर्तृत्व का अभिमान और फलाशा—इन दोनों का ही नाम कर्मबंधन है। ॥२०१-०५ ॥इसलिये पिता जैसे पुत्री की अभिलाषा नहीं करता, वैसे जो विहित कर्म करते समय इन दोनों से अलिप्त रहता है, वह दुःखी नहीं होता। इस त्यागरूप पेड़ को बड़े मोक्षरूप फल लगते हैं, इसलिये यह त्याग दुनिया में 'सात्त्विक त्याग' इस नाम से प्रसिद्ध है। अब जैसे बीज भुन कर पेड़ को निर्वंश करे, वैसे वह फलत्याग कर के कर्म का त्याग करता है। जिस तरह पारस का स्पर्श होने से लोहे का जंग और काला रंग लुप्त होते हैं, उसी तरह उसके रज और तम दोनों नष्ट होते हैं। फिर उस शुद्ध सत्त्व से आत्मज्ञान का प्रकाश पड़ता है। जैसे शाम को मृगजल लुप्त होता है, ॥२०६-१० ॥ या आसमान दिखाई नहीं देता, वैसे ज्ञान के सामने इस जगत् का मिथ्याभास नष्ट होता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१० ॥

आसमान में जैसे बादल आते हैं और अदृश्य होते हैं, वैसे प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए भले बुरे कर्म उसकी दृष्टि में निर्दोष होते हैं। इसलिये जैसे स्वप्न में अनुभव किये हुए प्रसंगों पर कोई जाग्रत होने पर सुख और दुःख नहीं मानता, वैसे शुभ और अशुभ कर्म के बारे में उसके मन में कोई हिचक नहीं होती। ॥२११-१५ ॥इसलिये, हे अर्जुन, जब उसके मन में कर्म और कर्ता का द्वैतभाव नहीं होता, तब उस फलत्याग को सात्त्विक त्याग कहते हैं। हे पार्थ, इस प्रकार कर्मों के फल का त्याग किया तो वे पूरी तरह त्याग जाते हैं। नहीं तो अगर उनका अन्य तरीक़े से त्याग किया भी तो वे और बंधन में डालते हैं।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११ ॥

हे अर्जुन, जो देह प्राप्त होने पर कर्म से ऊब जाते हैं, वे गँवार होते हैं। अगर मटका मिट्टी से ऊब जाए तो कैसे चलेगा ? वस्त्र तंतुओं का त्याग कैसे कर सकता

है ? वैसे ही अग्नि उष्णता से उकती जाए तो कैसे होगा ? ॥२१६-२० ॥यदि हींग अपनी दुर्गंध से ऊब जाए तो वह सुगंध कहाँ से लायेगा ? अपना द्रवत्व छोड़ कर क्या जल रह सकता है ? उसी तरह जब तक मैं देह हूँ यह भ्रम पक्का है, तब तक किसीने कर्मत्याग करना चाहा, तो क्या वह उसका निरा पागलपन नहीं है ? हम ने माथे पर चंदन का तिलक लगाया तो उसको पोंछ सकते हैं । लेकिन भाग्य का लेख हम कैसे मिटा सकते हैं ? शास्त्र-विहित कर्मों का आरंभ किया तो उनका त्याग कर सकते हैं, मगर देह के जो स्वाभाविक कर्म हैं उनको कैसे टाल सकेंगे ? क्योंकि सोये हुए आदमी का भी श्वासोच्छ्वासरूपी कर्म होता ही रहता है, और हम कुछ न करते हुए भी बैठे, तो वह चालू रहता है । ॥२२१-२५ ॥ इस शरीर के निमित्त कर्म जीव के पीछे पड़ा है और जीते और मरते भी उससे छुटकारा नहीं होता । इस कर्म का त्याग एक युक्ति से हो सकता है, वह यह कि कर्म करते समय फलाशा के अधीन नहीं होना चाहिये । अगर कर्मफल ईश्वर को अर्पण करें तो उसकी कृपा से ज्ञान शीघ्र उत्पन्न होगा । फिर जैसे रस्सी के यथार्थ ज्ञान से साँप की भ्रांति दूर होती है, वैसे आत्मज्ञान से अज्ञान के साथ कर्म का विलय होता है । इस प्रकार कर्मफल छोड़कर जिसने सच्चा त्याग किया हो, वह महात्यागी है । इससे दूसरा कोई त्याग हो तो मरीज़ को मूर्च्छा आने पर वह आराम करता है ऐसा समझना होगा । ॥२२६-३० ॥ उसी तरह थक जाने पर जो कर्म रुक जाता है, तुम चाहो तो उसको विश्राम कह सकते हो । लेकिन वह डंडे की मार से बच कर घूँसों की मार सहने जैसा है । मैं फिर कहता हूँ कि इस त्रिभुवन में उसी को सच्चा त्यागी समझना चाहिये, जिसने फलत्याग कर के कर्म को अकर्म बना दिया है ।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२ ॥

हे अर्जुन, कर्म तीन प्रकार का होता है और जो उसके फल की आशा नहीं छोड़ते उनको वह भोगना पड़ता है । पुत्री को जन्म दे कर उसका पिता 'न मम' कह कर कन्यादान का संकल्प करता है । इस तरह वह उसके मायापाश से मुक्त हो जाता है और कन्यादान लेनेवाला जमाई उसमें फँस जाता है । जिसका ज़हर का गोदाम है, वह ज़हर बेच कर आराम से जीता है, जब कि अन्य लोग उसका मूल्य चुका कर

व्यर्थ मर जाते हैं ॥२३१-३५ ॥ उसी तरह जो फलाशा से कर्म करता है, वह कर्ता होता है और जो फलाशा छोड़ कर कर्म करता है वह अकर्ता होता है । इन दोनों में कर्म नहीं रुक जाता । रास्ते में पेड़ का फल उसको चाहनेवाले को मिलता है, वैसे कर्म का फल भी उसकी इच्छा करनेवाले को प्राप्त होता है । लेकिन जो कर्म करता हुआ उसका फल नहीं चाहता, वह किसी जगत् में जन्म नहीं लेता । क्योंकि यह त्रिविध जगत् कर्म का ही फल है । देव, मानव और स्थावर इनको ही जगत् यह नाम है और ये तीन कर्मफल के प्रकार हैं । उसी कर्म के अनिष्ट, इष्ट और इष्टानिष्ट नामक तीन प्रकार होते हैं । ॥२३६-४० ॥ जो विषयासक्त हैं वे विधि के विपरीत बुरे कर्म करते हैं और उनको कृमि, कीड़ा, मिट्टी आदि के नीच देह प्राप्त होते हैं उसको अनिष्ट कर्मफल कहते हैं । जो स्वधर्म को मान कर अपने अधिकार के अनुसार वेद-विहित पुण्य कर्म करते हैं, उनको देवताओं के शरीर प्राप्त होते हैं । यह 'इष्ट कर्मफल' नाम से प्रसिद्ध है । खट्टे और मीठे रस मिलाने पर उनसे बढ़िया और स्वादिष्ट अनोखा रस पैदा होता है, ॥२४१-४५ ॥ अथवा योगाभ्यास में रेचक कुंभक प्राणायाम के लिये उपयुक्त होता है । उसी तरह सत्य और असत्य का मेल होने पर वह मिश्रण उन दोनों पर मात करता है ।इसलिये शुभ और अशुभ समभाग में मिला कर जो कर्म किया जाता है, उससे मानव शरीर प्राप्त होता है । इसको 'मिश्रफल' कहते हैं । दुनिया में ऐसे तीन प्रकार के कर्मफल होते हैं और जो जीव कर्मफल की आशा से उन में फँस जाते हैं, उनको उसका फल भोगना पड़ता है । तीखे पदार्थ खाने में जिह्वा रुचि पाकर संतुष्ट होती है, पर वह मौत का कारण बनता है । जब्र तक अरण्य में नहीं पहुँचे, तब तक संभ्रांत दिखाई देनेवाले चोर की मित्रता अच्छी लगती है । अथवा वेश्या से जबतक समागम नहीं होता तब तक वह भली जान पड़ती है । ॥२४६-५० ॥ उसी तरह शरीर रहने तक जो कर्म करते हैं, उनको बड़ा वैभव प्राप्त होता है, मगर उनको मृत्यु के बाद उनका फल भोगना पड़ता है । जैसे साहूकार वादे के अनुसार कर्ज़दार से कर्ज़ का मूल धन लिये बिना नहीं छोड़ता, वैसे ही जीव कर्मफल भुगतने को विवश होते हैं । भुट्टे से दाना नीचे ज़मीन पर गिर जाये, तो वह उगता है और उससे फिर भुट्टा पैदा होता है । यह क्रम लगातार चालू रहता है । ठीक उसी प्रकार जीव जिस समय कर्मफलस्वरूप दूसरा जन्म पाता है, तब वह साथ ही दूसरे कर्मफल उत्पन्न किया करता है । जैसे चलने में एक पग

के आगे दूसरा पग पड़ता है, किंवा डोंगी परले किनारे लगने पर वह परला किनारा इस ओर का होता है, वैसे फल के उपभोग समाप्त नहीं होते। ॥२५१-५५॥ साध्य और साधन इस क्रम से फल का उपभोग बढ़ जाता है और जो फलाशा नहीं छोड़ते वे जीव संसार में फँस जाते हैं। योंही जाही का फूल खिलने पर सूख जाता है, वैसे फलाशा छोड़ कर कर्म करने से वह न किये के समान होता है। जैसे बोने का बीज खा लिया, तो खेती नहीं होती, वैसे कर्मफल का त्याग करने पर कर्म के परिणाम समाप्त होते हैं। चित्तशुद्धि के द्वारा गुरुकृपारूपी अमृत के फुहार से आत्मज्ञान बहार पर आता है और फिर द्वैतभाव मिट जाता है। इस तरह जिससे यह विश्वाभास उत्पन्न होता है, वह तीन प्रकार का फल नष्ट हो जाता है। इस अवस्था में भोक्ता और भोग भी अपने आप लुप्त हो जाते हैं। ॥२५६-६०॥ इस प्रकार के ज्ञानप्रधान कर्म का संन्यास घटा तो वे फलोपभोगों से होनेवाले लालच से मुक्त होते हैं। और इस संन्यास से जब उनकी दृष्टि आत्मस्वरूप में पहुँचती है, तब कर्म की भिन्नता उनको कैसी महसूस होगी? दीवार ढलने पर उस पर खींचे हुए चित्र भी मिट्टी में मिलते हैं। पौ फटने पर क्या रात का अँधेरा रहता है? अगर आकृति न हो, तो छाया किस की पड़ेगी? आईना ही न हो तो मुँह का प्रतिबिंब किसमें पड़ेगा? नींद पूरी होने पर स्वप्न कैसे आएगा और उसको सच और झूठ कौन कहेगा? ॥२६१-६५॥ वैसे ही कर्मफल का त्याग करने पर अविद्या नष्ट होती है, फिर असर करनेवाला और लेनेवाला कौन होता है? इसलिये त्यागी पर कर्म की बात लागू नहीं होती।

परंतु जबतक हमारी देह में अज्ञान होता है, और जीव कर्ता बनकर शुभाशुभ कर्म करने को प्रवृत्त होता है, और उसकी दृष्टि भी भेदभाव से युक्त होती है, तबतक हे सुजान अर्जुन, आत्मा और कर्म में द्वैतभाव रहता है, जैसा पूर्व और पश्चिम में भेदभाव होता हैं। आसमान और बादल, सूर्य और मृगमरीचिका, पृथ्वी और वायु भिन्न होते हैं, ॥२६६-७०॥ नदी और उसकी चट्टान इन दोनोंमें जैसा बहुत अंतर होता है और जल पर बनी काई उससे भिन्न होती है। काजल का दीप से संबंध होता है, तो क्या हम उसको दिया कह सकते हैं? चंद्रमा में कलंक होता है, परंतु क्या वे दोनों समान हैं? उसी तरह आत्मा से कर्म भिन्न हैं जैसे दृष्टि और आँख में,

राह और राहगीर में, प्रवाह और उसमें तैरनेवाले में या आईना और उसमें देखनेवाले में अंतर है। लेकिन अज्ञान की वजह से आत्मा में कर्मका आभास होता है, यह सत्य है। ॥२७१-७५॥ जैसे कमलिनी खिलकर सूर्योदय सूचित करती है और भौंरों को मकरंद खिलाती है, वैसे जीवों की क्रियाएँ जिन कारणों से बार बार उत्पन्न होती हैं, वे कारण पाँच हैं, उनके लक्षण मैं कहता हूँ।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

शायद तुम इन पाँच कारणों से परिचित होंगे। क्योंकि शास्त्रों ने बाँहें उठाकर उनका वर्णन किया है। वेद की राजधानी में सांख्य और वेदान्त के मंदिरों में उसके निरूपण की नौबत बजती है। क्योंकि सब कर्मों की पूर्ति के लिये ये ही मूल कारण हैं। सो तुम उनका रिश्ता विकाररहित आत्मा से मत जोड़ो। ॥२७६-८०॥ इन पाँच कारणों का ढिंढोरा पीटने से वे प्रसिद्ध हुए हैं, इसलिये मैं उनके बारे में तुमको बता रहा हूँ। इससे तुम्हारा लाभ होगा। जब कि मैं ज्ञानरूप चिंतामणि तुम्हारे पास हूँ, तो ये कारण दूसरे के मुँह से सुनने का बोझ मैं तुम पर क्यों डालूँ? आईना सामने होते हुए भी अपना रूप कैसा है यह दूसरों से पूछ कर उनको सम्मानित क्यों करूँ? भक्त जिस हेतु से जहाँ देखता है, वह वैसा ही होता है, ऐसा मैं आज तुम्हारा खिलौना बना हूँ। ऐसे प्यार की उमंग से बातें करते हुए भगवान् अपने आप को भूल गये और अर्जुन प्रसन्न हो गया। ॥२८१-८५॥ जैसे पूनम की चांदनी में चंद्रकांत मणि का पहाड़ पिघलकर उसका सरोवर बनता है, वैसे सुख और अनुभव का परदा हट जाने से अर्जुन केवल सुख का पुतला बना हुआ था। तब भगवान् समर्थ होने से शीघ्र होश में आ गये और उन्होंने सुख के समुद्र में डूबनेवाले अर्जुन को बाहर निकाला। उनके प्यार में इतनी बाढ़ आई थी कि अर्जुन जैसा वीरश्रेष्ठ अपनी विशाल बुद्धि के साथ उसमें डूबनेवाला ही था। उसको एक तरफ़ रख कर श्रीकृष्ण ने कहा कि 'हे पार्थ, तुम अपना स्वरूप जान कर होश में आवो'। तब अर्जुन ने आह भर कर गरदन हिलाई। ॥२८६-९०॥ उसने कहा, 'हे प्रभो, मैं आपके पास हो कर भी आपसे अलग हूँ। इससे मैं उकता गया हूँ, इस लिये

मैं आपसे अद्वैत चाहता हूँ । आपने जो मुझ पर इतना प्यार किया है, तो मुझे जीवदशा में रख कर दिक्कत में क्यों डालते हैं ?' तब श्रीकृष्ण ने कहा, 'हे अर्जुन, मैं जो कहता हूँ सो तुम्हारे ध्यान में नहीं आया । हे पगले, क्या चाँद और चाँदनी कभी अलग हो सकते हैं ? लेकिन अपने मन की बात तुम से कहने में मुझे डर लगता है । अरे, अगर प्रियतम व्यक्ति रूठ गया, तो उन दोनों का प्यार बढ़ जाता है, यह प्रीति की रीत है । जब तक यह परस्पर प्रेम अस्तित्व में रहता है, तब तक यह अलगाव रहेगा ही मगर इसकी चर्चा अब पर्याप्त हुई । ॥२९१-९५ ॥ हे अर्जुन, सभी कर्म आत्मा से कैसे भिन्न होते हैं, इसके बारे में हम बात कर रहे थे' । तब अर्जुन ने कहा, 'हे भगवन्, आपने मेरा अभिप्राय भाँप लिया । सब कर्म के जो मूल कारण हैं उन्हें कहने का आपने वादा किया था । और आत्मा का कर्म से कुछ वास्ता नहीं है, यह जो आपने कहा था वह मैं फिर सुनना चाहता हूँ, यह मेरी इच्छा पूरी कीजिए' । उसका यह भाषण सुन कर जगन्नाथ श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए और बोले, 'ऐसा ध्यान दे कर पूछनेवाला श्रोता कहाँ मिलता है ? ॥२९६-३०० ॥ अब जो मैं तुमको कहनेवाला था, उस पर भाष्य करूँगा । उससे मैं तुम्हारे प्यार से ऋणमुक्त हो जाऊँगा' । तब अर्जुन बोला, 'हे भगवन् आपने जो पहले कहा था, क्या वह आप भूल गये ? अब आप अपने भाषण में मैं मेरा और तू तेरा ऐसा भेदभाव क्यों रखते हैं ?' भगवान् ने कहा कि अच्छा, अब जो मैं कहता हूँ वह ध्यान से सुनो । हे अर्जुन, यह सत्य है कि सब कर्म की उत्पत्ति अनजाने में सीधे पाँच कारणों से होती है । और ये पाँच कारण एकत्रित होने पर कर्म साकार बनता है । ॥३०१-०५ ॥ वहाँ आत्मा उदासीन होने से कर्म का कारण या निमित्त नहीं होता, न कि वह कर्म की पूर्ति के लिये सहायता देता है । जैसे आसमान में रात और दिन होते हैं, वैसे जीवात्मा में शुभ और अशुभ कर्म होते हैं । जल, तेज और नीहार इनका वायु से संबंध होने से बादल होते हैं, लेकिन आसमान को उसकी ख़बर तक नहीं होती । लकड़ी से बनी हुई डोंगी को वायु की मदद से मल्लाह जल पर चलाता है, वहाँ जल सिर्फ़ साक्षी रहता है । जब कुम्हार मिट्टी का गोला चाक पर रख कर उसको डंडे से हिलाता है, तब वह बरतन बनता है । ॥३०६-१० ॥ तब पृथ्वी उस चाक को आधार देने के अलावा क्या कुछ सहायता करती है ? तुम्हीं सोचो । विश्व के सब व्यवहार सूर्यप्रकाश में होते हैं, फिर क्या उनका सूर्य से सरोकार होता है ?

उसी प्रकार ये पाँच कारण एकत्रित हो कर कर्मरूप बेल की बोआई करते हैं, लेकिन उनसे आत्मा अलग होता है । अब वेही पाँच कारण ठीक से अलग कर के बताता हूँ । जैसे माणिक को वजन करके खरीदते हैं,

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४ ॥

उसी तरह कर्म के जो कारण हैं वे तुम्हें अब बताता हूँ । उनमें देह प्रथम कारण है । ॥३११-१५ ॥ देह को अधिष्ठान कहने का यह कारण है कि वहाँ भोग्य विषय के साथ भोक्ता रहता है । दस इंद्रियों से दिनरात कष्ट सहकर प्रकृति के द्वारा जो सुख और दुःख प्राप्त होते हैं, उनको भोगने के लिये दूसरा स्थान नहीं है । इसलिये देह के बारे में अधिष्ठान शब्द का उपयोग करते हैं । वह चौबीस तत्त्वों का निवासस्थान है और बंधमोक्ष का उलझाव उसीमें होता है । जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को इस का आधार है, इसलिये इसको देह कहते हैं ॥३१६-२० ॥ फिर कर्म का दूसरा कारण कर्ता है, जो चैतन्य का प्रतिबिंब होता है । जैसे आसमान से वर्षा होने पर नीचे डबरा होता है, और उसमें आसमान प्रतिबिंबित होकर वह उसी आकार का बना दिखाई देता है, अथवा सपने में राजा अपने को भूल कर अपने आप को भिखारी व्यर्थ महसूस करता है, वैसे चैतन्य अपना स्वरूप भूल कर देह के रूप से प्रकट होता है और उसको 'मैं देह हूँ' इस तरह का मिथ्याभास होता है । जिसको ऐसी आत्मस्वरूप की विस्मृति हुई है, वह चैतन्य 'जीव' नाम से प्रसिद्ध है । यह जीव देह के साथ रहने के लिये वचन से बँधा हुआ है ॥३२१-२५ ॥ वह भ्रमित हो कर जो देह से कर्म हुए हैं, उनका अपने को कर्ता समझता है, इसलिये जीव को कर्ता कहते हैं । जैसी दृष्टि एक होती हुई भी पलकों से चँवर के समान चीरी हुई सी दिखाई देती है, किंवा घर में रखा हुआ एक दीप झरोखों की वजह से अनेक सा जान पड़ता है, या एकही अभिनेता शृङ्गार आदि नौ रसों के आविर्भाव से नौ प्रकार का भासमान होता है, वैसे बुद्धि की ज़ानने की शक्ति एक होती हुई भी बाह्य इंद्रियों के द्वारा भिन्न रूपों से प्रकट होती है । ॥३२६-३० ॥ उसीको पृथग्विध करण ऐसा कहते हैं और वह कर्म का तीसरा कारण है । जैसे जल पूर्व और पश्चिम दिशा में बह कर नद और नदी के रूप में भासमान होता है, वैसे वायु की जो क्रियाशक्ति है वह अलग अलग स्थानों में भिन्न

दिखाई देती है । जब वह क्रिया वाचा के द्वारा व्यक्त होती है, तब हम उसको वाणी कहते हैं । वही हाथों के द्वारा प्रकट हुई तो उसको लेन देन कहते हैं । फिर वह पैरों में गयी तो उसको गति कहते हैं और वही मलमूत्रद्वारा बाहर आई तो उसको 'क्षरण' नाम देते हैं ॥३३१-३५ ॥ नाभि से हृदयतक जो वायुशक्ति ॐकार की ध्वनि प्रकट करती है, उसको प्राण कहते हैं । फिर वही शक्ति ऊपर जाने लगी तो उसको 'उदान' नाम देते हैं । अधोद्वार से वह शक्ति बाहर जाने लगी, तो उसको 'अपान' नाम प्राप्त होता है । फिर वही सब शरीर व्याप्त कर के रही तो उसको व्यान कहते हैं । जो खाये हुए अन्न का रस सब शरीर में पहुँचाती है और शरीर की सब ग्रंथियों में भरी होती है, ऐसा व्यापार जो करती है, उसको 'समान' कहते हैं ॥३३६-४० ॥ और जम्हाई, छींक, डकार आदि जो वायु की क्रियाएँ घटती हैं, वे नाग, कूर्म, कृकर आदि उपप्राणों की होती हैं । इस प्रकार, हे वीरश्रेष्ठ, वायु की क्रियाशक्ति एकही है, लेकिन उसके व्यापारों के भिन्न होने से उसके नाम अलग होते हैं । जिसके व्यापार ऐसे भिन्न प्रकार के हैं, वह वायु की क्रियाशक्ति कर्म का चौथा कारण है । शरदृतु के समान उत्तम ऋतु हो, उसमें चंद्रमा उदित हुआ हो, तिस पर पौर्णिमा का योग हो, अथवा वसंत ऋतु में बढ़िया बगीचा हो, वहाँ प्रियतमा पास हो, और सब सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हों ॥३४१-४५ ॥, अथवा, हे अर्जुन, कमल पूरी तरह खिला हुआ हो, और वह केसरों से भरा हुआ हो, अथवा किसीकी वाणी में कवित्व हो, उस काव्य में रसात्मकता हो, और उस रसात्मकता को परतत्त्व का स्पर्श हुआ हो, वैसे ही सब मनोवृत्तियों के वैभव में उत्तम अकेली बुद्धि हो । उस बुद्धि से इंद्रियों की वृद्धि हो और उन सब इंद्रियों को शोभा देनेवाला, अधिष्ठाता देवताओं का अनुकूल समुदाय हो । इसलिये चक्षु आदि दस इंद्रियों को अनुकूल जो सूर्य आदि देवताओं का समुदाय है, वह उसका पाँचवाँ कारण है । ॥३४६-५० ॥ इस तरह तुम्हारी बुद्धि जैसी समझ पाये, वैसे कर्म के ये पाँच कारण तुमको मैंने बताये । उनको तुमने ठीक सुन लिया न ? अब जिनसे इन कारणों का विस्तार हो कर कर्म का आडंबर बनता है, वे पाँच हेतु मैं स्पष्टतया कहूँगा ।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५ ॥

अब वसंत ऋतु के अचानक आगमन पर पेड़ में नयी कोपलें उगती हैं, कोपलों

में फूलों के गुच्छ आते हैं, और फूलों से फल बनते हैं, अथवा बरसात में बादल आते हैं, बादलों से बारिश होती है, और बारिश से अनाज की समृद्धि होती है, ॥३५१-५५ ॥ पूरब में अरुणोदय होता है, उसके उपरांत सूर्योदय होता है, और सूर्य का प्रकाश फैलने पर दिन होता है, उसी तरह, हे अर्जुन, मन में कर्म का संकल्प पैदा होता है । बाद में वह संकल्प वाचा के द्वारा प्रकट होता है । फिर उस वाणी के प्रकाश में कर्म का मार्ग स्पष्ट दिखाई देता है । तब कर्ता कर्म के व्यापार में लगता है । इससे शरीर आदि समुदाय कर्म के द्वारा शरीर आदि की उत्पत्ति का हेतु होता है । जिस तरह लोहे का पदार्थ लोहे के घन से बनाया जाता है, अथवा तंतुओं के ताने में बाना डालने पर वस्त्र तैयार होता है ॥३५६-६० ॥, अथवा हीरे में पहलू हीरे से ही काटे जाता है, वैसे ही मन, वाचा, और देह ये मन, वाचा और देह के हेतु होते हैं ।अब शरीर आदि कैसे शरीर आदि के हेतु होते हैं, ऐसा किसी को संदेह होगा तो मैं बताता हूँ, सुनो । जैसे सूर्य ही सूर्य के प्रकाश का हेतु होता है, अथवा गन्ने का पोर गन्ने की वृद्धि का हेतु होता है, अथवा वाग्देवी की स्तुति करने के लिये वाणी को ही कष्ट देने पड़ते हैं, किंवा वेदों की महिमा वेदों को ही कहनी पड़ती है, उसी तरह शरीर आदि कर्म के कारण होते हैं यह सब को मालूम है । लेकिन वही कर्म शरीर आदि के लिये हेतु होते हैं इस में संदेह नहीं । ॥३६१-६५ ॥ देह आदि से कर्म का उभार हो कर वह देह आदि का हेतु होता है । अगर शास्त्रविहित कर्म किया तो वह न्याय्य कर्म होता है और वह न्याय्य आचरण का हेतु होता है । जैसे वर्षा अचानक धान के खेत में हुई वह उसमें सन कर बहुत काम आती है । अथवा कोई आदमी क्रोध के जोश में घर छोड़ कर द्वारका के मार्ग पर चलने लगे तो उसको चलने के कष्ट होंगे ही, लेकिन उस के पग व्यर्थ नहीं होंगे । हेतु और कारण मिल कर जो कर्म होता है वह नेत्रहीन होता है । फिर वही शास्त्र का आधार ले कर समझदारी से किया जाये तो वह न्याय्य कर्म होता है । ॥३६६-७० ॥ परोसने में यदि दूध पात्र के बाहर गिरे तो उसका व्यय योग्य हुआ ऐसा नहीं कहा जाता । वैसे शास्त्र के विरुद्ध किया हुआ कर्म व्यर्थ नहीं होता तो लूटे हुए धन को दान क्यों न समझे ? हे अर्जुन, ऐसा कोई मंत्र है, जिसमें बावन अक्षरों में से कोई भी अक्षर नहीं है ? और क्या ये बावन अक्षर न बोलने वाला कोई आदमी है ? परंतु, हे अर्जुन, मंत्र की युक्ति ज्ञात नहीं हुई हो, तो उन अक्षरों के उच्चारण को मंत्रोच्चार का फल

नहीं मिलता। वैसे कारण और हेतु का मेल होने पर जो स्वैर कर्म घटितसा हुआ हो, तो वह न किये के समान है। ॥३७१-७५॥ वह कर्म अन्याय्य होकर अनीति का कारण होता है।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

इस प्रकार, हे कीर्तिमान् अर्जुन, पाँच कारणों से पैदा हुए कर्म के पाँच हेतु होते हैं। इन कारणों और हेतुओं से आत्मा जक़ड गयी है। जैसे सूर्य कोई भी रूप नहीं धारण करता, लेकिन नेत्रों और उनके विषयों के रूपों को वह प्रकाशित करता है, वैसे आत्मा कर्म का रूप न लेकर उसको प्रकट करता है। हे वीरश्रेष्ठ, आईने में अपना रूप देखने वाला आईना और प्रतिबिंब न हो कर उनको प्रकाशित करता है अथवा सूरज दिन और रात न होकर उनको उत्पन्न करता है, वैसे आत्मा कर्म का कर्ता न होते हुए भी कर्म प्रकट करता है ॥३७६-८०॥ परंतु देहाभिमान से भ्रान्त होकर जिसकी बुद्धि देह में जकड़ी हुई है, उस को आत्मा के बारे में आधी रात का अंधेरा होता है। जिसने देह को ही आत्मा, ईश्वर और ब्रह्म माना, उसका आत्मा कर्ता है ऐसा निश्चित मत होता है। लेकिन सच कहूँ तो आत्मा कर्ता है ऐसा उसका निर्णय नहीं होता, बल्कि वह देह को ही कर्म-कर्ता मानता है। क्योंकि मैं जो आत्मा हूँ, वह कर्मातीत हो कर सब कर्मों का साक्षी है, यह बात उसने कभी सुनी ही नहीं। इसलिये वह अमेय आत्मा को देह के नाप से देखता है, तो उसमें आश्चर्य की बात क्या? उल्लू आँखें मूँद कर दिन को क्या रात नहीं बनाता? ॥३८१-८५॥ जिसने आसमान में सूर्य को नहीं देखा क्या वह डबरे में पड़े उसके प्रतिबिंब को ही सूर्य नहीं समझता? डबरे में जब जल होता है तब सूर्य हैं, जल सूख जाने पर सूर्य का नाश हुआ और जल वायु से हिला तो सूर्य काँपने लगा ऐसा वह मानता है। सोया हुआ आदमी जब तक जाग्रत नहीं होता, तबतक वह स्वप्न को सच मानता है। जिसको रस्सी का ज्ञान नहीं हुआ, वह उसको साँप समझ कर उससे डरता है इसमें आश्चर्य की बात क्या है? कामल के रोगी को चंद्रमा पीला दिखाई देता है। मृग ही मृगमरीचिका में नहीं भूलेंगे तो और कौन भूलेगा? उसी तरह, जो शास्त्र और गुरु के नामोच्चारण की वायु को अपने बदन को छू नहीं देता, वह मूर्खता के बल पर अपना जीवन बिताता है ऐसा कहना पड़ता है। ॥३८६-९०॥ आसमान में

जब बादल वेग से चलते हैं तब सियार उस मेघ की गति को चंद्रमा की गति समझता है । वैसे देह को आत्मा समझकर वह आत्मा को देहरूप जाल में डालता है । फिर, हे अर्जुन, इस भ्रम से वह कर्म की दृढ गाँठ से जकड़ा हुआ देहरूप बंदीगृह में स्वयं बंदी हो जाता है । देखो, नली पर बैठा हुआ तोता मैं जकड़ा गया हूँ इस समझ में पैर खुले होते हुए भी नली को नहीं छोड़ता । वैसे निर्दोष आत्मा पर वह प्रकृति से किये हुए कर्मों का अध्यारोप करता है । वह करोड़ों कल्प अपने किये हुए कर्म गिनता रहता है ।

जैसे वडवानल समुद्र में होने पर भी उसको नहीं छूता, ॥३९१-९५॥ वैसे जो कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता, उसका ज्ञान कैसा होता है यह मैं कहूँगा । ऐसे मुक्त साधुपुरुष का चिंतन करने पर हमको मुक्ति मिलती है । जैसे दीप की रोशनी में खोई हुई चीज दिखाई देती हैं, दर्पण पोंछ कर स्वच्छ करने से उसमें अपना रूप स्वच्छ देख सकते हैं, नमक को पानी में डालते ही उसका पानी होता है, ज्यादा क्या कहूँ ? अथवा प्रतिबिंब जैसे मुड़ कर बिंब को देखता है, वैसे संतसज्जनों के विचार से अपना खोया हुआ आत्मस्वरूप फिर प्राप्त हो जाता है । इसलिये आदमी को चाहिये कि वह संतों का वर्णन करे और उनके वचन सुने ॥३९६-४००॥ जैसे चर्मचक्षु की दृष्टि खाल से गुम नहीं होती, वैसे वह कर्म करता हुआ भी अपने भले और बुरे कर्मों के फल से लिप्त नहीं होता । ऐसे जो कर्म के परे गया है, उसके लक्षण मैं युक्ति से कहूँगा ।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

हे सुजान अर्जुन, वह जीव अविद्यारूप निद्रा में विश्वरूप स्वप्निल घटनाओं का बहुत काल तक अनुभव कर रहा था । जब गुरु ने उसको 'तत्त्वमसि' (तुम वही आत्मा हो) यह महावाक्य सुनाया, और अपनी कृपायुक्त सामर्थ्य से उसके माथे पर हाथ रखकर एक थपकी लगाई, तब वह विश्वरूप के स्वप्नाभास और अविद्या की नींद से छुटकारा पाकर ब्रह्मानंद में जाग्रत हुआ ॥४०१-०५॥ जैसे चंद्रकिरनों के फैल जाने पर मृगमरीचिका की बाढ़ ग़ायब होती है, बचपन बीत जाने पर हौवा से डर नहीं लगता, लकड़ी के जल जाने पर उसका इंधन के रूप में उपयोग नहीं

किया जा सकता, अथवा जाग्रति में हम सपना नहीं देख सकते, वैसे उसके मन में अहंकार और ममत्व के भाव नहीं रहते । अगर सूरज ने अंधकार देखने के लिये सुरंग में प्रवेश किया तो उसके हिस्से में अंधेरा नहीं आता, वैसे जो आत्मस्वरूप हुआ है उसके लिये दृश्य और द्रष्टा ये दोनों आत्मस्वरूप होते हैं ॥४०६-१० ॥ जिस वस्तु को अग्नि लगती है वह अग्निरूप होकर दाह्य और दाहक भेद मिट जाता है, वैसे जब आत्मा पर किया हुआ कर्तापन का अध्यारोप नष्ट होता है, तब जो कुछ शेष रहती है वही आत्मस्थिति है । उस आत्मस्थिति का जो मालिक है क्या वह उस देह में घिरा रहेगा ? अरे क्या प्रलय काल की बाढ़ मामूली नाले में समा जा सकती है ? हे अर्जुन, वैसे ही वह " मैं देह हूँ " यह भाव कैसे महसूस करेगा ? सूरज का प्रतिबिंब क्या कभी उसको अपने में समा कर रख सकता है ? छाछ मथ कर निकाला हुआ मक्खन अगर उसमें फिर डाल दिया तो क्या वह उसमें मिल जाता है ? ॥४११-१५ ॥हे वीरश्रेष्ठ, लकड़ियों के घर्षण से जो अग्नि अलग होती है, क्या वह लकड़ी की संदूक में बंद रह सकती है ? अथवा रात के उदर से सूर्य बाहर निकला तो क्या वह अंधकार की बात सुनता है ? उसी तरह ज्ञेय और ज्ञाता जिसमें एकता पाये हैं, उसको देह का अभिमान कैसे होगा ? और आसमान जहाँ भी जाए, तो वह वहाँ भराही रहेगा । इसलिये वह सब जगह लबालब भरा हुआ है । इसलिये जो जो कर्म किया जाता है, वह उसका स्वरूप ही है । इसलिये, किस कर्म का कर्तापन वह स्वयं लेगा ? ॥४१६-२० ॥ जैसे आसमान के लिये दूसरी जगह नहीं होती, समुद्र का प्रवाह नहीं होता और ध्रुवतारा को गति नहीं होती, वैसी उसकी अवस्था होती है । इस प्रकार आत्मज्ञान होनेपर कर्तापन का अभिमान व्यर्थ महसूस होता है । तो भी देह के रहने तक वह कर्म करता ही रहता है । वायु का बहना बंद हुआ तो भी पेड़ कुछ समय तक हिलता रहता है । कपूर खत्म होने पर भी टोकरी में उसकी सुगंध रहती है । गायन का समारोह समाप्त हुआ तो भी उससे जो आनंद मिला था उसका रंग कम नहीं होता ।अथवा जमीन भिगोकर पानी चला गया तो भी उस का गीलापन पीछे रहता है । अरे, सूर्य के अस्त होने पर उसकी रोशनी झुटपुट के रूप में रहती है ॥४२१-२५ ॥ लक्ष्य भेदने के बाद बाण उसका वेग खत्म होने तक आगे जाता है । अथवा कुम्हार द्वारा चाक पर से बरतन निकालने पर भी वह चाक पहले दी हुई गति से फिरता रहता है । वैसे देहाभिमान नष्ट होने

पर भी प्रकृति के द्वारा देह पैदा होने के कारण वह उस देह से कर्म करवाती है। जैसे संकल्प के बिना स्वप्न होता है, अथवा अरण्य में न बोए हुए पेड़ पैदा होते हैं, वैसे ही आत्मा की हलचल के बिना, देह आदि पाँच कारणों से क्रियाएँ अपनेआप घटती हैं । ॥४२६-३० ॥

फिर ये पाँच कारण और हेतु पूर्वजन्म के संस्कारों से अनेक कर्म करवाते हैं, चाहे उन कर्मों से सब विश्व का संहार हो या नया जगत् उत्पन्न हो । सूरज यह नहीं देखता कि अपनी वजह से चंद्रकमल मुरझाता है और सूर्यकमल खिलता है। आसमान नहीं जानता कि विद्युत् गिर जाने पर जमीन छिन्नभिन्न हुई है या वर्षा होने से वह हरीभरी हुई है । उसी तरह वह देह में विदेहभाव से रहता है । ॥४३१-३५ ॥जैसे नींद मे जाग्रति आने पर आदमी सपना नहीं देखता, वैसे जो देह आदि से सृष्टि में घटनाएँ होती हैं उनको वह नहीं जानता । परंतु जो चर्मचक्षु से आत्मा को देह के रूप में देखते हैं, वे उसको कर्म का कर्ता मानते हैं । घास का बिजूका खेत के मेंड़ में खड़े करने से वह खेत का रखवाला है ऐसा क्या सियार नहीं समझता ? पागल आदमी वस्त्र पहना है या नहीं यह दूसरे जानते हैं, अथवा लड़ाई में काम आये हुए वीर योद्धाओं के घाव चाहे तो दूसरे गिनें । सती होनेवाली स्त्री के भोग सब दुनिया देखती हैं, मगर उसको आग, अपना शरीर और लोगों की सुध भी नहीं होती, ॥४३६-४० ॥उसी तरह जो आत्मस्वरूप के बारे में जाग्रत हुआ है, और जिसका द्रष्टृत्व दृश्य के साथ लुप्त हुआ है, वह नहीं जानता कि उसकी इंद्रियाँ क्या कर रही हैं । अरे, समुद्र के किनारे पर खड़े हुए दर्शक देखते हैं कि एक बड़ी लहर एक छोटी लहर को अचानक निगल रही है, मगर उनको जल की दृष्टि से देखा जाए तो कौन किस को हड़प रही है ? उसी तरह जो पहुँचा हुआ है, उसके लिये कोई दूसरा व्यक्ति नहीं होता जो उसको मार सके । देखो, सुवर्ण की कालीमाता ने सुवर्ण के त्रिशूल से सुवर्ण के महिषासुर का वध किया ऐसा भक्त को सच्चा जान पड़ा, तो भी वह तीनों सुवर्ण ही हैं ॥४४१-४४५ ॥ पट पर खींचे हुए चित्र में जल और ज्वाला हूबहू दिखाई देते हैं, परंतु उस पट में अग्नि और आर्द्रता नहीं होती । उसी तरह जीवन्मुक्त के देह की हलचल पूर्व कर्म के अनुसार होती रहती है, लेकिन यह न समझ कर पागल लोग उसको कर्ता मानते हैं । उसके

स्वाभाविक कर्म से त्रिभुवन में कहर भी हुआ तो भी वह उसने किया हुआ है ऐसा नहीं कहना चाहिये । अंधकार को रोशनी में देखकर उसको नष्ट करूँगा, क्या ऐसा कोई कह सकता है ? वैसे ही ज्ञाता के लिये (द्वैतभाव न होने से) दूसरी वस्तु ही नहीं होती, जिसका वह नाश कर सके । अगर नदी गंगा से मिलने पर अपवित्र नहीं होती, वैसे ही उसकी बुद्धि को पापपुण्य का दोष नहीं लगता ॥४४६-५० ॥ हे अर्जुन, अग्नि में आग लगी तो क्या वह जलती है ? क्या शस्त्र अपने आपको चुभ सकता है ? वैसे जो कर्म को अपने से भिन्न नहीं मानता उसकी बुद्धि कर्म से लिप्त कैसे होगी ? इसलिये जो कार्य, कर्ता और कर्म यह त्रितय स्वयं बना है, वह शरीर आदि से जो कर्म घटते हैं उनसे बद्ध नहीं होता । क्योंकि जीव अपने को कर्ता समझ कर दस इंद्रियों द्वारा पाँच हेतुओं की सहायता लेकर कुशलता से कर्म करता है । वहाँ वह न्याय्य और अन्याय्य इन दोनों प्रकार की नींव डालकर उस पर कर्म की इमारतें एक क्षण में खड़ी कर देता है ॥४५१-५५ ॥ परंतु इस बड़े कार्य में आत्मा सहायक नहीं होती और यह कहना भी सच नहीं है कि वह इस कार्य को शुरू कर देती है । वह केवल साक्षी और ज्ञानस्वरूप है । इसलिये वह कर्म-प्रवृत्ति के संकल्प को अनुज्ञा कैसे देगी ? जिस कर्मप्रवृत्ति ने लोगों को बेगार में जकड़ा है, उसके लिये आत्मा को कुछ कष्ट उठाने नहीं पड़ते । इसलिये जो केवल आत्मरूप हुआ है, उसको कर्म का कारावास सहना नहीं पड़ता । परंतु अज्ञान के पर्दे पर विपरीत ज्ञान का जो चित्र खींचा जाता है, उसको रंग चढ़ाने के लिये एक लोकप्रसिद्ध तीनों का गुट कारण होता है । ॥४५६-६० ॥ वह गुट है ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय, और वह जगत् का बीज है । उसीसे कर्म की प्रवृत्ति होती है, इसमें संदेह नहीं । हे धनंजय, अब इस गुट के अलग अलग रूप तुम को स्पष्ट बताऊँगा ।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८ ॥

अरे, जीवरूपी सूर्यमंडल की ज्ञानेंद्रियरूपी किरनें वेग से जाकर विषयरूप कलियोंको विकसित करती हैं । अथवा जीवरूपी राजा इस शरीररूप घोड़ेपर सवार होकर इंद्रियरूपी शस्त्र हाथ में लेता हुआ विषयरूपी देश को लूटकर धन लाता है । जिसको ज्ञान, इंद्रियों के द्वारा सुखदुःख का भोग कराता है, और बाद में सुषुप्ति

में विलीन हो जाता है ॥४६१-६५ ॥, उस जीव को 'ज्ञाता' ऐसा नाम है और जो अभी कहा गया है उसको (इंद्रियादियों के व्यापार को) ज्ञान कहते हैं। हे अर्जुन, यह ज्ञान उत्पन्न होते ही अपने को तीन जगह में बाँट देता है। वह अपनी वृत्ति के सामने ज्ञेयविषयरूप गोला रखकर उसके पिछली तरफ ज्ञाता को खड़ा करता है। फिर ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनों के बीच जो व्यवहार होते हैं वे इस ज्ञान के द्वारा होते हैं। ज्ञेय की हद को पहुँचने पर ही इस ज्ञान की दौड़ बंद होती है और वह सब पदार्थों को भिन्न भिन्न संज्ञाएँ देता है । ॥४६६-७० ॥ वह ज्ञान साधारण ज्ञान है इसमें संदेह नहीं है।

अब ज्ञेय के लक्षण कहता हूँ, सुनो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पाँच प्रकारों से ज्ञेय प्रकट होता है। जैसे एकही आम का फल अपने रस, रंग और गंध आदि के द्वारा भिन्न भिन्न इंद्रियों को स्पर्श करके अपना पृथक् भास कराता है, वैसे ज्ञेय एक होते हुए भी उसका ज्ञान इंद्रियों के द्वारा होता है, इसलिये वह ज्ञेय पाँच प्रकार का होता है। समुद्र से मिलने पर नदी का प्रवाह समाप्त हो जाता है, मुक़ाम को पहुँचने पर चलना बंद हो जाता है अथवा फसल आने पर अनाज की वृद्धि रुक जाती है। ॥४७१-७५ ॥ वैसे ही, हे अर्जुन, इंद्रियों के व्यवहार में ज्ञान जिसमें समाप्त हो जाता है, वही ज्ञेय विषय है। इस तरह तुम्हें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के लक्षण बताये। ये तीन प्रकार सब कर्म के कारण होते हैं। शब्दादिक ज्ञेय विषय पाँच प्रकार के होने पर भी वे प्रिय या अप्रिय होते हैं। हे धनंजय, ज्ञाता के ज्ञेय वस्तु का जरा सा ज्ञान होने पर वह उसका स्वीकार या त्याग करने को प्रवृत्त होता है। परंतु मछली को देखकर बगुला, धन की निधि देखकर गरीब, किंवा औरत को देखकर कामांध पुरुष जैसा उसकी प्राप्ति के लिये तत्पर होता है ॥ ४७६-८० ॥, जैसे पानी ढलान की ओर, भौंरे फूल की सुगंध की ओर और दोहने के समय बछड़ा गौ की ओर दौड़ पड़ता है, अरे स्वर्ग की अप्सरा का वर्णन सुन कर उसकी प्राप्ति के लिये लोग आसमान को यज्ञरूप सीढ़ियाँ लगाते हैं, अथवा, हे अर्जुन, आसमान में उड़ता परेवा, परेवी को देख कर उसके पास उड़ान भरते हुये जाता है, अथवा, बादलों की गड़गड़ाहट सुन कर मोर गगन में चक्कर लगाता है, वैसे ही ज्ञाता ज्ञेय की ओर दौड़ जाता है।

इस तरह हे अर्जुन, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता से हर एक कर्म का प्रारंभ होता है। ॥४८१-८५ ॥अगर वह ज्ञेयविषय शायद ज्ञाता को प्रिय हो तो उसका उपभोग कर लेने में एक क्षण का विलंब उसको युग के समान महसूस होता है। साँप देख कर वह डरता है अथवा हार देख कर हर्षयुक्त होता है। वैसे प्रिय या अप्रिय विषय देखने पर ज्ञाता की अवस्था होती है और उसका स्वीकार या त्याग करने के लिये वह कर्म करने लगता है। अपनी बराबरी का योद्धा देख कर जैसे सेनानी जोश में रथ छोड़ कर पदाती होते हैं, ॥ ४८६-९० ॥ वैसे जो ज्ञाता है वही कर्ता बनता है। जैसे भोजन करनेवाला रसोइया बने, भ्रमर बाग बने अथवा जौहरी कसौटी का पत्थर बने, किंवा देवता मंदिर का निर्माण करने लगे, वैसे विषयों की चाह से जो ज्ञाता इंद्रियों से काम करवाता है, वह कर्ता बनता है। फिर वह कर्ता बना, तो ज्ञान उसका करण याने साधन बनता है और सहज ज्ञेय कार्य बनता है। हे सुजान अर्जुन, ज्ञान के मूल स्वरूप में ऐसा बदल होता है। जैसे रात में आँखों का तेज बदल जाता है, ॥४९१-९५ ॥अथवा भाग्य के पलट जाने पर अमीर के भोगविलास कम होते हैं, अथवा पूनम के बाद चंद्रमा में बदल होता है, वैसे इंद्रियों को प्रेरित करने से ज्ञाता कर्तापन के अहंकार में फँस जाता है। तब उसके लक्षण क्या होते हैं, उनको अब कहूँगा, सुनो। तो बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार ये अंतःकरण के चार भेद हैं और त्वचा, कान, नेत्र, जिव्हा और नाक ऐसी पाँच बाह्येंद्रियाँ हैं। तब कर्ता उन इंद्रियों की सहायता लेकर कर्तव्यकर्म के बारे में अंदाजा लगाता है। फिर जब वह महसूस करता है कि उस कर्म से सुख प्राप्त होगा ॥४९६-५०० ॥, तब वह नेत्रादि दस कर्मेंद्रियों से काम करवाता है जब तक कर्म का फल प्राप्त हो। अथवा अगर उसने महसूस किया कि उस कर्म से दुःख होगा, तो वह उसको त्यागने के लिये दस इंद्रियों को प्रवृत्त करता है। जैसे राजा किसान को, जिसके पास अनाज नहीं है, लगान वसूल करने के लिये बेगार करवाता है, वैसे वह दुःख मिटाने के लिये इंद्रियों से दिनरात काम करवाता है। इस प्रकार कर्म का त्याग या स्वीकार करने के लिये जब ज्ञाता इंद्रियों की धुरी उठाता है, तब उसको कर्ता कहते हैं। ॥५०१-०५ ॥ और कर्ता कर्म करने के लिये सब इंद्रियों को हल के समान उपयोग में लाता है, इसलिये इंद्रियों को करण याने उपकरण कहते हैं। और इन उपकरणों से कर्ता जो क्रियाएँ करता है, उनसे जो व्याप्त होता है वह कर्म है। सुवर्णकार की

बुद्धि गहनों से, चांदनी चंद्रमा की किरनों से और बेल जैसे फैलाव से व्याप्त होती है, अथवा सूर्यप्रकाश उसकी प्रभा से, गन्ने का रस मिठास से और आकाश अवकाश से व्याप्त होता है, वैसे, हे पार्थ, कर्ता की क्रियाओं से जो व्याप्त होता है, वही कर्म है इसमें संदेह नहीं है ॥५०६-१० ॥ इस प्रकार, हे जिज्ञासु अर्जुन, तुमको कर्म, कर्ता और करण इन तीनों के लक्षण बताये ।

यहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कर्म के प्रेरक हैं, तो कर्ता, करण और कार्य यह त्रितय कर्म का संचय हैं । अग्नि में धुआँ होता है, बीज में वृक्ष समा रहता है, और मन में कामवासना छुपी होती है । सुवर्ण सोने की खान से प्राप्त होता है, वैसे कर्ता, करण और क्रिया कर्म के जीवन हैं । इसलिये, हे पार्थ, यह कार्य है और मैं उसका कर्ता हूँ ऐसा अभिमान जब होता है, तब इन सब क्रियाओं से आत्मा दूर जाती है । ॥५११-१५ ॥इसलिये, हे बुद्धिमान् अर्जुन, कर्म से आत्मा अलग है यह बात और कितनी बार तुमको बताऊँ । वह तुम जानते ही हो ।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९ ॥

अब तुम्हें जो ज्ञान, कर्म और कर्ता बताये, वे तीन गुणों से तीन प्रकार के होते हैं । इसलिये, हे पार्थ, तुम इन पर विश्वास मत रखो । क्योंकि इनमें दो गुण बंधनकारक होते हैं, सिर्फ सत्त्वगुण भला होता है । सांख्यशास्त्र में इस सत्त्वगुण का स्पष्ट वर्णन किया गया है । वह मैं तुम्हें ऐसे समझाऊँगा कि तुम उसको आसानी से जान सकोगे । यह सांख्यशास्त्र विचारों का सागर है, आत्मबोधरूप कमलिनी को विकसित करने वाला चंद्रमा है और ज्ञान प्रदान करनेवाले शास्त्रों में श्रेष्ठ है । ॥५१६-२० ॥ अथवा जो प्रकृति और पुरुष दिन-रात के समान परस्पर जुड़े हुए हैं उनको अलग करके दिखाने वाला सूर्य है । वह शास्त्र चौबीस तत्त्वों से अपार अज्ञान राशि की थाह लेता है, जिससे परतत्त्व का सुख प्राप्त होता है । जिनकी सांख्यशास्त्र प्रशंसा करता है, उन भिन्न गुणों के स्वभाव ऐसे हैं । इन तीन गुणों ने अपनी सामर्थ्य से तीन प्रकार की मुहरें लगा कर सब दृश्य पदार्थ अपने स्वाधीन रखे हैं । इन सत्त्व, रजस् और तम गुणों की इतनी महिमा है कि उनकी वजह से ब्रह्मदेव से लेकर चींटी तक तीन भेद हो गये हैं । ॥५२१-२५ ॥ परंतु जिसके

कारण यह सब विश्व तीन गुणों के चँगुल में फँसा हुआ है, वह ज्ञान तुम्हें पहले बताऊँगा। क्योंकि दृष्टि अगर साफ़ हो, तो कोई भी वस्तु ठीक दिखाई देती है। वैसे शुद्ध ज्ञान होने पर सब पदार्थों का शुद्ध स्वरूप ज्ञात होता है। इसलिये अब तुम्हें सात्त्विक ज्ञान बताऊँगा, ध्यान दो, ऐसा त्रैलोक्यरूप भगवान् बोले।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२० ॥

हे अर्जुन, जिसमें ज्ञेय ज्ञाता में विलीन होता है, वही शुद्ध सात्त्विक ज्ञान होता है। जैसे सूर्य अंधकार को देख नहीं सकता, सागर नदी को नहीं जानता, अथवा अपनी परछाईं हाथ में नहीं पकड़ी जाती ॥५२६-३० ॥, वैसे उस ज्ञान को शिवजी से तृण तक व्यक्ति-व्यक्ति में भेद नहीं महसूस होता। दीवार पोतने पर चित्र, धोने पर नमक, किंवा जाग्रति में स्वप्न जैसे गायब होता है, वैसे उस ज्ञान के प्रकाश में ज्ञेय को देखने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद शेष नहीं रहता। गहने औटा कर कोई सुवर्ण की परख नहीं करता, अथवा लहरें अलग करने के लिये कोई जल छान कर नहीं लेता, वैसे दृश्य वस्तुओं को जो ज्ञान नहीं देखता, वह सात्त्विक ज्ञान है ॥५३१-३५ ॥ आईने में देखने पर देखने वाला अपना प्रतिबिंब देखता है, वैसे उसको ज्ञेय ज्ञान के रूप में दिखाई देता है। वह सात्त्विक ज्ञान मुक्तिरूप लक्ष्मीदेवी का मंदिर है। खैर, अब राजस ज्ञान के लक्षण सुनो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१ ॥

हे पार्थ, ध्यान से सुनो। वह राजस ज्ञान है, जो भूतमात्र में भेदभाव मानता है। उस ज्ञान ने भूतमात्र के असंख्य भेद कर के अपनी धज्जियाँ उडाई हैं और ज्ञाता को चकमा दिया है। जैसे निद्रा सच वस्तुस्थिति पर विस्मृति का पर्दा डाल देती है, और सपने में कष्ट के उपभोग कराती है ॥५३६-४० ॥, वैसे आत्मज्ञान के चारों ओर माया का आडंबर रचा कर जीव को जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का खेल दिखाती है। गहनों में छिपा हुआ सुवर्ण जैसे बालक को जान नहीं पड़ता, वैसे नामरूपों के भेद से वह ज्ञान अद्वैत से वंचित रहता है। नासमझ आदमी गागर और मटका मिट्टी से बना हुए है ऐसा नहीं पहचानता। वह मूर्ख दीप

को देख कर अग्नि को नहीं जानता, कपड़ा देख कर धागे को नहीं पहचानता, अथवा पर्दे पर चित्र देखने पर उसको पर्दा दिखाई नहीं देता । उसी तरह वह भूतमात्र को भिन्न समझता है और इसलिये उसमें एकत्व की भावना लुप्त होती है ॥५४१-४५ ॥ फिर जैसे जलते हुए काष्ठ से अग्नि या फूल से सुगंध भिन्न महसूस होती है, अथवा हिलानेवाले जल में प्रतिबिंबित होने से चंद्रमा के टुकड़े हुए हैं ऐसा लगता है, वैसे पदार्थ अनेक प्रकारों से भिन्न हैं इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह राजस ज्ञान है । अब कोई मातंग का घर टालना चाहता है, तो उसकी जानपहचान करनी चाहिये । इसलिये मैं तामस ज्ञान के लक्षण कहता हूँ, वे ठीक समझ लो ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२ ॥

वह तामस ज्ञान है जो शास्त्रविधि का वस्त्र न पहन कर चक्कर लगाता है और उसकी वजह से श्रुति उससे विमुख बनी रहती है । और अन्य शास्त्रों ने भी, जिन्होंने श्रुति के दास्य का स्वीकार किया है, उसको निंद्य समझ कर म्लेंच्छधर्मरूप पहाड़ पर निष्कासित कर दिया है ॥५४६-५० ॥हे अर्जुन, ऐसा वह ज्ञान तमोगुणरूपी पिशाच पर सवार होने से पागल के समान भटकता है । वह ज्ञान समागम के बारे में किसी भी विचार से रुक नहीं जाता । जैसे वीराने गाँव में कुत्ता मनमाना बर्ताव करता है, वैसे वह कोई भी पदार्थ निषिद्ध नहीं मानता । जो उसके मुँह में नहीं पड़ता, या जिसको खाने पर मुँह जल जाता है, उस चीज़ को छोड़ कर वह अन्य पदार्थ खाता है । चूहा चुरा हुआ सुवर्ण शुद्ध है या अशुद्ध है यह नहीं जानता । मांस खानेवाला वह काला है या सफ़ेद है यह नहीं देखता । अरण्य में लगा हुआ दावानल वह क्या जलाता है, उसका विचार नहीं करता । मक्खी शरीर पर बैठने के पहले वह जीवित है या मरा हुआ है यह नहीं देखती । ॥५५१-५५ ॥अन्न कै किया हुआ है या परोसा हुआ है, ताजा है या सड़ियल है इसका कौवा ख़याल नहीं करता । वैसे निषिद्ध कर्म त्याग कर शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये, यह वह विषयभोग के नशे में नहीं जानता । जो कुछ विषय नज़र आता है वह उसका उपभोग करता है । अगर वह विषय औरत हो तो जननेंद्रिय को और धन हो तो उदर को बाँट देता है । जल देखकर वह शुद्ध है या अशुद्ध है इसका वह

विचार नहीं करता, उससे प्यास बुझती है या नहीं इतना ही देखता है। वैसे ही भक्ष्य-अभक्ष्य, निंद्य-अनिंद्य इसका ख़याल नहीं करता और जो पसंद है उसीको पवित्र मानता है ॥५५६-६० ॥ स्त्रीजात त्वचेंद्रिय का भोग्य विषय है यही वह जानता है और उससे समागम करने के लिये जिनकी सहायता हो सकती है उन्हींको वह सगे-संबंधी- शरीर से जिनका संबंध है वे नहीं- ऐसा वह समझता है। जैसे सब प्राणिजात मृत्यु का भक्ष्य है, और अग्नि के लिये सब पदार्थ ईंधन हैं, वैसे सब जगत् अपने फायदे के लिये है, ऐसा वह मानता है। इस तरह सारा विश्व उपभोग्य वस्तु है यह धारणा होने से उदरभरण यही कर्म का फल है ऐसे वह समझता है। आसमान से गिरा हुआ पानी जाकर समुद्र में मिलता है, वैसे सब कर्म पेट के वास्ते हैं ऐसा वह मानता है। ॥५६१-६५ ॥स्वर्ग और नरक, प्रवृत्ति और निवृत्ति, याने क्या कार्य है, क्या अकार्य है इसके बारे में वह ज्ञान अनजान होता है। देह का पिंड यही आत्मा है, ईश्वर पत्थर की मूर्ति है, इसके परे उसकी बुद्धि की पहुँच नहीं जाती। देहावसान होने पर आत्मा किये हुए कर्म के साथ नष्ट होती है, फिर कर्म का फल भोगने के लिये कोई रहता ही नहीं ऐसा वह समझता है। अगर ईश्वर कर्म का साक्षी हो कर उसके फल का भोग कराता है, तो उस देवता की मूर्ति बेच कर उस धन का भोग क्यों न ले ऐसा वह मानता है। अगर ग्रामदेवता किये हुए दुष्कर्म की सज़ा देती है ऐसा मानें, तो पहाड़ (जिस के पत्थर से वह बनाई गयी है) क्यों स्तब्ध रहता है ? ॥५६६-७० ॥ शायद वह तामस ज्ञान ईश्वर को मानता भी है, तो वह मूर्ति को देवता और देह को आत्मा समझता है।

पापपुण्य की कल्पनाएँ झूठी हैं इसलिये विषयों का उपभोग करना और अग्नि के समान उसका खात्मा करना इसमें ही अपना हित है ऐसा वह मानता है। चर्मचक्षुओं को जो दिखाई देता है और इंद्रियाँ जिसको चाहती हैं, वही सत्य है, ऐसा उसको यक़ीन होता है। हे पार्थ, जैसे धुएँ के बादल आसमान में व्यर्थ फैलते हैं, वैसे उसकी यह धारणा बढ़ जाती है। भिंडा ताजा हो या सूखा हो, उसका कुछ उपयोग नहीं होता, उलटे वह बढ़ कर टूट जाता है ॥५७१-७५ ॥गन्ने की बालीं, नपुंसक आदमी, नागफनी का झंखड़, बालक का मन, चुराया हुआ धन, अथवा बकरी का गलस्तन व्यर्थ और विफल होता है, वैसा तामस ज्ञान है। उसको हम

ज्ञान कहते हैं, उसका कारण यह है । कोई जन्मांध को बड़ी आँखोंवाला, बहरे को अच्छे कानोंवाला और अपेय को पेय कहते हैं, वैसे ही इस तामस ज्ञान का ज्ञान उपनाम है ॥५७६-८० ॥ उसको ज्ञान न समझ कर तम कहना चाहिये ।

हे सुननेवालों में श्रेष्ठ अर्जुन, ऐसे ये तीन गुणोंसे होनेवालें ज्ञान के तीन भेद उनके लक्षणों के साथ बताये । हे धनुर्धर, अब इन तीन प्रकार के ज्ञान की रोशनी में कर्ता की क्रियाएँ होती रहती हैं । पानी जैसे प्रवाह में बहता है, वैसे कर्म भी तीन हिस्सों में बाँटा जाता है । और एक कर्म त्रिविध ज्ञान के ज़रिये तीन प्रकार का होता है । उनमें सात्त्विक कर्म के लक्षण पहले सुनो । ॥५८१-८५ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३ ॥

जैसे पतिव्रता स्त्री स्वयं पति को गले लगाती है, वैसे वह सात्त्विक कर्म अधिकार के अनुसार उसके हिस्से में आता है । साँवले शरीर में जैसा चंदन या औरत की आँखों में काजल शोभा देता है, वैसे जिस कर्म का आचरण उसके अधिकार के अनुसार गौरवास्पद होता है, वही नित्य कर्म योग्य होता है । अगर उससे नैमित्तिक कर्म का साथ मिले तो सुवर्ण के गहनों में सुगंध होने के समान है । जैसे माता तन, मन और धन खर्च करके अपने बेटे की परवरिश करने में थक नहीं जाती, वैसे वह जी जान से कर्म का आचरण करता है और उसके फल की इच्छा तज कर सब कर्म भगवान् को अर्पण करता है । ॥५८६-९० ॥ और जैसे स्त्री अपना प्रिय व्यक्ति घर आने पर उसको भोजन परोसते समय अपने लिये पर्याप्त अन्न रहेगा या नहीं इसकी चिंता नहीं करती, वैसे वह सत्कर्म करने में ढील नहीं होने देता । अगर वह कर्म पूर्ण नहीं हुआ तो उसका खेद या क्रोध नहीं करता । और वह कर्म संपन्न हुआ तो संतोष से फूल नहीं जाता । ऐसे कौशल से जो कर्म किया जाता है, उसके गुण देख कर उसको 'सात्त्विक' नाम दिया है । अब तुम्हें राजस कर्म का सच्चा स्वरूप कहता हूँ । तुम अवधान कम मत करो ।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४ ॥

वह माँबाप से घर में ठीक बातचीत नहीं करता, और पागल के समान दुनिया के सब लोगों का आदर करता है। ॥५९१-९५॥ वह तुलसी के लिये जल की छींटे भी नहीं डालता, परंतु अंगूर की बेलपर दूध सींचता है। वैसे आवश्यक नित्य और नैमित्तिक कर्म करने के लिये अपनी जगह से नहीं हिलता उठता। वरना काम्य कर्म करने के लिये सब देह भी घिस गयी तो वह पर्याप्त नहीं समझता। जैसे जमीन बीज कितनेही बोयें तो पर्याप्त नहीं मानती, वैसे डेढ़ गुना फायदेवाले धंदे में कितना धन लगा दें तो भी उसकी तृप्ति नहीं होती। जैसे कोई आदमी पारस हाथ लगने पर लोहा खरीदने में अपनी सब जायदाद खर्च करता है, और अपना वैभव बढ़ाता है, ॥५९६-६००॥ वैसे राजस कर्ता आगे मिलनवाले लाभ को देखकर कड़े परिश्रम करता है और वे कर्म हैं ऐसा समझता है। इस तरह फल की इच्छा से वह बहुत काम्य कर्म यथाविधि और अच्छी तरह करता है, उसका ढिंढोरा पीटता है और मैं धार्मिक हूँ यह कहकर बायन बाँटता है। फिर किये हुए कर्म से उसका अहंकार इतना बढ़ जाता है कि वह माँबाप की भी इज्ज़त नहीं करता। जैसे कालज्वर में मरीज़ को दवा लागू नहीं पड़ती, वैसे जो अहंकार से और फल की कामना से कर्म करता है, वह व्यर्थ श्रम करता है। ॥६०१-६०५॥मदारी अपने निर्वाह के लिये खेल करता है, चूहा अनाज के एक कण के लिये पहाड़ कुरेदता है अथवा काई के लिये मेंढ़क समुद्र मथता है। सँपेरा भिक्षा न मिलने पर भी साँप को ढोता है। क्या करें ? इन लोगों को कष्ट उठानाही अच्छा लगता है। ख़ैर, एक धान्यकण के लिये दीमक पाताल तक खोदती रहती है। वैसे स्वर्गसुख के लालच से वे कष्ट झेलते हैं। इस तरह क्लेशकारक जो काम्य कर्म हैं, उसको राजस कर्म समझो। अब तामस कर्म के लक्षण सुनो । ॥६०६-१०॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

जो कर्म निंदा की कालकोठरी है, और जिससे निषिद्ध कर्म उत्पन्न हो कर सफल हुआ है, वह तामस कर्म है। जैसे जल की सतह पर रेखा खींचने से कुछ वह नहीं दिखाई देता, वैसे उस कर्म से कुछ अच्छा फल प्राप्त नहीं होता। किंवा छाछ मथकर, राख में फूँक मारकर, या कोल्हू में बालू छानकर, या भूसा पछाड़कर,

आसमान को छेदकर, या वायु को पकड़ने के लिये जाल डाल कर कुछ हाथ नहीं लगता, वैसे यह तामस कर्म व्यर्थ होता है ॥६११-१५ ॥नहीं तो बहुमूल्य नर-देह पाकर और धन खर्च कर किया हुआ कर्म दुनिया का सुख बरबाद कर देता है। कमल निकालने के लिये उस पर कँटीला जाल लगा कर जब वह खींचा जाता है, तब वह जाल घिस जाता है, और कमल भी नष्ट होता है। अगर परवाना दीप पर क्रोध से टूट पड़े, तो वह स्वयं नष्ट हो कर दीप को बुझाता है और दुनिया को अंधकार में डालता है। उसी तरह वह तामस कर्म कर्ता का सर्वस्व चौपट करके देह को पीड़ा पहुँचाता है और दूसरों को भी चोट मारता है। निगली हुई मक्खी जब पेट में मर जाती है, तब आदमी उलटी से परेशान हो कर उसको याद करता है । ॥६१६-२० ॥ हाँ, जब कोई कर्म करने लगता है, तब वह पूरा करना अपने बस में है या नहीं इसका विचार नहीं करता। कर्म शुरू करते समय अपने पास क्या साधन-सामग्री है और अपनी क्या औक़ात है, इसका विचार वह नहीं करता और कर्म करने का स्वाँग रचता है।आग अपनाही घर जला कर बाहर फैल जाती है, अथवा समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर उछलता है, तब वह आग या समुद्र आगे पीछे नहीं देखता, छोटा बड़ा इसका विचार नहीं करता और मांर्ग और कुमार्ग को समान मान कर चलता है ॥६२१-२५ ॥ उसी तरह जो योग्य और अयोग्य समान मानता है, और अपने पराये ऐसा भेदभाव रखता है, वह निश्चित तामस कर्म है। इस तरह, हे अर्जुन, गुणभेद से कर्म के तीन प्रकार कैसे होते हैं वह कारण देकर मैंने तुमको स्पष्ट बताया।

अब वह कर्म करनेवाला और अपने कर्तृत्व का अभिमान करनेवाला जो जीव होता है वह भी गुणभेद से तीन प्रकार का होता है। जैसे कोई व्यक्ति चार आश्रमों के ज़रिये चार प्रकार का प्रतीत होता है, वैसे कर्म के भेद से कर्ता तीन प्रकार का होता है। अब इन तीनों में से सात्त्विक कर्ता का वर्णन पहले करता हूँ, ध्यान देकर सुनो। ॥६२६-३० ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६ ॥

फलाशा न होने से उत्तम चंदन के पेड़ सीधे बढ़ते हैं। अथवा नागबेल फल

कर भी उसकी पत्तियाँ उपयुक्त होती हैं, वैसे ही जो नित्य और नैमित्तिक कर्म किया जाता है, उसको फलहीन नहीं कहना चाहिये । वे कर्म कभी व्यर्थ नहीं होते । क्योंकि, हे अर्जुन फल में फल कैसे लगेंगे ? जैसे बादल बरसात में गर्जन के बिना वर्षा करते हैं, वैसे वह सात्त्विक कर्ता बहुत कर्म करता है लेकिन अपने कर्तव्य का अहंकार नहीं करता । वह निर्णय करता है कि ईश्वर को अर्पण करने योग्य कर्म करने के लिये योग्य समय, ॥६३१-३५ ॥और शुद्ध स्थान देखकर और शास्त्रवचन का आधार ले कर कर्म करना चाहिये । वह इंद्रियों को और मन को समेट कर उन्हें फल की ओर लगने नहीं देता और नियमों की शृंखला पैरों में डालता है । इस इंद्रियनिरोध के लिये अपने मन में बढ़िया धैर्य रखना आवश्यक है इसकी चिन्ता उसको जीवन के अंतिम क्षण तक रहती है । और आत्मज्ञान की चाह से वह विहित कर्म करता हुआ शरीर सुख की परवाह नहीं करता । वह सुस्ती और निद्रा को त्याग देता है, उसको भूख प्यास की याद भी नहीं आती और विषयसुख के विचार भी उसके मन को नहीं छूते ॥६३६-४० ॥ अग्नि में तपा हुआ सुवर्ण तौलने पर कम होता है, मगर अधिक शुद्ध होता है, वैसे ही वह व्यक्ति अधिक उत्साह से कर्म करने लगता है । सच्चा प्रेम हो तो जिंदगी भी तुच्छ लगती है । देखो, जब सती होनेवाली स्त्री अग्नि में प्रवेश करती है, तो उसके शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते हैं । फिर, हे अर्जुन, आत्मा के प्रति जिसे प्यार हुआ है, उसके शरीर को कष्ट होने पर क्या वह खेद अनुभव करेगा ? विषय की कामना नष्ट होने पर जैसे देहबुद्धि घटती है, वैसे कर्म करने में उसको दुगुना आनंद होता है । अगर कर्म करते हुए वह किसी समय रुक जाए ॥६४१-४५ ॥, तो भी उसको खेद नहीं होता, जैसे कगार से गिर पड़ने पर शकट कोई संकट नहीं मानता । अथवा शुरू किया हुआ कर्म अच्छी तरह से सफल हो जाए, तो भी मेरी जीत हुई ऐसी वह शेखी नहीं बधारता । हे अर्जुन, कर्म करनेवाले में जब ये लक्षण दिखाई देते हैं, तब उसको सात्त्विक कर्ता कहना चाहिये ।

हे धनंजय, अब राजस कर्ता की पहचान यह है कि उसमें दुनिया की सब वासनाएँ बसेरा करती हैं ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७ ॥

जैसे ग्राम की सब गंदगी घुरे में जमा होती है, अथवा मरघट में सब अमंगल पदार्थ एकत्रित होते हैं ॥६४६-५० ॥, वैसे ही वह दुनिया में सब वासनाओं और दोषों का पाँव धोने का स्थान होता है । इसलिये वह जिस कर्म से इच्छित फलप्राप्ति होती है, वह कर्म शुरू करता है और उससे प्राप्त हुए धन की एक कौड़ी भी न छोड़ कर उसपर अपने प्राण निछावर करता है । जैसे बगुला मछली को पकड़ने की ताक में रहता है, वैसे वह अपना निधि सँभाल कर दूसरों की जायदाद छीन लेने में ध्यान लगाये रहता है । बेर का पेड़ पास जाते ही काँटों से घेरता है, छूटने की कोशिश करे तो शरीर नोचता है और उसका फल भी ज़बान को जलाता है । ॥६५१-५५ ॥ वैसे वह काया-वाचा-मन से दूसरे को दु:ख देता है और उसका हित न देखकर अपना काम निकालता है । अगर वह कोई शुरू हुआ कर्म पूर्ण करने में असमर्थ होता है, तो वह उस कर्म के बारे में अपने मन में अरुचि पैदा नहीं होने देता । धतूरे का फल अंदर से मादक और बाहर कँटीला होता है, वैसे वह अंतर्बाह्य अपवित्र होता है । हे अर्जुन, किये हुए कर्म का फल पाने पर वह निहाल होता है और लोगों को मुँह बिचका कर चिढ़ाता है । और वह कर्म विफल हुआ तो वह शोक से व्याकुल होता है और उस का धिक्कार करता है । ॥६५६-६० ॥ हे अर्जुन, इस प्रकार से जो कर्म का आचरण करता है, वह राजस कर्ता है यह निश्चय ही समझो ।

अब तामस कर्ता जो बुरे कर्मों की खान है, उसका स्वरूप मैं तुम्हें स्पष्ट कर के समझाता हूँ ।

अयुक्त: प्राकृत: स्तब्ध: शठो नैष्कृतिकोऽलस: ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८ ॥

अपने स्पर्श से आगे के पदार्थ कैसे जलते हैं यह अग्नि नहीं जानती । अपनी पैनी धार से दूसरों का प्राणहरण कैसे होता है यह शस्त्र नहीं समझ पाता । अथवा अपनी वजह से दूसरों की मृत्यु कैसे होती है, यह कालकूट विष नहीं जानता । वैसे ही वह अपना और दूसरों का नाश करने में प्रवृत्त होता है । ॥६६१-६५ ॥ आँधी जैसे जहाँ रास्ता मिले वहाँ चलती है वैसे ही अपने हाथों जो कर्म किये जाते हैं, उसकी सुध उसे नहीं रहती । हे पार्थ, उस तामस कर्ता की कृति और हेतु में मेल नहीं होता । इससे ज्यादा पागलपन क्या हो सकता है ? बैल के अंडकोष को जैसे

किलनियाँ लगती हैं, वैसे इंद्रियों के भोग भोगते हुए वह जीवित रहता है। जैसे बालक को हँसने और रोने में देर नहीं लगती, वैसा उसका बर्ताव उद्दंड होता है। वह प्रकृति के वश में होने से कार्य और अकार्य नहीं जानता। और कचरे से बढ़नेवाले कूड़ाखाने के समान वह अपने कुकर्म से तृप्त हो कर फूला नहीं समाता ॥६६६-७० ॥ इसलिये वह घमंड के जोश में ईश्वर के सामने भी सिर नहीं नवाता और पहाड़ को भी नाचीज़ मानता है। उसका मन धोखेबाज होता है, उसका बर्ताव उचक्का होता है और उसकी दृष्टि वेश्या के समान दूसरों का सर्वस्व का हरण करनेवाली होती है। ज्यादा क्या कहूँ? उसका शरीर कपट से बना हुआ होता है और उसका जीवन जुआरी का घर है। उसका रूप स्वार्थी भिलों की बस्ती जैसा होता है, इसलिये किसी को उससे छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। वह दूसरों की उन्नति देख कर आगबबूला होता है। जिस तरह लवणयुक्त दूध पीने योग्य नहीं होता, ॥६७१-७५ ॥कितनी ही मात्रा में ठंडा पदार्थ अग्नि में डालने पर वह भड़क उठती है, अथवा कितना ही उत्तम पदार्थ पेट में जाए तो भी उसका मल बन जाता है, उसी तरह दूसरों का सत्कर्म उसके हाथ में गया तो वह विपरीत होकर बाहर निकलता है। वह दूसरों के गुणों को अवगुण मानता है और जैसे साँप को दूध पिलाने से उस का विष बनता है, वैसे वह अमृत को ज़हर बना देता है। और जिस समय इहलोक का जीवन सार्थक करनेवाला और परलोक पहुँचानेवाला कोई सत्कर्म सहज प्राप्त होता है ॥६७६-८० ॥, तब उसको निद्रा अवश्य आती है। लेकिन कुकर्म करने के समय वह निद्रा दूर भाग जाती है। देखो, अंगूर या आम के दिनों में कौवे को मुखरोग होता है, किंवा दिन में उल्लू की आँखें बंद होती हैं, वैसे ही किसी पर्व के दिन पर उसके शरीर में सुस्ती आती है और कुकर्म करने के समय पर वह उसकी आज्ञा में रहती है। जैसे समुद्र के अंदर वड़वानल अखंड जलता रहता है, वैसे (दूसरों का उत्कर्ष देखकर) वह मन में ईर्षा से जलता रहता है। जैसे मेंगनियों की अग्नि से धुआँ निकलता है, अथवा गुदद्वार से दुर्गंधयुक्त वायु बाहर आती है, वैसे वह आजीवन शोक करता है। ॥६८१-८५ ॥ वह कल्पान्त के बाद लाभ पाने के लालच से उद्योग करता है और परलोक की भी चिन्ता करता है। लेकिन उसको घास का तिनका भी हाथ नहीं लगता। ऐसा जो लोगों में पाप की राशि है, वह बिलकुल तामस कर्ता है। इस प्रकार, हे अर्जुन, तुम्हें

कर्म, कर्ता और ज्ञान के विविध लक्षण बताये।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९ ॥

अब अज्ञानयुक्त देह को मोहरूपी कीमती वस्त्र और संशयरूपी गहने पहना कर ॥६८६-९० ॥, जीव अपने निश्चय की छटा जिस बुद्धि की आईने में देखता है, तब उसकी बुद्धि तीन प्रकार की होती है। हे अर्जुन, इस दुनिया में ऐसी कोई वस्तु है जो इन तीन गुणों से तीन प्रकार की नहीं होती ? जिसके पेट में अग्नि नहीं है, क्या ऐसा कोई काष्ठ इस सृष्टि में है ? वैसे इस दृश्य सृष्टि में कौन सी वस्तु है जो त्रिविध नहीं है ? वैसे ही इन तीन गुणों से बुद्धि भी त्रिविध बनी है, और धृति तीन प्रकार की होती है। अब उनके भेद और लक्षण विस्तार से बताऊँगा। ॥६९१-९५ ॥ लेकिन, हे धनंजय, इन दोनों में से पहले बुद्धि के भेद और लक्षण कहूँगा। हे वीरश्रेष्ठ, आदमी को इस दुनिया में आने के लिये तीन मार्ग हैं। वे तीन मार्ग अकर्म, काम्य और निषिद्ध कर्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं और प्राणिमात्र को उनसे संसारभय प्राप्त हुआ है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

इसलिये अधिकार को सम्मत और विधि के अनुसार जो नित्य कर्म प्राप्त हुआ है, वही कर्म आत्मप्राप्ति के फल पर नज़र रख कर करना चाहिये, जैसे प्यासे आदमी को पानी पीना चाहिये। ॥६९६-७०० ॥ ऐसा करने से वह नित्यकर्म संसारभय का संकट दूर करता है, और उसके लिये मोक्षप्राप्ति सुलभ कर देता है। इस तरह जो समझदार पुरुष नित्यकर्म करता है, वह संसारभय से मुक्त होता है और आचरण से मोक्षमार्ग पर चलता है। इस नित्यकर्म पर श्रद्धा रख कर जो बुद्धि उसका आचरण करने का निश्चय करती है, वहाँ मोक्षप्राप्ति होती ही है। इसलिये प्रवृत्ति की नींव पर निवृत्ति को रचा कर इस कर्म में हाथ क्यों नहीं डालें ? प्यास से तड़पता हुआ आदमी पानी पीकर जीवित रहता है। बाढ़ में पड़ा हुआ आदमी तैर कर बच सकता है। अंधकूप में गिरा हुआ व्यक्ति सूर्यप्रकाश के बल पर बाहर आता है। ॥७०१-०५ ॥ पंथ्य के साथ दवा लेने से मरीज़ बच सकता है। अथवा जल

का आधार मिलने पर जैसे मछली को डर नहीं होता, वैसे इस नित्य कर्म का आचरण उसको मोक्षदायी होता है । ऐसे नित्य कर्म करने से उनकी ज्ञान के प्रति प्रवृत्ति होती है, और उनकी बुद्धि जानती है कि कौनसे कर्म करने योग्य नहीं हैं । संसारभय पैदा करनेवाले काम्य कर्म और जिन पर निषिद्धपन के कलंकयुक्त छींटे पड़े हैं ऐसे अकरणीय और जन्म-मृत्यु देने वाले कर्मों की ओर उसकी बुद्धि नहीं झुकती। ॥७०६-१० ॥ अरे, अग्नि में कोई प्रवेश नहीं करता, अथाह दह में कोई नहीं कूदता, तपा हुआ शूल हाथ में कोई नहीं पकड़ता, अथवा फुफकारने वाले काले नाग को कोई हाथ नहीं लगाता, या शेर की नाली में कोई नहीं जाता । उसी तरह निषिद्ध कर्म देखकर बुद्धि को निःसंदेह डर लगता है । विषयुक्त अन्न खानेपर मृत्यु जैसे अटल है, वैसे ही निषिद्ध कर्म का आचरण करने पर जन्म-मरण अटल है । फिर ऐसा निषिद्ध कर्म बंधनकारक होता है इस डर से बुद्धि उससे हट जाती है । ॥७११-१५ ॥जौहरी जैसे खरा खोटा रत्न परख लेता है, वैसे वह बुद्धि कर्म और अकर्म का निर्णय करके उसको प्रवृत्ति और निवृत्ति की माप में यथार्थ रूप से नाप लेती है । सो जो बुद्धि भला बुरा कर्म स्पष्ट रूपसे जानती है, वही सात्त्विक बुद्धि है ।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१ ॥

बगुलों की बस्ति में पानी से मिला हुआ दूध मिलता है (और वह अलग नहीं किया जा सकता) । अथवा दिन और रात में जो अंतर है वह अँधा नहीं जानता । जो भ्रमर फूल का मकरंद चखता है, वही लकडी कुरेदने को प्रवृत्त होता है, फिर भी उसका भ्रमरपन गुम नहीं होता । उसी तरह धर्मरूपी सत्कर्म और अधर्मरूपी कुकर्म क्या होता है, यह राजस बुद्धि नहीं जानती और उन दोनों का आचरण करती है । ॥७१६-२० ॥ अरे, परखने बिना मौक्तिक खरीदोगे तो वे शायदही खरे होंगे, यह निश्चित है । वैसे निषिद्ध कर्म सौभाग्य से प्राप्त नहीं हुआ, तो वह टलता है । नहीं तो यह बुद्धि इन दोनों कर्मों को समान मानती है । जैसे सारे समाज को (योग्य और अयोग्य इसका ख़याल नहीं रखते हुए) दावत दी जाती है, वैसे जो बुद्धि सत्कर्म और कुकर्म न जानती हुई सब कर्मों का स्वीकार करती है, वह राजस बुद्धि है ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२ ॥

राजमार्ग चोरों के लिये बाधक होता है । लोगों के लिये जो रात का समय होता है, वही राक्षसों के लिये दिन होता है । अभागे को गढ़ा हुआ कोष कोयले का ढेर जैसा लगता है और उसके पास धन होते हुए भी वह व्यर्थ होता है। ॥७२१-२५ ॥उसी तरह, जो बुद्धि शास्त्रसंमत मार्ग को घातक मानती है और खरे को खोटा समझती है, और जो बुद्धि शास्त्रार्थों में से विपरीत अर्थ निकाल लेती है और गुणों को दोष समझती है, यहाँतक कि जो श्रुतिसम्मत बाते हैं वे उसको गलत लगती हैं, उस बुद्धि को, हे अर्जुन, बिना किसीसे पूछे, बेशक तामसी कहना चाहिये । भला, काली रात क्या धर्मकार्य के लिये उचित होती है ? हे अर्जुन, तुम आत्मबोध के कमल को विकसित करनेवाले जो चाँद हो, तुम्हें इस प्रकार बुद्धि के तीनों भेद मैंने स्पष्ट करके बताये हैं । ॥७२६-३० ॥ जब बुद्धि निश्चित रूप से कोई कर्म करना चाहती है, तब उसको धृति कहते हैं और उसके तीन प्रकार होते हैं । अब इस धृति के तीन प्रकार, उनके लक्षणों के सहित, मैं तुम्हें बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३ ॥

सूर्योदय होने पर चोरी और अंधेरा दोनों रुक जाते हैं, अथवा राजा की आज्ञासे बुरे व्यवहार बंद हो जाते हैं । वायु जोर से चलने लगी, तो बादल बिखर जाते हैं और उनकी गड़गड़ाहट थम जाती है । अगस्त्य ऋषि के दर्शन से समुद्र स्तब्ध हो जाता है । चंद्रोदय होने पर सूर्यकमल अपने आप सिकुड़ जाते हैं । ॥ ७३१-३५ ॥ अगर सिंह गरजकर सामने आया तो मदोन्मत्त हाथी को भी उठाया हुआ कदम नीचे रखना सूझता नहीं । वैसे सात्त्विक धृति के उत्पन्न होने पर मन, प्राण, और इंद्रियों के व्यापार बंद हो जाते हैं । फिर, हे अर्जुन, इंद्रियों का विषयों से हुआ संबंध टूट जाने से वे अपनी मातारूपी मन के पेट में प्रवेश करती हैं । प्राणवायु के ऊपर के और नीचे के मार्ग रुक जाने से वह अपने नौ भेदों के साथ सुषुम्ना नाडी में जाती है । तब मन के संकल्प विकल्प के वस्त्र उतार कर बुद्धि

उसकी ओट में चुप होकर रहती है ॥७३६-४० ॥ इस प्रकार जो धृति मन, प्राण और इंद्रियों के व्यापार बंद करके उन सबको ध्यान की कोठरी में युक्ति से बंद कर देती है और उनको अपने राजराजेश्वर परमात्मा को अर्पित करने तक उनके लालच से मोहित न होकर उन सबको रोके रहती है, वह सात्त्विक धृति है । यह बात रमापति श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कही थी ।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४ ॥

शरीर धारण करने पर जो जीव धर्म, अर्थ और काम इन तीन उपायों से स्वर्ग और घरबार में मग्न रहता है, ॥७४१-४५ ॥वह इस धैर्य के बल पर मनोरथ के सागर में धर्म, अर्थ, काम की नौका में बैठ कर कर्म करता है । कर्मरूपी पूँजी का उपयोग करने पर उससे चौगुना लाभ होता है, यह सोचकर वह जिस धैर्य से प्रयास या दुःसाहस करता है, उस धैर्य को, हे अर्जुन, राजस धृति कहते हैं । अब सुनो तीसरे तामस धैर्य के लक्षण ।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५ ॥

कोयला जैसे कालापन लेकर उत्पन्न हुआ है, वैसे यह (तामस) धृति सब अधम गुणों से बनी हुई है । अब तुम्हें संदेह होगा कि यह अधम और हीन है तो इसको गुणसंज्ञा कैसे मिली ? लेकिन क्या राक्षस को पुण्यजन नहीं कहते ? ॥७४६-५० ॥सब ग्रहों में अंगार के समान ताप देनेवाले ग्रह को मंगल याने शुभ कहते हैं । वैसे ही तम के बारे में गुण शब्द का उपयोग किया जाता है । हे वीर अर्जुन, जिस में सब दोष भरे हुए हैं, उस तम की कमाईसे जिस पुरुष की मूर्ति बनाई हुई है, वह पुरुष आलस्य को बगल में दबा लेता है और उसको निद्रा कभी नहीं छोड़ जाती, जैसे पाप को पोसने पर दुःख से छुटकारा नहीं होता । जैसे पत्थर कठोरता से नहीं छूटता, वैसे वह देह और धनके चाहनेवाला डर से छुटकारा नहीं पाता । कृतघ्न व्यक्ति का पाप जैसे मिट नहीं जाता, वैसे पदार्थमात्र के प्रति आसक्ति होने से उसका मन सदैव शोकाकुल रहता है ॥७५१-५५ ॥और दिनरात असंतोष मन में जखड़ कर रखने से उसकी खेद से दोस्ती होती है ।लहसून की बू जैसे नष्ट नहीं

होती, अथवा कुपथ्य का सेवन करनेवाला रोग से रिहा नहीं होता, वैसे वह जीवन के अंतिम क्षणतक खेद से छुटकारा नहीं पाता। उसके मन में जवानी, धन और वासना संबंधी मोह बढ़ता रहता है और मद भी वहाँ निवास करता है। जैसे अग्नि गरमी और साँप द्वेष नहीं छोड़ता, वैसेही उसमें जो सब लोगों का दुश्मन है, डर बराबर बना रहता है। अथवा मृत्यु जैसे शरीर को भूलती नहीं वैसे उस तामस व्यक्ति में मद अचल रहता है ॥७५६-६० ॥

जिस धैर्य ने निद्रा आदि पाँच दोष पकड़ रखे हैं, उसको तामस धृति समझना चाहिये। इस प्रकार जगन्नाथ श्रीकृष्ण बोले। उन्होंने फिर कहा, तीन प्रकार की बुद्धि जिस कर्म का निर्धारण करती है, उसको तीन प्रकार की धृति पूर्ण करती है। सूर्योदय होनेपर मार्ग दिखाई देता है, परंतु आदमी को क़दम उठाना पड़ता है। इसलिये उसको धैर्य याने मन का पक्का निश्चय होना चाहिये। वैसे बुद्धि कर्म दिखाकर उनके साधन भी उपलब्ध करा देती है। लेकिन वह कर्म सफल करने के लिये धैर्य की आवश्यकता होती है। ॥७६१-६५ ॥ इस तरह मैंने तुम्हें धृति के तीन प्रकार बताये।

उस धृति से तीन प्रकार का कर्म उत्पन्न होता है और उसका जो अच्छा फल मिलता है, उसको सुख कहते हैं। वह सुख भी कर्म के समान तीन प्रकार का होता है। अब यह फलस्वरूप सुख तीन गुणों से कैसा भिन्न होता है, यह मैं स्पष्ट शब्दों में कथन करूँगा। फिर वह चोखे शब्दों में कैसे कहा जा सकता ? यह बात शब्दों के द्वारा समझाई जाय तो उसको शब्दों का मैल लगता है और उसको कानों से सुना जाय तो कर्णों का मैल लगता है। इसलिये कथन और श्रवण तज कर उसका अंतःकरण से ग्रहण करो ॥७६६-७० ॥ यह कहकर भगवान् ने त्रिविध सुख का वर्णन शुरू किया। अब उसका मैं विवेचन करूँगा।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६ ॥

हे बुद्धिमान् अर्जुन, सुख के तीन रूप हैं, वे मैं तुमको बताऊंगा, ऐसा वचन दिया था न ? अब उनका बयान करूँगा, सुनो। हे किरीटी, आत्मा से मिलन होने

पर जीव को जो सुख होता है, वह मैं तुमको समझाऊँगा। उत्तम दवा लेने पर भी वह परिमाण में लेनी पड़ती है। राँगे पर रासायनिक प्रक्रिया कर देने पर उसका रजत बनता है। अथवा नमक का पानी बनाने के लिये उस पर दो चार दफ़ा जल छिड़कना पड़ता है। ॥७७१-७५॥ उसी तरह आत्मसुख का तनिक लाभ होने पर उसका अभ्यास जारी रखना चाहिये, ताकि जीवदशा का दुःख मिट जाये। यह आत्मसुख भी तीन प्रकार का होता है।उसका एकैकशः विवेचन करूँगा, सुनो।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

साँप से घिरा हुआ चंदन का पेंदा या पिशाच का पहरा होने से गुप्त निधि का स्थल डरावना होता है। स्वर्ग के उत्तम भोग पाने के लिये यज्ञ की झंझट करनी पड़ती है। बचपन कष्टों से पीड़ाकारक होता है, दीप जलाने के लिये धुएँ की परेशानी सहनी पड़ती है अथवा दवा जिह्वा को कडुई लगती है। ॥७७६-८०॥वैसे, हे अर्जुन, आत्मसुख प्राप्त करने के लिये प्रारंभ में यम-दम आदि साधनों का दुःख सहना पड़ता है। जब पसंद-नापसंद को ग्रासनेवाला तीव्र वैराग्य उत्पन्न होता है, तब वह स्वर्ग और संसार के बीच के घेरे को उखाड़ देता है। सार और असार विचारों के श्रवण और कड़े व्रतों के पालन करने में बुद्धि आदि के चिथड़े निकलते हैं। सुषुम्ना नाड़ी के बीच प्राण और अपान वायु का निरोध करना पड़ता है। प्रारंभ में ऐसे बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। चकवा का चकई से वियोग कराये, या गौ के थन से बछड़े को दूर भगाये, या भिखारी को थाली से उठाये, ॥७८१-८५॥या माता के इकलौते बेटे को मृत्यु ले जाये, अथवा मछली को पानी से बाहर निकाले, तो उसको दुःख होता है। वैसे ही विषयों का घर छोड़ने में इंद्रियों को युगान्त हुआ सा लगता है। लेकिन साधक बड़े धैर्य से उस दुःख का सामना करता है। प्रारंभ में ऐसे कष्ट झेलने पर उसको परम सुख प्राप्त होता है, जैसे क्षीरसमुद्र के मंथन से अमृत प्राप्त हुआ। जब उसमेंसे निकला हुआ हलाहल धैर्यरूपी शंकर प्राशन करेगा, तब अमृत का समारोह प्राप्त होता है। जैसे कच्चे खट्टे अंगूर लुकठी से ज्यादा दागते हैं, लेकिन पकने पर वे मीठे लगते हैं ॥७८६-९०॥, वैसे वैराग्य आत्मज्ञान से पूर्ण होने पर अविद्याजनित सब दुःख मिट जाता है। समुद्र में गंगा

जैसे मिलती है, वैसे बुद्धि आत्मा से एकरस होती है और उसके लिये आनंद की खान अपने आप खुल जाती है । इस प्रकार जिस सुख का मूल वैराग्य होता है और जिस की परिणति आत्मानुभव की शांति में होती है, उसको सात्त्विक सुख कहते हैं ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८ ॥

हे अर्जुन, भोग्य विषयों और इंद्रियों का मेल होने पर विषयसुख मन में लबालब भर जाता है । जिस तरह शासक ग्राम में जाने पर वहाँ समारोह मनाया जाता है, अथवा कर्ज लेकर ब्याह संपन्न किया जाता है ॥७९१-९५ ॥ मरीज़ को केला और चीनी वर्ज्य होने पर भी मीठी लगती है, अथवा बचनागविष खाने में मधुर लगता है, वैसा यह सुख है । संभ्रान्त ठगसे दोस्ती, वेश्या के बर्ताव या बहुरूपिया द्वारा किये जानेवाला मनोरंजन सुखप्रद लगते हैं । वैसेही विषय और इंद्रियों का संयोग जीव को सुखद प्रतीत होता है । फिर जैसे जैसे हंस पानी में सितारों का प्रतिबिंब देख कर और भ्रांति से उनको रत्न समझ कर उनको पकड़ लेने के लिये पानी में कूदता है तब वह पत्थर पर पटक कर मर जाता है । वैसे उसका विषयसुख गुम होता है, आयु ख़त्म होती है और कमाया हुआ सुकृत का पुण्य समाप्त होता है । फिर सब विषयभोग स्वप्न के समान लुप्त हो जाते हैं और दुःख की खाई में लोटना शेष रहता है । ॥७९६-८०० ॥ इस प्रकार इस लोक में वह विषयसुख विपत्ति में परिणत होता है और वह परलोक में भी विषसदृश फल देता है । जब कोई इंद्रियों का लाड़-प्यार करने के लिये धर्म का क्षेत्र उनके हवाले कर देता है और विषयों का उपभोग करता है, उसका धर्म नष्ट होता है और पाप प्रबल होकर उसको नर्क के प्रति ले जाता है । विष नाम से महुर(मधुर) होता है, बल्कि अंत में वह विष सिद्ध होकर प्राणघातक होता है । वैसे इस लोक का सुख प्रारंभ में सुखद होकर अंत में दुःखद होता है । यह सुख रजोगुण से प्राप्त हुआ है इसलिये उसको राजस कहते हैं । तुम उसको कभी स्पर्श मत करो । ॥८०१-०५ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९ ॥

और वह सुख तामस है जो अपेय का पान कर के, अभक्ष्य का भक्षण करके और बदचलन औरत की संगति में मिलता है। और दूसरे को धोखा देकर, या पराये धन का अपहरण करके या भाट की स्तुति सुन कर जो सुख होता है, अथवा आलस्य से या निद्रा से जो सुख बढ़ता है, जिस के प्रारंभ में और अंत में आदमी मोहित होकर अपने कल्याण का मार्ग खो जाता है, ऐसा सुख भी तामस है। यह मैं विस्तार से नहीं कहूँगा क्योंकि वह संभव नहीं है। इस तरह मूल कर्म के भेद से सुख भी तीन प्रकार का हुआ है। वे प्रकार मैंने शास्त्र के अनुसार तुम्हें स्पष्ट करके बताये ॥८०६-१० ॥ इस दुनिया में जो स्थूल और सूक्ष्म वस्तुएँ हैं, उनमें से कोई भी वस्तु कर्ता, कर्म और फल इस गुट से मुक्त नहीं है। और, हे अर्जुन, जैसे वस्त्र तंतुओं से बुना हुआ है, वैसे यह गुट तीन गुणों से बना हुआ है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४० ॥

इसलिये, ध्यान में रखो कि इस दुनिया में और परलोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृति के गुणों से बँधी हुई न हो। ऊन के बिना कंबल, मिट्टी के सिवाय गोला या पानी के बग़ैर लहरें कैसे होती हैं? उसी तरह इस सृष्टि की रचना तीन गुणों के बिना नहीं हुई है। ॥८११-१५ ॥अतः इस दुनिया में सब पदार्थ इन तीन गुणों से बने हुए हैं। इन गुणों के ज़रिये अकेले भगवान् के ब्रह्मा, विष्णु और महेश हुए, इन तीन गुणों से स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल बने और उन्होंने ही चार वर्ण और उनके कर्म अलग अलग किये हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१ ॥

तुम पूछोगे कि वे चार वर्ण कौनसे हैं, तो सुनो। उनमें ब्राह्मण अग्रगण्य हैं और दूसरे जो क्षत्रिय और वैश्य हैं, वे भी ब्राह्मण के बराबर हैं। क्योंकि उनको वैदिक कर्म करने का अधिकार है। हे धनंजय, चौथा वर्ण शूद्र है, उसको वेदपठन का अधिकार नहीं है। इसलिये उसका निर्वाह उन तीन वर्णों पर निर्भर है ॥८१६-२० ॥ अतः उसका ब्राह्मण आदि तीन वर्णों से संबंध होता है, इसलिये उसकी चार वर्णों में गणना हुई है। जैसे धागे में पिरोये हुए फूलों की सुगंध उस

धागेसहित धनी लोग प्राप्त करते हैं, वैसे द्विजों से निकट संबंध आने से श्रुति ने शूद्रों को भी उन वर्णों में शामिल किया। हे पार्थ, ऐसी चार प्रकार की यह वर्णव्यवस्था हुई है। अब उनके कर्म कौनसे होते हैं, उनका रूप बताऊँगा। इन कर्मों के गुणों से ये चार वर्ण जन्ममरण की कैंची से छुटकारा पाकर ईश्वर की प्राप्ति कर सकते हैं। वे कर्म प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार चार वर्णों में बाँटे गये हैं। ॥८२१-२५॥ पिता अपनी धनदौलत जैसे पुत्रों में, सूरज जैसे भिन्न मार्ग पथिकों में, अथवा मालिक जैसे काम सेवकों में बाँट देता है, वैसे प्रकृति के तीन गुण चार वर्णों में बाँटे गये है। तब सत्त्वगुण ने अपने समविषम भागों से ब्राह्मण और क्षत्रिय नामक दो वर्ण उत्पन्न किये। रजोगुण और सत्त्वगुण के मिश्रण से वैश्यवर्ण हुआ, और रजमिश्रित तमोगुण से शूद्रवर्ण बना। इस प्रकार, हे सुजान अर्जुन, मूल में एकरूप आदमी में इन गुणों ने चार प्रकार के भेद बनाये ॥८२६-३०॥ फिर अंधेरे में रखी हुई वस्तु जैसे दीप दिखाता है, वैसे शास्त्र गुणों से अलग किये हुए कर्मों को स्पष्ट रूप से बताता है। हे भाग्यशाली अर्जुन, किस वर्ण के लिये कौन से कर्म विहित याने निश्चित किये गये हैं, वह मैं तुम्हें बताऊँगा।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

जैसे पत्नी एकांत में अपने पति को गले लगाती है, वैसे बुद्धि सब इंद्रियवृत्तियों के समेत आत्मस्वरूप में मिलती है। ऐसी जो बुद्धि की शांत वृत्ति है उसको शम याने मनःसंयम कहते हैं। फिर जो उद्दण्ड इंद्रियों को शास्त्रनियमों का डंडा दिखा कर अधर्म की ओर चलने नहीं देता ॥८३१-३५॥, वह शम का सहायक दम याने इंद्रियनिग्रह नाम का दूसरा गुण है। जैसे प्रसूति के छठवें दिन की पूजा में रात में दीप को नहीं बुझा देते, वैसे सभी समय ईश्वर का ध्यान करते रहने को तप कहते हैं। यह उसके कर्म का तीसरा गुण है। उस कर्म में दो प्रकार की शुद्धता होती है। मन शुद्ध भावों से व्याप्त होकर शरीर सत्कर्म से सुहावना होता है; इस प्रकार जब अंतर्बाह्य शुद्धता होती है, तब उसे शुचिता कहते हैं। यह ब्रह्मकर्म का चौथा गुण है। और पृथ्वी के समान सारे दुःख झेलना ॥८३६-४०॥ इसको, हे अर्जुन, क्षमा कहते हैं। यह ब्रह्मकर्मों में पाँचवाँ गुण है और वह सुरों में

जो पंचम स्वर है उसके समान मधुर है । नदी का प्रवाह यद्यपि टेढ़ा हो तो भी वह समुद्र में सीधी बहती है । गन्ने की पोरें टेढ़े होने पर भी उनमें मधुरता समान रहती है । इस प्रकार विपक्षी व्यक्ति के साथ सीधा पेश आना यह सरलता नामक छठा गुण है । बाग़वान पेड़ के नीचे पानी डाल कर मेहनत करता है, लेकिन उसके परिश्रम फल लगने पर सफल होते हैं । इसी तरह शास्त्रों के अनुसार आचरण करने से ईश्वर की प्राप्ति होती हैं, यह जिससे जाना जाता है वह ज्ञान है ॥८४१-४५ ॥ यह ज्ञान ब्रह्मकर्मों में सातवा गुण है और चित्तशुद्धि के बाद शास्त्रज्ञान से या ध्यानबल से जो बुद्धि ईश्वर से एकरूप होती है, उसको विज्ञान कहते हैं । वह ब्रह्मकर्मों में आठवाँ गुणरत्न है और आस्तिक्य यह नववाँ गुण है ऐसा समझो । राजमुद्रा किसीके भी पास हो तो प्रजा उसकी सेवा करती है । वैसे ही शास्त्रों ने जिन मार्गों को स्वीकार किया है, उन पर आदर के साथ चलना, इसको मैं आस्तिक्य बुद्धि कहता हूँ । यह नवाँ गुण जिस में होता है वह सच्चा ब्रह्मकर्म होता है ॥८४६-५० ॥ इस प्रकार शम आदि नौ निर्दोष गुण जिसमें दिखाई देते हैं, वह ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म है । ब्राह्मण इन नौ गुणरत्नों का रत्नाकर याने समुद्र है, या इन नौ रत्नों का हार है । जैसा सूर्य अविच्छिन्न रहकर प्रकाश धारण करता है । चंपक का पेड़ जैसे फूलों से सुहावना दिखता है, चंद्रमा जैसे ज्योत्स्ना से चमकता है, अथवा चंदन अपनी सुगंध से महमहाता है, वैसे ये नौ गुण ब्राह्मण के निर्दोष भूषण हैं और वे ब्राह्मणों के शरीर के बिना नहीं रहते । अब क्षत्रिय के लिये जो उचित कर्म हैं उनको मैं बताऊँगा, हे धनंजय, वह तुम परिपूर्ण बुद्धि से सुनो ॥८५१-५५ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम् ॥४३ ॥

सूरज प्रकाश देने में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता । अथवा सिंह शिकार करने में किसी से मदद नहीं चाहता । ऐसा जो स्वयंभू बलवान् और बिना किसी से सहायता लिये शूर है, वह क्षात्रकर्म का श्रेष्ठ और पहला गुण 'शौर्य' है । और सूर्य के प्रकाश मैं करोड़ों सितारे ओझल होते हैं, लेकिन चंद्रमा के समेत सब नक्षत्र उसका लोप नहीं कर सकते । वैसे ही जो अपने उज्ज्वल गुणों से सब दुनिया

को चकित करता है, मगर स्वयं किसी घटना से हिम्मत नहीं हारता, ऐसा जो साहस का गुण है वह क्षत्रिय का तेज नामक दूसरा गुण है । और धैर्य क्षात्रकर्म का तीसरा गुण है ॥८५६-६० ॥ आसमान गिर पड़ने पर भी जहाँ मन और बुद्धि डगमगाती नहीं वही धैर्य है । और पानी कितना भी गहरा हो, कमल उसके ऊपर आकर खिलता है । अथवा आसमान उंचाई में सभी पदार्थों पर मात करता है । वैसे हर तरह के प्रसंग आने पर भी, हे पार्थ, जो कुशलता से अपने कार्य में लगा रहता है, वह दक्षता नामक चौथा गुण है । और असीम युयुत्सा यह क्षात्रवृत्ति का पाँचवाँ गुण है । जैसे सूर्यफूल के पौधे सूर्य की ओर उन्मुख रहते हैं, वैसे क्षत्रिय सदैव दुश्मन के सामने रहता है ॥८६१-६५ ॥ और जैसे गर्भवती स्त्री प्रयत्नपूर्वक पति से समागम टालती है, वैसे वह रणक्षेत्र में शत्रु को पीठ नहीं दिखाता । यह क्षात्रधर्म का पाँचवा गुण है, जैसे भक्ति चार पुरुषार्थों से श्रेष्ठ है । वृक्ष फलने-फूलने पर फल और फूल नीचे फेंकता है । कमल की क्यारी उदार होकर सुगंध बिखेरती है और चाँदनी को कोई जी चाहे उतना भुगत सकता है । वैसे याचक को उसकी इच्छा के अनुरूप दान देना, यह दातृत्व नामक क्षात्रकर्म का छटा गुणरत्न है । शासन का जौहर दिखाने का एकमेव स्थान होना ॥८६६-७० ॥, जैसे अपने अवयवों का पोषण करने पर उनसे इच्छित काम करा सकते हैं, वैसे प्रजा का पालन करना और उसको संतुष्ट रख कर संसार का उपभोग करना इसी का नाम शासकभाव है । ऐसा शासन करने की सामर्थ्य, जो क्षात्रगुणों का राजा है, वह क्षात्रकर्म का सातवाँ गुण है । सप्त ऋषियों से आकाश जैसे सुहावना दिखता है, वैसे ये शौर्य आदि सात गुण क्षत्रियों को शोभा देते हैं । इन सात विविध गुणों से युक्त जो पवित्र कर्म है वह क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है । यह पुरुष क्षत्रिय नहीं, बल्कि सत्त्वरूप सुवर्णमय मेरूपर्वत है, जो सप्तगुणरूप सप्त-स्वर्गों का आधार है ॥८७१-७५ ॥ अथवा, सप्तगुणों से युक्त यह क्षात्रकर्म नहीं है, वरना यह सप्तगुणरूप समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी है, जिसको वह भोगता है । अंथवा सप्तगुणरूप प्रवाहों में बहनेवाली यह क्षत्रियक्रियारूप गंगा इस क्षत्रियरूप महासागर में मिलकर सुहावनी लगती है । लेकिन यह विस्तार सहित कथन रहने दो । क्षत्रिय जाति के लिये शौर्य आदि गुणों से युक्त ये कर्म स्वाभाविक हैं । हे बुद्धिमान अर्जुन, अब वैश्य जाति के लिये जो कर्म उचित हैं, वे तुम्हें बताऊँगा, सुनो ।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४ ॥

खेत, बीज, हल इत्यादि सामग्री जुटा कर उनसे काफ़ी मुनाफा प्राप्त करना, ॥८७६-८० ॥खेती का व्यवसाय, गोरक्षा, अथवा चीजें सस्ते में खरीद कर उनकी अधिक मूल्य पर विक्री करना - ये तीन प्रकार के कर्म करके जीविका चलाना वैश्यजाति का स्वाभाविक कर्म है । और वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण जिनको द्विज कहते हैं, उनकी सेवा करना शूद्रों का कर्म है । द्विजों की सेवा के बिना शूद्रों को अन्य काम नहीं करना पड़ता । इस प्रकार मैंने चार वर्णों के विहित कर्म तुम्हें बताये ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५ ॥

हे सुजान अर्जुन, जैसे इंद्रियों के लिये शब्दादि विषय योग्य हैं, वैसे ये भिन्न भिन्न कर्म इन चार वर्णों के लिये उचित हैं । ॥८८१-८५ ॥ और बारिश के लिये नदी और नदी के लिये समुद्र योग्य स्थान है, वैसे वर्णाश्रम के अनुसार किया हुआ उचित कर्म शोभा देता है, जैसे गोरे शरीर पर गोरा रंग सुहावना लगता है । इसलिये, हे वीरश्रेष्ठ, उस स्वाभाविक कर्म का आचरण शास्त्रोक्त विधि से करने में अपनी बुद्धि को दृढ रखो । जैसे अपने पास का रत्न जौहरी से परख लेना पड़ता है, वैसे स्वकर्म शास्त्र के आधार से (परख कर) जानना चाहिये । दृष्टि अच्छी होने पर भी वह दीप के अभाव में अंधेरे में उपयुक्त नहीं होती, और मार्ग का पता नहीं लगे, तो पैरों से क्या फायदा ? ॥८८६-९० ॥ इसलिये, वर्ण के अनुसार जो कर्म योग्य है, उसको शास्त्र के आधार पर समझ लेना चाहिये । फिर घर में विद्यमान निधि दीप से दिखाई दे, तो उसको स्वीकार करने में क्या आपत्ति होती है ? वैसे वह अपने स्वभावानुसार अपने भाग में जो कुछ आता है, और जो शास्त्र को सम्मत है, उस विहित कर्म का वह आचरण करता है । लेकिन उसको आलस्य छोड़कर और फलाशा त्यागकर तनमन से करने में मग्न होना चाहिये । जैसे जल प्रवाह में पड़ने पर अयोग्य मार्ग से नहीं जाता, वैसे उसका आचरण शास्त्र के अनुसार होता है । ॥८९१-९५ ॥ हे अर्जुन, जो अपना विहित कर्म करता है, उसको वैराग्य प्राप्त हो जाता है, जो मोक्ष का इस ओर का द्वार है । फिर वह विहित कर्म न करना और

निषिद्ध कर्म करना, इन दोनों से वास्ता नहीं रखता और संसार से मुक्ति पाता है । चंदन के भी शिकंजे में जैसे कोई अपना पाँव नहीं डालता, वैसे वह कुतूहल से भी काम्यकर्म के प्रति बिलकुल ध्यान नहीं देता । और दूसरा जो नित्य कर्म है, उसके फल का त्याग करने से वह भी नष्ट हो जाता है और वह मोक्ष की सीमा पर पहुँचा जाता है । इस तरीक़े से वह शुभ और अशुभ संसार से छुटकारा पाकर मोक्ष के वैराग्य (रूप) द्वार पर पहुँच जाता है । ॥८९६-९०० ॥

वह वैराग्य सारे भाग्य की सीमा है, उससे मोक्ष की प्राप्ति निश्चित है और वह कर्ममार्ग में जो कष्ट किये हैं उनकी पराकाष्ठा है । वह मोक्षफल का दायित्व लेने वाला सत्कर्मरूप वृक्ष का फूल है । उस वैराग्य में साधक भ्रमर के समान भावुकता से कदम रखता है । यह वैराग्य आत्मज्ञानरूपी सूर्योदय की सूचना देने वाला अरुणोदय है । वह आत्मज्ञानरूप निधि प्राप्त करने वाला दिव्य अंजन है, जिसका वह तन मन से उपयोग करता है । हे अर्जुन, ऐसे विहित कर्म का आचरण करने से साधक को मोक्षप्राप्ति करने की योग्यता हासिल होती है । ॥९०१-०५ ॥ यह विहित कर्म अपने जीवन का एकमात्र सहारा है, और उसका आचरण मेरी याने सर्वव्यापक ईश्वर की परम सेवा है । पतिव्रता नारी अपने पति के साथ भोगविलास करती है । उसका कर्म पति के लिये की हुई एक प्रकार की तपस्या है । बालक को जनाने के लिये माता के बिना दूसरा कोई साधन नहीं होता । इसलिये उस बालक को उसकी सेवा करना प्रधान धर्म होता है । गंगा में पानी होने से मछली वहाँ रहती है, तो उसको सब तीर्थों का पुण्य मिलता है । इसलिये बिना विहित कर्म करने दूसरा कोई चारा नहीं, इस विचार से जो उसका आचरण करता है, उसका ईश्वर ऋणी होता है । ॥९०६-१० ॥

हे अर्जुन, जिसका जो कर्म निर्धारित किया गया है, वह उस कर्म को करे यह ईश्वर की इच्छा है । इसलिये वह कर्म करने पर उसको ईश्वर निःसंदेह प्राप्त होता है । स्वामिभक्ति कसौटी में खरी उतरी तो दासी भी स्वामिनी बनती है । अथवा स्वामिकार्य के लिये जो जान पर खेलता है, उसको स्वामी जागीर देता है । वैसे ईश्वर की इच्छा के अनुसार बर्ताव करना ही उसकी परम सेवा है । हे अर्जुन, उसके

अलावा और कुछ करना वणिग्वृत्ति है ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६ ॥

इसलिये यह सिर्फ विहित कर्म का आचरण नहीं, बल्कि जिस परमात्मा ने इस भूतसृष्टि का निर्माण किया है उसके इरादे पर चलना है । जो परमात्मा अज्ञानरूपी कठपुतलियाँ बनाता है वह उनके साथ त्रिगुणात्मक अहंकाररूपी रस्सी से खेल करता है । ॥९११-१५ ॥ दीप जैसे बाहर भीतर प्रकाश से भरा हुआ है, वैसे परमात्मा से यह सब विश्व पूर्ण भरा हुआ है । हे वीर अर्जुन, उस विश्वात्मक ईश्वर की स्वकर्मरूप कमल से पूजा करने से उसको अपार संतोष होता है । इस पूजा से प्रसन्न हो कर वह भक्त को वैराग्यरूप प्रसाद देता है । वैराग्यदशा प्राप्त होने पर उसको ईश्वर से लगाव होता है, और उसको विषयोपभोग वमन के समान लगते हैं । जैसे प्रिय पति के विरह से स्त्री को जीवन दुःसह होता है, वैसे उसको संसार के सुख दुःखद प्रतीत होते हैं । ॥९१६-२० ॥ ईश्वर का साक्षात् ज्ञान होने के पहले उसकी लगन से उसका चित्त तन्मय होता है और उसको ज्ञान की योग्यता प्राप्त होती है । इसलिये मोक्षप्राप्ति के लिये जो व्रत रखता है, उसको चाहिये कि वह स्वधर्म का बड़ी आस्था से पालन करे ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७ ॥

अरे, अगर स्वधर्म का आचरण मुश्किल है, तो भी उससे जो फलप्राप्ति होगी उसको ध्यान में रखना चाहिये । नीम खाने से यदि सुख होता है, तो उसके कडुआहट से ऊब नहीं जाना चाहिये । अगर केले का पेड़ फला नहीं, तो क्या उसको काट देना उचित होगा ? ॥९२१-२५ ॥ वैसे कोई स्वधर्म का आचरण दुष्कर होने से उसको त्याग देता है, तो वह मोक्षसुख से वंचित होता है । अपनी माता विरूप भले ही हो, जिस मातृप्रेम पर हम जीवित रहते हैं, वह भद्दा नहीं होता । दूसरों की माताएँ रंभा से ही सुंदर होंगी, मगर उस बालक को उनसे क्या मतलब ? अरे, पानी से घी में ज्यादा गुण हैं, लेकिन मछली क्या उसमें रह सकती है ? देखो, जो दुनिया को विष होता है, वह कीड़े को अमृत होता है, और गुड़ से उस कीड़े को मृत्यु प्राप्त

होती है ॥९२६-३० ॥इसलिये जो जिसका विहित कर्म है, और जिसके आचरण से आदमी संसार से छुटकारा पाते हैं, वही आचरण में लाना चाहिये, वह कितना ही कठिन क्यों न हो । लेकिन दूसरों के धर्म को अच्छा समझ कर उसका आचरण करे, तो पैर होते हुए भी सिर पर चलने के समान है । इसलिये जो जन्मकर्म के अनुसार अपने हिस्से का कर्म करता है, वही कर्मबंधन पर विजय पाता है । अतः ऐसा नियम क्यों न बनाये कि परधर्म छोड़ कर स्वधर्म का पालन करना ही योग्य है ? आत्मदर्शन होने तक क्या कोई कर्म करना छोड़ सकता है ?और कर्म करना ही है, तो उसमें कष्ट होंगे ही ॥९३१-३५ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८ ॥

इसलिये कोई भी कर्म प्रारंभ में कष्टदायक होता है । फिर हम कैसे कहें कि वह स्वधर्म का दोष है ? अरे, सरल रास्ते से चलें तो थकान होती है, और पगडंडी से जाएँ तो भी थकावट होती है । हे अर्जुन, बगल में शिला या संबल लिया तो उनका बोझ समान होता है । मगर जिस बोझ को लेने से विश्रामस्थान पर श्रम का परिहार होता है, वही उठा लेना चाहिये । हाँ, अनाज और भूसा कूटने में अथवा भोजन और होम के लिये मांस पकाने में श्रम समान होते हैं । हे सुजान अर्जुन, दही और पानी मथने में किंवा बालू और तिल कोल्हू में पेरने में कष्ट समान होते हैं । ॥९३६-४० ॥हे पार्थ, होम के लिये और अन्य कर्म के लिये अग्नि जलाने में धुएँ से पीड़ा समान होती है । धर्मपत्नी और रखनी का पोषण करने में पैसों की समान तंगी होती है, तो रखनी रख कर बदनामी क्यों मोल ले ? अगर दुश्मन को पीठ दिखा कर भाग जाने से मृत्यु नहीं टलती, तो सामने खड़ा होकर उसका सामना क्यों न करे ? यदि कुलवती स्त्री दूसरे घर का आसरा लेकर डंडे का मार नहीं टाल सकती, तो उसने पति को व्यर्थ ही छोड़ा, क्या वह ऐसा ही नहीं हुआ ? वैसे दिलचस्प कर्म भी कष्ट के सिवाय हम नहीं कर पाते, तो विहित कर्म को मुश्किल किस मुँह से कहे ? ॥९४१-४५ ॥ हे अर्जुन, जिस अमृत का सेवन करने पर अमरत्व प्राप्त होता है, उसका अल्प भाग प्राप्त करने में अपना सब कुछ क्यों नहीं खर्च करे ? और जो विष पीकर खुदकशी से हम व्यर्थ मर जाते हैं, वह मोल ले कर क्यों पियें ?

वैसे ही इंद्रियों को परेशान कर के जो जीवन बिताता है और पाप का संचय करता है, उसको दुःख के सिवाय क्या फल मिलता है ? इसलिये स्वधर्म का ही आचरण करना चाहिये, वही हमारे श्रम का परिहार करके जो श्रेष्ठ पुरुषार्थ है उस मोक्ष की प्राप्ति करा देता है । अतः, हे अर्जुन, विपत्ति में जैसे सिद्धमंत्र को भूलना नहीं चाहिये, वैसे स्वधर्म का आचरण कदापि छोड़ना नहीं चाहिये । ॥९४६-५० ॥ समुद्र के पार जानेवाले को नौका या महारोगी को दिव्य औषधि नहीं भूलना चाहिये, वैसे बुद्धि को स्वधर्म नहीं भूलना चाहिये । हे कपिध्वज, स्वधर्मरूप पुष्प से ईश्वर की पूजा करने से वह प्रसन्न हो कर हमारे रज और तम गुणों का नाश करता है । वह हमारी इच्छा को सत्त्वगुण के मार्ग पर लगाता है और हम से स्वर्ग और संसार कालकूट विष के समान महसूस कराता है । पहले वैराग्य शब्द से जिस 'संसिद्धि' का वर्णन किया था वह वैराग्यरूप स्थान उसे प्राप्त होता है । फिर इस योगभूमि पर विजय पाने से वह पुरुष कैसा होता है और उसको क्या स्थान प्राप्त होता है वह मैं अब बताता हूँ ॥९५१-५५ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९ ॥

जाली में जैसी हवा नहीं फँसती, वैसे वह देहादिक संसार के पाश में नहीं फँसता । देखो, फल पक जाने पर वह डंठल को या डंठल उसको नहीं पकड़ता, वैसे उसकी संसारसंबंधी आसक्ति कम हो जाती है । वैसे पुत्र, धन और औरत उसकी इच्छा के अनुसार बरतने लगे, तो भी वह उनको विष के समान अपना नहीं कहता । विषयों के उपभोग से झुलसी हुई उसकी बुद्धि पीछे पलटकर आत्मचिंतन की ओर मुड़ती है । इस प्रकार उसकी बुद्धि बाहर संचरण करती हुई भी उसने विषयों की ओर न जाने की जो क़सम खाई है उसको वह कदापि नहीं भूलती ॥९५६-६० ॥ वैसे वह ऐक्य की मुट्ठी में मन रख कर उसमें आत्मा की ओर चाव उत्पन्न करता है । तब जैसे अग्नि धूल से आच्छादित हो जाने पर धुआँ अपने आप नष्ट होता है, वैसे उसकी इस लोक और परलोक के विषयसंबंधी कामना अपने आप नष्ट हो जाती है । ज्यादा क्या कहूँ ? वह इस योगभूमि पर पहुँचता है । उसका विपरीत ज्ञान मिट जाने पर वह आत्मज्ञान में ही मग्न रहता है । संग्रह किये हुए जल का प्रतिदिन उपयोग करने से वह नष्ट होता है, वैसे प्रारब्ध कर्म भोग से नष्ट होता

है, फिर उसका मन नया कर्म करना नहीं चाहता ॥९६१-६५॥ इस प्रकार कर्म से साम्य स्थिति प्राप्त होने पर श्रीगुरु से भेंट अपने आप होती है। रात के चार प्रहर बीत जाने पर अंधकार का जो बैरी है वह सूर्य उदित होता है। अथवा केले के पेड़ में केले का घौद निकल आने पर उसकी वृद्धि रुक जाती है। वैसे श्रीगुरु की भेंट होने पर साधक को योग्यता प्राप्त होती है(और उसका कर्तृत्व समाप्त होता है)। हे वीरश्रेष्ठ, जैसे पौर्णिमा के दिन चंद्रमा में न्यूनता नहीं रहती, वैसे गुरु की कृपा से उसमें कुछ कमी नहीं होती। रात बीत जाने पर जैसे अंधेरा लुप्त हो जाता है, वैसे गुरु की कृपा से उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। ॥९६६-७०॥ जैसे गाभिन मादा को मार डालने पर उसका गर्भ अपने आप मर जाता है, वैसे अज्ञान का नाश होने पर उसके मन में कर्म, कर्ता और करण की त्रिपुटी नष्ट हो जाती है। इस तरह अज्ञान नष्ट होने पर सारे कर्म का नाश होता है। इस प्रकार समूल कर्म का संन्यास होता है। कर्म का मूल जो अज्ञान उसका नाश होने से दृश्य का नामोनिशान पोंछा जाता है और जो कुछ जानना है वह ज्ञाता स्वयं हो जाता है। अगर किसीने स्वप्नमें देखा कि मैं दह में डूब रहा हूँ, तो वह जागृत होने पर अपने को बचाने के लिये क्या प्रयास करेगा ? वैसे ही मैं अनजान था, अब मुझे ज्ञान हुआ- ऐसा उसका दुःस्वप्न समाप्त होता है, और उसके मन की ज्ञेय और ज्ञाता की भावना लुप्त हो कर वह ज्ञानमात्र होकर रहता है। ॥९७१-७५॥आईना हटाने पर प्रतिबिंब और उसके साथ देखने की क्रिया भी नष्ट होती है और देखनेवाला अकेला रह जाता है। वैसे अज्ञान के मिट जाने पर वह ज्ञान को भी साथ ले जाता है, और फिर क्रियाशून्य चैतन्य शेष रहता है। हे अर्जुन, उस चैतन्य में स्वभावतः कोई भी क्रिया नहीं होती, इसलिये इस अवस्था को नैष्कर्म्य कहते हैं। अबतक जो अपना निजी स्वरूप नहीं था, वही है ऐसा हम मानते थे। लेकिन समीर बंद होने पर लहरें समुद्र में विलीन होती हैं, वैसे कुछ नहीं होने की जो स्थिति है, उसको नैष्कर्म्य-सिद्धि कहते हैं। यही सिद्धि सारे कर्मों में श्रेष्ठ है। ॥९७६-८०॥ मंदिर की इमारत पर कलश चढ़ाना, गंगा का समुद्र में प्रवेश करना, और सुवर्ण का कसौटी पर कसने पर सौ प्रतिशत शुद्ध निकलना - यह उनकी अंतिम स्थिति है। वैसे ही अज्ञान नष्ट होने पर ज्ञान ही नष्ट होता है, और तब जो दशा प्राप्त होती है, उसमें सब क्रियाएँ खत्म होती हैं। उसके परे प्राप्त करने को कुछ नहीं रहता, इसलिये उसको परम सिद्धि कहते हैं। लेकिन

किसी भाग्यवान को यह आत्मसिद्धि गुरु की कृपा से हि प्राप्त होती है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५० ॥

सूर्योदय होने पर प्रकाश अंधकार को चारों ओर से घेरता है । दीप की ज्योति का स्पर्श होने से कपूर का दीप बनता है । ॥९८१-८५ ॥ नमक का छोटा कण पानी में डालने पर पानी बनता है । सोया हुआ आदमी जाग्रत होने पर उसकी नींद स्वप्न के साथ लुप्त होकर वह पूर्वस्थिति में आता है । वैसे भाग्य से गुरु का वचन सुनने पर उसका मन द्वैतबुद्धि छोड़ कर स्वस्वरूप में विश्राम करता है । तब उसको कुछ कर्म करना बाकी है, ऐसा कौन कहता है ? सर्वव्यापक आसमान का क्या आना जाना संभव है ? अतः इस पुरुष के लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता, इसमें कोई संदेह नहीं । किंतु किसी साधक के बारे में यह होता है ॥९८६-९० ॥ किन्तु वह गुरु का वचन सुनते ही तुरंत ब्रह्मस्वरूप नहीं होता । योंही उसने स्वकर्मरूपी अग्नि में काम्य और निषिद्ध कर्म का इंधन डालकर रज और तम दोनों गुण जला दिये हों । बाद में पुत्र,धन और परलोक की इच्छाओं को वह अपने चाकर के समान अपने वश में लाया हो । विषयों में स्वैराचारी होने के कारण जो उसकी इंद्रियाँ भ्रष्ट हुई थीं, उनको उसने प्रत्याहाररूपी तीर्थ में धोकर पवित्र बनाया हो और स्वधर्म के आचरण का फल ईश्वर को अर्पित करके अटल वैराग्य प्राप्त किया हो । ॥९९१-९५ ॥ इस प्रकार आत्मसाक्षात्काररूप जो शुद्ध ज्ञान उसको प्राप्त करने के लिये सब उपायों का अभ्यास किया हो । तिस पर उससे भेंट होने पर गुरु ने कुछ न छिपा कर उसको ज्ञान का उपदेश दिया हो । परंतु दवा लेने से क्या आदमी शीघ्र ही स्वस्थ हो कर पूर्वस्थिति को प्राप्त हो जाता है ? अथवा पौ फटते ही क्या दोपहर हो जाती है ? उपजाऊ और भीगी जमीन में उत्तम बीज बोने पर क्या तत्काल फसल आती है ? उसको पर्याप्त समय लगता है । मार्ग सरल हो और साथी भी अच्छा हो, तो भी मुक़ाम पर पहुँचने के लिये समय लगता है । ॥९९६-१००० ॥ इस प्रकार वैराग्य की प्राप्ति हुई, सद्गुरु से भेंट हुई और अंतःकरण में विवेक का अंकुर भी उगा, और उस विवेक से उसको विश्वास हुआ कि ब्रह्म एकमात्र सत्य है, और अन्य प्रपंच भ्रांतिरूप है । फिर उस सर्वव्यापक और सर्वोत्तम ब्रह्म में मोक्ष का कार्य समाप्त होता है, जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति नष्ट करने वाला ज्ञान स्वयं उसको

प्राप्त हो जाता है, वहाँ एकता का अकेलापन शेष रहता है। तब आनंद का छोटा कण भी घुल जाता है, ॥१००१-००५ ॥ और क्रमशः वह ब्रह्म से एकरूप होकर रहना यह जो अवस्था है वह उसको क्रमशः प्राप्त होती है। भूखे आदमी को यदि षड्रस भोजन परोसा जाए, तो वह कौर कौर से तृप्त होता जाता है, वैसे वह साधक वैराग्य के ज़रिये विवेकरूप दीप जलाकर आत्मरूपी निधि प्राप्त करता है। ऐसा आत्मरूपी वैभव भोगने की योग्यता वह जिस क्रम से प्राप्त करता है वह रहस्य मैं तुम्हें बताता हूँ ॥१००६-१० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१ ॥

तो सद्गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलकर वह विवेकरूप तीर्थ के तट पर बुद्धि का मैल धोता है। जैसे फिर राहु के मुँह से मुक्त हुई कौमुदी चंद्रमा को गले लगाती है, वैसे उसकी बुद्धि शुद्ध हो कर आत्मस्वरूप में लगी रहती है। जैसे दोनों खानदान छोड़ कर कुलवती स्त्री अपने प्रिय पति का अनुसरण करती है, वैसे उसकी बुद्धि द्वैतभाव छोड़ कर आत्मचिंतन में मग्न होती है। मनचाहा ज्ञान प्राप्त करने के लिये इंद्रियों ने शब्दादि विषयों का बोलबाला कर लिया था, परंतु जैसे सूर्य की किरनें लुप्त होने पर मृगमरीचिका अदृश्य होती है, वैसे उन पाँच विषयों को उसने धैर्य से इंद्रियनिग्रह कर के नष्ट किया है ॥१०११-१५ ॥ अनजाने में नीच आदमी के यहाँ भोजन करने पर उसका वमन करना पड़ता है, वैसे उसने विषय वासनाओं को इंद्रियों से हटा दिया है और उनको मनरूपी शुद्ध गंगा के तट पर लाकर प्रायश्चित्त से धो डाला है। बाद में वह सात्त्विक धैर्य से इंद्रियाँ पवित्र कर के चित्त को योगाभ्यास में लगाता है। फिर पूर्वकर्म के अनुसार उसको बुरे भोग भोगने पड़े, तो वह खेद नहीं करता और कभी अच्छे भोग प्राप्त हुए, तो वह उनके लिये अभिलाष नहीं करता ॥१०१६-२० ॥ वह भले-बुरे भोग प्राप्त होने पर हर्ष या खेद नहीं करता और पहाड़ की गुहा में या घनी गुफा में निवास करता है।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२ ॥

वह जनसंपर्क से दूर अरण्य में अपने अवयवों के साथ रहता है। शम और

दम का आचरण ही उसकी क्रीड़ा है। वह मौन पालता है और गुरुवचन के चिंतन करने में समय कैसे बीत जाता है यह वह नहीं जानता। अपने शरीर में शक्ति हो, भूख बुझावे या जिह्वा के चाव पूरे करे, आदि बातों के विचार भोजन करते समय उस के मन में नहीं आते। मिताहार से उसको जो संतोष प्राप्त होता है, वह असीम है। ॥१०२१-२५॥ अगर जठराग्नि को भोजन न कराये तो वह प्राणहरण करेगा, इस लिये प्राणरक्षा के लिये वह मिताहार करता है। पर पुरुष द्वारा इच्छा व्यक्त करने पर भी कुलीन स्त्री उसके वश में नहीं आती, वैसे वह निद्रा या आलस्य के अधीन होकर वह अपने आसन को विचलित नहीं होने देता। ईश्वर को दंडवत् प्रणाम करते समय शरीर का जमीन से उतना ही स्पर्श होता है; सिवाय, इसके अविचार से वह भूमि पर नहीं लेट जाता। अपने निर्वाह के लिये वह अपना हाथपाँव हिलाता है। ज्यादा क्या कहूँ? वह अपने अंतःकरण को और बाह्य इंद्रियों को अपने वश में रखता है। और, हे अर्जुन, वह अपनी चित्तवृत्तियों को मन की देहली तक जाने नहीं देता। फिर अपनी मन की बात बताने के लिये गुँजाइश कहाँ होगी? ॥१०२६-३०॥ इस तरह देह, वाचा, मन - ये बाह्य प्रदेश जीत कर वह ध्यानाकाश में हाथ डालता है। जैसे आईना अपने सामने रखकर कोई अपना रूप स्पष्ट देखता है, वैसे गुरुवाक्य से जो उसको आत्मबोध का निश्चय हुआ है उसको वह ध्यानपूर्वक निहारता है। फिर वह ध्यान करनेवाला अपनी ध्यानरूप चित्तवृत्ति में अपने को ध्येयरूप में देखकर वहाँ चित्त लगाता है, यही ध्यान करने की पद्धति है। हे पांडुपुत्र, फिर ध्येय, ध्यान और ध्याता यह त्रिपुटी एकरूप होनेतक उसको ध्यान करना पड़ता है।

इसलिये आत्मज्ञान के विषय में सावधानी रखनेवाला साधक ध्यानयोग का आसरा लेता है ॥१०३१-३५॥ फिर हे अर्जुन, गुदद्वार और शिश्न इन दोनों में जो सीवनी है, उसके बीच का भाग एड़ी से दबा कर और अधोभाग सिकुड़ कर वह मूल, ओढियाणा और जालंदर इन तीन बंधों से प्राण के भेद तोड़ कर उनको एकत्रित करता है। इस प्रकार प्राण का निरोध होने पर कुंडलिनी जाग्रत होती है और सुषुम्ना का मार्ग खुला होकर वह कुंडलिनी मूलचक्र इत्यादि छेद कर आज्ञाचक्र तक पहुँच जाती है। फिर ब्रह्मरंध्र में विद्यमान सहस्रदलकमलरूप मेघ से अमृत

की वृष्टि होती है और उसका बहाव सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से मूलाधार तक आता है। फिर ब्रह्मरंध्र के पहाड़ पर तांडव नृत्य करने वाले चैतन्यरूप भैरव के भिक्षापात्र में, वह कुंडलिनी मन और प्राण की खिचड़ी रखती है। ॥१०३६-४०॥ इस प्रकार दृढ योगसाधन के आचरण से आत्मज्ञान की प्राप्ति निर्बाध होने के लिये वह पहले से ही वैराग्य से मैत्री करता है और वह वैराग्य उसको योग की सब भूमिकाओं में साथ देता है। जो कुछ देखना है, उसको देखने के लिये अपने पास दीप हो तो देखने में देर क्यों होगी? वैसे ही मोक्षमार्ग पर चलनेवाले साधक को जब तक उसकी मनोवृत्तियाँ ब्रह्म में विलीन नहीं हो जाएँ, तब तक वैराग्य का साथ मिले तो उसकी साधना में बाधा कैसे होगी ? ॥१०४१-४५॥ इसलिये ऐसा वैराग्ययुक्त योगाभ्यास करनेवाला भाग्यशाली पुरुष आत्मज्ञान के लाभ के योग्य होता है। यह वैराग्यरूपी कवच पहन कर वह राजयोगरूपी घोड़े पर सवार होता है, और रास्ते में छोटी बड़ी रुकावटें नज़र आयीं, तो उनको हटाने के लिये हाथ में ध्यानरूपी खड्ग लेता है। इस प्रकार वह मोक्षरूप विजय पाने के लिये संसाररूपी रणक्षेत्र में प्रवेश करता है, जैसे सूर्य अंधेरे में प्रवेश करता है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

वहाँ उसके विरोधक जो दोष हैं, उनको वह नष्ट करता है। उनमें पहला शत्रु देह का अहंकार है ॥१०४६-५०॥ वह अहंकार आदमी को मरने पर भी छोड़ नहीं देता अथवा जन्म देकर जीने नहीं देता, बल्कि हड्डियों को फंदे में डाल कर परेशान करता है और उसका वसतिस्थान जो देहरूपी किला है उसको तोड़ देता है। और बल नामक जो दूसरा दुश्मन है उसका भी नाश करता है। यह दुश्मन विषयों का नाम सुनते ही चौगुना बढ़ता है और सारी दुनिया को चौपट करता है। वह विषयरूपी विष का दह है और सब दोषों का राजा है। लेकिन वह भी ध्यानरूपी खड्ग का प्रहार सह नहीं सकता। फिर जो इष्ट विषयप्राप्ति के सुख में जीव को उलझाता है, ॥१०५१-५५॥ उस दर्परूपी शत्रु को नष्ट करता है। वह दर्प सन्मार्ग के बारे में भ्रम में डाल कर अधर्मरूपी अरण्य में नरकादिरूपी शेर के चँगुल में फँसाता है और विश्वास दिला कर मारता है। जिसका नाम सुन कर तपस्वी काँपते

हैं, और जिसका असर क्रोध जैसा महादोष है, और जिसको जैसे जैसे भर देते हैं वैसे वैसे वह रिक्त हो जाता है, ऐसे काम को नष्ट करने पर क्रोध का भी नाश स्वभावतः होता है। जैसे शाखाओं का नाश करने के लिये, पेड़ की जड़ को उखाड़ना पड़ता है, वैसे काम का नाश करने पर क्रोध गुम हो जाता है। ॥१०५६-६०॥ इसलिये इस युद्ध में कामरूपी शत्रु नष्ट हो जाए, तो क्रोध का दौर समाप्त होता है। जैसे अफ़सर अपराधी को उसका शिकंजा ले जाने की ज़बर्दस्ती करता है, वैसे परिग्रहरूपी शत्रु उसके सिर पर सवार हो कर उसको दुर्गुणों में चिपकाता है और ममत्व की काठी ले जाने को विवश करता है। इस, परिग्रह की वजह से संगरहित साधु भी 'यह मेरा शिष्य', 'यह मेरा ग्रंथ','यह मेरा मठ', इस प्रकार के मोह में फँस जाता है। जो परिग्रह घर छोड़ने पर कुटुंब के रूप में समाप्त हुआ था, वह अरण्य में जंगली पदार्थों का रूप लेकर नंगे का भी पीछा करता है। ॥१०६१-६५॥ ऐसा जो अजेय परिग्रह है, उसका नामोनिशान तक नष्ट करके वह संसार को जीतने का आनंद महसूस करता है। फिर वहाँ सारे अमानित्व आदि ज्ञानगुण मानो मोक्षरूप देश के मांडलिक बन कर उसको मिलने आते हैं। तब वे उसको गुणसंपन्न ज्ञान का सम्राट्पद सौंप कर उसका परिवार बनकर रहते हैं। प्रवृत्तिरूप राजपथ से जब वह चलने लगता है, तब तीन जाग्रतादि अवस्थाओंरूपी स्त्रियाँ उसपर पगपगपर सुख निछावर करती हैं। फिर उस राजराजेश्वर के आगे विवेक बोधरूपी राजदंड लेकर दृश्य पदार्थों की भीड़ को हटा देता है और योगभूमियाँ मानो उस पर आरती उतारने के लिये आती हैं ॥१०६६-७०॥ वैसे ही ऋद्धिसिद्धियों का जमघट वहाँ आता है और उनकी की हुई पुष्पवृष्टि से वह नहलाया जाता है। इस प्रकार ब्रह्मैक्यरूपी स्वराज्य जैसे जैसे उसके पास आता है, वैसे वैसे उसको ऐसा लगता है कि यह त्रैलोक्य आनंद से भरा हुआ है। तब 'यह मेरा दोस्त है', 'वह मेरा दुश्मन है', ऐसा कहने के लिये कोई शेष नहीं रहता। इतना ही नहीं, तो किसी निमित्त से वह किसी को मित्र कहे, तो भी उसमें द्वैतभाव नहीं रहता, इतना वह सब लोगों से एकरूप हो जाता है। वह अपनी प्रभुसत्ता से सारी दुनिया को व्याप्त करता है और इसलिये 'यह मेरा' ऐसा कहना उसको लागू नहीं होता। क्योंकि उसने ममत्व का त्याग किया है। ॥१०७१-७५॥ इस तरह सब रिपुवर्ग जीत कर वह इस मायामय संसार को तुच्छ मानता है, और तब उसकी योगरूपी घोड़े की दौड़ बंद होकर वह

स्थिर हो जाता है । फिर उसने जो वैराग्य का अभेद्य कवच पहना है, उसको वह पल भर ढीला करता है । और ध्यानरूपी खड्ग से नष्ट करने को कुछ शेष नहीं रहने से वह अपना हाथ रोक लेता है । दवा लेने पर वह अपना कार्य पूर्ण करके ग़ायब होती है, वैसी उसकी हालत होती है । जैसे लक्ष्य तक पहुँचने पर चलना बंद होता है, वैसे ब्रह्मप्राप्ति होने पर योगाभ्यास समाप्त होता है ॥१०७६-८० ॥ गंगा जब महासागर में मिलती है, तब उसकी गति रुक जाती है । पति से मिलन होने पर कामिनी शांत होती है, केले का पेड़ फलने पर उसकी वृद्धि ख़त्म होती है, किंवा ग्राम आने पर मार्ग समाप्त होता है, वैसे ही आत्मानुभव होनेवाला है, यह जानकर वह अपने साधनारूपी शस्त्र आहिस्ता नीचे रखता है । हे अर्जुन, ब्रह्म से ऐक्य होने का समय आने पर उसकी साधना बंद होती है फिर वैराग्य की शाम, ज्ञानाभ्यास की वृद्धावस्था या योगफल की पक्वदशा ॥१०८१-८५ ॥जो शांति है, हे अर्जुन, वह उसको पूर्णतया प्राप्त होती है । पौर्णिमा के चंद्रमा की अपेक्षा चौदहवीं का चंद्रमा छोटा होता है । सोलहों आने शुद्ध सुवर्ण की अपेक्षा पंध्रह आने सुवर्ण में हीनता रहती है । जब नदी वेग से सागर में मिलती है, जहाँतक उसमें गति होती है, वहाँतक उसको नदी और जहाँ उसका वेग रुक जाता है वहाँ उसको समुद्र मानते हैं । वैसे ब्रह्म और ब्रह्मरूप इन दोनों में अंतर होता है । परंतु तद्रूप न होकर जो ब्रह्म का अनुभव करता है, वही ब्रह्म होने को योग्य है ऐसा समझो ॥१०८६-९० ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४ ॥

हे अर्जुन, जिसको ब्रह्मभाव की योग्यता प्राप्त हुई है, उस पुरुष का चित्त ब्रह्मज्ञान से प्रसन्न होता है । अग्नि पर पकाने से खाना तैयार किया जाता है, परंतु वह ठंडा होने पर खाने लायक़ होता है । बरसात की बाढ़ की तेज़ी शरद् ऋतु में समाप्त होने पर गंगा शांत होती है । अथवा गायन ख़त्म होने पर वाद्यवृंद भी बंद हो जाता है । वैसे साधक ने आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये जो परिश्रम किये हैं, उनका निराकरण होता है । यह आत्मज्ञान से आनेवाली दशा, जो प्रसन्नता नाम से प्रसिद्ध है, उस बुद्धिमान पुरुष को प्राप्त होती है । ॥१०९१-९५ ॥ तब साम्यभाव से उसका दिल भर आने से वह खोई हुई वस्तु के बारे में खेद नहीं करता या किसी

अप्राप्त वस्तु की कामना नहीं करता । यें दोनों बातें बंद हो जाती हैं । जैसे सूर्योदय होने पर सितारों का तेज लुप्त होता है, वैसे आत्मानुभव होने पर वह जहाँ जहाँ देखता है, वहाँ वहाँ भेदभाव मिट जाता है । जैसे तख्ती पर लिखे हुए अक्षर पोंछे जाते हैं, वैसे उसकी दृष्टि में वे सारे भेदभाव ग़ायब हो जाते हैं । उससे जाग्रति और स्वप्न की दोनों अवस्थाओं में जो विपरीत ज्ञान था, वह आत्मज्ञान में विलीन हो जाता है । ॥१०९६-११०० ॥

फिर जैसे जैसे आत्मज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे वैसे अज्ञान घट कर ज्ञान में लुप्त होता है । भोजन करते समय हर कौर लेने पर भूख अधिकाधिक कम हो जाती है और तृप्ति होने पर वह ख़त्म होती है । चलने पर राह कम होकर गंतव्य को पहुंचने पर समाप्त होती है । अथवा जागरित होते समय निद्रा कम हो जाती है और जब पूर्ण जाग्रति आती है, तब वह नष्ट हो जाती है । पौर्णिमा को चंद्रमा की कला जब पूर्ण हो कर उसकी वृद्धि रुक जाती है, तब शुक्ल पक्ष समाप्त होता है । ॥११०१-०५ ॥तद्वत् ज्ञेय पदार्थ जैसे जैसे ग़ायब हो जाते हैं, वैसे वैसे ज्ञान के समेत मुझ से एकरूप हो जाते हैं और तब सारा अज्ञान नष्ट हो जाता है । फिर कल्पान्त के समय पर समुद्र नदी इत्यादि भेद लुप्त होकर सब विश्व जलमय होता है । घट, मठ आदि उपाधियाँ नष्ट होने पर एक आसमान रहता है । लकड़ियाँ जल जाने पर अकेली अग्नि रहती है । नहीं तो गहने घरिया में डालकर औटाने पर उनका नाम और रूप मिट जाता है और सुवर्ण ही रहता है । अथवा हम जाग्रत होने पर स्वप्न नष्ट हो जाता है और सिर्फ हम रहते हैं । ॥११०६-१० ॥ वैसे ही उस साधक को मेरे सिवाय और कुछ दिखाई नहीं देता, ऐसी जो मेरी चौथी भक्ति है, वह उसको प्राप्त होती है ।

भक्तों में आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी नामक भेद होने से इसको चौथी भक्ति कहते हैं । हाँ, तीसरी चौथी, या पहली या आखिर की ऐसे भक्ति में भेद नहीं हैं, बल्कि जो मेरी सहजस्वरूपस्थिति है, उसको भक्ति कहते हैं । अज्ञान ने मेरा गलत रूप दिखाकर सभी को भक्त बनाकर वह भक्ति है ऐसा उन को समझाया है ।भक्त ऐसीही कल्पना करता है, लेकिन यह भक्ति का सच्चा स्वरूप नहीं है यह पूर्ण ज्ञान से उसको

मालूम होता है। ॥१११११-१५ ॥ जैसे हमारे अस्तित्व से स्वप्न दिखता या नहीं दिखता, वैसे इस ज्ञान से विश्व का भाव या अभाव भासमान होता है। हे कपिध्वज, ऐसा जो मेरा सहजज्ञान है, उसको भक्ति कहते हैं। यही भक्ति आर्त के मन में कामना बनती है और उस भक्ति का अपेक्षित फल भी मैं देता हूँ। हे वीरश्रेष्ठ, जिज्ञासु के मन में यही भक्ति ज्ञानलालसारूप होती है, और मैं उस जिज्ञासा का विषय बनता हूँ। अर्थार्थी भक्त में यही भक्ति अर्थप्राप्ति की इच्छा में परिणत होती है और वह मुझ को अर्थरूप समझ कर अर्थ नाम पाती है ॥१११६-२० स प्रकार यह मेरी भक्ति अज्ञान की वजह से मुझ द्रष्टा को दृश्यरूप समझती है। दर्पण में अपना मुख दूसरे मुख सा दिखाई देता है, किंतु वह भ्रमयुक्त द्वैतभाव दर्पण से हुआ है। चंद्रमा एक होते हुए भी मोतिया बिंदु की बीमारी होने पर दो चंद्रमा दिखाई देते हैं। वैसे तो सब जगह लोग मेरी ही भक्ति करते हैं। लेकिन मुझ में जो नहीं है, उस दृश्यत्व की वे कल्पना करते हैं। आईना हटाने से जैसे प्रतिबिंब बिंब से एकरूप हो जात है, वैसे अज्ञान के मिट जाने पर मेरा द्रष्ट ा से अभिन्न रहता है। ॥११२१-२५ ॥ जैसे सुवर्ण में जब हीनत्व होता है तब वह चोखा ही होता है। लेकिन उसमें से हीन धातु निकालने पर वह शुद्ध सुवर्ण हो जाता है। अजी, पौर्णिमा के पहले क्या चंद्रमा सब कलाओं से युक्त नहीं होता? परंतु उसी दिन पर वह परिपूर्ण होता है। वैसे ही मैं चित्तवृत्ति के द्वारा अलग अलग दिखाई देता हूँ, (परंतु उसमें द्रष्टृत्व-रूप भेद रहता है)। वह द्रष्टृत्व मिट जाने पर मैं ही मुझे प्राप्त होता हूँ। इसलिये, हे पार्थ, जिसको चौथा भक्तियोग कहते हैं, वह श्यमार्ग के परे हैं।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्य..स्म तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥५५॥

मेरा भक्त इस ज्ञानभक्ति से मुझ से एकरूप होता है यह तुमने सुना है। ॥११२६-३० ॥ क्योंकि, हे अर्जुन, मैंने पहले और सातवें अध्याय में, 'ज्ञानी मेरा आत्मा है' ऐसा बाँहें उठा कर कहा था। इस भक्ति को श्रेष्ठ कह कर उसका उपदेश कल्प के आरंभ में मैंने भागवत के रूप में ब्रह्मदेव को किया। इसको ज्ञानी स्वसंवित् और शैव शक्ति कहते हैं, हम उसको परमभक्ति कहते हैं। मुझसे जब क्रमयोगी एकरूप होता है, तब उसको यह भक्ति प्राप्त होती है। फिर मैं ही इस विश्व में भरा

हुआ हूँ, यह उसको ज्ञान होता है। इस अवस्था में विवेक के समेत वैराग्य, मोक्ष के साथ बंध, और निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति गुम हो जाते हैं। ॥११३१-३५॥ जैसे आसमान चारों भूतों को निगल कर शेष रहता है, तब इस तरफ़ या परली तरफ़ ऐसा भेद नहीं रहता, वैसे अलिप्त हो कर जो मेरा शुद्ध स्वरूप, साध्य और साधन के परे है, उससे वह एकरूप होता है और ब्रह्मानंद का अनुभव करता है। गंगा समुद्र में मिलने पर जैसे चमकती है, वैसे इस ब्रह्मानंद का अलग रह कर उपभोग लेना चाहिये। जैसे आमने सामने रखे हुए दो दर्पण अन्योन्य को देखते हैं, वैसे वह ब्रह्मानंद का अनुभव करता है। आईना हटाने पर और उसमें दिखाई देनेवाला प्रतिबिंब ग़ायब होने पर देखनेवाला अपने में अपने स्वरूप का आनंद महसूस करता है। ॥११३६-४०॥ जाग्रत होने पर स्वप्न लुप्त होता है, तो भी अपना अकेलापन अपने को ज्ञात होता है और दूसरा कोई न होने पर भी उस आनंद का हम अनुभव करते हैं।

इस पर कोई संदेह करेगा कि वह मुझसे एकरूप होने पर कैसे यह अनुभव हो ही सकता है? तो सोचो, शब्द से शब्द का उच्चारण कैसे हो सकता है? ऐसे शक लेनेवाले आदमियों के देश में क्या सूरज को दीप से देखना पड़ता है या आसमान में मंडप लगाना पड़ता है? अरे, जिस में राजापन नहीं है, वह राजा का सुख कैसे भोगेगा? क्या सूरज को अंधेरा गले लगा सकता है? जो आसमान नहीं है, वह आसमान की व्याप्ति कैसे जान सकता है? गुंजाओं से बनाये हुए गहने रत्न के अलंकारों की बराबरी कैसे कर सकते हैं? ॥११४१-४५॥ वैसे जो मुझसे एकरूप नहीं हुआ, वह यह कैसे जानेगा कि मैं कौन हूँ? इसलिये वह क्रमयोगी मद्रूप हो कर मेरे स्वरूप का अनुभव करता है। जैसे युवती अपनी जवानी का उपभोग करती है, लहरें पानी को चूमती हैं, सूर्य की प्रभा सूर्यमंडल में शोभा देती है, अथवा आकाश अवकाश से व्याप्त होता है, वैसे वह मद्रूप हो कर कर्म के बिना मेरी भक्ति करता है। जैसे गहना शरीर को शोभा देता है, चंदन की सुगंध चंदन में महकती है, अथवा कौमुदी चंद्रमा के पास होती है ॥११४६-५०॥, वैसे उसने यदि कर्म नहीं किया तो भी अद्वैतभक्ति घटती है। यह अनुभव से मालूम होता है, वह शब्दों में नहीं कहा जाता। ऐसा भक्त जब पूर्व संस्कार से कुछ बोलता है या

मुझे पुकारता है, तब मैं उसको 'हाँ' कहता हूँ । जब बोलनेवाला स्वयं से बोलता है तब संभाषण संभव नहीं है, इसलिये मौन ही मेरी स्तुति होती है । इसलिये जब मेरा भक्त मुझको बुलाता है और उस बुलावे से मैं उससे मिलता हूँ, तब मौन से ही वह बोलता है और मौन से ही मेरा स्तवन होता है । हाँ, उसकी बुद्धि या दृष्टि जो कुछ देखना चाहती है, वह देखना दृश्य वस्तु को हटा कर द्रष्टा को ही दिखाता है । ॥११५१-५५ ॥ दर्पण में देखने के पहले जो मुख था, वह दर्पण में खुद को देखता है, वैसे उसका देखना द्रष्टा को दिखाता है । दृश्य वस्तु लुप्त हो कर जब देखनेवाला द्रष्टा को देखता है, तो उसमें द्रष्टृत्व का दोष नहीं रहता । सपने में देखी हुई प्रिय स्त्री का जाग्रति में कोई आलिंगन करने लगा, तो वह अकेला ही रहता है । दो लकड़ियों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न हो कर वह दोनों को जला देती हैं और तुरंत लकड़ी के बजाय सिर्फ़ अग्नि शेष रहती है । पानी में जो अपना प्रतिबिंब दिखाई देता है, उसको यदि सूर्य हाथ से पकड़ने जाए, तो वह प्रतिबिंब ग़ायब होकर उसका बिंब भी लुप्त हो जाता है । ॥११५६-६० ॥ वैसे मद्रूप होने पर जो दृश्य पदार्थ देखने जाता है, उसका दृश्य के साथ द्रष्टृत्व भी लुप्त हो जाता है । सूर्य के प्रकाश में जैसे प्रकाशित करने के लिये अंधकार नहीं रहता, वैसे दृश्य देखने के लिये अलग द्रष्टा भी शेष नहीं रहता । यह जो देखने और न देखने की अवस्था है, वह मेरा सच्चा दर्शन है । हे किरीटी, कोई भी दृश्य पदार्थ देखने पर उसको ऐसा दर्शन होता है और वह दृश्य और द्रष्टा के परे जो अवस्था है, उसका वह अनुभव करता है ।

फिर आसमान व्यापक होने से वह नहीं ढलता, वैसे वह आत्मस्वरूप होने से विचलित नहीं होता । ॥११६१-६५ ॥जैसे कल्पांत में सर्वत्र पानी लबालब भर जाने से वह नहीं बहता, वैसे आत्मा सब प्राणियों में व्याप्त होने से स्थिर होता है । पाँव अपनेसे आगे कैसे बढ़ेगा, अग्नि स्वयं को कैसी लगेगी और पानी जल में कैसे स्नान कर सकेगा ? इसलिये मेरे सर्वत्र व्याप्त होने से उसका आना जाना बंद होता है और उससे मेरी अद्वय की यात्रा होती है । अरे, लहर पानी पर कितने ही वेग से क्यों न चले, वह पानी छोड़ कर जमीन पर नहीं जाती । जो जगह छोड़ना है और जिस जगह चलना है वहाँ चलना और चलने का साधन एक ही होता है ॥११६६-७० ॥ इसलिये, हे पांडुपुत्र, वह लहर कहीं भी जाए, वह पानी होने से

उसकी एकात्मता भंग नहीं होती। वैसे उसका अहंकार मिट जाने पर वह मेरे पास ही आता है और उसका आवागमन मेरी यात्रा ही होती है और वह मेरा यात्री होता है। वह अगर शरीरधर्म से कुछ करने लगा तो उस कर्म के उपलक्ष्य में मैंही उससे मिलता हूँ। इस अवस्था में, हे अर्जुन, कर्म और कर्ता का भेद लुप्त होता है और मुझे आत्मरूप में देखकर वह मद्रूप होता है। देखो, दर्पण ने दर्पण को देखा तो उसको देखना नहीं कहते, सुवर्ण ने सुवर्ण को ढका तो वह ढका नहीं जाता, ॥११७१-७५॥ दीप ने दीप को प्रकाश देना संभव नहीं होता। वैसे मद्रूप हो कर उसने कर्म किया, तो वह कर्म कैसे होगा? कर्म करते हुए कर्तापन का अहंकार न हो, तो उसका सब करना न करने के बराबर होता है, और वही मेरी पूजा का लक्षण है। हे कपिध्वज, वह जो जो क्रिया यथाविधि करता है, वह सब कर्म नहीं होता, बल्कि वह मेरी महापूजा होती है। इस प्रकार वह जो बोलता है वह मेरी स्तुति, वह जो देखता है वह मेरी सराहना और जब वह चलता है, तब मेरी अद्वय की यात्रा होती है। ॥११७६-८०॥ हे अर्जुन, वह जो कुछ करता है वह मेरी पूजा है, वह जो कल्पना करता है, वह मेरा जप है और वह जिस अवस्था में रहता है वह मेरी समाधि होती है। सुवर्ण का कंगन जैसे सुवर्ण से अभिन्न होता है, वैसे वह भक्तियोग से मुझसे एकरूप होता है। पानी से लहर, कपूर से सुगंध और रत्न से उसकी कांति भिन्न नहीं है। धागे से जैसा कपड़ा या मिट्टी से जैसा बर्तन एकरूप होता है, वैसे वह मद्रूप होता है। हे अर्जुन, इस अनन्य भक्तियोग से वह दृश्यमात्र में मुझ द्रष्टा को देखता है। ॥११८१-८५॥जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति इन अवस्थाओं के द्वारा जो व्यक्त और अव्यक्त रूप से यह दृश्य विश्व भासमान होता है, वह सब मैं द्रष्टा हूँ, ऐसे ज्ञान की उमंग में वह नाचता है। डोरी नजर आने पर सर्प का आभास मिट जाता है और वह डोरी ही है, ऐसा उसको यक़ीन होता है। सोने के गहने औटा कर उसमें सुवर्ण के सिवाय गुंजाभर भी हीन धातु नहीं है, यह मालूम होता है। पानी में जो लहरें आती हैं, उसमें पानी के सिवाय और कुछ नहीं है, यह जान कर वह उनकी आकृतियोंसे मोहित नहीं होता। ॥११८६-९०॥ अथवा जाग्रत होने पर सपने में जो कुछ विकार उसने देखे थे, वे सब मुझसे भिन्न नहीं थे ऐसा वह समझता है। वैसे ही जो कुछ विद्यमान या अविद्यमान है ऐसा आभास होता है, वह सब मैं ज्ञाता ही हूँ ऐसा वह अनुभव करता है। वह जानता है कि मैं अज, जन्मरहित,

अक्षय, अविनाशी, अपूर्व और अपार आनंद हूँ। चलन और पतन न पानेवाला, अनंत, अद्वय, सब का मूल, निराकार, और साकार मैं ही हूँ। प्रभुसत्ता को झुकानेवाला और चलानेवाला, अनादि, अविनाशी, निर्भय, आधार और आधार पर विद्यमान आधेय वस्तु भी मैं हूँ । ॥११९१-९५॥ मैं सब का स्वामी, सर्वदा, सहज, सतत, सर्वत्र, और सभी के परे रहनेवाला हूँ। जो सब में नया और पुरातन है, जो शून्यरूप है, जो संपूर्ण और सब वस्तुओं में बड़ा या सूक्ष्म है, वह सब मैं ही हूँ। मैं क्रियारहित, संगहीन और शोकरहित हूँ और मुझ में सब पदार्थ हैं और मैं सब पदार्थों में हूं, ऐसा मैं पुरुषोत्तम हूँ। शब्दातीत, कान-रूप-गोत्र-रहित, सर्वत्र समान, स्वतंत्र ऐसा ब्रह्म और परब्रह्म मैं ही हूँ। इस प्रकार मेरे आत्मस्वरूप से एकरूप हो कर वह सचमुच मुझको अद्वयभक्ति से जानता है । ॥११९६-१२००॥ जाग्रत होने पर मैं अकेला ही था, यह ज्ञान जागनेवाले को ही होता है। प्रकाश देनेवाला सूरज और प्रकाश्य पदार्थ दोनों अभिन्न हैं और वे मैं ही हूँ यह वह जानता है। वैसे ज्ञेय पदार्थ लुप्त होने पर केवल जाननेवाला रहता है और जो यह जानता है, वह मैं ही हूँ, ऐसा वह समझता है। और यह अद्वयपन जाननेवाला ज्ञान जो ईश्वर है, वह मैं ही हूँ ऐसा वह जानता है। फिर द्वैत और अद्वैत के परे जो आत्मा है, वह निःसंदेह मैं ही हूँ ऐसा ज्ञान होने पर वह ज्ञान भी आत्मानुभव में घुल जाता है ॥१२०१-०५॥फिर जाग्रत होने पर जो अपना स्वरूप दिखाई देता है, उसके ग़ायब होने पर कौनसी अवस्था प्राप्त होती है यह समझ में नहीं आता। सुवर्ण नज़र आने पर गहने औटाने के बग़ैर सुवर्ण मालूम होता है। नमक का द्रवरूप होनेपर भी उसका खारापन शेष रहता है और जब वह भी ग़ायब होता है, तब नमक का अस्तित्व भी लुप्त होता है। वैसे, जहाँ 'वह' की बात भी शेष नहीं रहती, वहाँ 'मैं' कैसे बाक़ी रहेगा? इस प्रकार 'मैं' और 'वह' यह भेद नष्ट होकर वह मेरे रूप में समा जाता है ॥१२०६-१०॥ कपूर जल जाने पर अग्नि भी ग़ायब होती है और फिर उन दोनों के परे जो आकाश है, वही शेष रहता है। जैसे एक से एक घटा दिया तो शून्य शेष रहता है, वैसे ही सत् और असत् दोनों घटा देने पर जो शेष रहता है वह मैं ही हूँ। तब ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर यह कहने में मज़ा नहीं रहता और न बोलने की गुंजाइश भी नहीं रहती। जैसे बात न करते ही जो मुँहभर बोला जाता है, वैसे ज्ञान और अज्ञान को त्याग कर वह जाना जाता है। इस अवस्था में

ज्ञान से ज्ञान जानना पड़ता है, और आनंद से आनंद और सुख से सुख अनुभव करना पड़ता है। ॥१२११-१५ ॥इस अवस्था में लाभ में बढ़ोतरी होती है, प्रभा में प्रभा समा जाती है और आश्चर्य में आश्चर्य डूब जाता है। वहाँ शम को शांति और विश्राम को विश्रांति मिलती है और अनुभव पर अनुभव की धुन सवार होती है।

इस क्रमयोग की सुहावनी बेल की परवरिश करने से उसको मद्रूपता का सुंदर फल प्राप्त होता है। हे किरीटी, यह क्रमयोग जो चक्रवर्ती सम्राट् है उसका मैं मुकुट हूँ, और वह ज्ञानरूपी रत्न है। अथवा क्रमयोगरूपी मंदिर के मोक्षरूपी कलश पर अवकाश का वह विस्तार है। ॥१२१६-२० ॥ अथवा इस संसाररूपी अरण्य में वह क्रमयोगरूपी राजपथ से मद्भावरूपी ग्राम में आता है। यह भक्तिरूपी गंगा क्रमयोग के प्रवाह से मुझ आनंदरूप समुद्र को आकर मिलती है। हे मर्मज्ञ, इस क्रमयोग की ऐसी महिमा है, इसलिये मैं बार बार उसका वर्णन करता हूँ। अरे, देश, काल और पदार्थ इन साधनों से मेरी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि मैं सब में व्याप्त हूँ। मेरी प्राप्ति के लिये कुछ भी प्रयास नहीं करने पड़ते। इस क्रमयोग के उपाय से मैं सहज प्राप्त होता हूँ ॥१२२१-२५ ॥ मेरी प्राप्ति के उपाय जानने के लिये गुरु-शिष्य का संप्रदाय रूढ हुआ है। हे अर्जुन, पृथ्वी के पेट में धन, काष्ठ में अग्नि और थन में दूध सिद्ध हैं। परंतु उनको प्राप्त करने के लिये उपायों का अवलंब करना पड़ता है। मैं स्वयंसिद्ध हो कर भी उपायों से ही प्राप्त होता हूँ। इतने समय तक फल के बारे में विवेचन करने पर अब भगवान् उपायों का क्यों निर्देश कर रहे हैं, ऐसा कोई पूछ सकता है। गीता की श्रेष्ठता इसमें है कि उसमें कहे गये उपायों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अन्य शास्त्रों में कहे हुए उपाय प्रमाणसिद्ध है ऐसा नहीं है। ॥१२२६-३० ॥वायु सूर्य की आड़ में आये हुए बादलों को दूर करती है, लेकिन सूर्य को नहीं बना सकती। अथवा पानी पर आनेवाली काई हम हटा सकते हैं, मगर पानी उत्पन्न नहीं कर सकते। वैसे आत्मज्ञान के आड़े आनेवाला जो अविद्या का मैल है, उसको शास्त्र दूर करता है। इसी तरह मैं निर्मल और स्वयंप्रकाश हूँ। इसलिये सभी शास्त्र अविद्या का नाश करने में समर्थ है। परन्तु वे इसके परे जा कर आत्मज्ञान देने में स्वतंत्र नहीं है। अध्यात्मविषयक शास्त्रों में सच्चा आत्मज्ञान

पूछने के लिये जहाँ जाना पड़ता है, वह शास्त्र गीता है। जब सूरज पूरब को प्रकाशित करता है तो सब दिशाएँ रोशन होती हैं। वैसेही सब शास्त्रों में जो श्रेष्ठ है उस गीता से इतर शास्त्र सनाथ हुए हैं। ॥१२३१-३५॥

इस गीता के पिछले अध्यायों में ऐसे उपाय विस्तार से कहे गये हैं, जिससे आत्मा की प्राप्ति हो सकती है। परंतु अर्जुन यह विषय एक बार सुन कर नहीं जान पाया, इस विचार से कृपालु भगवान् वही अर्थ संक्षेप से कह रहे हैं, ताकि वह अर्थ शिष्य के मन में पक्का जम जाए। और अब, जब कि गीता समाप्त हो रही है, इस लिये आरंभ से अंततक एक ही आशय स्पष्ट किया है ऐसा बताया गया है। किंतु ग्रंथ के बीच में अधिकार के अनुसार अनेक सिद्धान्त कहे गये हैं। ॥१२३६-४०॥ उनका पूर्वापर संबंध न जान कर ये सब सिद्धान्त इस गीताशास्त्र में कहे गये हैं, ऐसा मत समझो। इस महासिद्धान्त के विचार में अनेक सिद्धान्तों की युक्तियों का मेल कर के शुरू की गयी यह गीता अब भगवान् समाप्त कर रहे हैं। इस गीता का प्रमुख विषय है अविद्या का नाश, उसका फल है मोक्ष की प्राप्ति, और उन दोनों का साधन ज्ञान है। वही ज्ञान इस ग्रंथ में अनेक प्रकार से विस्तार से कहा गया है। इसलिये साध्य जानने पर उसे प्राप्त करने के लिये जो साधन आवश्यक होता है, वह भगवान् फिर से बताते हैं। ॥१२४१-४५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

फिर भगवान ने कहा कि हे वीरश्रेष्ठ, वह क्रमयोगी इस निष्ठा से मद्रूप हो कर मेरे स्वरूप में मिल जाता है। स्वकर्मों के आचरणरूपी सुंदर कुसुमों से वह मेरी पूजा करता है और मेरे प्रसाद से वह ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करता है। इस ज्ञाननिष्ठा को हासिल करने पर मेरी भक्ति का उत्कर्ष होता है और भक्ति से वह मुझसे एकरूप होकर सुखी होता है। और विश्व को रोशन करनेवाला जो मैं आत्मा हूँ, उसको सर्वत्र व्याप्त देख कर वह मेरा अनुसरण करता है। नमक जैसे अपना अलग अस्तित्व छोड़कर जल का आश्रय लेता है, या समीर आकाश में घूमकर फिर से निश्चल होता है, ॥१२४६-५०॥ वैसे काया-वाचा-मन से वह कर्मयोगी मेरे सहारे रहता है। उससे शायद निषिद्ध कर्म हो सकता है। परंतु जैसे नदी का पानी गंगा

में मिलने पर उससे एकरूप होता है, वैसे ही मेरा ज्ञान होने पर शुभ और अशुभ कर्म एकरूप होते हैं । चंदन और धुएँवाली लकड़ी का अंतर तबतक रहता है, जब तक वे अग्नि से घेरे नहीं जाते । मिलावटी और शुद्ध सुवर्ण में भेद तबतक रहता है जबतक उसका पारस से स्पर्श नहीं होता । वैसेही जबतक मेरा स्वरूप-प्रकाश नहीं फैलता तबतक शुभ और अशुभ का भेद भासमान होता रहता है । ॥१२५१-५५ ॥ अरे, जबतक हम सूर्य के ग्राम में प्रवेश नहीं करते तबतक रात और दिन का द्वंद्व रहता है । इसलिये मुझ से मिलन होने पर उसके सब कर्म नष्ट होते हैं और वह सायुज्यमोक्ष पाता है । देश, काल और स्वभाव से जिसका नाश नहीं होता, वह अविनाशी पद उसको प्राप्त होता है । हे अर्जुन, जिसने मेरी आत्मा का प्रसाद पाया है, उससे कौन सा लाभ दूर रहेगा ?

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७ ॥

इसलिये, हे धनंजय, तुम सब कर्मों का मुझमें त्याग करो ॥१२५६-६० ॥ परंतु, हे वीर, विहित कर्मों का त्याग न करके अपनी चित्तवृत्तियाँ विवेकशील बनाओ । उस विवेक के बल पर तुम मेरा वह विशुद्ध स्वरूप देखोगे, जो कर्मों से अलग है । और तुमको यक़ीन होगा कि प्रकृति यानी माया, जो सब कर्मों की जन्मभूमि है, वह तुम से दूर है । लेकिन, हे अर्जुन, जैसे रूप के सिवाय परछाईं नहीं होती, वैसे ही प्रकृति भी आत्मा से अलग नहीं है, यह बात तुम्हारे ध्यान में आयेगी । इस तरह प्रकृति का निरसन हुआ तो समस्त कर्मों का संन्यास अनायासही घटित होगा । ॥१२६१-६५ ॥ जब कर्मजात नष्ट होने पर आत्मा अकेला रहता है, तब तुम अपनी बुद्धि को पतिव्रता-सी उसमें विलीन करके रखो । इस प्रकार जब बुद्धि अनन्ययोग से मुझ में प्रवेश करेगी, तब तुम्हारा चित्त चिंतन के अन्य विषय छोड़कर मेरा ही भजन करेगा । इस प्रकार ध्यान के अन्य विषय छोड़कर तुम्हारा मन मुझही में लगा रहेगा । और तुम तुरंत ऐसा करो ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८ ॥

फिर इस अद्वयभक्ति से जब तुम्हारा चित्त मद्रूप होगा, तब यह समझ लो कि

मेरा संपूर्ण प्रसाद तुम्हें प्राप्त होगा। और जीवमात्र को जो जन्म-मरणके दुःख भोगने पड़ते हैं, वे दुःसह होने पर भी सुखद होते हैं। ॥१२६६-७०॥ आँखों को सूर्यप्रकाश की सहायता मिलने पर अंधकार की कौन परवाह करता है? उसी तरह मेरी कृपा से जिसका देहभाव संपूर्ण मिट गया है, वह संसाररूपी हौए से कैसे डरेगा? इसलिये, हे अर्जुन, तुम मेरी कृपा से संसार की दुर्गति से बच जाओगे। परंतु, यदि तुम अहंकार से मेरे कहने पर भी आनाकानी करोगे, तो तुम्हारे अव्यय और नित्यमुक्त होने पर भी वह सब व्यर्थ होगा ॥१२७१-७५॥और शरीरसंबंध में पग-पग पर आत्मघात है और उसको भोगने से कभी छुट्टी नहीं मिलती। और यदि तुम मेरे कहने पर ध्यान नहीं दोगे, तो मरने के पहले ही भयंकर मृत्यु-यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

जैसे पथ्य के द्वेष से बुखार अथवा दीप के द्वेष से अंधकार बढ़ जाता है, वैसे तुमने विवेक से बैर कर के अहंकार को पुष्ट किया है। और उस अहंकार के कारण अपनी बुद्धि से तुमने स्वदेह को अर्जुन, परदेहों को रिश्तेदार और युद्ध को पापाचार नाम दे कर युद्ध करने से इनकार किया है। ॥१२७६-८०॥और यदि तुमने यह पूर्ण निश्चय किया भी है, तो भी तुम्हारा जन्मजात स्वभाव उस निश्चय को नाकाम करेगा। और मैं अर्जुन हूँ, ये मेरे रिश्तेदार हैं और उनको मारना घोर पाप है, इस प्रकार तुम्हारे सोचने में माया के बिना क्या कुछ सचाई है? पहले तुम युद्ध करने को तैयार हुए, हाथ में हथियार भी ले लिया और अब क़सम खाते हो कि मैं नहीं लड़ूंगा। लेकिन तुम्हारा यह कहना व्यर्थ है। और व्यावहारिक दृष्टि से भी यह मान्य नहीं होगा। मैं नहीं लड़ूंगा यह निर्णय तुमने भलेही लिया हो, परंतु तुम्हारी अपनी क्षात्र प्रकृति तुमको युद्ध करनेको बाध्य करेगी ॥१२८१-८५॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

पानी के पूर्व दिशा में बहते रहते कोई पश्चिम की ओर तैरने का हठ करे, तो वह पानी उसको अपने प्रवाह में बहाकर ले ही जायेगा। धान का बीज यदि कहे कि मैं धान पैदा नहीं करूंगा, तो क्या उसका अपने स्वभाव के प्रतिकूल जाना संभव है ? उसी तरह, हे बुद्धिमान् अर्जुन, तुम्हारा स्वभाव क्षात्र-संस्कार से बना हुआ है। इसलिये, अगर तुम लड़ने से इनकार करोगे, तो तुम्हारा स्वभाव तुम को लड़ने को बाध्य करेगा। देखो अर्जुन, तुम्हारे क्षात्र स्वभाव ने तुम को शौर्य, तेज, दक्षता इत्यादि गुण जन्म से ही सुपुर्द किये हैं और उन क्षात्रगुणों के अनुसार तुम युद्ध किये बिना चुप नहीं बैठ सकोगे। ॥१२८६-९० ॥ क्योंकि हे अर्जुन, इन गुणों से तुम बंधे हुए हो, और तुम अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं जा सकोगे। अथवा अपना जन्मजात स्वभाव ध्यान में न रखकर तुम न लड़ने का फैसला करोगे, और मैं युद्ध नहीं करूंगा ऐसा निश्चय कर के चुप बैठोगे, तो भी तुम को युद्ध करना पड़ेगा, जैसे कि हाथ पाँव बांध कर भी रथ में बिठाये हुए यात्री को दूर जाना ही पड़ता है। जब विराट देश का राजकुमार उत्तर युद्ध से भागा जा रहा था, तब तुमने क्या युद्ध नहीं किया ? ॥१२९१-९५ ॥हे अर्जुन, उस रणक्षेत्र पर ग्यारह अक्षौहणी योद्धाओं को तुम अकेले ने परास्त किया। यही तुम्हारा क्षात्र स्वभाव तुमसे युद्ध करवायेगा। अरे मरीज़ बीमारी को और गरीब दारिद्रय को कभी चाहता है ? परंतु बलवान प्रारब्ध तुम्हें ईश्वर की प्रभुसत्ता के विरुद्ध करने नहीं देगा। और वह ईश्वर तुम्हारे हृदय में निवास करता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१ ॥

सब भूतों के हृदयरूपी महादाकाश में चित्तवृत्तियों की सहस्त्र किरणों को लेकर उस चित्सूर्य का उदय होता है। जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों प्रदेश रोशन करके वह विपरीत ज्ञान से जीवरूपी यात्री को प्रेरित करता है ॥१२९६-१३०० ॥ ज्ञेय पदार्थों के सरोवर में विषयरूपी कमल प्रफुल्लित करके वह पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और मन इन छः पैरोंवाले जीवरूपी भ्रमर को खिलाता है। अच्छा यह सूर्य का रूपक रहने दो। वह ईश्वर सब भूतों का अहंकार ओढ़कर प्रकट हुआ है। वह अपनी माया के परदे के पीछे से अकेला सूत्र हिला कर बाहर चौरासी लाख

कठपुतलियाँ नचाता है । वह ब्रह्मदेव से ले कर कीटक तक सभी को उनकी योग्यता के अनुसार देह की आकृतियाँ बना देता है । और जिस प्राणी के अनुरूप वह देह रचता है, वह प्राणी 'मैं यह देह हूँ' इस भावना से उस देह पर सवार होता है । ॥१३०१-०५ ॥ धागा धागे में फँस जाये, घास का तिनका घास में बंध जाये, अथवा पानी में अपनी परछाईं देखकर बालक उसको पकड़ने जाये, वैसेही अपने से जो अलग है 'वह शरीर मैं ही हूँ' इस बुद्धि को वह ग्रहण करता है । इस प्रकार ईश्वर देहरूपी यंत्र पर भूतों को बिठा कर उनके पूर्व कर्म के अनुसार सूत्रों को हिलाता है । जिस प्राणी के लिये उसके प्रारब्ध कर्म के अनुसार स्वतंत्र सूत्र आयोजित किया गया है, उस प्राणी को उस सूत्र के अनुसार गति प्राप्त होती है । जैसे समीर तृण को आसमान में उड़ा कर घुमता है, वैसेही हे अर्जुन, ईश्वर जीवों को संसार और स्वर्ग में घुमाता है ॥१३०६-१० ॥ चुंबक के समीप जैसे लोहा खिंच जाता है, वैसेही ईश्वर की प्रभुसत्ता से सब जीवों के व्यवहार चलते रहते हैं । हे धनंजय, चांद के सान्निध्य से समुद्र आदिमें हलचल शुरू होती है, समुद्र में ज्वार आता है, चंद्रकांत मणि झरता है, कुमुद खिलते हैं और चकोर पंछियों का संकोच मिट जाता है । उसी प्रकार ईश्वर मूल प्रकृति के द्वारा सब भूतमात्र से चेष्टाएँ करवाता है और वही तुम्हारे हृदय में निवास करता है । हे पांडुपुत्र, अर्जुन होने का अहंकार छोड़ कर जिस अहंता का स्फुरण तुम्हारे मन में होता है, वही उसका सच्चा स्वरूप है । ॥१३११-१५ ॥ वही ईश्वर प्रकृति के द्वारा तुम को युद्ध में प्रवृत्त करेगा और तुम्हारी इच्छा न होने पर भी तुम से युद्ध करवायेगा । इसलिये ईश्वर सब का मालिक है और प्रकृति का नियंता है । इसलिये उस प्रकृति के अनुरूप क्रियाएँ सुख से करने के लिये इंद्रियों से काम लेना चाहिये । अतः 'यह युद्ध करूं या न करूं' इस का फैसला तुम उस प्रकृति को सौंप दो, जो उस हृदयस्थ ईश्वर के अधीन है ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२ ॥

उस ईश्वर को शरीर, वाचा, चित्त और अहंकार समर्पित कर के उसकी शरण में जाओ, जैसे गंगा का पानी समुद्र में मिलता है । उस ईश्वर की कृपा से तुम पूर्ण शान्तिरूपी स्त्री के पति होकर आत्मानंद से अपने निजी स्वरूप में रमण करोगे ।

॥१३१६-२० ॥ जहाँ से उत्पत्ति होती है, जहाँ विश्रान्ति आराम करती है और अनुभूति जिस का अनुभव करती है, उस आत्मपद का स्वामी बन कर तुम अविनाशी बनोगे । रमानाथ श्रीकृष्ण पार्थ से इस प्रकार बोले :

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३ ॥

यह शास्त्र गीता नाम से प्रसिद्ध है । सब वेदान्त वाङ्मय का उसमें सार है, जिससे आत्मारूपी रत्न प्राप्त होता है । जो ज्ञान नाम से पहचाना जाता है, और जिसकी महिमा गाकर वेदान्त सब जगत् में ख्यातनाम हुआ, आँखोंवाला बौद्धिक ज्ञान भी जिसकी परछाईं है, और जिस ज्ञान से सर्वसाक्षी मैं ज्ञात होता हूँ, ॥१३२१-२५ ॥ऐसा वह आत्मज्ञान मेरा गुप्त धन है । किंतु मैं यह तुम से कैसे छिपाऊं ? हे अर्जुन, तुम्हारे प्रति मेरा लगाव है, और इसलिये मैंने यह गुप्त निधि तुम्हें सौंप दी है । जैसे बालक के प्रति माँ असीम प्यार से मोहित होकर उससे प्रेमपूर्ण बातें करती है, वैसेही तुम्हारा प्यार भी क्या मुझ से वैसे ही बर्ताव नहीं करवायेगा ? जैसे आसमान को भी छान करके लें, अमृत की छाल निकालें, या दीपक को दिव्य करने को कहें, या जिस सूर्य के प्रकाश में पाताल का परमाणु भी स्पष्ट दिखाई देता है, उसकी आँखों में अंजन डालें, ॥१३२६-३० ॥ वैसे, हे अर्जुन, मैंने सर्वज्ञ हो कर भी सब पहलुओं पर सोचविचार कर के सच्चा ज्ञान तुम्हें बताया । अब तुम इस पर ठीक विचार कर के जो चाहो वह करो । भगवान् का यह भाषण सुन कर अर्जुन चुप रहा । यह देखकर भगवान् बोले, हे अर्जुन, तुम बहुत सीधे और अवंचक हो । परोसने वाले के सामने यदि भूखा आदमी संकोच से 'मुझे और कुछ नहीं चाहिये, मैं तृप्त हूँ' ऐसा कहेगा, तो उसको क्षुधा की पीड़ा सहन करनी पड़ेगी और ऊपर से उस को असत्य वचन का दोष भी लगेगा । वैसे सर्वज्ञ श्रीगुरु से भेंट होने पर संकोच से उससे आत्मस्वरूप के बारे में कुछ नहीं पूछा, ॥१३३१-३५ ॥तो हाथ आया मौका गँवा कर वह धोखा खाता है और एक अच्छे संयोग से वंचित होता है । परंतु तुम्हारे मौन का अर्थ यह है कि मैं तुम को और एक बार फिर आत्मज्ञान समझाऊं । तव अर्जुन ने कहा कि, हे प्रभो, आपने मेरी मन की बात ताड़ ली । यह क्या कहना चाहिये कि आप के सिवाय यह सब जगत् ज्ञेय

है और उसको जाननेवाले आप ही हैं। फिर सूरज को सूरज कह कर उसकी प्रशंसा कोई क्यों करे? यह अर्जुन का वचन सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण बोले, क्या तुम ऐसा समझते हो कि तुम्हारे इस कथन में मेरी कम प्रशंसा हुई है? ॥१३३६-४०॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

तो एक बार और सावधान हो कर मेरा शुद्ध वचन सुन लो। यह वचन कहने लायक है, सुनने लायक है, ऐसी तो बात नहीं है, वह परम रहस्य है। वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है और तुम्हारे भाग्योदय से यह तुमको प्राप्त हुआ है। हे धनंजय, कच्छपी की दृष्टि से उसके छौने का पोषण होता है। चातक पंछियों के लिये आसमान वृष्टि करता है। यदि भाग्य अनुकूल हो तो कौन सा लाभ नहीं होता? उद्यम न करने पर भी उसका फल मिलता है। द्वैत का फेरा चुका कर अद्वैत के मकान में इस रहस्य का अनुभव करना होता है ॥१३४१-४५॥ हे मित्र, हमारा प्यार औपचारिक नहीं है, और उसका विषय आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है यह समझ लो। आईने में देखने के पहले हम उस को साफ़ करते हैं, यह उस के लिये नहीं बल्कि अपने लिये होता है। इस लिये, हे अर्जुन, तुमको यों ही निमित्त बना कर मैं यह आत्मसंवाद करता हूँ। अब तुम्हारे और मेरे बीच में क्या द्वैतभाव है? इसलिये मैं तुम को अपने हृदय का रहस्य बताता हूँ। क्योंकि एकनिष्ठ भक्त के प्रति मेरा लगाव है। जैसे नमक पानी से मोहित हो कर उसको अपना सर्वस्व देता है और उसमें एकरूप होने में पसोपेश नहीं करता ॥१३४६-५०॥, वैसे तुम मुझ से कुछ छिपा कर नहीं रखते, फिर मैं तुम से क्यों कुछ छिपा रखूं? इसलिये जिस रहस्य के सामने अन्य रहस्य खुल जाते हैं, वह मेरा विशुद्ध गूढ़ वचन सुनो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

हे वीरश्रेष्ठ, तुम मुझ सर्वव्यापक को अपने शरीर और मन के व्यापार के विषय बनाओ। वायु जैसे आसमान को सब तरफ़ से लिपटा रहता है, वैसे तुम कर्म करते समय मुझ में रह जाओ। तुम अपना मन मेरा निवासस्थान बनाओ और मेरे

यशोगान से अपने कान भर लो। ॥१३५१-५५ ॥शुद्ध ज्ञान से जो संपन्न हैं, वे साधुसंत मेरे ही रूप हैं। तुम अपनी स्त्री को जिस प्यार से देखते हो, उसी तरह के प्यार से उनको देखो। मैं सब पदार्थों का निवासस्थान हूँ, इसलिये अपनी वाणी को मेरी धुन लगावो। हाथों से जो कुछ करो, या पाँवों से जहाँ चलो, वे सब क्रियाएँ मेरे लिये ही करो। तुम अपने और पराये आदमी की सहायता करोगे, तो वही मेरा यज्ञ है और तुम मेरे याज्ञिक होगे। ऐसी एक एक बात तुम्हें कैसे समझा दूँ? तुम सब प्राणिमात्र में मुझ को देखकर सेवकभाव से उनकी सेवा करो। ॥१३५६-६० ॥ फिर तुम प्राणिमात्र से द्वेष छोड़ कर सर्वत्र मैं ही हूँ इस भाव से मुझे प्रणाम करो। इस प्रकार से तुमको मेरा पूर्ण सहारा मिलेगा। फिर इस भरे हुए विश्व में कोई तीसरा न रहेगा और हम दोनों का अद्वैत सिद्ध होगा। और किसी भी हालत में हमें एक-दूसरे की संगति का उपभोग करने को मिलेगा और हम दोनों का सुख बढ़ने लगेगा। फिर, हे अर्जुन, हमारे बीच में कोई तीसरा न होने से तुम मुझसे एकरूप होकर मुझको प्राप्त करोगे। जल का नाश होने पर उसमें से प्रतिबिंब का बिंब में मिलने में क्या कोई अड़चन होती है ? ॥१३६१-६५ ॥ वैसे समीर आसमान में और लहर समुद्र में मिलने गयी, तो उसको कौन रोकेगा ? हम और तुम में जो भेद दिखाई देता है, उसका कारण देहधर्म है। अगर वह देहधर्म नष्ट हो चुका, तो तुम मुझ से एकरूप हो जाओगे। मेरे इस कहने पर हाँ या ना ऐसा संदेह मत करो। तुम्हारी सौगंध, यदि मैं तुम्हें कुछ गलत कहता हूँ। तुम्हारी क़सम खाना मेरे आत्मलिंग को स्पर्श करने के समान है। किंतु प्यार का तरीक़ा ऐसा होता है कि उसमें कोई शरम नहीं होती। नहीं तो मैं ज्ञेय होकर संसार से अलिप्त हूँ। जिस प्रभुसत्ता से यह विश्वाभास सच प्रतीत होता है, और जिस की आज्ञा का प्रताप महाकाल को भी परास्त करता है, ॥१३६६-७० ॥ वह मैं सत्य संकल्प भगवान्, पिता के समान विश्व के कल्याण की चिंता करता हूँ। फिर मैं शक करके क़सम क्यों खाऊं ? परंतु, हे अर्जुन, मैं तुम्हारे लगाव से पागल बन गया हूँ और देवपन की प्रतिष्ठा खो गया हूँ इसी लिये मैं तो मानों आधा-परधा हो गया हूँ और तुम तो मुझ से एकरूप बन कर पूर्ण हो गये हो। हे धनंजय, राजा जैसे कार्यसिद्धि के लिये पराये लोगों को विश्वास दिलाने के लिये सौगंध खाता है, यह वैसाही है। तब अर्जुन ने कहा, हे भगवन् आप ऊटपटांग बातें मत कीजिये। केवल आप के

नामस्मरण से हम कामयाब होते हैं। ऐसा हो कर आप हमें उपदेश करते हैं और उस पर सौगंध भी खाते हैं। आपकी इस हसी-मज़ाक की क्या कोई हद भी है ? ॥१३७१-७५ ॥ सूर्यप्रकाश के एक अंश से कमलवन प्रफुल्लित होता है। और इस बहाने से सारी दुनिया रोशन होती है। तपी हुई पृथ्वी को शीत करने के लिये मेघ समुद्र को भर देनेवाली वर्षा करता है, किंतु उसके लिये निमित्त होता है चातक पंछी । तब, हे कृपानिधि, श्रेष्ठ दातार ! आप के औदार्य के लिये मैं केवल निमित्त मात्र हूं, ऐसा कहना होगा। तब भगवान् ने कहा, अब यह पर्याप्त हुआ। यह अधिक बोलने का समय नहीं है। परंतु मैं ने तुम को जो उपाय बताया था, उससे तुम मुझ को सचमुच प्राप्त करोगे। पानी में नमक गिरने पर वह पलभर में घुल जाता है, फिर क्या उसको शेष रहने का कोई सबब होता है ? ॥१३७६-८० ॥ जब सब तरीक़े से मेरी भक्ति कर के तुम्हें प्रतीत होगा कि सर्वत्र मैं ही हूँ, तब तुम्हारा अहंकार मिट जायेगा और तुम मुझमें एकरूप हो जाओगे। इस प्रकार जिस तरह कर्म से ज्ञान और ज्ञान से मेरी प्राप्ति होती है, वे सब उपाय मैंने तुम को स्पष्ट बता दिये। हे पांडुपुत्र, पहले सब कर्म जब आदमी मुझे अर्पण करता है, तब मैं प्रसन्न होता हूँ। फिर मेरे कृपाप्रसाद से मेरा ज्ञान उसको प्राप्त होता है और उस ज्ञान से वह मुझ में विलीन होता है, यह निश्चित ही सत्य है।

फिर उसमें साध्य और साधन का लय होता हैं, फिर कुछ करने को शेष नहीं रहता। ॥१३८१-८५ ॥तुमने अपने सब कर्म मुझको अर्पित किए, इसलिए मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। अब इस कृपा-प्रसाद के बल पर युद्ध की यह रुकावट दूर होगी, इतना मैं तुम पर रीझ गया हूँ। जिससे इस प्रपंच के समेत अज्ञान नष्ट होता है, और मैं अकेला सर्वत्र दिखाई देता हूँ, वह ज्ञान मैंने युक्ति और दृष्टान्त से इस गीतारूप से स्पष्ट किया है। जो ज्ञान मैंने तुम्हें हर तरह से कहा है, उससे तुम धर्म और अधर्म को जन्म देने वाले अज्ञान को छोड़ दो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६ ॥

वासना से दुःख, निंदा से पाप, और दुर्भाग्य से गरीबी प्राप्त होती है।

॥१३८६-९० ॥ जिस अज्ञान से स्वर्ग और नरक को पहुँचाने वाले धर्म और अधर्म अस्तित्व में आते हैं, उस अज्ञान को इस ज्ञान से समूल नष्ट करो। डोर हाथ में लेने पर सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है। जाग्रत होने पर स्वप्न में देखा हुआ घरबार सहित संसार लुप्त होता है। पीलिया के रोग से तन्दुरुस्त होने पर चाँद पीला नहीं दिखाई देता। बीमारी दूर होने से मुँह की अरुचि हट जाती है। सूर्यास्त होते ही मृगमरीचिका अपने आप अदृश्य होती है। अथवा लकड़ियों का त्याग करने पर अग्नि का भी त्याग होता है। उसी तरह जिस अज्ञान से यह धर्म और अधर्म की धूम मची हुयी है, वह अज्ञान नष्ट करके तुम सब धर्मों का त्याग करो। ॥१३९१-९५ ॥ फिर उस अज्ञान के मिट जाने पर मैं अकेला रहता हूँ। जब निद्रा के समेत स्वप्न खत्म होने पर हम अकेले रहते हैं, वैसे मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं रहता। फिर वह ' मैं ब्रह्म हूँ ' इस भाव से मुझसे एकरूप होता है। द्वैतभाव छोड़कर मेरा अद्वयत्व जानने को ही 'मेरी शरण में आना' कहते हैं। जैसे घट का नाश होने पर उसमें विद्यमान अवकाश आकाश में मिल जाता है, वैसे तुम मेरी शरण में आकर मुझ से एकरूप हो जाओ। सुवर्ण का मोती जैसे सुवर्ण से और पानी की लहर पानी से घुलमिल जाते है, वैसे तुम मद्रूप होकर मेरी शरण में आओ ॥१३९६-१४०० ॥ वडवानल समुद्र की शरण में आकर वह उससे एकरूप नहीं होता और इसी के कारण से वहउसको जला देता है। इस प्रकार का द्वैतभाव त्याज्य है। मेरी शरण में आ कर तन मन से मुझ से अलग रहना कैसे संभव है ?लानत है इस कहने पर। ऐसा कहने में किसीको शरम कैसे नहीं आती ? हे धनंजय. राजा के द्वारा स्वीकारी हुई एक गँवार दासी भी उसकी बराबरी प्राप्त करती है। फिर विश्व का जो मैं ईश्वर हूँ, उसके दर्शन होने से हृदय की ग्रन्थियाँ नहीं छुटती, ऐसी दुष्ट बात कोई कहे तो उस पर तुम ध्यान मत दो। मुझसे एकरूप हो जाने पर मेरी भक्ति सहज रूप से सिद्ध होती है, और उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। ॥१४०१-०५ ॥ छाछ से निकाला हुआ मक्खन उसमें डालने पर वह फिर उसमें घुलमिल नहीं पाता, वैसेही अद्वयज्ञान से मेरी शरण में आने पर तुम को धर्म और अधर्म स्पर्श नहीं कर सकते। लोहा जंग लगने पर मिट्टी बनता है, लेकिन पारस का स्पर्श होने पर उसको जंग नहीं लगता। लकड़ी से लकड़ी का घर्षण करने पर अग्नि निकलती है, पर उसको लकड़ी में बंद कर रख नहीं सकते। अथवा, हे अर्जुन, सूरज को अंधकार नहीं

दिखाई देता, या जाग्रत होने पर स्वप्न का भ्रम नहीं रहता ॥१४०६-१० ॥ वैसे मुझसे एकरूप होने पर क्या मुझ सर्वरूप के बिना कुछ शेष रहता है ? इसलिये, तुम उसके बारे में या पाप और पुण्य के विषय में बिलकुल चिंता मत करो । समझ लो कि मैं तुम्हारा पापपुण्य हो जाऊंगा । मुझसे भेदभाव रखना ही कर्मबंधन का लक्षण है, उस पाप का, मेरा ज्ञान होने से, लय होगा । हे सुजान अर्जुन, पानी में पड़े हुए नमक का पानी ही होता है । वैसे अनन्यभाव से मेरी शरण में आनेपर तुम मद्रूप हो जाओगे । हे धनंजय, इस प्रकार तुम अपने आप सब बंधनों से मुक्त हो जाओगे । तुम मुझे जान लोगे, तो मैं तुमको मुक्त करूँगा ॥१४११-१५ ॥ इस लिये, हे बुद्धिमान् अर्जुन, तुम धर्म और अधर्म की चिंता मत करो । अकेले मुझको जान कर मेरी शरण में आओ । यह बात विश्वरूप, सर्वसाक्षी और सर्वदेशव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण बोले ।

फिर उस श्यामसुंदर ने सुवर्ण का छल्ला पहना हुआ अपना दाहिना हाथ फैला कर शरणागत भक्तराज अर्जुन का आलिंगन किया । जहाँ तक पहुँच न जानेपर शब्द पीछे हटते हैं, और जो शब्दों के और बुद्धि के द्वारा आकलन न होनेवाली वस्तु है, वह उस भगवान् ने आलिंगन के बहाने अर्जुन को दे दी । ॥१४१६-२० ॥ दिल दिल से मिलाकर भगवान् ने अपने हृदय का रहस्य अर्जुन के हृदय में रख दिया और द्वैतभाव में बाधा न ला कर अर्जुन को आत्मरूप बना लिया । एक दीप से जैसा दूसरा दीप सुलगाते हैं वैसे श्रीकृष्ण ने पार्थ के द्वैतभाव में बाधा न डालते हुए अपने जैसा कर लिया । फिर उस समय जो महासुख की बाढ़ आई, उसमें सर्वव्यापक भगवान् भी डूब गये । समुद्र में समुद्र मिल जाने पर और पानी दुगुना बढ़ जानेपर पर्याप्त जगह पाने के लिये उनको आसमान का सहारा लेना पड़ता है । वैसे श्रीकृष्ण और अर्जुन का मिलन होने पर उनका प्यार इतना बढ़ गया कि वे बेक़ाबू हो गये, यह कौन कैसे जानकर कह सकता है । यह सारा विश्वही नारायण से भर गया । ॥१४२१-२५ ॥ इस प्रकार वेदों का जो मूल है और जिसका अध्ययन करने का सभी को अधिकार है, ऐसा पवित्र गीताशास्त्र श्रीकृष्ण ने प्रकट किया ।

श्रीज्ञानेश्वर ने आगे कहा कि गीता में वेदों का मूलसूत्र है ऐसा मुझे प्रतीत हुआ। अगर आप पूछेंगे कि यह कैसे हुआ, तो मैं उनके विशिष्ट कारण बताता हूँ। जिसके निःश्वास से वेद निकले, उस सत्यप्रतिज्ञ ईश्वर ने प्रतिज्ञापूर्वक अपने मुख से यह गीताशास्त्र कहा। इसलिये गीता का मूल आधार वेदों में है यह कहना उचित होगा। और इसका दूसरा भी एक सबूत है। किसी वस्तु का नाश न होने पर उसका विस्तार जिस में अंतर्भूत होता है, उसको उस वस्तु का बीज कहते हैं। ॥१४२६-३० ॥जैसे वृक्ष बीज में रहता है, वैसे कांडत्रयात्मक वेद गीता में है। इसलिये गीता वेदों का बीज है यही मुझे प्रतीत होता है और वह स्पष्टरूप से दिखाई भी देता है। जैसे शरीर रत्नालंकारों से सुंदर दिखाई देता है, वैसे गीता में वेदों के तीन कांड अंकित हुए हैं। वेदों के कर्म, उपासना और ज्ञान नामक वे तीन कांड किस स्थान पर हैं, यह मैं स्पष्ट कर के बताऊंगा। पहले अध्याय में इस शास्त्र का आरंभ कैसे हुआ उसका निर्देश है। दूसरे अध्याय में आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन है ॥१४३१-३५ ॥और कहा गया है कि यह गीताशास्त्र ज्ञानप्रधान और मोक्ष देनेवाला स्वतंत्र शास्त्र है। फिर तीसरे अध्याय में अज्ञान से घिरे हुए जीवों के लिये मोक्षप्राप्ति का साधन कौनसा है, यह कहना आरंभ किया है। जो देहाभिमान से बंधे हुए हैं, उन्हें सावधानीपूर्वक काम्य और निषिद्ध कर्म त्यागकर विहित कर्म सद्भाव से करना चाहिये, ऐसा तीसरे अध्याय में भगवान ने निर्णय किया है। इसलिये इस अध्याय को कर्मकांड समझना चाहिये। फिर वही नित्य और नैमित्तिक कर्म अज्ञान से कैसे छुटकारा कराता है ॥१४३६-४० ॥, इसका विचार मन में आता है। तब बद्ध को मुमुक्षु की पैढ़ी को पहुंचने पर उसे सब कर्म ब्रह्मार्पण-बुद्धि से करना चाहिये यह भगवान् ने कहा। उन्होंने यह भी कहा कि देह, वाणी और मन से जो विहित कर्म किया जाता है वह ईश्वर को संबोधित करके करना चाहिये। इस कर्मयोग की समाप्ति ईश्वर के भजन और संकीर्तन से होना चाहिये यह चौथे अध्याय के अंत में कहना शुरु किया। वहीं ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त होनेतक कर्मों से ईश्वर की पूजा करनी चाहिये ऐसा बताया गया। सो इन आठ अध्यायोंमें उपासना कांड और उसमें आनेवाली अड़चनें दूर करने का मार्ग कहा गया है। ॥१४४१-४५ ॥ और ईश्वर के कृपाप्रसाद से जो सच्चा और प्रेमयुक्त ज्ञान उत्पन्न होता है, वह बारहवें अध्याय में 'अद्वेष्टा' इस श्लोक से अथवा तेरहवें अध्याय में 'अमानित्व'

इस श्लोक से विस्तार के साथ कथन किया गया है । इसलिये बारहवें अध्याय का ज्ञानखंड में समावेश होता है । बारहवें अध्याय के आरंभ से पंदहरवें अध्याय के अंततक ज्ञान का फल और उसकी परिपक्वता निरूपण के विषय है । इस लिये पंद्रहवें अध्याय के अंततक के चार अध्यायों में ज्ञानकांड का विवेचन किया गया है । इस प्रकार कांडत्रय का निरूपण करनेवाली यह गीता एक सुंदर श्रुति है, जिसने पद्यरूपी रत्न के गहने पहने हैं ॥१४४६-५० ॥ ऐसी यह कांडत्रयात्मक भगवती श्रुति गरज कर कहती है कि मोक्षरूपी फल का लाभ उठाये । इस ज्ञानसाधना से जो बैर करनेवाला अज्ञानी वर्ग है, उसका प्रतिपादन सोलहवें अध्याय में किया गया है । इस वैरी-वर्ग को शास्त्र की सहायता लेकर जीतना चाहिये, यह सत्रहवें अध्याय में कहा गया है । इस प्रकार प्रथम अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक अपने निःश्वास से उत्पन्न हुए वेदों का विवरण भगवान् ने किया है । उन सब अध्यायों के भावार्थ का तात्पर्य जिस अध्याय में है, वह यह अठारहवाँ कलशाध्याय है । ॥१४५१-५५ ॥

इस प्रकार सात सों श्लोकों में ग्रथित यह गीता नामक प्रबंध साक्षात् वेद है, और उदारता में वेदों से भी बढ़कर है । वेद ज्ञानसंपन्न अवश्य है, किंतु उससे ज्यादा कंजूस और कोई नहीं । क्योंकि वह सिर्फ़ पहले तीन वर्णो से ही कनबतियाँ करता है । जो अन्य स्त्रीशूद्रादिक लोग संसारताप से पीड़ित हैं, उनको वह अपने ज्ञानमंदिर में जगह नहीं देता हुआ चुप बैठा है । इस लिये ज्ञानेश्वर कहते हैं कि यह अपनी न्यूनता दूर करने के लिये वेद गीतारूप धारण कर प्रकट हुए, ताकि सब लोग उससे लाभ उठा सकें । इतना ही नहीं तो यह गीता अपने अर्थरूप से मन को भाती है, श्रवणरूप से कान बहलाती है और जपसे मुख में रहती है ॥१४५६-६० ॥ जो इस गीता को नित्य पढ़ता है, पढ़नेवालों की संगति में रहता है, अथवा गीता को ग्रंथरूप से लिख कर लोगों को प्रदान करता है, इस प्रकार से वह प्राणिमात्र को समान रूप से संसार के चौराहेपर मोक्षसुख का मानो अन्नछत्र खोल देता है । जिस तरह अवकाश में रहने के लिये, पृथ्वी पर बैठने के लिये अथवा सूर्यप्रकाश में चलने-फिरने के लिये आकाश सभी को खुला अहाता है, उसी तरह गीता का श्रवणपठन कोई भी कर सकता है और उत्तम, अधम का भेद न कर वह सबको

मोक्षसुख प्रदान करके विश्व को शांति देती है। इसलिये पिछली नुक़ताचीनी से डरकर वेद ने गीता के उदर में प्रवेश किया और उज्ज्वल कीर्ति हासिल की ताकि सभी लोग उसका सुखपूर्वक सेवन कर सकें। ॥१४६१-६५॥ वेद का मूर्त स्वरूप जो गीता है, वह भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कही, परंतु, बछड़े के प्यार के निमित्त से गाय का दूध सभी को मिलता है, वैसे अर्जुनके निमित्त से भगवान् ने इस कथन से विश्व का उद्धार किया। वैसेही जैसे चातक पंछी पर तरस कर मेघ वर्षा करता है और उससे सारी दुनिया को दिलासा मिलता है, अथवा जिसको अन्य गति नहीं है उस कमल को विकसित करने के लिये समय पर सूर्योदय होता है और उससे सभी की इच्छा पूरी होती है, वैसे अर्जुन को निमित्त बना कर भगवान् ने गीता प्रकट की और जगत् के लिये संसार का बड़ा बोझ हलका किया ॥१४६६-७०॥ यह भगवान् लक्ष्मीपति नहीं है बल्कि मुख-रूपी आकाश में उदय पाकर गीताशास्त्र रूपी रत्नप्रभा से त्रिभुवन को उज्ज्वल करने वाला सूरज है। धन्य वह पवित्र कुल जिसमें जन्म ले कर अर्जुन इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये सत्पात्र सिद्ध हुआ और उसने सारी दुनिया को यह अहाता खुला कर दिया। फिर ज़गद्गुरु श्रीकृष्ण अपने स्वरूप में समाये हुए अर्जुन को द्वैतभाव में लाये। उस पर भगवान् ने अर्जुन से पूछा, "मैं ने जो गीताशास्त्र कहा, क्या वह तुम्हें अच्छा लगा ?" तब अर्जुन ने उत्तर दिया, "हाँ, भगवन्, आपकी कृपा से यह सब मैं समझ पाया"।

उस पर भगवान् ने फिर कहा, हे धनंजय, भाग्य खुल जाने पर गुप्त निधि प्राप्त होती है, परंतु उसका उपभोग करना किसी से ही बन पड़ता है ॥१४७१-७५॥ अरे, क्षीरसागर के समान न जमे हुए दूध का बरतन मथने में देवताओं और दैत्यों को कितने परिश्रम हुए होंगे ! वे परिश्रम सफल हुए और उन्हें अमृत भी प्राप्त हुआ। लेकिन उसकी रक्षा करने में असावधानी हुई। अमर होने के लिये जो अमृत पाया गया, वही दैत्यों की मृत्यु का कारण हुआ। ऐश्वर्य का कैसा उपभोग करना चाहिये, यह न जानते हुए उसका उपयोग किया तो ऐसा अनर्थ होता है। नहुष राजा यज्ञ कर के स्वर्ग का अधिपति बना। किंतु उसका आचरण ठीक न होने से उसको सर्पयोनि प्राप्त हुई, यह क्या तुम नहीं जानते ? बहुत पुण्यवान् होने से तुम सब शास्त्रों में श्रेष्ठ गीताशास्त्र सुनने के लिये योग्य बने ॥१४७६-८०॥ फिर भी इस

शास्त्र के अनुसार आचरण करने का जो संप्रदाय है, उसको समझ कर उसका विधिपूर्वक अनुष्ठान करो । हे अर्जुन, ऐसा न करोगे, तो उसका अमृतमंथन के समान नतीजा होगा । हे किरीटी, यदि गौ अच्छी और मोटी-ताजी भी मिल जाए, तो भी उसके दोहने की खूबी मालूम न हो, तो वह दूध नहीं देगी । उसी तरह श्रीगुरु की कृपाप्रसाद से शिष्य को विद्या प्राप्त भी हो जाए, तो भी वह संप्रदाय का पालन करने पर ही सफल होगी । इसलिये इस गीताशास्त्र का जो योग्य संप्रदाय है वह सादर सुनो ॥१४८१-८५ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७ ॥

इसलिये, हे पार्थ, यह जो गीताशास्त्र तुमने श्रद्धापूर्वक प्राप्त किया है, वह तपोहीन मनुष्य को कभी मत कहो । और जो तपस्वी हो कर भी गुरुभक्ति में उदासीन हो, तो तुम उसको भी बहिष्कृत करो, जैसे वेदों ने शूद्रों का हुक्कापानी बंद किया है । अथवा यज्ञभाग जैसे बूढ़े कौए को भी नहीं देते, वैसे वह गीता गुरुभक्तिहीन तापस को मत बता दो । लेकिन जो तप का आचरण और गुरु तथा देवता की भक्ति भी करता है, मगर सुनना नहीं चाहता, तो वह पिछले दो गुणों से संपन्न होते हुए भी गीता श्रवण करने के लिये योग्य नहीं होता । ॥१४८६-९० ॥ मोती चाहे कितना भी चमकीला क्यों न हो, किंतु उस में छिद्र न हो, तो उस में धागा कैसे डाल सकते हैं ? समुद्र गहरा है यह कौन नहीं मानता, लेकिन उस पर वर्षा हो जाए तो वह व्यर्थ होती है । भोजन से तृप्त हुए मनुष्य को मिष्टान्न व्यर्थ खिलाने की अपेक्षा वह उदारता से भूखे आदमी को क्यों न दें ? इसलिये, आदमी कितना ही योग्य क्यों न हो, अगर उसको सुनने की चाह नहीं हो, तो उसको यह शास्त्र मज़े में भी मत बताओ । आँख रूप को समझ सकती है, परंतु उसके सामने सुगंधी पदार्थ रखने से क्या फायदा ? जहाँ जो अच्छा लगता है, वहीं सफल होता है । ॥१४९१-९५ ॥ इसलिये, हे सुभद्रापति, यदि तप और भक्ति होते हुए भी उसको शास्त्र के श्रवण का शौक न हो, तो ऐसेको टालना चाहिये । अगर तप, भक्ति और श्रवण की इच्छा किसी में हो, किंतु वह मुझ गीताशास्त्र का कर्ता और सब लोगों का शासक होने पर भी मुझको साधारण मनुष्य के रूप में देखता है, अथवा मेरी या मेरे भक्तों की चुगली करता है,

तो वह भी गीताशास्त्र सुनने के लिये योग्य नहीं होता । दीप के बिना जैसे उसका दीवारगीर, वैसे उसकी अन्य गुणसामग्री व्यर्थ है । ॥१४९६-१५०० ॥ जैसे गहने पहने हुई किसी युवती में जान न हो, या सुनहरी घर के द्वार पर नागिन बैठी हो, अथवा मिष्टान्न बना कर उसमें विष डाला हो, या दिखावटी दोस्ती के अंदर कपट हो, उसी तरह, हे बुद्धिमान अर्जुन, जो मेरी या मेरे भक्तों की निंदा करता है, उसका तप, भक्ति और बुद्धि व्यर्थ होती है । हे पार्थ, ऐसा आदमी भक्त, बुद्धिमान्, तपस्वी क्यों न हो, उसका इस शास्त्र को स्पर्श भी मत होने दो । ॥१५०१-०५ ॥ निंदक के बारे में और क्या कहूँ ? अगर वह ब्रह्मदेव के समान योग्य हो तो भी उसको गीताशास्त्र मज़े में भी मत कहो । इस लिये, हे धनुर्धर, जिसने तपरूपी पत्थरों की नींव डाल कर गुरुभक्तिरूपी मंदिर बनवाया है, और उस पर अनिंदारूपी रत्नों का कलश चढ़ाया है, और उस मंदिर का श्रवणेच्छारूपी महादरवाजा खोल रखा है,

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८ ॥

ऐसा परम भक्त अपने हृदयमंदिर में गीतारूपी रत्नेश्वर की स्थापना करेगा तो वह मुझसे एकरूप होकर मेरी योग्यता पाएगा । क्योंकि अ,उ,म इन मात्राओं की कोख में जो ॐकार एकाक्षर रूप से गर्भ में फँसा हुआ था ॥१५०६-१० ॥, वह वेदबीज ॐकार गीतारूप में विस्तार पाया है अथवा गायत्रीरूप ॐकार गीता के श्लोकों के रूप से फूलने फलने लगा है । उन मंत्रों का रहस्य जो मेरे भक्तों से कहता है, और जो नन्हे बालक को, जो माँ के दूध के सिवाय जीवित नहीं रह सकता, उसकी माँ से भेंट करवाता है, वैसे जो भक्तों का गीता से मिलन करवाता है, वह देहपात के बाद मुझसे एकरूप होता है ।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९ ॥

ऐसा गीतार्थ कहने वाला भक्त देह धारण कर के अलग रह कर भी मेरा अतीव प्यारा होता है । ज्ञानी, कर्ममार्गी या तपस्वी से बढ़ कर वह मुझको प्रिय लगता है । ॥१५११-१५ ॥ हे पांडव, जो भक्तजनों के समुदाय को गीता सुनाता है, उसके समान इस भूतल पर मेरा और कोई प्यारा नहीं है । जो मेरे प्यार से मन

स्थिर करके लोगों को गीता पढ़ाता है, वह संतसज्जनों का भूषण बनता है, मानो भक्तों के उद्यान में गीतार्थ कहनेवाले के रूप में वसंत आया है । वसंत ऋतु में उद्यानों में जैसे नयी कोंपले आती हैं, वैसेही श्रोताओं के शरीर पर रोमांच आते हैं । मंद हवा में जैसे पेड़ हिलते हैं वैसे श्रोता आनंद से डोलते हैं । उपवन में फूल जैसे ओस से हरेभरे होते हैं, वैसे उनके कमलनयन आनंदाश्रुओं से भर आते हैं । उद्यान में जैसे कोयल मधुर स्वर में गाती हैं, वैसे श्रोता गद्गद होकर नामघोष करते हैं । अथवा चंद्रोदय होने पर जैसा चातक का जीना सफल होता है, अथवा मोर की पुकार सुन कर नव मेघ झट से आता है ॥१५१६-२० ॥, वैसे जो संतसभा में मद्रूप हो कर गीता के पद्यरूपी रत्न उँडेलता है, ऐसी योग्यता का मेरा प्रिय भक्त न पहले कभी हुआ और न भविष्य में होगा । हे अर्जुन, जो इस तरह के गीतार्थ की दावत संतों को देता है, उसे मैं अपने दिल में जगह देता हूँ ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७० ॥

मेरे और तुम्हारे बीच में यह जो संवाद हुआ, वह इस पृथ्वी में मोक्ष की प्राप्ति कराने के लिये हुआ है । समस्त अर्थ समझाने बुझाने वाला यह वार्तालाप पदभेद न करता हुआ जो पठन करता है, ॥१५२१-२५ ॥वह प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में अज्ञान की आहुति दे कर, हे बुद्धिमान् अर्जुन, मुझ परमात्मा को संतुष्ट करता है । गीतार्थ के अनुभव से जो योग्यता ज्ञानी लोग पाते हैं, वही योग्यता गीता का गायन और कथन करनेवाले को प्राप्त होती है । गीतार्थ जाननेवाले को जो फल मिलता है, वही फल गीता पढ़नेवाले कोभी उपलब्ध होता है । क्योंकि गीता माता ज्ञानी बेटे और अनजान बालक में भेद नहीं करती ।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१ ॥

किसी मार्ग से निंदा छोड़ कर जो शुद्ध बुद्धि से गीता के श्रवण में आस्था रखता है, उसको कानों पर गीता के शब्द आते ही पातक भाग जाते हैं ॥१५२६-३० ॥अरण्य में अचानक दावानल लग जाने पर वहाँ के जानवर और पंछी दस दिशाओं में भाग जाते हैं या सूर्योदय होने पर आकाश का अंधकार गुम हो जाता

है, वैसे गीता का घोष सुनने पर सृष्टि की उत्पत्ति से जो पातक मच गये हैं, वे सब नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार उसकी वंशलता पवित्र हो कर पुण्यमय होती है और सुंदर फलों से लद जाती है । इस गीता के जितने अक्षर कर्णद्वारा अंतःकरण में पैठ जायेंगे, उतने अश्वमेध यज्ञ करने का फल प्राप्त होगा ॥१५३१-३५ ॥ इस प्रकार गीता के श्रवण से पापों का क्षय हो कर धर्म की वृद्धि होती है और अंत में स्वर्ग का राज्य प्राप्त होता है । मेरे पास आकर मिलने के लिये जो पहला मंजिल है, उस स्वर्ग को वह पहुँचता है और वहाँ यथेष्ट सुख का उपभोग कर के आखिर में मुझसे मिलता है । हे धनंजय, इस तरह गीता सुनने और पढ़नेवाले को मैं ब्रह्मानंदरूप फल प्रदान करता हूँ । जिस निमित्त से मैंने इस शास्त्र को कहना शुरु किया, उसके बारे में तुमसे पूछता हूँ ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

हे अर्जुन, मुझे अब बताओ कि इस शास्त्र के सारे सिद्धान्त क्या तुमने आत्मसात् किये है । ॥१५३६-४० ॥ जो सिद्धान्त मैंने तुमको सुनाये, क्या वे तुम्हारे अंतःकरण में पैठ गये या क्या वे बीच में ही बिखर गये, अथवा क्या तुमने उनपर ध्यान न दे कर उन्हें छोड़ दिया ? मैंने जो विचार कहे थे, अगर वे तुम्हारे दिल में पहुँच गये हैं तो मेरे प्रश्न का शीघ्र जवाब दो । अज्ञान से तुमको जो मोह हुआ था, वह नष्ट हुआ या नहीं ? कहो कि क्या अब तुम्हें कर्म और अकर्म स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं । ॥१५४१-४५ ॥अर्जुन, ब्रह्मानंद में मग्न हो कर उसीमें विलीन न हो, इसलिये भगवान ने इस सवाल से उसमें द्वैतभाव जाग्रत किया । अर्जुन के पूर्णब्रह्म होने से अपना हेतु सफल नहीं होगा, इसलिये श्रीकृष्ण ने उसको भेदभाव की सीमा का उल्लंघन करने नहीं दिया । नही तो क्या वह अपने उपदेश का असर नहीं जानते थे ? इसीलिये उन्होंने सवाल किया था । जो अपने आपको भूल गया था, उस अर्जुन को उन्होंने ठीक किया और उसने पूर्णत्व का अनुभव किया था या नहीं, यह उससे कहलवाया । फिर जैसे आसमान में सितारों को शोभा देनेवाला पौर्णिमा का चंद्रमा क्षीरसागर से अलग हुए बिना ही क्षीरसागर से बिछुड़ा हुआ सा दिखाई देता है, तब क्या वह क्षीरसागर से अलग होता है ? ॥१५४६-

५० ॥ वैसेही अर्जुन भूल गया था कि वह ब्रह्मभाव से एकरूप हुआ था। सब विश्व ब्रह्ममय है, इसका भी उसको विस्मरण हुआ था और उसका ब्रह्मभाव ही घटने लगा था। इस प्रकार जो अर्जुन, ब्रह्मत्व को प्राप्त हुआ था, उसको भूल गया और मुश्किल से उसको यह भान हुआ कि मैं अर्जुन हूँ। बाद में उसने काँपनेवाले हाथों से शरीर पर आये हुए रोमांच को दबा कर पसीने की बूंदें पोंछ लीं। वेग से चलते हुए श्वासोच्छ्वास से जो शरीर काँप रहा था उसको स्थिर करके और देह की चेष्टाएँ कड़े निश्चय से हटा कर, दोनों आँखों से जो आनंदाश्रु बह रहे थे, उनको उसने रोक दिया। ॥१५५१-५५ ॥अनेक प्रकार की गहरी उत्कंठा के कारण उसका गला भर आया था। उस उत्कंठा को हृदय में दबा कर अस्पष्ट वाणी, क्षुब्ध प्राण और अनियंत्रित श्वासोच्छ्वास को उसने सँभाल लिया।

अर्जुन उवाच :

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३ ॥

फिर अर्जुन ने कहा, आप मुझसे पूछते हैं क्या मैं अब भी मोह महसूस कर रहा हूँ? वह तो कब से अपने परिवार के समेत बोरिया बिस्तर बांध कर चला गया है। अगर कोई सूरज के पास जा कर पूछेगा कि तुमको अंधेरा दिखाई देता है, तो क्या वह युक्तियुक्त होगा? वैसे ही आपका दर्शन क्या मोह को नष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं है? ॥१५५६-६० ॥ जो ज्ञान समझ में नहीं आता था, उसको आपने माँ से भी अधिक प्यार से विस्तार के साथ बताया। अब आपने पूछा कि मेरा मोह नष्ट हुआ है या नहीं? मैं कहता हूँ कि आपसे एकरूप होने से मैं कृतार्थ हो गया हूँ। 'मैं अर्जुन हूँ' इस मोह में मैं जो फँसा हुआ था, तो आपसे एकरूप होकर वह मैं मुक्त हुआ हूँ। इसलिये पूछना या कहना ये दोनों बातें शेष नहीं रहीं। आपके कृपाप्रसाद से मुझे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ और मेरा मोह जड़मूल से नष्ट हुआ। द्वैतभाव के कारण कर्म और अकर्म के सवाल उठ रहे थे, अब मैं आप के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता। ॥१५६१-६५ ॥ अब इस विषय में मेरे मन में कुछ भी संदेह नहीं रहा। सचमुच मैं उस स्थिति तक पहुँच गया हूँ, जहाँ कर्म शेष नहीं रहता। आप की वजह से मैं ने अपना निजी स्वरूप जाना और मेरा कर्तव्यकर्म जड़मूल से नष्ट हुआ। लेकिन, हे प्रभो, आपकी आज्ञा के बिना मैं कुछ भी करना नहीं चाहता।

क्योंकि जिनके दर्शन से यह विश्वाभास अदृश्य होता है, जिन के द्वारा गुरुशिष्यभाव की एकता द्वैतभाव को मिटा देती है, जिनसे एक होते हुए भी सब देश व्याप्त होते हैं, जिनसे संपर्कमें आने पर सब बंधन नष्ट होते हैं, जिनके कारण लालच होने पर भी सब इच्छाएँ कुंठित होती हैं, जिनसे मिलन होने पर अपने आपसे भेंट होती है, और जो अकेलेपन में साथ दे कर अद्वैतज्ञान के परे ले जाते हैं, वे आप मेरे गुरुदेवता हैं। ॥१५६६-७० ॥ जो भक्त भले बुरे कर्म का त्याग कर आपकी सेवा करता है, आप उसको ब्रह्मपद प्रदान करते हैं, और वह स्वयं ब्रह्मरूप होता है, जैसे गंगा सागर की सेवा करने गयी और सागर बनकर रह गयी। आप उपचाररहित सेवा करने के लिये योग्य सद्गुरु हैं और आपने मुझको ब्रह्म का साक्षात्कार कराकर उपकृत किया है। आपके और मेरे बीच में जो भेद का पर्दा था, उसे आपने हटा दिया और आपकी सेवा करने का मधुर सुख मेरे लिये उपलब्ध कराया। सो, हे देवाधिदेव, आप जो भी कोई आज्ञा करेंगे मैं उसका पालन करूँगा। ॥१५७१-७५ ॥

अर्जुन का यह कथन सुन कर भगवान् अत्यंत प्रसन्न हुए और नाच उठे। उन्होंने सोचा कि सब फलों में मुझको अर्जुन रूपी अनोखा फल प्राप्त हुआ है। अपनी न्यूनतापूर्ण कलाओं से युक्त अपने पुत्र चंद्रमाँ को देख कर क्या क्षीरसमुद्र को अपनी मर्यादा का विस्मरण नहीं होता ? ऐसे संवादरूपी वेदी पर कृष्ण और अर्जुन का मिलन देख कर संजय को अत्यंत हर्ष हुआ और वह धृतराष्ट्र से बोला, कैसा है यह हमारा भाग्य, जो व्यासमुनि की कृपा से हम दोनों इस युद्ध में बच गये। देखिये, जिसके पास व्यावहारिक दृष्टि भी नहीं थी, उसको आज ज्ञानदृष्टि प्राप्त हुई। ॥१५७६-८० ॥ रथ में घोड़े जोत कर रथ चलाना जिस का पेशा है, उस मुझ संजय को कृष्ण और अर्जुन का संवाद सुनने का मौक़ा प्राप्त हुआ। इस घोर युद्ध में किसी की भी हार हो जाए, तो वह अपनी ही हार है। संकट के इस काल में व्यास मुनि की हम पर कितनी कृपा हुई कि हम को प्रत्यक्ष ब्रह्मानंद का उपभोग प्राप्त हुआ। संजय इस प्रकार बोला, लेकिन पत्थर पर जैसे चंद्रकिरन के पड़ने पर भी वह नहीं पसीजता, वैसे धृतराष्ट्र के दिल पर उसका कोई असर नहीं हुआ और वह चुप बैठा रहा। यह उसकी हालत देखकर संजय को यक़ीन हुआ कि धृतराष्ट्र इस संवाद से एकरस नहीं हुआ था। ॥१५८१-८५ ॥ परंतु संजय अत्यानंद की

धुन में बोलने लगा। लेकिन वह जानता था कि यह सुनने के लिये यह राजा अपात्र है।

संजय उवाच :

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

फिर उसने कहा, हे राजन्, आपका भतीजा अर्जुन जो बोला, उसे सुन कर श्रीकृष्ण को आनंद हुआ। पूर्वसमुद्र और पश्चिमसमुद्र नाम से तो दोनों भिन्न हैं, किंतु दोनों में पानी एक ही है। वैसे ही श्रीकृष्ण और पार्थ दोनों भिन्न हैं, परंतु वार्तालाप में यह अलगाव नहीं रहा। दर्पण के पास दो स्वच्छ वस्तुएँ आमने सामने रख दी जायें तो अन्योन्य का अन्योन्य में रूप दिखाई देता है। ॥१५८६-९०॥ वैसे ही अपने रूप के साथ अपने को अर्जुन श्रीकृष्ण के रूप में देखने लगा और श्रीकृष्ण भी अपने रूप के साथ अपने को अर्जुन के रूप में देखने लगे। वे देवाधिदेव भक्त के बारे में सोचता हुए अपना रूप देखने लगे, तो उनको भक्त का रूप दिखाई दिया। अब कुछ भेदभाव न रहने के कारण वे एकरूप होकर रहे। जब दोनों में भेदभाव ही नहीं रहा, तो दोनों में सवाल-जवाब कैसे होंगे और उनको संवाद का सुख कैसे प्राप्त होगा ? द्वैतभाव रखकर जब संवाद चालू था, तो द्वैत मिट गया। इस प्रकार का दोनों का वार्तालाप मैं ने सुना। ॥१५९१-९५॥ दो आईने साफ़ पोंछ कर आमने सामने रखे गये, तो कौन किसको देखता है इसकी कल्पना कैसे हो सकती है ? एक दीप दूसरे के सामने रखा तो कौन किस के प्रकाश की याचना करता है, यह कैसे मालूम हो सकता है ? । अथवा एक सूरज के सम्मुख दूसरा सूरज निकल आया तो यह कैसे कहें कि उन दोनों में से कौन किस को प्रकाश देता है और कौन प्रकाशित होता है ? इस तरह सोचने पर विचार रुक जाता है, इतने वे दोनों संवाद एकरस हुए थे। जल के दो प्रवाह अलग रखने के लिये नमक बीच में रखा तो उसका एक पल में पानी हो जाता है ॥१५९६-१६००॥ वैसी हालत श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद सुनने पर मेरी हुई।

ऐसा कहने पर सात्त्विक भावों के कारण 'मैं संजय हूँ' इसका उसे विस्मरण

हुआ और शरीर पर रोमांच खड़े होने से उस पर झुर्रियाँ उभर आयीं। शरीर स्तब्ध हो कर वह पसीने से तर हो गया और उससे अधिक काँपने लगा। अद्वयानंद के अनुभव से उसकी आँखों से आनंदाश्रु बहने लगे। मानो वे अश्रु नहीं थे बल्कि हृदय ही द्रवित हो रहा था। उसके पेट में कुछ न समा रहा था, उसका गला भर आया था और श्वासोच्छ्वास जल्द होने के कारण उसके मुँह से शब्द और अर्थ नहीं निकलते थे । ॥१६०१-०५॥ आठों सात्त्विक भावों से संजय की घिग्घी बँध गयी थी, और उस समय मानो वह श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद सुख का चौराहा बन गया था। उस सुख की स्थिति ऐसी होती है कि उससे अपने आप शान्ति मिलती है। फिर संजय होश में आ गया।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

फिर उसके आनंद का आवेग शांत हो जाने पर उसने कहा, उपनिषदों का गुह्य ज्ञान भी आज व्यासमुनि की कृपा से मुझ को सुनने को मिला। वह सुनते ही मुझे ब्रह्मभाव की प्राप्ति हुई और "मैं, तू" पन के साथ सब सृष्टि अदृश्य हो गयी। सब योगमार्ग जिन में पहुँच जाते हैं, उन श्रीकृष्ण के ये वचन व्यासमुनि की कृपा से मुझे सहज में प्राप्त हुए। ॥१६०६-१०॥ अजी,अर्जुन के निमित्त से आप ही अर्जुन बन कर उन्होंने अपने साथ बात की। वह बात सुनने के लिये जिनकी कृपा से मेरे कान योग्य बने, उन सद्गुरु के सामर्थ्य का मैं कैसे वर्णन करूँ?

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

राजा धृतराष्ट्र से जब संजय ने यह कहा तो वह विस्मित हुआ। फिर जैसे रत्न की झिलमिल पल भर में आती है और पलभर में ओझल हो जाती है, वैसेही उस को होश नहीं रहा। हिमालय का सरोवर चंद्रोदय होते ही गाढ़ा बन कर स्फटिक जैसा होता है, और सूर्योदय होते ही पिघल जाता है, वैसेही होश में आने पर उसको वह संवाद याद आ रहा था और फिर वह विस्मित हो कर होश-हवाश खो बैठता था। ऐसा बार बार हो रहा था ॥१६११-१५॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्‌भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७ ॥

फिर वह हर्षावेग से खड़ा हो कर राजा धृतराष्ट्र से बोला, हे राजन्, श्रीहरि का रूप देखकर आप चुप कैसे बैठे हैं ? जो न देखने पर भी दिखाई देता है, नहीं कहने पर भी जिसका अस्तित्व होता है, जिसका विस्मरण होने पर भी याद आती है, उसे हम कैसे टाल सकते हैं ? यह चमत्कार देख कर पूछने को भी अवसर नहीं रहा, इतना वह आनंद का वेगवान् रेला सब के साथ मुझको भी बहाकर चला जा रहा है । इस प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवादरूपी त्रिवेणी संगम में स्नान कर के संजय ने अपने अहंकार को तिलांजली दे दी । उस दुर्दम्य आनंद से वह कुछ अजीब शब्द बड़बड़ा रहा था और गद्‌गद् हो कर 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' कह रहा था । ॥१६१६-२० ॥

किंतु राजा धृतराष्ट्र को संजय की इस अवस्था का पता भी नहीं था । इस लिये वह कुछ और मनसूबे बांध रहा था । तब संजय ने उस परम सुख को अपने मन में सुखा कर अपने सात्त्विक भावों के आवेग का शमन किया । इस समय कोई उचित प्रश्न पूछने के बदले राजा धृतराष्ट्र संजयसे बोला, हे संजय, तुम्हारी यह कैसी रीत है ? व्यास मुनिने तुम्हें किस हेतु से तैनात किया था और यह तुम कैसी अनुचित बात कर रहे हो ? गँवार आदमी को अगर राजमहल में रखा जाए तो उसको दस दिशाएँ शून्य महसूस होती हैं । अथवा सूर्योदय होने पर निशाचरों के लिये रात होती है । ॥१६२१-२५ ॥यह स्वाभाविक है कि जो जिस वस्तु का महत्त्व नहीं जानता, उसका वह विपरीत अनुभव करता है । इसलिये राजा धृतराष्ट्र ने कहा, "यद्धक्षेत्र में अब जो कुछ हो रहा है, उसके बारे में कहो । अब जो संघर्ष उत्पन्न हुआ है, उसमें किसकी विजय होगी ? मेरा यह अंदाज है कि दुर्योधन का प्रताप सब से अधिक है । और पांडव सेना की तुलना में हमारी सेना डेढ गुना है, इसीलिये जान पड़ता है कि निश्चित हमारी सेना की जीत होगी । लेकिन तुम्हारा अनुमान क्या है यह मैं नहीं जानता । यह साफ़ साफ़ कहो कि तुम्हारा अनुमान क्या है ? ॥१६२६-३० ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८ ॥

राजा का यह कथन सुनकर संजय ने कहा, मैं यह नहीं जानता कि आप दोनों में कौन विजयी होगा । किन्तु जहाँ तक आयु बाकी है, तब तक जान है । जहाँ चाँद वहाँ चांदनी, जहाँ श्रीशंकर वहाँ देवी भवानी, जहाँ संत वहाँ ज्ञान निश्चित ही होता है । जहाँ राजा वहाँ सेना, जहाँ सुजनता वहाँ रिश्ता, जहाँ अग्नि वहाँ दाहक शक्ति, जहाँ दया वहाँ धर्म, जहाँ धर्म वहाँ सुख, जहाँ सुख वहाँ पुरुषोत्तम होता ही है । जहाँ बसंत ऋतु वहाँ बन, जहाँ बन वहाँ फूल, जहाँ फूल वहाँ भ्रमरों का झुंड ॥१६३१-३५ ॥, जहाँ गुरु वहाँ ज्ञान और वहीं आत्मानुभव होता है । और आत्मानुभव होने पर मनःशान्ति प्राप्त होती है । जहाँ भाग्य वहाँ भोगविलास, जहाँ सुख वहाँ उमंग, जहाँ सूर्य वहाँ प्रकाश अवश्य होता है । जिनसे चारों पुरुषार्थ सनाथ होते हैं वे भगवान् जहाँ हैं, वहाँ लक्ष्मीजी होती हैं । और अपने पति के साथ जहाँ जगदंबा होती है, वहाँ क्या उनकी दासियाँ, आठों सिद्धियाँ, नहीं होंगी ? श्रीकृष्ण स्वयं विजयरूप है । वे जिनके पक्ष में हैं वहाँ विजय शीघ्र ही जायेगी । ॥१६३६-४० ॥ अर्जुन विजय नाम से प्रसिद्ध है, और श्रीकृष्ण विजयस्वरूप ही है, इसलिये उनके लक्ष्मीजी के सहित होने से जीत उन्हीं की ही होगी । लक्ष्मीजी और श्रीकृष्ण जिनके माँबाप हैं, उनके देश में साधारण पेड़ क्या कल्पवृक्षों से बराबरी नहीं करेंगे ? वहाँ के पत्थर चिंतामणि और जमीन सुवर्णभूमि क्या नहीं बनेंगे ? वहाँ की नदियाँ अमृत से भर जायें, तो उसमें क्या आश्चर्य है ? उसके मुख से जो उल्टी-सीधी बातें आती हैं, उनको वेदसदृश वचन क्यों नहीं कहें और देह के होते हुए भी वह सच्चिदानंद स्वरूप क्यों न बने ? ॥१६४१-४५ ॥ जिसके श्रीकृष्ण और लक्ष्मीजी माता-पिता हैं, स्वर्ग और मोक्ष उसके अधीन होंगे ही । इसलिये जिस पक्ष में लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण खड़े हैं, वहाँ सब सिद्धियाँ अपने आप आती हैं । इस के परे मैं कुछ नहीं जानता । समुद्र का पुत्र जो मेघ है, वह समुद्र से ज्यादा उपकारक होता है । लोहे को सुवर्ण की दीक्षा पारस देता है, यह बात सही है, परंतु विश्व के सब व्यवहार सुवर्ण से जारी रहते हैं । इससे गुरु में न्यूनता आती है ऐसा कोई कहेगा, लेकिन वह सही नहीं है । अग्नि दीप बन कर प्रकाश प्रदान करता है, ॥१६४६-५० ॥ वैसे भगवान् के प्रभाव

से अर्जुन सवाया हुआ । इसलिये उस की स्तुति करने से भगवान का ही सम्मान होता है । बेटा गुणसंपन्न हो कर अपने से बढ़कर हो, यही पिता की अभिलाषा होती है । श्रीकृष्ण की वह तमन्ना पूरी हुई । हे राजन्, जिस पक्ष में श्रीकृष्ण की कृपा पानेवाला अर्जुन है, वही विजयी होगा । इस के बारे में आप को संदेह क्यों होता है ? अगर वह पक्ष विजयी नहीं हो तो वह निरर्थक होगा । इसलिये जहाँ श्री वहाँ श्रीपति, जहाँ पांडुपुत्र अर्जुन वहाँ विजय और बरकत है । ॥१६५१-५५ ॥यदि व्यास मुनि के सत्य वचन पर आपका विश्वास हो, तो मेरा यह कहना अटल है, यह समझ लीजिये । जहाँ लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण और भक्तचूड़ामणि अर्जुन हैं वहाँ सुख और मांगल्य हैं । अगर यह मेरी बात असत्य होगी तो मैं व्यासजी का शिष्य नहीं हूँ, - ऐसा संजय ने बाहें ऊपर उठा कर गरज कर कहा । इस प्रकार सारे 'महाभारत' का सार संजय ने एक श्लोक में राजा धृतराष्ट्र को बताया । अग्नि कितनी ही बड़ी क्यों न हो, उसको बाती की नोक पर लगाएँ, तो वह सूर्यास्त के बाद होनेवाले अंधकार का निवारण करती है ॥१६५६-६० ॥

अनंत वेदों से सवा लक्ष श्लोकों का महाभारत ग्रंथ सिद्ध हुआ और इस भारत का सार गीता के सात सौ श्लोकों में समाविष्ट हुआ है । उन श्लोकों का तात्पर्य इस अंतिम श्लोक में है और वह श्लोक व्यास-शिष्य संजय का परिपूर्ण उद्गार है । जो कोई इस श्लोक को अपने हृदय में धारण करेगा, वह अज्ञान की जड़ को उखाड़ कर उस को जीत लेगा । मुझे लगता है कि ये सात सौ श्लोक गीता के पग हैं, या गीतारूपी गगन से हुई अमृत की वर्षा है, अथवा वे आत्मराज के गीतारूपी सभामंडप के खंबे हैं । ॥१६६१-६५ ॥अथवा यह गीता सात सौ श्लोकरूपी मंत्रों से प्रतिपादित साक्षात् भगवती देवी है, जो मोहरूपी महिषासुर का वध करके हर्षनिर्भर हुई है । इसलिये जो शरीर, वाणी और मन से इस गीतादेवी की सेवा करेगा, वह स्वानंद-साम्राज्य का सार्वभौम राजा बन जाएगा । अथवा अज्ञानांधकार को नष्ट करने का बीड़ा उठा कर सूर्य को भी परास्त करनेवाले ~~ये~~ श्लोक गीता के रूप में श्रीकृष्ण ने प्रकट किये हैं । अथवा संसार की यात्रा में जो थके-माँदे हैं, उनके विश्राम के लिये यह गीतारूपी द्राक्षा-वल्ली का मंडप बन गयी है । अथवा कृष्णरूपी सरोवर में, जिनका भाग्यशाली संतरूपी भ्रमर सेवन करते हैं, ऐसे ये

हरेभरे श्लोकरूपी कमल हैं । ॥१६६६-७० ॥ अथवा ये श्लोक नही हैं बल्कि गीता-माहात्म्य वर्णन करने वाले सात सौ बंदीजन हैं । अथवा गीतारूपी सुंदर नगरी में सात सौ श्लोकों का परकोटा बना हुआ है और उसमें सारे शास्त्र रहने के लिये आये हैं । अथवा गीता अपने पति परमात्मा को गले लगाने के लिये बाहें फैला कर आयी हैं । अथवा ये श्लोक गीतारूपी कमल पर लुब्ध भ्रमर हैं, या गीतारूपी समुद्र की लहरें हैं, या गीतारूपी रथ में जोते हुए श्रीहरी के घोड़े हैं । अथवा अर्जुनरूपी सूरज के सिंहस्थ हो जाने पर इस गीता रूपी गंगा में सब तीर्थ श्लोक के रूप में पधारे हैं । ॥१६७१-७५ ॥ अथवा इन श्लोकों की ये पंक्तियाँ पंक्तियाँ न होकर चित्त को शांति प्रदान करने वाले चिंतामणि-रत्न हैं, या निर्विकल्प ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाले कल्पतरु हैं । ऐसे ये सात सौ श्लोक एक से बढ़ कर एक है । उनमें से किन श्लोकों को अलग अलग करके उनकी प्रशंसा करें ? कामधेनु के बारे में वह दुधार है या टाँठ है ऐसी बात नहीं कह सकते । अथवा दीप का भाग अगला या पिछला, सूरज को छोटा या बड़ा, या अमृत के सागर को गहरा या छिछला, कैसे कह सकते हैं ? ठीक उसी तरह यह नहीं कहना चाहिए कि गीता में यह श्लोक अव्वल और वह घटिया है । क्या पारिजातक के फूलों में ताज़ा या बासी ऐसा भेद कर सकते हैं ? ॥१६७६-८० ॥ और इन श्लोकों की योग्यता में यह कम या अधिक है ऐसा कहकर उसका कोई कैसे समर्थन करे ?

यह गीताशास्त्र कहने वाले और सुनने वाले में कोई भेद नहीं है । सब जानते हैं कि इस गीताशास्त्र को श्रीकृष्ण ने कहा और उन्होंने अर्जुनरूप में सुना । इस गीतार्थ को जान कर जो फल मिलता है, वही उसको पढ़ने से भी निश्चय ही मिलता है । यह शास्त्र वाच्य और वाचक को समान योग्यता प्रदान करता है । यह सिद्ध करने के लिये कोई विषय शेष नहीं रहा । यह गीता प्रभु की सुंदर वाङ्मयी मूर्ति है ।अन्य शास्त्र शब्दों द्वारा अर्थ समझा कर सफल होता है और फलप्राप्ति होने पर उसका लोप होता है । वैसे यह गीताशास्त्र नहीं है बल्कि यह तो ब्रह्मस्वरूप है । ॥१६८१-८५ ॥ अजी, सब विश्व पर कृपा करने के लिये अर्जुन के निमित्त से भगवान् ने सभी के लिये ब्रह्मानंद को सुलभ किया, जैसे कि कलायुक्त चंद्रमा चकोर पंछी के निमित्त से लोगों के ताप का शमन करता है । अथवा गौतम ऋषि

के निमित्त से कलिकालरूपी ज्वर से पीड़ित लोगों को शांति प्रदान करने के लिये शिवजी ने गंगा का प्रवाह मृत्युलोक में भेजा। वैसे ही भगवान् ने पार्थरूपी वत्स को दुहकर ज्ञान का दूध दुनिया को दिया। इस गीताशास्त्र में आप तन मन से मग्न होंगे तो आप गीतारूप बनेंगे। अथवा ज़बान से इसको पढ़ेंगे, ॥१६८६-९० ॥ या पाठ की कटोरी से श्लोक का एक पाद होंटों पर रखेंगे, तो आप ब्रह्मभाव से संपन्न होंगे, जैसे पारस के सादे स्पर्श से लोहे का सुवर्ण होता है। अथवा गीता के पाठ के समय आप मुँह टेढ़ा करके करवट बदलेंगे, तो भी उसके पाठ के श्रवण से वही फल आपको प्राप्त होगा। जैसे समर्थ दाता किसी को भी खाली हाथ नहीं लौटा देता, वैसे यह गीताशास्त्र श्रवण, पठन या अर्थग्रहण करनेवाले को मोक्ष के सिवाय और कुछ फल नहीं देता। इसलिये जानकारों को चाहिये कि वे उसकी सेवा करें। अन्य शास्त्र पढ़ने से क्या हासिल होगा? ॥१६९१-९५ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन ने एकान्त में जो खुलकर वार्तालाप किया उसको व्यासमुनि ने सुलभ किया, जिससे कि कोई भी उसको आसानी से अपना सके। माँ जब मुन्ने को भोजन कराती है, तब उसको छोटे कौर खिलाती है। अथवा दुर्धर्ष बायुको स्वाधीन कराने के लिये कारीगर पंखा बनाता है। वैसे जो ज्ञान शब्दों के परे है, उसको अनुष्टुभ छंद में ग्रथित करके उसको सुलभ किया, ताकि स्त्री, शूद्र आदि अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार उसको समझ सकें। स्वाती नक्षत्र का पानी गिरने से यदि मोती न होते, तो सुंदर स्त्रियों के शरीर कैसे सुशोभित होते? ॥१६९६-१७०० ॥ वाद्य में सूर न होते तो हम उनको कैसे जानते? अगर फूल न होते तो उनकी महक हम कैसे सूँघ सकते? अगर मिष्टान्न मधुर न होते तो जिव्हा स्वाद का कैसे अनुभव करती? अगर आईना न होता तो आँखें अपना रूप कैसे देखतीं? साक्षीरूप श्रीगुरु की मूर्ति देखने में न आती, तो हम किसकी उपासना करते? उसी तरह इस असीम ब्रह्मवस्तु का सात सौ श्लोकों मे वर्णन न किया होता, तो उसका आकलन किसको होता? बादल समुद्र का पानी सोख कर बरसता है, तो दुनिया उसको आशा से देखने लगती है। क्योंकि जो समुद्र अमर्याद है, उसकी न्यूनता या अधिकता का ज्ञान किसको होता है? ॥१७०१-०५ ॥ व्यासमुनि के ये सुंदर श्लोक न होते, तो, जो वाणी को अगम्य है वह सुनने को या पढ़ने को कैसे

मिलता ? इस लिये श्रीकृष्ण के संभाषण को ग्रंथ में ग्रथित करके व्यासमुनि ने दुनिया को बहुत उपकृत किया है । अब वही गीतार्थ व्यासमुनि के श्लोकों को ठीकसे देखकर मैंने देशी भाषा में आपको सुनाया है ।

जिस गीतार्थ को कहने में व्यासमुनि आदि की बुद्धि भी सशंक होती थी उसका भाष्य मैं पामर व्यक्ति कर रहा हूँ । परंतु यह भगवती गीता भोलीभाली है । वह जैसे व्यास वचनों की पुष्पमाला धारण करती है, वह मेरे दूब के अंकुरों को स्वीकार करने में ना नहीं कहेगी । ॥१७०६-१० ॥ जिस क्षीरसमुद्र के किनारे पानी पीने के लिये हाथियों के झुंड आते हैं, तो क्या वह समुद्र मच्छरों को मना करता है ? नूतन पंखवाले पंछी आकाश में नहीं उड़ते, लेकिन आकाश में ही रहते हैं और आसमान में उड़ान भरनेवाला गरुड़ भी वहीं रहता है । राजहंस शान से चलता है, तो क्या अन्य लोगों को चलना ही नहीं चाहिये ? कलश में उसके आकार के अनुरूप जल भर जाता है, तो क्या कोई चुल्लू भर पानी नहीं ले सकता ? मशाल बड़ी होने से उसका प्रकाश भी बड़ा होता है, मगर बत्ती भी अपनी शक्ति के अनुरूप रोशनी देती है । ॥१७११-१५ ॥ समुद्र में उसके आकार के अनुसार आसमान प्रतिबिंबित होता है और डबरे में उसका प्रतिबिंब डबरे के आकार का होता है । वैसे महामति व्यास आदि विद्वान इस ग्रंथ का विवरण करें और हम चुप बैठें यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता । जिस समुद्र में मंदर पर्वत के समान जलचर संचार करते हैं, वहाँ क्या छोटी मछलियाँ तैरना छोड़ दें ? अरुण सूरज के निकट होने से उसको देख सकता है, तो क्या पृथ्वीतल की चींटी उसको देख नहीं सकती ? इसलिये मुझ जैसे साधारण आदमी ने गीताजी की देशी भाषा में रचना की, तो वह अनुचित नहीं होगा । ॥१७१६-२० ॥ और पिता जिस स्थान पर पहुँच जाए, क्या पुत्र वहाँ नहीं पहुँच सकेगा ? वैसे व्यास जी के बाद के भाष्यकार से मार्ग पूछ कर मैं चला तो दुर्बल होते हुए भी इष्ट स्थान पर पहुँच जाऊँगा, नहीं तो कहाँ जाऊँगा ? जिसकी क्षमा से पृथ्वी स्थावर जंगम विश्वको बिना ऊबे धारण करती है, जिससे अमृत प्राप्त कराके चंद्रमा अमृतवृष्टि से दुनिया को शांत करता है, जिससे तेज लेकर सूर्य अंधेरा नष्ट करके सब विश्वकी अड़चन दूर करता है, जिससे समुद्र को पानी, पानी को मधुरता, मधुरता को सौंदर्य, ॥१७२१-२५ ॥वायु को बल, आसमान को

विस्तार और ज्ञान को उज्ज्वल सार्वभौम पद प्राप्त होता है, जिस सत्ता से वेद को मधुर वाणी, सुख को प्रसन्नता, और सब विश्व को आकार प्राप्त हुआ, वह सब पर कृपा करनेवाले समर्थ सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे अंतःकरण में वास करते हैं।

फिर अनायास प्राप्त हुई गीता का मैंने देशी भाषा में अनुवाद किया, तो उसमें क्या आश्चर्य है ? श्रीगुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति पहाड़ पर स्थापित करके एकलव्य धनुर्धर बन कर त्रैलोक्य में प्रसिद्ध हुआ। ॥१७२६-३० ॥ चंदन वृक्ष के नजदीक जो पेड़ होते हैं, वे भी उसके समान सुंगधित होते हैं। और सूखने के लिये धूप में रखी हुई वसिष्ठ ऋषि की कफनी तेज में सूर्य से स्पर्धा करने लगी। फिर मैं गुरु का एकनिष्ठ शिष्य हूँ और दृष्टिपात से शिष्य को आत्मपद देनेवाले मेरे श्रीगुरु महापुरुष हैं। उत्तम दृष्टि को सूर्यप्रकाश की सहायता मिली तो उसको गोचर न होनेवाली कौनसी वस्तु है ? इसलिये मेरे श्वासोच्छ्वास भी प्रबंध का रूप धारण करेंगे। ऐसा कौनसा काम है जो श्रीगुरु की कृपा से नहीं हो सकता ? अतः मैंने गीतार्थ देशी भाषा में इस तरह प्रकट किया है कि वह आसानी से लोगों की समझ में आ सके। ॥१७३१-३५ ॥ मैंने गीता का अंतरंग देशी भाषा में ओवी छंद में किया है। यदि वह नहीं गाई जायेगी, तो भी उस में न्यूनता नहीं रहेगी। लेकिन यदि कोई गीता गायेगा, तो वह उसको गौरव प्रदान करेगी। कोई भले ही उसको न गाकर पढ़े, उसमें कुछ कमी नहीं होगी। अलंकार सुंदर शरीर पर धारण नहीं करें, तो भी वे सुहावने लगते हैं। किंतु उनको शरीर पर धारण करना क्या उचित नहीं है ? अथवा मोती सुवर्ण के तार में पिरोये गये, तो वे सुवर्ण को शोभा देते हैं, मगर अलग पड़े रहें तो भी वे सुंदर दिखाई देते हैं। वसंतऋतु में मोतिया के बड़े बड़े फूलों की माला बनाये या उनको खुले रखें, उनकी सुगंध कम नहीं होती ॥१७३६-४० ॥ उसी तरह गायन से जो खिलता है या उसके बिना ही रंग जमाता है, उस ओवी-छंद में मैंने इस ग्रंथ की रचना की है। इस ओवी-छंद में मैंने ब्रह्मरस से भरे हुए अक्षर पिरोये हैं ताकि उनको आबाल वृद्ध आसानी से समझ सकें। जैसे सुगंध के लिये चंदन वृक्ष को फूलों की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, वैसे ही यह ग्रंथ सुनते ही साधक की समाधि लग जाती है। फिर गीतार्थ का विवरण सुनने पर उसको फिर से सुनने का क्या शौक नहीं होगा ? इस ग्रंथ को सहज पढ़ने

पर विद्वत्ता ऐसी खिल उठती है कि उसके सामने अमृत भी नीरस लगता है। ॥१७४१-४५ ॥ इसका सहज कवित्व मन को इतनी शांति देता है कि वह श्रवण से ही मनन और निदिध्यासन वश में लाता है। इसके श्रवण से किसी को भी आत्मानंद का ठीक हिस्सा प्राप्त होगा और सब इंद्रियाँ तृप्त होंगी। अपनी सामर्थ्य से चतुर चकोर पंछी जिस चांदनी का उपभोग करते हैं, वह अन्य लोगों को भी भोगने को मिलती है।

वैसे इस अध्यात्मज्ञान का अंतरंग अधिकारी पुरुष ही जानते हैं, मगर अन्य लोग वाक्चातुर्य से ही खुश होते हैं। सचमुच इसमें सब निवृत्तिनाथ का गौरव है, इसलिये यह ग्रंथरचना मेरी न होकर उनकी महानता का फल है। ॥१७४६-५० ॥ क्षीरसमुद्र के परिसर में भवानी देवी को शिवजी ने अध्यात्मज्ञान सुनाया। वह मत्स्येन्द्रनाथ को प्राप्त हुआ, जो क्षीरसमुद्र में मच्छली के पेट में छिपे हुए थे। उन मत्स्येंद्रनाथ को सप्तशृंगी पर अवयवहीन चौरंगीनाथ मिले और फलस्वरूप उनके सब अंग ठीक हो गये। फिर मत्स्येंद्रनाथ ने अपना ज्ञान गोरक्षनाथ को बताया ताकि वे निर्बाध रूप से समाधि अवस्था का उपभोग कर सकें। फिर योगरूपी कमलिनी के सरोवर और विषयों का नाश करनेवाले वीरस्वरूप गोरक्षनाथ को मत्स्येंद्रनाथ ने अपने पीठ पर बैठाया । ॥१७५१-५५ ॥ श्रीशंभु की पास से परंपरा से प्राप्त हुआ अद्वयानंद का सुख गहिनीनाथ ने गोरक्षनाथ से संपूर्ण हासिल किया। उसके बाद जगत् के सब लोगों को दुःखी देख कर गहिनीनाथ ने श्रीनिवृत्तिनाथ को आज्ञा की कि शिवजी से परंपराप्राप्त यह जो ज्ञान मैं तुमको देता हूँ, उसकी सहायता से कलि से ग्रस्त हुए जीवों की तुरंत रक्षा करो। पहले तो श्रीनिवृत्तिनाथ स्वभावतः कृपालु थे, तिस पर उनको गुरु की आज्ञा हुई थी। इसलिये श्रीनिवृत्तिनाथ दुःखी लोगों को तसल्ली देने के लिये आगे बढ़े। ॥१७५६-६० ॥ फिर उन्होंने दुःखियों पर तरस खा कर गीतार्थ कहने के बहाने से जो शांतरस की वर्षा की, वही यह ग्रंथ है। तब मैं चातक जैसा दीन होकर उनके सम्मुख खड़ा था। इसलिये उन्होंने मुझे यश और कीर्ति के शिखर पर बिठाया।

इस प्रकार गुरु-शिष्य की परंपरा से प्राप्त यह समाधिधन मेरे स्वामी ने मुझे प्रदान किया। नहीं तो मैंने श्रवण-पठन किया भी नहीं था और गुरुसेवा का ज्ञान

भी मुझे नहीं था। फिर मुझे इस ग्रंथ को लिखने की योग्यता कैसे प्राप्त हो सकती थी ? परंतु असल में श्रीगुरु ने मुझसे इस ग्रंथ की रचना करायी और सब विश्व को सांत्वना दी। ॥१७६१-६५॥ फिर भी मैंने पुरोहित के समान कहीं न्यूनाधिक बात की हो, तो उसको मातृभाव से क्षमा कीजिये। शब्दों की योजना कैसे करें, सिद्धान्त कैसे प्रकट करे, अलंकार क्या होते हैं, इनके बारे में मैं अनजान हूँ। जैसे कठपुतलियाँ सूत्रधार की इच्छा के अनुसार नाचती-कूदती हैं, वैसे मैं अपने स्वामी के मार्गदर्शन के अनुसार बोल रहा हूँ। इसलिये इस ग्रंथ में जो त्रुटियाँ हैं उनके लिये क्षमा-याचना नहीं करूँगा। क्योंकि यह ग्रंथ-रचना मैं ने गुरु की आज्ञा से की है। और संतों की इस सभा में मेरे कहने में कोई गलती हुई तो उसका दोष आप पर ही होगा ॥१७६६-७०॥पारस का स्पर्श होने पर भी लोहे की हीन दशा दूर न हो, तो उसका अभियोग किस पर लगायें ? नाले का काम सिर्फ़ गंगा से मिलना है, फिर वह गंगारूप नहीं हुआ, तो क्या वह उसका दोष है ? इसलिये मेरा यह बड़ा भाग्य है कि मुझे आप जैसे सज्जनों के चरणों के दर्शन हुए हैं। मुझे अब इस दुनिया में क्या कमी है ? मेरे गुरु ने मेरी आप जैसे साधु-सज्जनों से भेंट करा दी, उन से मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गये। देखिये, मुझ को आप के सरीखा अनुकूल मायका मिला है, उससे मेरा ग्रंथ-रचना करने का हट पूरा हुआ ॥१७७१-७५॥ अजी, सब भूतल सोने का बनाया जा सकता है, बड़े बड़े पर्वत चिंतामणियों से ढँकना संभव है, सातों समुद्र आसानी से अमृत से भरे जा सकते हैं, सितारों का चंद्रमा करना भी कठिन नहीं है अथवा कल्पवृक्षों का उद्यान बनाना मुश्किल नहीं है। लेकिन गीतार्थ का रहस्य कहना बड़ा कठिन काम है। मैं गूंगा होकरभी आप की कृपा से गीतार्थ का भावार्थ देशी भाषा में इस ढंग से कह सका हूँ कि वह सब लोगों को अच्छा लग रहा है। आपकी कृपा से इस ग्रंथरूपी सागर को पारकर मैं परले किनारे पहुँच गया हूँ और वहाँ विजयपताका कंधे पर रख कर नाच रहा हूँ ॥१७७६-८०॥ महामेरु के सदृश यह गीतार्थरूपी मंदिर कलश के साथ मैं ने निर्माण किया और उसमें श्रीगुरु का लिंग स्थापित करके उसकी पूजा की। यह गीता छलरहित प्यार करनेवाली माता है और मैं उसका नन्हा बच्चा, उससे बिछुड़ा हुआ मारा मारा फिर रहा था। माँ बेटे का मिलन करा देना आप का ही धर्म है। ज्ञानदेव कहते हैं, आप सज्जनों की कृपा से ही मैं जो कुछ कह सका वह अल्प नहीं

है । इस ग्रंथसमाप्ति का त्यौहार मुझे आपकी कृपा से देखने को मिला । उससे मेरा जन्म सार्थक हुआ । मैंने आपके भरोसे पर जो मनसूबे बांधे थे, वे आपने सब पूरी करके मुझ को सुखी कर दिया । ॥१७८१-८५ ॥ हे गुरो, आपने मुझसे इस गीतार्थरूपी ग्रंथ निर्माण कराया, उसको देखकर मैं दूसरी सृष्टि उत्पन्न करनेवाले विश्वामित्र ऋषि को भी तुच्छ समझकर हँसता हूँ । क्योंकि राजा त्रिशंकु के लिये ब्रह्मा को नीचा दिखाने के हेतु से विश्वामित्र ने नश्वर पृथ्वी का निर्माण किया, किन्तु आपने मुझसे रचायी हुई इस गीतारूपी ग्रंथ की सृष्टि शाश्वत है । शिवजी ने उपमन्यु के प्यार से क्षीरसागर उत्पन्न किया । लेकिन इस ग्रंथ को क्षीरसागर की उपमा देना उचित नहीं, क्योंकि उसके पेट में हलाहल विष है, (जो समुद्रमंथन के समय बाहर आया) । अंधकाररूपी राक्षस से छुड़ाने के लिये सूर्यनारायण को पुकारने पर और उसने हमारी पीड़ा दूर भी की । परंतु उसकी उष्णता से दुनिया तप्त होती है । इस तप्त धरती को शांत करने के लिये चंद्रमा शीतल प्रकाश बरसाता है, लेकिन कलंकयुक्त चंद्रमा की उपमा इस ग्रंथ को कैसे दे सकते हैं ? ॥१७८६-९० ॥ इस लिये आप संतों ने त्रिभुवन के लिये उपयुक्त ग्रंथ मुझ से रचवाया है वह अनुपम है । ज्यादा क्या कहूँ ? आप की कृपा से ही यह मेरा धर्मकीर्तन सिद्ध हुआ । अब आपकी सेवा करने का कार्य ही शेष रहा है ।

> अब विश्वरूपी परमात्मा इस वाङ्मय यज्ञ से प्रसन्न हो कर मुझ को प्रसाद प्रदान करे । खलों की दुष्टता नष्ट हो जाए और उनके मन में सत्कर्म करने की कामना पैदा हो । और समस्त प्राणी परस्पर मैत्री के भाव से जुड़े रहें । इस दुनिया में जो पाप का अंधकार फैला हुआ है, वह नष्ट होकर स्वधर्मरूपी सूर्य उदित हो जाए और समस्त प्राणियों की कामनाएँ पूर्ण होवें । ॥१७९१-९५ ॥ सब प्रकार से मांगल्य की वर्षा करनेवाले ईश्वर-भक्तों के समुदाय भूतमात्र को मिलते रहें । ये भगवद्भक्त कल्पवृक्षों के चलते-फिरते उद्यान हैं, चिंतामणि रत्न के जीवित विश्रामस्थान हैं अथवा बोलनेवाले अमृत के सागर हैं । वे संत-जन, जो कलंकहीन चंद्रमा और ताप-हीन सूर्य जैसे हैं, सब भूतमात्र के सगे-संबंधी बनें । और

अधिक क्या याचना करूँ ? तीनों लोकों में सब प्राणी सुख से परिपूर्ण होकर आदि पुरुष का अखंड भजन करने की इच्छा करें । इस ग्रंथ का आश्रय ले कर जीनेवाले लोगों को इस और पर लोक का सुख प्राप्त हो ॥१७९६-१८०० ॥ यह सुनकर विश्वेश्वर ने कहा, मैं ने तुमको यह प्रसाद दिया है । यह वरदान पाकर ज्ञानदेव प्रसन्न हुए ।

इस प्रकार कलियुग में महाराष्ट्र देश में श्री गोदावरी नदी के दक्षिण किनारेपर स्थित त्रिभुवन में पवित्र और पुरातन पंचक्रोश क्षेत्र में (जिस का नाम नेवासे है), वैष्णवी देवी महालया(मोहिनीराज) संपूर्ण विश्व का जीवनसूत्र चला रही है । वहां जब यदुवंश का भूषण और सब कलाओं से संपन्न रामदेवराय प्रजा का न्याय से पालन करता था, उस समय श्री शिवजी से परम्पराप्राप्त निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने गीता को देशी भाषा का साज चढ़ाया ॥१८०१-०५ ॥ इस प्रकार महाभारत के विख्यात भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच जो अनुपम संवाद हुआ वही यह श्रीगीता है । इसमें उपनिषदों का सार है । और वह समस्त शास्त्रों का पीहर और परमहंस परिव्राजकों का क्रीड़ासरोवर है । श्रीज्ञानदेव कहते हैं कि श्रीगीता का यह अठारहवाँ कलशाध्याय अब समाप्त हुआ । इस ग्रंथ के पुण्यप्रभाव से प्राणिमात्र को उत्तरोत्तर सुख की प्राप्ति हो । शालिवाहन शक १२१२ में यह भावार्थदीपिका नामक भाष्य श्रीज्ञानेश्वर ने रचा और सच्चिदानंदबाबा के द्वारा उस का लेखनकार्य संपन्न हुआ ॥१८०६-१० ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

◆ ◆ ◆

परिशिष्ट १

विशेषनामों का कोश

अक्रूर - एक यादवप्रमुख । कंस ने कृष्ण का कांटा दूर करने के लिये उसको मथुरा लाने को अक्रूर को गोकुल भेजा था। यह कृष्णभक्त था, इसलिये इसने कृष्ण को कंस की कपटनीति की जानकारी दी।

अगस्त्य - कश्यप वंश के एक बड़े ज्ञानी महर्षि थे। उर्वशी को देख कर मित्रावरुण का वीर्य कुंभ में पड़ा, जहाँ इनका जन्म हुआ। इसलिये इसको कुंभयोनि कहते हैं। विंध्य पर्वत ऊँचा होने के लिये बढ़ रहा था उसको इन्होंने रोका। इन्होंने एक आचमन में समुद्र का पानी पीकर सुखा दिया। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९०

अग्नि - वैदिक काल में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। यज्ञ-हवन में इसका बहुत महत्त्व होता था। इसमें जो आहुतियाँ डाली जाती थीं, वे देवताओं को पहुँच जाती हैं।

अजामिल - देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९४, ५९५

अनंत - एक नागप्रमुख, जो कश्यप और कद्रू का पुत्र था। इसके सहस्र फण हैं और इसने अपने फण पर सारा विश्व धारण किया है। इसको आदिशेष भी कहते हैं। इस पर महाविष्णु शयन करते हैं, इसलिये उनको शेषशायी कहते हैं।

अनंतविजय - युधिष्ठिर के शंख का नाम।

अभिमन्यु - अर्जुन और सुभद्रा का पुत्र। यह एक असाधारण वीर था। एक बार युद्ध में द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह की रचना की थी। उसको अर्जुन के सिवाय कोई भी भेद नहीं सकता था, परंतु अर्जुन दूसरे स्थानपर लढ़ने गया था। इसने अकेले ही चक्रव्यूह में प्रवेश किया और असंख्य वीरों का संहार किया। छः कौरव योद्धाओं ने इस सोलह साल के बालक को घेर कर मारा।

अंबिका - शिवपत्नी पार्वती का नाम।

अरुण - कश्यप और विनता का पुत्र। यह गरुड का बड़ा भाई था। अकाल जन्म होने से यह अपाहिज बना। यह सूर्य का सारथि है।

अर्जुन - यह पाण्डुपत्नी कुंती को इंद्र से हुआ था। यह बड़ा शूर, पराक्रमी, धनुर्विद्या में श्रेष्ठ और श्रीकृष्ण का प्रिय मित्र था। यह द्रोणाचार्य का प्रिय शिष्य था और इसने द्रुपद राजा को परास्त कर के उसका आधा राज्य गुरुदक्षिणा के रूप में दिया। इसने द्रौपदी को स्वयंवर में जीत लिया और द्रौपदी पांच पांडवों की पत्नी बनी। इसने युद्ध में भीष्म को पराजित कर के घायल कर दिया और कर्ण, जयद्रथ का वध किया।

अर्यमा - पितरों में मुख्य। द्वादश आदित्यों में इसकी गणना होती है।

अश्वत्थामा - द्रोणाचार्य और कृपी का पुत्र। शास्त्रविद्या में और युद्धकला में प्रवीण। इसने अपने पिता से अस्त्रविद्या सीखी थी और यह महारथी था। महाभारत युद्ध में इसने अनेक वीरों को मारा और पाण्डव शिबिर पर रात्रि में हमला कर के धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के पुत्रों को मारा।

अश्विन् - ये दोनों भाई देवों के धन्वन्तरी माने जाते हैं। इन्होंने च्यवनपत्नी सुकन्या पर प्रसन्न होकर बूढ़े च्यवन को नवयौवन प्रदान किया था।

असित - एक महर्षि। इसको जैगीषव्य मुनि ने योग और संन्यास की दीक्षा दी थी। यह देवल नाम से ही प्रसिद्ध है।

आदित्य - ये बारह थे। इनका प्रमुख भगवान् विष्णु हैं। साधारण प्रयोग में इसका अर्थ सूर्य होता है।

इक्ष्वाकु - वैवस्वत मनु और श्रद्धा का पुत्र। यह सूर्यवंशी राजाओं में अतिप्रसिद्ध राजा था। इसको मनु ने योग की शिक्षा दी।

इंद्र - कश्यप ऋषि और अदिति का पुत्र। असुरों का नाशक और उनके पुरों का विध्वंसक इस नाते वह वैदिक काल में मुख्य देव था। लेकिन यह विलासी और सुंदर स्त्रियों में आसक्ति रखता था। इसलिये महाभारत और पौराणिक काल में ऋषिमुनियों ने भगवान् विष्णु को प्रमुख देव बनाया। और इंद्र पर्जन्यदेवता और स्वर्ग का अधिपति हो कर रहा।

उच्चैःश्रवा - इंद्र का घोड़ा। समुद्रमंथन से जो रत्न निकले थे, उनमें से यह एक था।

उत्तर - विराट देश का राजपुत्र। देखिये, परिशिष्ट ३, पृ. ५९६, ५९७।

उत्तानपाद - स्वायंभू मनु का पुत्र। इसकी दो रानियाँ थीं, एक सुनीति जिसका पुत्र ध्रुव था, और दूसरी सुरुचि जिसका पुत्र उत्तम था। देखिये, परिशिष्ट ३, पृ. ५८९।

उत्तमौजा - एक पांचाल योद्धा, जो पांडवों के पक्ष में लढ़ा। जब अश्वत्थामा ने पांडव शिबिर पर रात्रि में हमला किया, तब वह मारा गया।

उर्वशी - इंद्रलोक की एक प्रसिद्ध अप्सरा। नर और नारायण ऋषि बदरिकाश्रम में तपश्चर्या कर रहे थे। इंद्र को डर लगा और उसने कामदेव के साथ उनका तपोभंग करने के लिये अप्सराएँ भेजी। तब नारायण ने अपनी उरु से एक सुंदरी निर्माण की और उन अप्सराओं को लज्जित किया। महाराजा पुरुरवा के सौंदर्य और गुणों का वर्णन सुन कर यह उसकी पत्नी बनी।

ऐरावत - इंद्र का हाथी। समुद्रमंथन में से जो चौदह रत्न निकले थे, उनमें से यह एक था।

कपिल - कर्दम प्रजापति और मनुपुत्री देवहूति के पुत्र। यह सांख्यशास्त्र का प्रवर्तक था (कठोपनिषद् ५.२)। भगवद्गीता में इसको सिद्धों में प्रमुख कह कर भगवान् कृष्ण ने उसको अपनी विभूति माना है।

कर्ण - यह पांडवों का सौतेला भाई था, बड़ा ही पराक्रमी और उदार था। यह कुंती को विवाह के पहले सूर्य से जन्मा था। लोकापवाद के डर से कुंती ने उसको नदी में छोड़ दिया। उसको सारथि अधिरथ ने पाया और उसकी पत्नी राधा ने उसका पालन-पोषण किया। इसने परशुराम और द्रोणाचार्य से शस्त्रविद्या प्राप्त की थी, इसलिये यह बड़ा धनुर्धर बना। इसको दुर्योधन ने अपना मित्र माना और अंगदेश का राजा बनाया। यह युद्ध में कौरवों के पक्ष में लढ़ा और द्रोणाचार्य मारे जाने के बाद कौरवों का सेनापति बना। जब युद्ध में इसके रथ का पहिया धरती में फँस गया तब यह अर्जुन के द्वारा मारा गया।

कश्यप - एक प्रजापति, ब्रह्मा के मानस पुत्र। इनकी पत्नियाँ दक्ष की पुत्रियाँ थीं। इनमें अदिति, दिति और दनु थीं। इसलिये देव, दैत्य और दानव उनके पुत्र थे।

कंस - उग्रसेन का पुत्र, श्रीकृष्ण का मामा। इसने अपने पिता को कारावास देकर उससे राज्य छीन लिया। जब उसकी चचेरी बहिन देवकी का विवाह

वसुदेव के साथ हुआ, तब आकाशवाणी हुई थी कि वह उसके आठवे पुत्र के हाथों मारा जायेगा। इसलिये उसने देवकी के पहले सात बच्चे मार दिये। जब उसका आठवा पुत्र हुआ, तो उसको लेकर वसुदेव रात्रि में गोकुल गया। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९१। जब कंस को यह बात मालूम हुई, तो उसने कृष्ण को मारने के लिये कई राक्षस भेजे। उन सभी का कृष्ण ने वध किया। अंत में अक्रूर को भेज कर कृष्ण को बलराम के साथ बुलाया गया। मथुरा जाकर कृष्ण ने कंस का वध किया।

काश्य, काशीश्वर - काशी का राजा। यह काशी, जिसको अब वाराणसी कहते हैं, एक पवित्र क्षेत्र है।

किन्नर - इनका शरीर मनुष्य का और सिर घोड़े का था। ये गंधर्व के समान गायक थे।

कीर्तिमुख - श्रीशंकर की जटा से निकला हुआ शिवगण। यह बड़ा पेटू था, इसलिये शिवजी ने उसको प्रेत खाने के लिये कहा। उससे भी जब उसकी भूक नहीं बुझ पायी, तब उसको अपनाही शरीर खाने को कहा। उसका जो खाने के बाद मुख बच गया उसको कीर्तिमुख कहते हैं। शिवजी ने उसको वर दिया कि जो उसके दर्शन के बिना उनका दर्शन लेगा उसका पतन होगा। अनेक शिवमंदिर के गर्भगृह के देहली पर एक सिंह का विकराल चित्र खींचा होता है, वही कीर्तिमुख है।

कुंतिभोज - यह एक कुंतिभोज वंश का यादव राजा था। पांडवों की माता कुंती इसे दत्तक दी गयी थी। इसका नाम पुरुजित् था।

कुरु - एक राजा, जिससे सुप्रसिद्ध कुरुवंश का प्रारंभ हुआ। इसके वंशजों को कौरव कहते हैं। इसकी तपश्चर्या से कुरुजांगल प्रदेश कुरुक्षेत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कुरुक्षेत्र - एक विस्तीर्ण मैदान, जो दिल्ली की उत्तर दिशा में पानिपत के नजदीक है। यहाँ भारतीय युध्द हुआ जिसको गीता में धर्मयुद्ध कहा है। इस मैदान पर भारतीय इतिहास में निर्दिष्ट अन्य निर्णायक युद्ध हुए।

कुबेर - यह संपत्ति का देवता, यक्षरक्षसों का राजा है। इसको शिवजी ने पुष्पक विमान और लंका दी थी। इसने अपने भाई रावण को स्वयं लंका दी। लेकिन रावण ने उसको युद्ध में परास्त करके पुष्पक विमान छीन लिया।

कुमारी - यशोदा की कन्या। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९१।

कूर्म - जब समुद्रमंथन के समय मंदराचल नीचे जाने लगा, तब विष्णु ने कूर्मावतार धारण किया। यह उसका दूसरा अवतार था।

कृत्तिका - एक नक्षत्रसमूह। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९०, ५९१।

कृप - सत्यधृति ऋषि का तपोभंग करने के लिये इंद्र ने उर्वशी को भेजा। उसको देखते ही सत्यधृति का वीर्यस्खलन हुआ, जिससे एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुई। एक समय शंतनु राजा उस वन में शिकार खेलने गया था। वह उन्हें उठा कर ले गया और उनका कृप और कृपी नाम रखा। कृपी द्रोणाचार्य की पत्नी हुई और उसकी कोख में अश्वत्थामा का जन्म हुआ। द्रोणाचार्य के पहले कौरव और पांडवों ने कृपाचार्य से धनुर्विद्या सीखी थी।

कृष्ण - भगवान विष्णु का आठवाँ अवतार। वसुदेव-देवकी के पुत्र और कंस के भांजे थे। उनका जन्म होते ही वसुदेव उसको गोकुल ले गये (देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९१) और नंद और यशोदा ने उनकी और बलराम की परवरिश की। बचपन में ही कंस के द्वारा भेजे गये पूतना, बक, अरिष्ट आदि राक्षसों को कृष्णने मारा। और अंतमें कंस का भी वध किया। अर्जुन इनका प्यारा मित्र तथा भक्त था, और उन्होंने युद्ध में उसका सारथ्य किया था। जब अर्जुन भीष्माचार्य, द्रोणाचार्य और अपने रिश्तेदारों के साथ युद्ध करने के लिये हिचकिचाने लगा, तो उसको भगवद्गीता कह कर युद्ध करने को प्रवृत्त किया।

कौरव - कुरुराजा के वंशज। धृतराष्ट्र के पुत्र कुरु के वंशज होने से उनको कौरव कहते हैं।

गंगा - एक स्वर्गीय देवी। भगीरथ कपिल मुनि के शाप से अपने दग्ध पितरों के उद्धार के लिये स्वर्ग से गंगा लाया। उसके प्रवाह का जोर पृथ्वी सह नहीं सकती थी, इसलिये उसने श्रीशंकर को उसे जटा में लेकर फिर छोड़ देने की प्रार्थना की। देखिये भीष्म।

गणेश - शंकर और पार्वती का पुत्र। पार्वती ने अपने शरीर के उबटन की मूर्ति बनाकर उस को सजीव किया। यह बुद्धि का देवता है और विघ्नहर्ता भी है। इसलिये कोई भी कार्य प्रारंभ करने के पहले इसकी पूजा करते हैं, ताकि उस कार्य में कुछ विघ्न न आये। इसका सिर हाथी के जैसा है।

गरुड - यह कश्यप और विनता का पुत्र था। यह पक्षियों का राजा, सर्पों का वैरी और विष्णु का वाहन समझा जाता है।

गहिनीनाथ - एक नाथपंथीय योगी। इसने निवृत्तिनाथ को मंत्रदीक्षा दी थी। यह बड़ा कृष्णभक्त था।

गुडाकेश - अर्जुन का विशेषण। निद्रा (गुडाका) को अपने वश में करनेवाला ऐसा इसका भाष्यकारों ने अर्थ किया है। लेकिन उसका सीधा अर्थ है घने बालोंवाला या बालों का गुच्छ (गुड़ा) रखनेवाला।

गोरक्षनाथ - एक महान् नाथयोगी। ये मत्स्येंद्रनाथ के प्रधानशिष्य थे और गहिनीनाथ के गुरु थे। इन्होंने भारत में संचार करके नाथसंप्रदाय का विस्तार किया।

गौतम - एक ऋषि। यह नाशिक जिले में ब्रह्मगिरि पर रहता था। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९७।

चंडिका - देवी का नाम। देखिये पार्वती।

चंद्र - अत्रि तथा अनसूया का पुत्र। यह सोम नाम से ही प्रसिद्ध है। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५८८, ५८९। चंद्र से ही चंद्रवंश की या सोमवंश की उत्पत्ति हुई।

चित्ररथ - गंधर्वों का राजा।

चेकितान - यह वृष्णिवंशीय यादवप्रमुख था। यह पांडवों के सात सेनापतियों में से एक था। यह युद्ध में दुर्योधन से मारा गया।

चैद्य - चेदिदेश का राजा। देखिये शिशुपाल।

चौरंगीनाथ - एक महान् नाथयोगी। यह जन्म से ही विकलांग था। इसको मत्स्येंद्रनाथ सप्तशृंगी पर्वत पर मिले और उनके दृष्टिक्षेप से ही चौरंगीनाथ सर्वांगपरिपूर्ण हुआ।

जनक - मिथिला या विदेह के सुप्रसिद्ध राजा। सीता के धर्मपिता। ये ज्ञानी होकर भी धर्माचरण करते थे। इसलिये, संन्यास न लेकर भी विदेह और मुक्त थे।

जनमेजय - हस्तिनापुर का एक प्रसिद्ध राजा। यह परिक्षित का पुत्र और अर्जुन का पड़पोता था। परिक्षित तक्षक के काटने से मरे, इसलिये उसका प्रतिशोध करने के लिये उसने सर्पसत्र प्रारंभ किया।देखिये तक्षक ।

जयद्रथ - सिंधुदेश का राजा। यह पांडवों से द्वेष करता था। दुर्योधन की बहन दुःशाला से इसका विवाह हुआ। यह युद्ध में एक अक्षौहिणी सेना लेकर कौरवों के पक्ष में लढ़ा। जब अभिमन्यु ने अकेले चक्रव्यूह में प्रवेश किया, तब उसको घिराकर मारने में इसने प्रमुख भाग लिया था। यह बड़ा पराक्रमी था और अर्जुन के द्वारा मारा गया।

तक्षक - कश्यप और कद्रू का पुत्र। पाताललोक में के नागों में एक प्रमुख। इसके काटने से परिक्षित राजा की मृत्यु हुई थी। इसका बदला लेने के लिये जनमेजय ने सर्पसत्र आयोजित किया था। इस सर्पसत्र में इसके परिवार में से अठारह सर्पकुल जलकर भस्म हुए। आस्तिक ऋषि ने जनमेजय की स्तुति कर के अभयदान पाया और यह यज्ञ बंद किया, इससे यह बच गया।

त्रिशंकु - अयोध्या के विख्यात सूर्यवंशी राजा। यह हरिश्चंद्र का पिता था। यह कर्तव्यपरायण और धर्मात्मा था, लेकिन देह पर प्यार करता था। इसलिये सशरीर स्वर्ग जाना चाहता था। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५८९, ५९०।

दुर्गा - भुवनेश्वरी पार्वती का नाम। इस देवी के अनेक रूप अंबिका, चंडी, भद्रकाली हैं। देखिये पार्वती।

दुर्योधन - धृतराष्ट्र और गांधारी का ज्येष्ठ पुत्र। यह विद्याओं में निपुण, महारथी, शस्त्रास्त्रविद्या में निष्णात और एक उत्तम राज्यशासक था। गदायुद्ध में भी यह अत्यंत प्रवीण था। लेकिन अतीव राज्यतृष्णा और पांडवों के प्रति द्वेष ये उसके स्वभाव में दुर्गुण थे। इसके कारण उसने पांडवों का नाश करने के लिये अनेक उपाय किये। अपने मामा शकुनी की कुटिलता से पांडवों को द्यूत में हरा कर उसने पांडवों को बारह साल वनवास और एक साल अज्ञातवास करने को बाध्य किया। पांडव वापस आने के बाद युद्ध टालने के सब प्रयत्न विफल हुए। यह भीम के द्वारा गदायुद्ध में मारा गया।

देवकी - यह कंस की चचेरी बहन और वसुदेव की पत्नी थी। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९१। कंस के वध होने के बाद श्रीकृष्ण से उसका मिलन हुआ।

द्रुपद - पांचाल देश का राजा और द्रौपदी का पिता। यह द्रोणाचार्य का गुरुबंधु था। गरीबी से त्रस्त होकर द्रोणाचार्य द्रुपद के पास गये, लेकिन उसने उनका उपहास किया। द्रोणाचार्य ने कौरवों और पांडवों को अस्त्र विद्या की शिक्षा देकर गुरुदक्षिणा में अर्जुन के द्वारा द्रुपद को पराजित किया और उसका आधा राज्य छीन लिया। द्रुपद ने इसके बाद यज्ञ किया ताकि उसको द्रोणाचार्य को मारनेवाला पुत्र और अर्जुन से विवाह के लिये पुत्री मिलें। यज्ञ की अग्नि में से एक दिव्य लड़का और एक सुंदर श्यामवर्णा कन्या उत्पन्न हुई। द्रुपद ने उनका नाम धृष्टद्युम्न और द्रौपदी रखा। युद्ध में द्रोण के हाथों इसकी मृत्यु हुई।

द्रोण - भरद्वाज ऋषि के पुत्र और अश्वत्थामा के पिता। इन्होंने परशुराम से शस्त्रास्त्रविद्या प्राप्त की थी। ये शस्त्रास्त्रविद्या में निष्णात तथा परम साहसी महावीर थे। इसलिये राजपुत्रों को धनुर्विद्या सिखाने का काम भीष्माचार्य ने इन्हें सौंप दिया था। युद्ध में ये भीष्माचार्य के बाद कौरवों के सेनापति रहे और पांच दिन तक घोर युद्ध किया। धृष्टद्युम्न ने कपट से उनका वध किया।

द्रौपदीकुमार - द्रौपदी का पांच पांडवों के साथ विवाह हुआ था। उसको युधिष्ठिर से प्रतिविंध्य, भीम से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतसेन पुत्र हुए। जब अश्वत्थामा ने पांडवशिबिर पर रात्रि में हमला किया, तब ये सब मारे गये।

धर्म - पांडवों में ज्येष्ठ युधिष्ठिर का नाम। युधिष्ठिर एक धीरोदात्त, धर्मनिष्ठ एवं सात्त्विक प्रवृत्तियों के महात्मा थे। इनके महाभारत में निर्दिष्ट अनेक नीतिवचन और विचार गौतम बुद्ध के वचनों से मिलते जुलते हैं। धर्म का अधिष्ठान दया, क्षमा, शांति जैसे गुणों के आचरण पर है ऐसी उनकी धारणा थी। इसलिये उनको धर्म या धर्मराज कहते थे। देखिये, युधिष्ठिर।

धृष्टकेतु - चेदिराज शिशुपाल का पुत्र। कृष्ण के द्वारा शिशुपाल का वध होने पर यह चेदिदेश का राजा बना। यह पहले से ही पांडवों का मित्र था। एक अक्षौहिणी सेना लेकर यह पांडवों के सेना में शामिल हुआ। पांडवों के सात सेनापतियों में एक के नाते इसने अनेक पराक्रम दिखाये। द्रोणाचार्य ने इसका वध किया।

धृष्टद्युम्न - पांचालराज द्रुपद का पराक्रमी पुत्र। द्रोणाचार्य का नाश करने के लिये द्रुपद ने जो यज्ञ किया था उसके अग्निकुंड से इस का जन्म हुआ था। भीम ने अश्वत्थामा नामक हाथी को मार कर एक किंवदन्ती 'अश्वत्थामा मारा गया' ऐसी फैला दी। वह सुन कर द्रोणाचार्य ने शस्त्रसंन्यास किया। उस पर इसने द्रोणाचार्य का वध किया। युद्ध में यह पांडवसेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया था।देखिये अश्वत्थामा।

ध्रुव - उत्तानपाद राजा तथा सुनीति का पुत्र। इसने अपने दृढ निश्चय से छोटी उम्र में भगवान विष्णु के दर्शन और ध्रुवपद प्राप्त किया। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५८९ ।

नकुल - चौथा पांडव, माद्री का ज्येष्ठ पुत्र। यह बड़ा रूपवान् और अश्वविद्या में निपुण था।

नर और नारायण - धर्म और दक्षपुत्री मूर्ति के दो पुत्र। ये भगवान् के अंशरूप थे। इन्होंने हिमालय पर्वत पर बदरिकाश्रम में तपस्या की थी। अर्जुन और कृष्ण इनके अवतार माने गये हैं। देखिये नारायण।

नहुष - सोमवंश के प्रसिद्ध राजा पुरूरवा का पौत्र तथा ययाति का पिता। यह बड़ा प्रतापी, बुद्धिमान् और धर्मपरायण राजा था। लेकिन इंद्रपद पाने पर इसकी बुद्धि भ्रष्ट हुई। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९९ ।

नारायण - १. देखिये नर। २. इनकी उग्र तपस्या से भयभीत होकर उसमें बाधा डालने के लिये इंद्र ने अप्सराओं को भेजा था। लेकिन इन्होंने अपनी जंघा से ऊर्वशी को निर्माण करके उनको लज्जित किया। महाभारतमें विष्णु और नारायण एक माने गये हैं।

नारद - एक देवर्षि, ब्रह्मा के मानसपुत्र। ये बड़े तत्त्वज्ञ, इतिहास और पुराणों के विशेषज्ञ और त्रिकालदर्शी थे। यह भगवान् विष्णु और श्रीकृष्ण के परमभक्त थे। यह संगीतज्ञ थे और इन्होंने वीणा का शोध किया। ये बड़े कलहप्रिय थे। देव और मनुष्यों के बीच कलह का बीज बो कर उसका मज़ा देखने में इन्हें बड़ा हर्ष होता था।

निवातकवच - ये रसातल में रहनेवाले असुर थे। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५८५ ।

निवृत्तिनाथ - विठ्ठलपंत और रखुमाबाई के ज्येष्ठ पुत्र और ज्ञानदेव के बड़े भाई । इन्होंने गहिनीनाथ से नाथसंप्रदाय की दीक्षा ली थी । उन्होंने ज्ञानदेव को दीक्षा दे दी ।

नृसिंह - भगवान् विष्णु का चौथा अवतार । इसका आधा शरीर सिंह का, आधा मनुष्य का था । इसलिये इसको नृसिंह नाम मिला । हिरण्यकशिपु दैत्य का पुत्र प्रऱ्हाद बड़ा भगवद्भक्त था । लेकिन उस का पिता दुराचारी, भगवान् विष्णु का वैरी था । उसने प्रऱ्हाद को मना किया था कि वह विष्णु की भक्ति न करे । परंतु यह बात प्रऱ्हाद ने न मानी, इसलिये उसको पिता के हाथों बडे कष्ट सहने पड़े । देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५८७ ।

पांडव - पांडु के पुत्र । उसकी दो पत्नियाँ थीं, श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की बहन कुंती और मद्रदेश की राजकन्या माद्री । कुंती को तीन पुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन थे और माद्री के दो नकुल और सहदेव थे । ये पांचों मिलकर पांच पांडव हुए ।

पार्वती - हिमालय की कन्या और शिवजी की पत्नी । असुरों का वध करने के लिये इन्होंने कई रूप धारण किये और इन रूपों के अनुसार इनके कई नाम हुए । दुर्गा, अपर्णा, गिरिजा, चंडिका, चामुंडी, काली ऐसे इनके नाम हैं ।

पुरुनित् - कुंतिभोज का उपनाम ।

पूतना - एक राक्षसी जिसको कंस ने श्रीकृष्ण की हत्या करने के लिये गोकुल में भेजा था । देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९२ ।

प्रऱ्हाद - दैत्य हिरण्यकशिपु का पुत्र । यह जब माँ के उदर में था तब नारद ऋषि ने माता को दिया हुआ उपदेश उसने सुना था । इसलिये यह बड़ा भगवद्भक्त हुआ । देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५८७ ।

बलि - एक सुविख्यात असुर । यह प्रह्लाद का पौत्र था । श्रीविष्णु ने वामनावतार लेकर इसको पाताल में ढकेल दिया । देखिये, परिशिष्ट ३, पृ. ५९५ ।

बृहस्पति - एक वैदिक देवता, जो बुद्धि और यज्ञ का अधिष्ठाता माना जाता है ऋग्वेद में संपूर्ण ग्यारह सूक्तों में इसकी स्तुति है । इंद्र ने जो असुरों

पर विजय पायी, उसके लिये इंद्र के शौर्य के साथ इसकी मंत्रशक्ति भी कारण हुई ऐसा माना जाता है।

ब्रह्मा - एक पौराणिक देवता, जो संपूर्ण विश्व का स्रष्टा माना जाता है। इनका जन्म श्रीविष्णु के नाभि से उत्पन्न हुए कमल में हुआ। ॐ का नाम जप करने से ये सृष्टि के निर्माण के लिये समर्थ बने। इनका एक दिन ४३२ दशलक्ष वर्ष का होता है। फिर भी महाप्रलय के बाद इसके सत्यलोक का भी विलय होता है।

भस्मासुर - एक असुर, जो शिवजी का परम भक्त था। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५८५, ५८६।

भीम - एक पांडव, जो युधिष्ठिर का अनुज था। व्यासमुनि ने इस को शारीरिक शक्ति का प्रतीक माना है। यह गदायुद्ध में कुशल था। इसने बकासुर, जरासंध, कीचक जैसे योद्धाओं को मारा। भारतीय युद्ध में इसने दुःशासन और दुर्योधन का वध किया।

भीष्म - कुरुवंश के प्रसिद्ध राजा शंतनु के गंगा से उत्पन्न पुत्र। इसका पहला नाम देवव्रत था। इन्होंने दाशार्ह राजकन्या सत्यवती के साथ अपने पिता का विवाह कराने के लिये अपना राज्यपद का हक़ छोड़ दिया और आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की। इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण उनको भीष्म कहने लगे। ये चारित्र्यवान्, धीरोदात्त, पराक्रमी और राजनीतिज्ञ थे। ये कौरवसेना के पहले प्रमुख सेनापति बने और उन्होंने दस दिन तक घनघोर युद्ध किया। बाद में अर्जुन ने शिखंडी के आड़े में रह कर इनसे युद्ध कर के घायल किया। क्योंकि शिखंडी का कन्या के रूप में जन्म होने से उन्होंने शस्त्रत्याग किया था। इन्होंने युधिष्ठिर से राज्यारोहण के बाद राजधर्म पर उपदेश दिया। फिर उत्तरायण के आने पर स्वेच्छा से देहत्याग किया।

मच्छ - भगवान् विष्णु का पहला अवतार। एक बार वैवस्वत मनु प्रातःकाल के समय तर्पण कर रहा था, कि अर्घ्य देते समय उसकी अंजलि में एक मत्स्य आ गया। मनु ने इस मत्स्य को पाला पोसा, और बड़ा होने पर उसे महासागर में छोड़ दिया। पृथ्वीपर जलप्रलय होने पर यह मत्स्य प्रकट हुआ और इसने मनु को नौका में बैठा कर हिमालय पर्वत के उत्तरगिरि शिखर

पर सुरक्षित पहुँचा दिया। पश्चात् मनु ने अपनी पत्नी इड़ा के द्वारा प्रजा का निर्माण किया।

मणिपुष्पक - सहदेव के शंख का नाम।

मदन - ब्रह्मदेव का पुत्र कामदेव। इसको कंदर्प भी कहते हैं। यह पुष्पबाण छोड़ कर युगुल को प्रेम में फँसा देता है। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९७।

मनु - ब्रह्मा के एक दिन के चौदह मन्वंतर होते हैं। एकेक मनु एकेक मन्वंतर का अधिपति होता है। ऐसे पुराणों में चौदह मनु कहे गये हैं। भगवद्गीता में चार ही मनु का उल्लेख है। शायद ये चार युग के चार मनु हैं।

मरिचि - मरुद्गणों का मुख्य। देखिये मरुत्।

मरुत् - आंधी का देवता। जब श्रीशंकर महाकाल माने जाते थे, ये मृत्युदूत के रूप से उनके सहायक थे। यम मृत्यु का देवता होने पर यह देवगण आंधी के देवता बन कर इंद्र के साथी बने।

महालसा - अहमदनगर जिले में नेवासे गांव की एक देवी। कुछ प्रतिलिपियों में महालया (मोहिनीराज) ऐसा भिन्न पाठ है, जो रूप भगवान् विष्णु ने अमृत के बँटवारे के लिये लिया था।

मार्कंडेय - मृकंडु मुनि का पुत्र। बड़ा तपस्वी, ज्ञानी और भक्त था। मुनि ने एक बार भगवान् को उनकी माया देखने की इच्छा प्रकट की। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९६।

मारुति - हनुमान् का नाम। यह वायु का पुत्र था, जो उसको वानरमुख्य केसरी की पत्नी अंजना से हुआ था। यह समुद्र पार करके लंका गया, और अशोकवन में सीता का शोध किया। यह ब्रह्मचारी होकर राम का परम भक्त था। यह बल का प्रतीक माना जाता है।

यक्ष - उपदेवताओं का एकगण। ये धनदौलत के राजा कुबेर के सेवक हैं और उनके कोष और उद्यानों की रक्षा करते हैं। ये छोटे कद के और तोंदवाले होते हैं।

यम - मृत्यु का देवता और दक्षिण दिशा का दिक्पाल। ऋग्वेद में इसको मृतकों पर शासन करने वाला राजा कहा गया है।

यशोदा - नंदगोप की पत्नी। इसने श्रीकृष्ण को पालपोस कर बड़ा किया था। यह श्रीकृष्ण से असीम प्यार करती थी। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९१।

यादव - यदु के वंशज। भारत युद्ध के बाद यादवों में गृहयुद्ध शुरु हुआ। इसमें श्रीकृष्ण के पुत्र सांब तथा प्रद्युम्न और पोता अनिरुद्ध मारे गये।

युधामन्यु - एक पांचाल देश का वीर योद्धा। जब अश्वत्थामा ने पांडव शिबिर पर रात्रि में हमला किया तब यह मारा गया।

युधिष्ठिर - पांडवों में ज्येष्ठ। इसने भारतीय युद्ध टालने के लिये बहुत कोशिशें कीं। युद्ध के बाद यह हस्तिनापुर का राजा बना, परंतु बंधुजनों के निधन पर बहुत दुःखी हुआ था। शरशय्या पर पड़े भीष्म पितामह ने उसको राजधर्म बताया। श्रीकृष्ण के स्वर्गवास की वार्ता सुन कर उसने अपने प्रपौत्र परिक्षित को राज्याभिषेक किया और द्रौपदी और भाइयों के साथ स्वर्गारोहण किया। देखिये धर्म।

युयुधान - सात्यकि देखिये।

रंभा - एक सुंदर अप्सरा। इंद्र जिन अप्सराओं को तपोभंग करने के लिये भेज देता था उनमें यह प्रमुख थी। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९८।

राम - १. श्रीविष्णु का सातवा अवतार। अयोध्या के राजा दशरथ और कौसल्या के पुत्र। इनकी पत्नी मिथिला के राजा जनक की पुत्री थी। लंका के नरेश रावण ने सीता का हरण किया था, इसलिये उन्होंने वानर सेना का साहाय्य लेकर रावण का युद्ध में वध किया। इस घटना पर वाल्मीकि ऋषि ने संस्कृत मे रामायण नामक पावन महाकाव्य लिखा।
२. वसुदेव और रोहिणी के पुत्र बलराम। यह गदायुद्ध में निपुण थे। दुर्योधन और भीम ने इनसे गदायुद्ध की शिक्षा पायी थी।
३. परशुराम, जो श्रीविष्णु का छठा अवतार थे। इन्होंने पृथ्वी चौबिस दफा क्षत्रियरहित की थी।

रावण - लंकाधीश राक्षसों का राजा। इसने संन्यासी का वेष धारण कर के सीता का अपहरण किया, जिससे लंका में श्रीराम के साथ युद्ध हुआ। यह राम के हाथ से मारा गया। यह बड़ा पराक्रमी और शिवभक्त था।

राहु - विप्रचित्ति और सिंहिका का पुत्र। इसका दूसरा नाम स्वर्भानु था। जब भगवान् विष्णु मोहनी के रूप में अमृत बांट रहे थे, यह देव का वेष धारण कर के देवों के पंक्ति में जाकर बैठा। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९८, ५९९।

रुद्र - शिव का नाम। एक अतिप्राचीन अनार्य देवता। मुँहंजोदडो एवं हडप्पा के उत्खनन में पशुपति का एक सिक्का प्राप्त हुआ है, जो रुद्र-शिव से मिलता जुलता है। ऋग्वेद में रुद्र का वर्णन है, जिस में उनका घोर रूप वर्णन किया है। श्वेताश्वतर उपनिषत् में उनका ब्रह्म से ऐक्य दिखाया गया है। महाभारत में इनका निर्देश शिव और महादेव के नाम से किया गया है। यह उनका सौम्य और कल्याण कर रूप है। इन्होंने विश्व के कल्याण के लिये गंगा को अपनी जटा में धारण किया और अमृतमंथन से निकला हुआ हलाहल विष पी गये। इनसे पाशुपत या शैवागम प्रसृत हुआ, जिसके अनेक संप्रदाय हुए।

लक्ष्मी - समुद्रमंथन से प्रकट हुई एक देवी। इनके सौंदर्य से सब सुरासुर मोहित हो गये। परंतु इन्होंने भगवान् विष्णु को वरमाला पहनाई। लक्ष्मी क्षीरसागर में अपने पति के साथ रहती है।ऋग्वेद के श्रीसूक्त में इनको ऐश्वर्य का प्रतीक माना गया है।

वराह - विष्णु का तृतीय अवतार, जो हिरण्याक्ष असुर के वध के लिये धारण किया था। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९४।

वरुण - यह इंद्र के पहले सर्वोत्तम देवता माना जाता था। वैदिक साहित्य में उसको 'ऋतस्य गोप्ता' बताया है। वह भौतिक और नैतिक नियमों का प्रतिपालक होकर, जो उनका उल्लंघन करता था उसको अपने पाश से बांध कर रखता था। वैदिक काल में इंद्र असुरों पर विजय पाने से सर्वोच्च देवता बना और वरुण का श्रेष्ठत्व धीरे धीरे कम हो गया। इस के बाद वह समुद्र का देवता और पश्चिम दिशा का दिक्पाल बना रहा।

वसिष्ठ - एक सुप्रसिद्ध ऋषि, मित्रावरुण का पुत्र। एक बार मित्रावरुण ने उर्वशी को देखा और देखते ही उसका रेतस्खलन हो गया। उस रेत को

एक कुंभ में रखा और उससे वसिष्ठ और अगस्त्य जन्मे। इसलिये उनको कुंभयोनिज कहते हैं। इसके इंद्र के पक्ष में आने पर, वह विश्वामित्र के बदले सुदास का पुरोहित बना। इसके वंशज सूर्यवंशीय राजाओं के पुरोहित बने रहे। ऋग्वेद के सातवे मंडल में पहले तीन ऋचाओं का प्रणयन इसने किया था। इसकी गणना ब्रह्मर्षियों में होती थी। विश्वामित्र और वसिष्ठ में जो शत्रुत्व पैदा हुआ उसकी कथा महाभारत वनपर्व में दी है। देखिये, परिशिष्ट ३, पृ. ५८९।

वसु - एक देवतासमूह। ये आठ थे और अग्नि, वायु इत्यादि नैसर्गिक वस्तुओं के रूप थे। अग्नि उनका मुँह माना जाता था।

वासुकि - नागों का एक राजा। यह कश्यप और कद्रू के पुत्रों में से एक था। देवासुरों के समुद्रमंथन में यह मंथनदंड़ की रस्सी बन गया था। जरत्कारु ऋषि की पत्नी उसकी बहन थी। इसके भतीजे आस्तिक ने जनमेजय राजा की स्तुति करके सर्पसत्र बंद कराया।

वासुदेव - कृष्ण का नाम। वृष्णिवंश के लोग श्रीकृष्ण को वासुदेव याने मानवरूप में देव मानते थे। उसके बाद उनको विष्णु के अवतार समझने लगे।

विकर्ण - धृतराष्ट्र के पुत्रों में एक। यह बड़ा पराक्रमी और न्यायी था। द्रौपदीवस्त्रहरण के समय जब दौपदी ने पूछा था कि वह हारी गयी है या नहीं, तो इसने साफ़ कहा था कि वह जीती नहीं गयी है। अंत में भीमसेन ने इसका वध किया।

विराट - मत्स्यदेश का सुविख्यात राजा। इसके विराटनगरी में पांडवों ने अपना अज्ञातवास बिताया था। अज्ञातवास समाप्त होने पर इसने अपनी कन्या उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ करना चाहा, परंतु अर्जुन ने उस को बेटी मान कर उसको अभिमन्यु की पत्नी याने अपनी स्नुषा के रूप में स्वीकार किया।

विश्वामित्र - यह कान्यकुब्ज देश के कुशिक राजा का पौत्र और गाधि का पुत्र था। अपने ज्ञानोपासना और तपोबल के द्वारा यह ब्रह्मर्षि और वैदिक मंत्रद्रष्टा आचार्य बन गया। ब्रह्मर्षि होने के लिये इसको वसिष्ठ जैसे परंपरागत आचार्यों से संघर्ष करना पड़ा। घोर तपस्या के द्वारा विश्वामित्र को ब्राह्मणत्व

प्राप्त हुआ और इसका निर्देश अनेक वैदिक संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है। इसने अपने तपोबल के द्वारा त्रिशंकु को स्वर्ग भेजना चाहा, इंद्र के हाथों से शुनःशेप की रक्षा की और ब्रह्मदेव की भांति प्रतिसृष्टि निर्माण करने में प्रवृत्त हुए। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. २८९, २९० ।

विश्वदेव - एक यज्ञीय देवतासमूह। इनको ऋग्वेद में चालिस से भी अधिक सूक्त समर्पित किये गये हैं। विश्वेदेव का अर्थ अनेक देवता है। इनका मुख्य कार्य समस्त देवताओं का प्रतिनिधित्व करना है।

विष्णु - कश्यप और अदिति का पुत्र। वैदिक काल में इंद्र की तुलना में विष्णु का स्थान कनिष्ठ प्रतीत होता था। ऋग्वेद में केवल पांचही सूक्त विष्णु को उद्देश्य कर रचे गये हैं। इनको वेदों में उपेंद्र या इंद्र का सहायक कहा गया है। लेकिन पौराणिक काल में इनको सात्वत लोगों के नारायण देवता से सम्मिलित करने का एक यशस्वी प्रयत्न किया गया। ब्राह्मणग्रंथों में इनको यज्ञ की देवता माना है। दुष्टों का निग्रह और सज्जनों के परिपालन के लिये इन्होंने अवतार लिये हैं। वासुदेव-कृष्ण इनका पूर्णावतार माने जाते हैं। भारतीय देवताशास्त्र के इतिहास में विष्णु तथा रुद्र-शिव मानवाकृति दैवतोपासना के आद्य प्रतीक माने जाते हैं। भगवान् की मूर्ति अतीव सुंदर और मनमोहक है। उनके चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म, वक्षस्थल पर श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वैजयंतिमाला, पीतांबर ये सब शोभा देने वाले हैं। इनकी पत्नी श्रीलक्ष्मी देवी है। नागश्रेष्ठ अनंत इनकी शय्या और पक्षिराज गरुड इनका वाहन है।

वेताल - पिशाचों का एक समूह। ये रणभूमि में जाकर मानवी रक्त एवं मांस भक्षण करते थे। इनको शिवजी के उपासक मान कर इनकी पूजा की जाती थी।

शंकर - रुद्र-शिव का नामांतर। रुद्र देखिये।

शिखंडि - पांचाल राजा द्रुपद का पुत्र। यह पहले कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ था। बाद में यह पुरुष बन गया। शिखंडि शूर महारथी था। इसको आगे रख कर अर्जुन ने भीष्माचार्य पर शस्त्र चलाया था। यह सम्मुख खड़ा होते ही भीष्माचार्य ने अपने शस्त्र नीचे रख दिये और अर्जुन ने उनको प्राणघातक शस्त्रप्रहार से घायल किया। शिखंडि रात्रियुद्ध में अश्वत्थामा से मारा गया।

शिशुपाल - चेदिदेश का राजा, दमघोष एवं वसुदेव भगिनी श्रुतश्रवा का पुत्र। यह श्रीकृष्ण का फुफेरा भाई होते हुए भी उनका द्वेष करता था। इस का विवाह भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी से निश्चित हुआ था। लेकिन रुक्मिणी की अनुमति से श्रीकृष्ण ने उसका हरण किया। इसलिये उसका द्वेष बढ़ता गया। बाद में इसने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण को अग्रपूजा का मान देने के प्रस्ताव को कठोर शब्दों में विरोध किया। उसके अधिक्षेप सुन कर श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र से उसका वध किया।

शुक - व्यास मुनि के सुप्रसिद्ध पुत्र। इसने बृहस्पति से मोक्षपद का उपदेश प्राप्त किया था। शुक ने अपने पिता से महाभारत का गहरा अध्ययन किया था। यह ज्ञानी, वीतराग और निःस्पृह था। इसकी तपस्या को भंग करने के लिये इंद्र ने रंभा को भेजा था, लेकिन यह मोहित नहीं हुआ।

शेष - एक प्रमुख नाग। कश्यप और कद्रू का पुत्र। इसके सहस्त्र शीर्ष हैं और यह अपने सिर पर समस्त पृथ्वी को धारण करता है। इस पर विष्णु शयन करते हैं। बालकृष्ण को ले कर जब वसुदेव गोकुल जा रहे थे, तब इसने अपनी फणा फैला कर उसकी वर्षा से रक्षा की थी।

शैब्य - शिबि देश का एक राजा, जो युधिष्ठिर का श्वसुर था। यह पांडवों का बड़ा हितचिंतक था और भारतीय युद्ध में पांडवपक्ष में शामिल हुआ था।

सनक - ब्रह्मा के चार मानसपुत्रों में एक। अन्य तीन मानसपुत्रों के नाम सनत्कुमार, सनंद और सनातन थे। विष्णु के एक अवतार के नाते इस का निर्देश पुराणों में प्राप्त है।

सनत्कुमार - देखिये सनक। यह विरक्त , ज्ञानी तथा क्रियारहित था। महाभारत में इसने धृतराष्ट्र को उपदेश किया था, जो 'सनत्सुजातीय' नाम से सुप्रसिद्ध है।

सहदेव - पांडवों में से एक, माद्री का पुत्र। यह गोपालन में बहुत कुशल था।

सात्यकि - एक यादव राजा, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का प्रिय मित्र था। यह शिनि राजा का पौत्र और सत्यक राजा का पुत्र था। इसकी गणना महाभारतकालीन श्रेष्ठ वीरों में की जाती थी। इसने श्रीकृष्ण से अस्त्रविद्या प्राप्त की थी और श्रीकृष्ण के द्वारा किये हुए युद्ध में यह श्रीकृष्ण का प्रमुख सहायक

था। इसने अर्जुन से भी धनुर्विद्या सीखी थी। इसने भारतीय युद्ध में बड़े पराक्रम किये और भूरिश्रवस् और शाल्व का वध किया था। यह यादवी युद्ध में मारा गया।

साध्य - एक देवतासमूह। छांदोग्योपनिषत् में इनका निर्देश वसु, रुद्र, आदित्य एवं मरुतों के साथ किया गया है। महाभारत में इन्हें यज्ञ एवं शुभ कार्यों से संबंधित देवतागण माना है।

सुदामा - यह एक श्रीकृष्ण का बालमित्र था और उनके साथ सांदीपनि के आश्रम में पढ़ता था। श्रीकृष्ण ने इसे एक नगरी प्रदान की थी, जो अब सौराष्ट्र में स्थित पोरबंदर मानी जाती है। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५८६, ५८७।

स्कंद - शिवपुत्र और देवों का सेनापति। इसके जन्म के संबंध में विभिन्न कथाएँ महाभारत एवं पुराणों में प्राप्त हैं। तारकासुरने ब्रह्मा से वर प्राप्त किया था कि इस सृष्टि में केवल सात दिन का अर्भक ही उसका वध कर सकेगा। यह वर पाने के बाद वह देव और मानवों को सताने लगा। स्कंद ने जन्म लेने के बाद सातवें दिन में ही उसका वध किया। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९०, ५९१।

हटकेश्वर - पाताल का एक महादेव।

हिरण्याक्ष - एक दैत्य, जो कश्यप और दिति का एक पुत्र और हिरण्यकशिपु का भाई था। देखिये परिशिष्ट ३, पृ. ५९४।

परिशिष्ट २

ज्ञानेश्वरी के पारिभाषिक शब्द और उनके अर्थ

अकर्ता - अलिप्त होकर कर्म करनेवाला
अकर्तृत्व - कर्म करते हुए भी अलिप्त रहना
अकर्म - निष्काम कर्म
अकार्य - अयोग्य कर्म
अकुशल - अशुभ
अकृत्य - दुष्कर्म
अक्रोधत्व - किसी भी घटना पर क्रोध न करना, दैवी संपत्ति में तीसरा गुण
अक्षर - १. अविनाशी ब्रह्म, २. आत्मा, ३. ॐकार
अग्नि - यज्ञदेवता
अग्निकुंड - अग्नि की रक्षा करने के लिये खोदी हुई कुछ गहरी सी जगह
अग्निस्थान - योगशास्त्र में वर्णन किया हुआ भृकुटि-स्थित द्विदल चक्र
अग्निहोत्र - शास्त्रोक्त अग्नि स्थापित करके उसमें प्रतिदिन हवन करना
अंगोपचार - पूजा का सामान
अज्ञान - संसार सत्य है इस प्रकार की बुद्धि
अज्ञानवर्ग - आसुरी दुर्गुणों का समूह
अणिमा - अष्ट सिद्धियों में पहली सिद्धि, अत्यंत सूक्ष्म रूप धारण करने की शक्ति
अतींद्रिय - जिस का अनुभव इंद्रियों के द्वारा न हो सके
अत्यागी - फलाशा का त्याग न करने वाला
अदंभित्व - ढोंग का अभाव, ज्ञानगुणों में दूसरा गुण
अदृष्ट - भाग्य, प्रारब्ध
अद्भुत - नवरसों में से एक अद्भुत रस
अद्वय - १. द्वैतरहित, २. अद्वैत
अद्वेष्टा - द्वेष न करनेवाला, भक्त का लक्षण
अद्वैत - सर्वैक्य, परमात्मा से एकरूपता, सब एक ही है ऐसा ज्ञान
अधर्म - शास्त्र के विरुद्ध आचरण
अधिकार - योग्यता, पात्रता
अधिकारी - योग्य, पात्र
अधिदेव, अधिदैवत - १. अधिष्ठात्री देवता २. प्रकृति का भोक्ता जीव
अधियज्ञ - देहभाव नष्ट कर के ज्ञान और ज्ञेय का ऐक्य करनेवाला यज्ञ का अधिष्ठाता देवता

अधिष्ठान - १. आश्रय, २. कर्म के पांच कारणों में से प्रथम, देह

अध्यात्म - आत्मविषयक ज्ञान

आध्यात्मिक - १. पारमार्थिक, २. मानसिक (ताप)

अनधिकारी - अपात्र

अनन्य - एकनिष्ठ

अनात्मा - अचेतन, अशाश्वत

अनात्मवर्ग - अचेतन वस्तुओं का समूह

अनासक्त - आसक्तिरहित, उदासीन

अनाहत - योगाभ्यास से देह के अंदर में सुनने को आनेवाली ध्वनि

अनुभव - अनुभूति, स्वप्रत्यय

अनुष्ठान - विधिपूर्वक आचरण

अन्यथाज्ञान - विपरीत ज्ञान

अपवर्ग - मोक्ष

अपैशुन्य - दोष छोड़ कर गुण देखने की दृष्टि

अप्रवृत्ति - कुमार्ग, निषिद्ध कर्म

अप्राप्त - जिस को ब्रह्मप्राप्ति नहीं हुई है

अभय - भयरहितता, दैवी संपत्ति का प्रथम गुण

अभिचार - जारण-मारण कर्म

अभ्यास - १. शास्त्र का अध्ययन, २. लक्ष्य प्राप्त करने के लिये एक ही बात बार बार करना

अभ्युदय - धर्मद्वारा होनेवाली बरकत

अमानित्व - सम्मान की इच्छा का अभाव, ज्ञानगुणों में प्रथम

अरणि - वह काष्ठ जिस को घिसने से यज्ञ के लिये अग्नि पैदा करते हैं

अर्चिरमार्ग - योगियों का प्रयाणमार्ग, देवयानपथ

अर्थ - धनप्राप्ति, दूसरा पुरुषार्थ

अर्थवाद - अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुति जो विधि-नियम का फल बताती है

अर्धबिंब - ॐकार की अर्धमात्रा

अर्यमा - पितृगण में मुख्य

अलोलुपत्व - अनासक्ति

अवभृथ - स्नान जो यज्ञसमाप्ति के बाद करते हैं

अवस्थात्रय - जाग्रति, स्वप्नं और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ

अव्यक्त - १. प्रकृति, २. आत्मा

अव्यभिचार - एकनिष्ठता

अश्वमेध - एक विशेष यज्ञ जो सार्वभौम पद पाने के लिये किया जाता है

अष्टांग - योग के आठ अंग-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि

अष्टांग योग - पतंजलि मुनि प्रणीत योग

अहंकार - १. अष्टधा प्रकृति में से एक, २. चतुर्विध अंतःकरण में से एक

अहंममता - 'मैं', 'मेरा' यह भाव
अहिंसा - हिंसा न करना, ज्ञानगुणों में से एक
आकाश - १. पंचमहाभूतों में से एक, २. निर्गुण स्वरूप
आगम - १. मंत्रशाखा, २. अथर्ववेद, ३. तंत्रशास्त्र
आज्ञा - योगशास्त्र में भृकुटिस्थित चक्र
आत्मनिवेदन - अपना अंतःकरण शुद्ध करके परमेश्वर को अर्पण करना, नवविधा भक्ति में अंतिम नौवी भक्ति,
आत्मा - भूतमात्र में विद्यमान अविनाशी चेतनायुक्त तत्त्व
आथर्वणविधि - अथर्ववेद में बतायी हुई जारणमारणादि विधि
आदिशून्य - माया
आधार - गुद और शिस्न दोनों के बीच में स्थित पहला चक्र
आधारमुद्रा - योगशास्त्र में दस मुद्राओं में से एक मुद्रा
आधिदैव - त्रिविध तापों में से दैवाधीन ताप
आध्यात्मिक - मानसिक ताप
आम्नाय - वेद
आराध्यलिंग - पूजा के लिये योग्य देवता
आश्रम - ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, और संन्यास ये चार आश्रम
आश्रमधर्म - आश्रम के अनुसार कर्तव्यकर्म
आसन - योगियों की बैठने की देह की रचना, हठयोग में ये आसन चौरासी है ।
आस्तिक्य - ईश्वर की अस्तित्व में श्रद्धा; शास्त्र में बताये हुए विधिनियमों का सादर स्वीकार
आहवनीय - यज्ञ की तीन अग्नियों में से पूर्व ओर की अग्नि, जिसमें प्रमुख याग किया जाता है
इडा - वह नाड़ी जिस में बायें नथुना से वायु चलती है
इंद्रियार्थ - इंद्रिय का विषय
इष्टापूर्त - इष्ट का अर्थ है यज्ञादि श्रौत और स्मार्त कर्म, पूर्त का अर्थ है रास्ता, धर्मशाला, जलाशय इत्यादि धार्मिक कर्म
इष्टि - पशुयाग
उदान - प्राण वायु का एक भेद, जिस का स्थान कंठ है
उद्भिज्ज - वृक्ष, लता आदि भूमि को फोड़ कर निकलने वाली
उन्मनी - चार अवस्थाओं की पहली अवस्था जिस में मन का लय होता है
उपचार - पूजा का साहित्य
उपरति - वैराग्य, विषय से निवृत्ति
उपरम - अंतर्मुखता

उपसर्ग - योगाभ्यास में बाधाएँ

उपहित - उपाधियुक्त होनेवाला (चैतन्य)

उपांग - (यज्ञ का) गौण अंग

उपाधि - शुद्ध स्वरूप को अन्य रूप देनेवाला पदार्थ. उदाहरणार्थ, स्फटिक को सुर्ख़ फूल पर रखने से वह सुर्ख़ दिखाई देता है, यहाँ सुर्ख़ फूल उपाधि है

उल्हाट शक्ति - कुंडलिनी

ओडियाण - हठयोग में तीन बंधों में से दूसरा बंध

ॐ - ब्रह्मवाचक अक्षर. उस में अ, उ, म और अर्ध मात्रा ऐसी साडेतीन मात्राएँ हैं

औटावी मात्रा - ॐकार की साढ़ेतीन मात्राओं में से अंतिम अर्धमात्रा

औपाधिक - उपाधियुक्त

ऋद्धि - योग से प्राप्त हुआ ऐश्वर्य

ककारांत - सुषुम्ना नाड़ी की सिरा

कंद - १. नाभिकमल, २. उस में स्थित मणिपूर चक्र

कर्णजप - कान में कहा हुआ मंत्र

कर्मकांड - १. यज्ञादि विधानों का शास्त्र, २. पूर्वमीमांसा

कर्मयोग - निष्काम कर्म

कर्मेंद्रिय - कर्म करनेवाला इंद्रिय, हाथ, पाँव, जिह्वा, गुद और शिस्न ये पांच कर्मेंद्रियाँ हैं ।

कल्प - १. ब्रह्म का एक दिन, जो चार अब्ज बत्तीस कोट वर्ष का काल होता है. २. अनंतकाल

कांडत्रय - वेद में कर्म, उपासना और ज्ञान ऐसे तीन भाग

कुंड - यज्ञ में अग्नि के लिये तैयार की हुई कुछ गहरी जगह

कुंडली, कुंडलिनी - शरीर में मणिपूर चक्र के स्थान में सुप्त शक्ति, इसकी सर्पाकृति है ऐसे मानते हैं ।

कूर्म - एक उपप्राण जिस से आँखों की पलकें खुलती और बंद होती हैं ।

कृकर - छींक के रूप में बाहर आनेवाला उपप्राण

कृच्छ्र - एक उपोषण का व्रत. पहले दिन दोपहर का एक दफ़ा भोजन, दूसरे दिन एक दफ़ा शाम का भोजन, तीसरे दिन याचना करने के बिना प्राप्त हुआ भोजन और चौथे दिन उपोषण, इस तरह बारा दिन का व्रत

कृत - चार युगों में प्रथम, महाप्रलय के बाद कृतयुग से पुनः युगों का प्रारंभ

कैवल्य - मोक्ष

क्रतु - श्रौत यज्ञ

क्रमयोगी - क्रम से ब्रह्मप्राप्ति करने वाला योगी

क्षर - १. सृष्टिके विनाशी पदार्थ, २. उपाधियुक्त आत्मा

क्षेत्र - विकारसहित शरीर

क्षेत्रज्ञ - क्षेत्र को जानने वाला (आत्मा)

क्षेत्रसंन्यासी - संन्यासी जिसने अमुक क्षेत्र में रहने का नियम किया है

गगन - १. चिदाकाश, २. हृदयरूपी आकाश

गायत्री - १. विख्यात वैदिक मंत्र, २. गायत्री छंद जिसमें तीन पाद और चौबीस अक्षर होते हैं

गुण - १. पदार्थों के गुण, २. प्रकृति के तीन गुण - सत्त्व, रज, तम

चक्र - हठयोग में के छः चक्र. उनके नाम और शरीर के स्थान नीचे निर्दिष्ट हैं, १. मूलाधार (गुद), २. स्वाधिष्ठान (लिंग), ३. मणिपूर (नाभि), ४. अनाहत (हृदय), ५. विशुद्ध (कंठ), सहस्रार (तालू)

चंद्रामृत - मस्तक में विद्यमान तलैया का अमृत

चंद्र - इडा नाड़ी; देखो, सूर्य

चंद्रसूर्यसंपुट - इडा और पिंगला नाड़ियों का संगमस्थान

चराचर - स्थावर और जंगम

चांद्र - चंद्रामृत

चांद्रायण - पौर्णिमा में पंद्रह कौर खाकर वद्य पक्ष में प्रति दिन एकेक कौर कम करना और शुक्ल पक्ष में एकेक कौर बढ़ाना इस प्रकार एक माह किया हुआ व्रत

चित् - १. चैतन्य, २. ब्रह्म, ३. ज्ञान

चित्कलिका - ज्ञानरूपी ज्योति

चित्तचतुष्टय - मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार

चिदाकाश - चैतन्यरूपी आकाश

चैतन्य - आत्मतत्त्व

जारज - गर्भाशय से उत्पन्न हुई सृष्टि

जालंधर - योगशास्त्र में बताया हुआ बंध

जितेंद्रिय - जिस ने इंद्रियों पर संयम किया है

जीव - जीवात्मा

तत् - ब्रह्मवाचक शब्द

तन्मात्रा - १. ॐकार की मात्राएँ, २. पंचमहाभूतों के सूक्ष्म विषय

तम, तमस्, तमोगुण - जिससे अज्ञान और क्रोधादि मनोविकार उत्पन्न होते हैं वह गुण

तर्क - १. अनुमान, २. तर्कशास्त्र

तापत्रय - आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीन प्रकार के दुःख

तुरिया, तुर्या - जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति के परली ज्ञानरूपी चौथी अवस्था

त्याग - कर्मफल की इच्छा छोड़ देना

त्रयी - तीन वेद, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद

त्वंपद - अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् जीवात्मा

दम - बाह्येंद्रियों का निग्रह

द्वैत - आत्मा परमात्मा से भिन्न है यह मत

धर्म - कर्तव्यकर्म, तीसरा पुरुषार्थ

धारणा - अष्टांगयोग का छठा अंग

ध्यान - अष्टांगयोग का सातवा अंग

नवद्वार - दो आँखें, दो कान, दो नथुने, मुँह, गुद और शिश्न ये नऊ द्वार

नवरस - साहित्यशास्त्र के नौ रस, शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शांत

नाग - एक उपप्राण जो जम्हाई उत्पन्न करता है

नाथसंकेत का दंश - नाथसंप्रदाय का रहस्य

नाद - चतुर्विध वाचाओं में तीसरा प्रकार, मध्यमा

नादाकार - मध्यमा और वैखरी

नादब्रह्म - नादरूप में प्रकट ब्रह्म

नामघोष - ईश्वर के नाम का घोष

निघंटु - यास्काचार्य ने निरुक्त में दिया हुआ वेदों का शब्दकोश

निदिध्यास - एकाग्र चिंतन

नियम - अष्टांगयोग में दूसरा अंग, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान; ये हठयोग में दस नियम बताये हैं।

निरुपाधिक - उपाधिरहित

निवृत्ति - विहितकर्म का त्याग

निषिद्ध - वह कर्म जिस को शास्त्र ने मना किया है

नैष्कर्म्य - कर्मरहित स्थिति

न्याय - षड्दर्शन में एक दर्शन, जिस में प्रमाणों का निरूपण किया है

पंचाग्नि - चार दिशाओं में अग्नि कुंड रखकर मध्याह्न काल तक की गयी साधना (पाँचवा अग्नि ऊपर सूर्य देव)

पांचभौतिक - पाँच महाभूतों का बना हुआ

पचीसवाँ - सांख्यमत के अनुसार जो प्रकृति के चौबीस तत्त्व हैं उस से परला पचीसवाँ तत्त्व, पुरुष (आत्मा)

पद्मासन - योग में कहा हुआ एक आसन

परतत्त्व - परब्रह्म

परमधाम - मोक्ष

परमार्थ - ब्रह्मज्ञान

परा - चार वाणियों में से पहली, अत्यंत सूक्ष्म वाणी

परिग्रह - प्रापंचिक वस्तुओं का संग्रह

पश्यंती - चार वाणी में दूसरी

पसायदान - प्रसाद का प्रदान

पाखंड - वेदविरोधी मत और आचार

पिंगला - एक नाड़ी जिस में दाहिने नथुना से वायु चलती है

पुण्यगिरि - आज्ञाचक्ररूपी पर्वत
पुनरावृत्ति - पुनर्जन्म
पुरोडाश - यज्ञ के लिये पकाया हुआ अन्न
पूर्णाहुति - यज्ञ के अंत में देवताओं को दी हुई आहुति
पूर्वमीमांसा - कर्मकांड
प्रकृति - १ जड सृष्टि का मूलतत्त्व, २ स्वभाव
प्रत्यगावृत्ति - चित्तकी आत्माकार वृत्ति
प्रत्याहार - अष्टांगयोग का पाँचवा अंग; इंद्रियोंको विषयोंसे दूर रखकर उनको अंतर्मुख करना
प्रमा - यथार्थज्ञान
प्रमाण - ज्ञान का साधन
प्रमेय - प्रतिपादन किया हुआ विषय
प्राणायाम - प्राणों का निरोध, अष्टांग योग का चौथा अंग
प्राप्त - पहुँचा हुआ
प्रायश्चित्त - पापक्षालनके लिये किया हुआ कर्म
बंध - १ बंधन; २ हठयोगमें की विशिष्ट मुद्रा
बंधत्रय - तीन बंध, गुदस्थानमें मूलबंध, नााभिस्थानमें ओढियाणा और कंठस्थान में जालंधर
बाह्यकर्म - केवळ यज्ञयागादि कर्म, ज़िसका चित्त से संबंध नहीं होता
बाह्यज्ञान - लौकिक विषयों का ज्ञान
बिंब - ॐकार की अर्धमात्रा
बुद्धि - अष्टधा प्रकृति में से एक, महत्तत्त्व
बुद्धियोग - निष्काम कर्मयोग
बृहत्साम - सामवेद में से एक विशिष्ट साम
ब्रह्म - १ आद्य व्यापक परम तत्त्व; २ वेद; ३ ब्रह्मदेव
ब्रह्मरंध्र - मस्तक के मध्यभाग का एक गुप्त छिद्र, जो शिवजी का निवास स्थान है
ब्रह्मसूत्र - बादरायणकृत वेदांत का सूत्रग्रंथ
ब्रह्मास्मिबोध - 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान
ब्रह्माहंमंत्र - 'मैं ब्रह्म हूँ' यह मंत्र
भूत - १ प्राणी; २ पंचमहाभूत, पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश
मकार - ॐकार की तीसरी मात्रा
मणिपूर - षट्चक्र में से नाभिमध्यस्थित चक्र
मध्यमार्ग - सुषुम्ना नाडी का मध्यमार्ग
मध्यमा - १ सुषुम्ना नाड़ी, २ चारमेंसे तृतीय वाणी.
महत् - सांख्य शास्त्र में चौबीस तत्त्वों में से द्वितीय
महद्ब्रह्म - प्रकृति
महायज्ञ - याग, पांच महायज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, और ब्रह्मयज्ञ

महावाक्य - उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य का प्रतिपादन करनेवाला वचन

माया - प्रकृति, आदमी को मोहित करनेवाली ईश्वर की शक्ति

मारुति - कुंडलिनी का नाम जब वह वायुरूप होकर रहती है

मीमांसा - षड्दर्शनों में पाँचवा और छठा दर्शन, पूर्वमीमांसा (कर्मकांड) और उत्तर मीमांसा (ज्ञानकांड)

मुद्रा - हठयोग में प्रतिपादित एक विशिष्ट शारीरिक क्रिया; चित्त स्थिर करने के लिये दस मुद्राएँ कही गयी हैं।

मूलबंध - हठयोग में एक बंध, जिसमें योनिस्थान आकुंचित करके अपानवायु का अधोगमन रोका जाता है।

यम - अष्टांगयोग में प्रतिपादित पहला अंग, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। हठयोग में दस यम कहे गये हैं।

यमदम - मन:संयम और इंद्रियनिग्रह

युक्ति - निष्काम कर्म करने में कौशल

युक्तित्रय - मूल, जालंधर और ओढियाणा ये तीन बंध

युग - कालविभाग, कृत, त्रेता, द्वापर और कलि

यूप - यज्ञपशु बांधने के लिये खंभा

योग - १ कर्म. सांख्य, भक्ति इत्यादि साधन मार्ग; २ कर्मयोग; ३ अष्टांगयोग

योगक्षेम - अप्राप्य वस्तुओं का उपार्जन और प्राप्त वस्तुओं का रक्षण

योगनिद्रा - ईश्वर की निद्रा

योगपट्ट - नये संन्यासी को बताये हुए नियम

योगभूमि - योग की सप्त भूमिकाएँ

रज, रजस् - रजोगुण, तीन गुणोंमें से एक, जिससे आदमी की प्रवृत्ति कर्म करने की ओर होती है।

रस - १ पांच विषयों मे एक : २ साहित्यशास्त्रमें नौ रस गिने गये हैं। वे हैं श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त

रसना - जिह्वा, पांच ज्ञानेंद्रियों मे एक

राजयोग - पतंजलि मुनि का अष्टांग योग

राजस - रजोगुणात्मक

रूप - पांच विषयों में एक

रेचक- नाक मेंसे बाहर चलनेवाली वायु

रौरव-इक्किस नरकोंमें से एक

लोकपाल - आठ दिक्पाल, इंद्र, अग्नि, यम, वरुण, नैऋत, वायु, कुबेर और ईशान

लोकसंग्रह - समाज की व्यवस्था का रक्षण
वज्रासन - १. योगमें एक आसन; २ मूलबंध
वाचासिद्धि - एक सिद्धी जिससे जो जो योगी बोलता है वह सच्चा होता है,
विज्ञान - १ प्रपंचज्ञान; २अनुभूतिपूर्णज्ञान
विधि - शास्त्रविहित नियम
विश्वाभास -दृश्य विश्वका आभास
विहित - शास्त्रमें प्रतिपादित किया हुआ
वेदी - धर्मकार्य के लिये बनायी हुई ऊँची भूमि
वैखरी - चार वाणियों में एक
वैतरणी - एक नदी जो मृत्यु के बाद लाँघनी पड़ती है
शब्द - पाँच विषयों में से एक
शशि - १ चंद्र; २ इडा नाड़ीसे चलनेवाली वायु
शांत, शांतरस - साहित्यशास्त्रके नौं रसों में से एक
शांताद्भुत - शांत और अद्भुत रस
शांति - दैवी संपत्तियों में से एक गुण
शून्य - १निराकार ब्रह्म; २ आकाश
शृंगार, श्रिंगार - साहित्य शास्त्रमें एक रस
श्रुति - वेद
षट्कर्म - द्विजों के छः प्रकार का कर्म - अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह
सकाम - १ फलप्राप्ति की इच्छासे कर्म करनेवाला; २कामवासनायुक्त
सत्रवी - व्योमचक्र में विद्यमान चंद्रामृत - रूपी जीवनकला
सैंतीसवाँ - गीता के तेरहवें अध्याय में बताये हुए छत्तीस तत्त्वों से परला तत्त्व, ब्रह्म
सत्त्व, सत्त्वगुण - तीन गुणों में प्रथम
सत्त्वशुद्धि - अंतःकरण की शुद्धि
सद्भाव - यह विश्वरूप सत्य है यह भावना
संन्यास - शरीरधारणा के लिये ही कर्म करके अन्य कर्मों का त्याग
सप्तधातु - शरीर में के सात पदार्थ - चरबी, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और स्नायु
समाधि - अष्टांगयोग में अंतिम अंग, योग का एक क्रियाविशेष
समान - नाभिस्थित प्राण, जो अन्नरस को सब शरीर में बिखरता है
समिधा - होम के लिये उपयुक्त लकड़ी
साक्षात्कार - प्रत्यंक्ष दर्शन
सांख्य - १ षड्दर्शनमें से एक; २सांख्यतत्त्वज्ञ
सांख्ययोग - संन्यासपूर्वक ज्ञानयोग

सात्त्विक भाव - चित्त की भक्तिपूर्ण अवस्थाएँ, स्वेद, स्तंभ, रोमांच, स्वरभंग, कंप, अश्रु, वैवर्ण्य और प्रलय आदि भाव

सामवेद - तृतीय वेद

सायुज्य - मोक्षका चौथा प्रकार, ईश्वर के साथ जीवात्मा का ऐक्य

सिद्ध - पूर्णता प्राप्त व्यक्ति

सिद्धि - योगकी आठ सिद्धियाँ, अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायिता

सुषुम्ना - इडा और पिंगला इन दोनों के बीच की नाड़ी

सोहं - मैं ब्रह्म हूँ

सोहंभाव - मैं ब्रह्म हूँ, यह भाव

स्पर्श - त्वचेंद्रिय का विषय

स्वाधिष्ठान - लिंगमूलप्रदेश में स्थित योगचक्र

स्वसंवित्ति - आत्माकी अनुभूति

स्वरूप - १ आत्मस्थिति; २ विश्वरूप; ३ ब्रह्म

स्वस्ति - कल्याण

स्वस्तिवाद - कल्याण हो ऐसा वचन

हवनद्रव्य - यज्ञ में अर्पण करने का द्रव्य

हवि - १ हवन की वस्तु २ आहुति का शेषांश

हृदयाकाश - हृदय का प्रदेश

परिशिष्ट ३

ज्ञानेश्वरी में उल्लिखित पौराणिक कथाओं के संदर्भ

पृ. ३ यह कथा सुनकर जनमेजय का (ब्रह्महत्या का पाप) आसानी से नष्ट हुआ:-

जनमेजय हस्तिनापुर का राजा, परिक्षित का पुत्र और अर्जुन का पड़पोता था। परिक्षित का साँप के काटनेसे अंत हुआ। इसलिये जनमेजयने उसके प्रतिशोध में एक सर्पसत्र शुरू किया। अनेक सर्प होम कुण्ड में गिर कर मरे। अंतमें आस्तिक ऋषि की प्रार्थनासे जनमेजयने यज्ञ बंद किया। यज्ञ समाप्त होने पर यज्ञ में आये हुए ब्राह्मण सो गये। इससे कृद्ध होकर अपनी दुष्ट रानी की सलाह से उसने उनके ऊपर ठंडा पानी छिड़क दिया। उस पानी का शस्त्र बनकर वे ब्राह्मण मर गये और जनमेजय को कुष्ठ रोग हुआ। पश्चात् वैशंपायन से भारत सुनकर वह दोषमुक्त हुआ।

पृ. ५ समुद्र में गिरे हुए अपने बच्चे को निकालने के लिये टिटिहरी अपनी चोंचसे पानी भर भर कर उलीच रही थी।:-

एक टिटिहरी का छोना पकड़ कर एक मेंढ़क समुद्र में जाकर छिपा। टिटिहरी ने समुद्र से उसको लौटाने की प्रार्थना की, लेकिन समुद्र ने उसकी बात नहीं मानी। उसके बाद अपने बच्चे को निकालने के लिये वह अपनी चोंच से पानी भर भर कर उलीच रही। इसका पर्यवसान एक घोर युद्ध में हुआ और अंत में उस टिटिहरी को उसका छोना वापस मिला। श्रीज्ञानेश्वर कहते हैं कि उनका गीतार्थ कहने का प्रयास उस पक्षिणी का जैसा है।

पृ. १० साक्षात् शिवजी के अवतार हनुमान उसके ध्वजस्तंभपर बैठे हुए थे।:-

एक बार जब भीम द्रौपदी से प्रेमालाप कर रहा था, तब हवा में उड़ता हुआ एक सहस्रदल कमल उनके सामने आ गिरा। तब द्रौपदीने उस तरहके कई कमल लाने को भीम से कहा। जब भीम गंधमादन पर्वत पर जा पहुँचा, तब उसने देखा कि एक वानर अपनी पूँछ फैलाकर रास्ते में बैठ गया है। तब

उसने वानर को पूँछ हटाने को कहा। उसके न हटनेपर, भीमने उसके पूँछ को उठाकर एक तरफ़ रखनेका असफल प्रयत्न किया। तब वह उसकी शरण में गया। तब हनुमान ने अपना परिचय देकर उसको वर दिया कि 'रणमें मैं अर्जुन के रथ पर बैठकर तुम्हारी रक्षा करूँगा' (महाभारत वनपर्व, अ. १५०)।

पृ. १४ जिसने युद्ध में शिवजी को भी जीत लिया, :-

पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए अर्जुन ने भगवान् शंकर की आराधना की। उसके शौर्य की परीक्षा लेने के लिये श्रीशंकर ने किरात का रूप धारण किया और एक वराह के पीछे लगे। दोनों ने एक साथ बाण छोड़े, जिससे वराह की मृत्यु हुई। वराह किसका यह तय करने के लिये दोनोंमें युद्ध छिड़ गया। अर्जुन का पराक्रम देखकर शंकर भगवान् प्रसन्न हुए और उन्होंने अर्जुन को पाशुपतास्त्र दिया। (महाभारत वनपर्व अ. ३८)

पृ. १४ और निवातकवच राक्षसों को ठिकाने पहुँचाया।:-

निवात और कवच ये दोनो प्रऱ्हाद के भाई संऱ्हाद के पुत्र थे ।ये नागोंकी तरह रसातलमें रहनेवाले असुर थे। ये देवलोक में जाकर इंद्रादि देवताओं को परेशान करते थे। वे इंद्रको भी अजेय थे। इंद्र की प्रार्थना से वनवासकाल में अर्जुनने इनका संहार किया।

पृ. २२ और गंधर्वों से अपना यशोगान करवाया।:-

जब पांडव वनवासमें थे तब दुर्योधन अपने साथियों के साथ घोषयात्रा का निमित्त करके निकला था। अपना वैभव दिखाकर पांडवोंको लज्जित करने का उसका हेतु था। रास्ते में गंधर्व चित्ररथ अपनी रानियों के साथ जलक्रीडा कर रहा था। इसलिये उसके सेवकों ने उनको आगे जाने को मना किया। उस पर गंधर्वों के साथ युद्ध छिड़ा और गंधर्व दुर्योधन को पराजित करके बांध कर ले जाने लगे।उस समय धर्मराज के कहनेपर अर्जुनने चित्ररथ को हराकर दुर्योधन को रिहा किया।(महाभारत, वनपर्व, अ. २३७-४१).

पृ.२३ क्या मैं भस्मासुर हूँ कि उनके साथ विद्रोह करूँ?:-

भस्मासुर एक असुर था, जो शिवजीका परमभक्त था। इसने शिवजी की

आराधना करके यह वर पाया था कि, जिसके सिर पर यह हाथ रखेगा, वह तत्काल जलकर भस्म हो जायेगा। वर मिलतेही उसने शिवजी के सिर पर हाथ रखना चाहा और शिवजी भागने लगें। तब श्रीविष्णु ने माहिनी का रूप धारण करके उसके साथ मुक्त नृत्य किया। इस नृत्य की एक मुद्रा में उसको अपने सिर पर अपनाही हाथ रखनेके लिये विवश किया और उसका वध किया। मराठी भाषामें लिखित शिवलीलामृत अ.१२ में यह कथा प्राप्त है।

पृ. ५७ मैं गुरु सांदीपनि का मृत पुत्र यमलोकसे वापस लाया था।:-

श्रीकृष्ण बलराम के साथ अवंतीनगरमें सांदीपनि के आश्रम में पढ़ते थे। पढ़ाई समाप्त होने के बाद उन्होंने गुरुपत्नी से पूछा कि गुरुदक्षिणा क्या दूँ। उसने उनको अपने पुत्रको जो समुद्र में डूब मरा था उसको वापस लाने को कहा। तब वे दोनों यमलोक गये और यमराज को पराजित करके गुरुका पुत्र वापस ले आये। (विष्णुपुराण अ. ५)

पृ. ८४ भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर उपमन्यु को क्षीर समुद्र सौंपकर क्या उनकी दूध की चाह पूरी नहीं की?:-

उपमन्यु वसिष्ठकुलमें उत्पन्न व्याघ्रपाद का पुत्र था। बचपन में एकबार यह दूसरे मुनि के आश्रम में खेलने गया। वहाँ उसको गाय का दूध पीने को मिला। घर आकर उपमन्यु मातासे दूध माँगने लगा। माँने उसको पानी में आटा घोलकर दिया, वह उसको खराब लगा। माता ने उससे कहा कि पिछले जन्म में श्रीशंकर की आराधना न करने से उनको दूध नहीं मिलता। यह सुनकर उपमन्यु ने उग्र तपस्या की। श्रीशंकर उसपर प्रसन्न हुए और उसको क्षीरसागर दिया। (महाभारत अनुशासनपर्व, अ. १४)

पृ. १८५ मैंने चिउड़ा के लिये सुदामाकी पोटली की गाँठ खोली।:-

सुदामा श्रीकृष्ण का एक गरीब बालमित्र था जो उनके साथ सांदीपनि के आश्रम में पढ़ा करता था। वह पत्नी के आग्रह से श्रीकृष्ण से मिलने द्वारका गया था। श्रीकृष्ण ने उसको गले लगाकर पूछा कि मेरे लिये उपहार क्या लाये हो। उन्होंने उसके हाथ में पोटली देखकर छीन ली और उसमेंसे चिउड़ा (पोहा) निकालकर अत्यंत प्यार से खाने लगे। श्रीकृष्णकी मेहमानीसे तृप्त

होकर उसने उनसे कुछ नहीं माँगा और घर लौटा। घर आतेही उसने देखा कि भगवान ने उसे सुवर्णनगरी प्रदान की है ।(भागवत १०.८१).

पृ. १८७ जब नक्र से पकड़ जानेपर गजेंद्रने गिड़गिड़ाहटसे मेरा स्मरण किया:-

पांड्यदेश का राजा इंद्रद्युम्न अगस्त्य ऋषिके शापसे हाथी बन गया था। उसी समय हूहू नामक गंधर्व देवल मुनि के शापसे ग्राह बनकर त्रिकूट पर्वत के सरोवर में रहता था। एक दिन उन दोनों की मुठभेड़ हुई और ग्राह ने गजेंद्र को पकड़ लिया। तब हाथी ने गिड़गिड़ाकर विष्णु से प्रार्थना की। विष्णु वहाँ गरुड़पर सवार होकर आये और उन्होंने उस ग्राह को मार कर हाथी को मुक्त किया। तब वे दोनों शापमुक्त हो गये। यह कथा गजेंद्रमोक्ष नामसे प्रसिद्ध है। (भागवत ८.४).

पृ. १८८ मैंने नृसिंहावतार लिया:-

प्रल्हाद यह दैत्यराज हिरण्यकशिपु का पुत्र था। वह जन्म सेही बड़ा भगवद्भक्त था। लेकिन हिरण्यकशिपु विष्णु का द्वेष करते थे। उसने अपने पुत्र को भगवद्भक्ति छोड़ देने को कहा, परंतु प्रल्हाद राज़ी नहीं हुआ। इसलिये उसको पिता ने बहुत तंग किया। उसको विष पिलाया, अग्निमें ढकेल दिया और पर्वत के शिखर से फेंक दिया। किंतु भगवान् ने उसका रक्षण किया। एक़ दिन उसके पिता ने उससे चिढ़कर पूछा कि यह तेरा भगवान् है कहाँ? मुझको बता दो ताकि मैं उसको मार डालूंगा । तब प्रल्हादने कहा कि वह सभी जगह में है। तब उसने पूछा, क्या वह इस खंबे में है? उसके हाँ कहने पर उसने खंबे को लात मारी और उसमें से भगवान् नृसिंह रूपसे प्रकट होकर उन्होंने हिरण्यकशिपु का वध किया। हिरण्यकशिपुने उग्र तप करके ब्रह्माजीसे वर प्राप्त किया था कि घरके अंदर या घरके बाहर, दिन में या रातमें, आदमीसे या जानवरसे, सजीव या निर्जिव वस्तुसे मेरी मृत्यु न हो। तो भगवान्ने उसको बाधा न लाते हुए आधा मानव और आधा सिंह का रूप लेकर सायंकाल में देहली पर नखों से पेट फाड़कर उसको मारा। यह विष्णु का चौथा अवतार था। यह कथा प्रायः सब पुराणोंमें कही गयी है। (भागवत २.७)

पृ. १९० यह चरणलांछन मैंने अपने सीनेपर सुरक्षित रखा हैः-

एक दफ़ा ऋषि-मुनियों में बहस हुई कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश में कौन श्रेष्ठ है। यह जानने के लिये उन्होंने महर्षि भृगु को उनके पास भेजा। सबसे पहले महर्षि भृगु ब्रह्माजीके पास गये। भृगुने उनको न प्रणाम किया न तो उनकी स्तुति की। वे संतप्त हुए देख, वहाँसे भृगु कैलास में गये। उनको आते हुए देखकर श्रीशंकरने आनंदसे उन्हे आलिंगन करने के लिये भुजाएँ फैल दी। लेकिन भृगुने उनके आलिंगन का स्वीकार नहीं किया। इस पर श्रीशंकर आगबबूला हो गये। जब वहाँसे महर्षि भृगु वैकुंठ गये तब भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी की गोदमें अपना सिर रखकर लेटे हुए थे। भृगुजीने जाकर उनके वक्षःस्थल पर कसकर एक लात जमा दी। भगवान् विष्णु शीघ्र उठकर खड़े हो गये और बोले, "हे ब्रह्मन्, आपका स्वागत है। लत्ताप्रहारसे आप को चोट लग गयी होगी। आपके चरणों का यह चिह्न श्रीवत्स मैं सतत धारण करूंगा। यह कहकर वह उनके चरण सहलाने लगे। तबसे भगवान् विष्णुको सर्वश्रेष्ठ मानने लगे और उनको श्रीवत्सलांछन कहने लगे । (भागवत १०.८९)

पृ. १९० श्रीशंकरने अपने माथेपर अर्धचंद्र धारण किया।:-

जब समुद्रमंथन से हालाहल नामक उग्र विष निकला तब सभी के होश उड़ गये। समस्त प्रजा और प्रजापति भयभीत होकर भगवान् शंकर के पास गये और उनको विष हज़म करनेकी प्रार्थना की। श्रीशंकरने विश्वके कल्याण के लिये उनकी बात मान ली और वह ज़हर एक घूंट में पी गये। तब उनका कंठ नीला पड़ गया और उस विषसे उनके शरीर में दाह होने लगा। उस दाह को बुझाने के लिये उन्होंने माथेपर अर्धचंद्र धारण किया ।(भागवत ८.७)

पृ. १९१ जिस मृत्युलोक में चाँद क्षयसे बीमार हैः-

चंद्र अत्रि और अनसूया का पुत्र था। उसका दक्षप्रजापति के सत्ताईस कन्याओं के साथ ब्याह हुआ था। लेकिन उसका रोहिणी से विशेष प्यार था। यह न सह कर उसके अन्य स्त्रियों ने अपने पिता के पास शिकायत की। दक्ष

ने चंद्र को समझाने की कोशीश की, किंतु कुछ लाभ नहीं हुआ। तब दक्ष ने उसको शाप दिया कि तुम्हे क्षयरोग हो जायेगा। उस शाप की वजह से वह दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगा। उससे ओषधिवनस्पतियों पर बुरा असर होने लगा। तब देवताओंने दक्षसे मिन्नतें कीं कि उस को उःशाप दे। उसपर दक्षने कहा कि वह माह में पंद्रह दिन क्षीण होगा और उसके बाद पंद्रह दिन बढ़ जायेगा। लेकिन उसको सब पत्नियों के साथ समान पेश आना होगा और पश्चिम सागर के पास सागर मुख में स्नान करना होगा। इसीलिये इस तीर्थको प्रभास नाम प्राप्त हुआ। (महाभारत, शल्यपर्व अ. ३४)

पृ. १९५ किंवा धुव्र के रूठ जाने पर उसको अटल पद का मिष्टान्न देकर भगवान् विष्णु ने उसको मना लियाः-

उत्तानपाद राजा को सुनीति और सुरुचि ये दो रानियाँ थी। वह सुरुचिसे प्यार करता था, और उसको सुनीतिसे नफ़रत थी। एक दिन सुरुचि का पुत्र उत्तम पिता की गोद में बैठकर खेल रहा था। उसे देखकर सुनीति का पुत्र ध्रुव भी पिता की गोद पर चढ़ने लगा। लेकिन उसको विमाताने डांटकर धकेल दिया। अतः ध्रुव घर छोड़कर मधुवन में तपस्या करने चला गया। नारद ऋषिने उसका दृढ संकल्प देखकर उसको 'ॐनमो भगवते वासुदेवाय' यह मंत्र दिया। उसकी तपस्या से भगवान् प्रसन्न हुए और उसको प्रथम राज्यपद और बादमें स्थिर धुव्रपद प्रदान किया ।(भागवत ४-८)

पृ. १९६ वसिष्ठ ऋषिने अपनी कफनी से सूरज की रोशनी डाली।:-

वसिष्ठ और विश्वामित्र इन दोनों में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि कौन इस विषयमें वाद उत्पन्न हुआ। उसमें उन्होंने सूरज को पंचके रूपमें बुलाया। सूर्यने मान्य करके पूछा कि मेरी अनुपस्थिति में जगत्को प्रकाश कौन देगा। तब वसिष्ठने अपनी कफनी बिछाकर सूर्यप्रकाश निकलवाया। (वायुपुराण अ.३६)

पृ. १९६ विश्वामित्रने प्रतिसृष्टि निर्माण की।:-

त्रिशंकु एक बडा धार्मिक राजा था। उसको सदेह स्वर्गमें जाने की इच्छा थी। वसिष्ठ ऋषिके शापसे उसे चंडालत्व प्राप्त हुआ था। विश्वामित्रने उसके लिये सदेह स्वर्ग में भेजा। किंतु इंद्रने उसे नीचे ढकेल दिया। तब वह नीचे सिर तथा ऊपर पैर करके आने लगा। विश्वामित्रने उसको 'रुको रुको' चिल्लाकर

बीच में रोका। उसकी दु:स्थिति देखकर विश्वामित्रने इंद्ररहित नया स्वर्ग निर्माण करना शुरू किया। अंत में त्रिशंकु को नक्षत्रमाला में स्थान देकर इंद्रने समझोता किया और विश्वामित्रने प्रतिसृष्टि निर्माण करने का कार्य बंद किया ।(हरिवंश. १.१३)

पृ. १९६ श्रीरामप्रभु ने पत्थरों का पूल बांधकर अपनी सेना के साथ समुद्र पार किया।:-

रामसेना में नलनामक एक स्थापत्यविशारद था। वानरसेना को समुद्र के पार करके लंका ले जाने के लिये श्रीराम ने उसको सेतु बांधने की आज्ञा दी। लेकिन जब वानरसेना ने समुद्रमें पत्थर फेंकना शुरु किया तो वे डूबने लगे। फिर उन पर रामनाम लिखकर पत्थर फेकें, तो वे तैरने लगे। इस तरह नल ने समुद्र पर सौ योजन लंबे एवं दस योजन चौड़े सेतु का निर्माण किया जिससे वानरसेना आसानी से लंका पहुँची ।(रामायण युद्धकांड अ. २९)

पृ. १९६ हनुमानने जन्म लेतेही सूरज को फल समझकर हाथमें पकड़ा।:-

मारुति यह वायुपुत्र था, जो अंजना के कोख से उत्पन्न हुआ था। वह जन्म लेतेही प्रभातकालीन सूर्यबिंब को फल समझकर पकड़ने के लिये ऊपर जाने लगा। तब उसपर इंद्रने वज्रप्रहार किया। उससे उसकी हनु छाट गयी और उसको हनुमान् नाम प्राप्त हुआ (पद्मपुराण, पाताल ११४)

पृ १९६ अगस्त्य ऋषिने एकही आचमन में समुद्र का पान किया।:-

अगस्त्य मित्रावरुणोंके वीर्यसे कुंभ में उत्पन्न हुआ था। इसी कारण उसको मैत्रावरुणि तथा कुंभयोनि कहते हैं। समुद्र में रहनेवाले कालकेय दैत्य लोगों को काफ़ी तंग करते थे। इसलिये देवताओं के प्रार्थना से अगस्त्य ऋषि ने समुद्र प्राशन कर लिया। पश्चात् देवताओं ने कालकेयों की हत्या करके सभी को यातना से मुक्त किया। बादमें इसने समुद्र को पेट में से निकाल दिया (महाभारत वनपर्व १०३)

पृ. २०९ जो त्रिभुवन में सेनानायकों में श्रेष्ठ है, वह कार्तिकेय मैं ही हूँ।:-

शिवजीका वीर्य शरवण वनमें गिरा, जिसको अग्नि ने धारण किया। लेकिन अग्नि उसको जादा समय तक रख नहीं सका, इसलिये उसने उसे

गंगा को सोंप दिया। गंगा ने भी उसको कुछ समय के बाद भूमि पर छोड़ दिया, जहाँ उसको छः कृत्तिकाओंने धारण किया। उन कृत्तिकाओं को एकही समयमें छः पुत्र हुए। लेकिन आश्चर्य की एक बात हुई कि वे छः पुत्र मिलकर एक बालक बना, जिसे छः मुख और बारा हाथ थे। इसलिये उसको (वीर्य-स्कन्द होनेसे) स्कंद, अग्निभू, गांगेय, कार्तिकेय और षडानन ऐसे नाम प्राप्त हुए। वह देवों का सेनापति बना और उसने तारकासुर का वध किया (महाभारत वनपर्व २२०) इसपर कालिदासने कुमारसंभव नामक महाकाव्य लिखा है।

पृ. २१० जिसको भगीरथ ले आनेपर जन्हुने निगल लिया और फिर जंघासे बाहर निकाल दिया, वह जान्हवी नदी मैं हूँ।:-

भगीरथ का पूर्वज सगर था, जिसके साठ हजार पुत्र थे। वे कपिल ऋषिके शाप के कारण दग्ध हो गये थे। उनके उद्धार के लिये भगीरथ कड़ी तपस्या करके गंगा को स्वर्गसे पृथ्वीतल पर लाया। रास्तेपर उसके प्रवाह में जह्नु का यज्ञमंडप डूब गया। इससे क्रुद्ध होकर जह्नुने गंगा को निगल लिया। फिर भगीरथ की प्रार्थनासे उसने उसको जँघासे निकाल दिया। इसलिये गंगा को लोग जाह्नवी याने जह्नु की पुत्री कहते हैं। पश्चात् भगीरथ गंगा को उस स्थान पर ले गया, जहाँ उसके पितर दग्ध हुए थे। गंगाजल के स्पर्श मात्र से उसके पितर शापमुक्त हो गये। इसके बाद गंगा को भागीरथी नाम प्राप्त हुआ। (महाभारत वनपर्व १०७).

पृ. २१३ मैंने वसुदेव और देवकी के लिये जन्म लिया और यशोदा की बेटीके बदले में गोकुल में गया।:-

वसुदेव एक यादव राजा था और वह मथुरानरेश उग्रसेन का मंत्री था। उग्रसेन के भाई देवक की पुत्री देवकी से उसका ब्याह हुआ था। इसके विवाह के समय आकाशवाणी हुई थी कि उसका पुत्र कंस जो उग्रसेन का पुत्र और देवकी का चचेरा भाई था, उसका वध करेगा। कंसने अपने पिता उग्रसेन को कारागृह में रखा और स्वयं राजा बना। उसने आकाशवाणी सुनकर वसुदेव और देवकी को कारागृह में रख दिया और लगातार उसके सात शिशुओंको मारा। किंतु जब देवकी के आठवे पुत्र का जन्म हुआ, तब वसुदेव रात्रि में उसको लेकर, ब्रजमें नंद गोप के घर गया, और वहाँ उसको छोड़कर नंद और यशोदा की नवजात कन्या लेकर मथुरा गया। (भागवत १०.३)

पृ. २१३ वहाँ स्तनपान देनेके बहानेसे पूतना आई थी उसको प्राणदंड दिया ।:-

पूतना को कंसने कृष्णवध के लिये गोकुल भेजा था। वह राक्षसी एक सुंदर स्त्री का रूप धारण करके बालकृष्ण को दूध पिलाने लगी। इसके पहले उसने अपने स्तन विष से पोते थे। कृष्णने उसका पूरा लहू चूस लिया तथा उसका जीवन भी पी गये। मृत्यु के बाद पूतना अपना भयंकर रूप धारण कर नीचे गिर पड़ी। श्रीकृष्णके हाथसे मृत्यु होनेके कारण उसको मुक्ति मिली। (भागवत १०.६) ।

पृ. २१३ फिर गोवर्धन पर्वत को हाथ पर उठाकर इंद्रका महत्त्व कम किया ।:-

गोकुलमें प्रतिवर्ष गोपगोपियाँ इंद्रोत्सव बडे धूमधामसे मनाते थे। उसको बंद करके श्रीकृष्ण ने वहाँ गोवर्धनउत्सव शुरू किया। इससे क्रुद्ध होकर इंद्रने गोकुल पर अतिवृष्टि की। श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वत को हाथपर उठाकर गोकुलवासियों को इस संकटसे बचाया। यह देखकर इंद्र श्रीकृष्णकी शरण में आया। (भागवत १०, २४, २५).

पृ. २१३ मैंने कालिय नागको हटाकर यमुनाजी का दुखदर्द दूर किया ।:-

कालिय एक श्रेष्ठ नाग था, जिसने गरुड़के भय से कालिंदी का आश्रय लिया था। सौभीर मुनिके शापसे वहाँ गरुड़ प्रवेश नहीं कर सकता था। कालिय की विषज्वालासे आसपासके पेड़पौधे और पशुपक्षी जल जाते थे। वहाँ का विषैला पानी पीकर कई गोप-गोपियों की भी मृत्यु हुई थी। श्रीकृष्णने कालिय का मर्दन किया और उसको वर दिया कि उसके सिरपर उनका पदचिह्न अंकित होनेसे गरुड़ उसका अनिष्ट नहीं करेगा। उसके बाद कालिय रमणीक द्वीपमें चला गया ।(भागवत १०.१६)

पृ. २१३ जब ब्रह्मदेव गोकुलके बछड़े चुराकर ले गये, तब मैंने दूसरे बछड़े उत्पन्न करके उनको बावला बना दिया ।:-

श्रीकृष्ण का सामर्थ्य परखनेके लिये ब्रह्मजी गोकुल के बछड़े चुरा कर ले गये। तब श्रीकृष्ण स्वयं ही बछड़े बने। एक सालके बाद जब ब्रह्मा वहाँ

आये तो वहाँ का दृश्य देखकर चकित हो गये । भगवान् की इस लीला को देखकर वे उनके चरणों पर गिरे और गद्गद वाणी से भगवान् की स्तुति करने लगे ।(भागवत १०.१३, १४) ।

पृ. २१३ तुम संन्यासी होकर मेरी बहन सुभद्रा को भगाकर ले गये ।:-

वसुदेव एवं देवकी की कन्या सुभद्रा थी । यह कृष्णकी छोटी बहन थी । लेकिन बलराम इसका विवाह दुर्योधनसे करना चाहता था । तीर्थयात्रा के समय अर्जुन घूमते घूमते द्वारका पहुँचे । वहाँ सुभद्रा को देखकर उसने इसे अपनी रानी बनाने का मनोदय श्रीकृष्णके समक्ष प्रकट किया । श्रीकृष्ण भी यही चाहते थे । उन्होंने अर्जुनको त्रिदंडी संन्यास लेने को कहा । बलराम ने अर्जुन को संन्यासी समझकर अपने महल में लाया और उसकी सेवा के लिये सुभद्राको नियुक्त किया । पश्चात् श्रीकृष्ण की सलाह से रैवतक पर्वत में हुए महोत्सव के समय अर्जुन ने उसका हरण किया । (महाभारत आदिंपर्व २११-१२, भागवत १०-८६)

पृ. २१९ राजा अंबरीष के लिये उन्होंने दस दफ़ा गर्भवास सहन किया ।:-

अंबरीष, नाभाग का पुत्र बड़ा शूर तथा धार्मिक राजा था । एक बार कार्तिक माह की एकादशी का उपोषण था । द्वादशीके दिन उसके घर दुर्वास ऋषि आये और उसने उनको भोजन का नेवता दिया । हाँ कहकर दुर्वास ऋषि आह्निक करने नदी पर गये । इधर द्वादशी काल समाप्त हो रहा था, इसलिये राजाने नैवेद्य समर्पण किया और तीर्थ लेकर उपवास छोड़ा । यह जानकर दुर्वास ऋषि क्रोध से तिलमिला उठे और उन्होंने अपनी जटाके बाल से निर्मित एक कृत्या उस पर छोड़ी और उसको शाप दिया कि दस दफ़ा उसको गर्भवास सहन करना पड़ेगा । तुरंत विष्णुने सुदर्शन से कृत्या का नाश किया और वह चक्र दुर्वासका पीछा करने लगा ।वे भागकर सब देवताओं के पास गये, लेकिन किसीने भी उसका संरक्षण करना स्वीकार नहीं किया । भगवान् विष्णु ने उनको अंबरीष के पास जाने को कहा । अंबरीषने दुर्वास को देखतेहीं उनकी आवभगत की और सुदर्शन चक्र की स्तुति करके उसको वापस भेजा । भगवान् विष्णुने अंबरीष का शाप अपने सिर पर लेकर दस अवतार लिये । (भा. ९.४.५) ।

पृ. २२१ जब हम लाक्षागृह में जलनेवाले थे तो आपने हमको बाहर निकाला ।:-

दुर्योधनने पांडवों को वारणावत में भेजकर लाक्षागृह में जलवा देने की चालबाज़ी की। इसका पता विदुरको मिला, जो धृतराष्ट्र का सौतेला भाई और मंत्री था। यह बड़ा धार्मिक, राजनीतिज्ञ और पांडवों का पक्षपाती था। इसने इस कौरवोंके षड्यंत्रकी युधिष्ठिर को सांकेतिक भाषा में जानकारी दी। लाक्षागृह में अपना दूत भेजकर एक सुरंग बनवाया। एक रात्रिमें लाक्षागृह को जलाकर पांडव सुरंगसे बाहर निकल गये। संयोगसे उसी रात्रिमें एक भिल्लीण अपने पांच पुत्रों के साथ वहाँ आई थी, जो जलकर खाक़ हुए। तो दुर्योधन को लगा कि उसकी योजना सफल हो गयी। इस तरह भगवान ने विदुर के द्वारा पांडवोंकी रक्षा की। (महाभारत आदिपर्व परिशिष्ट १)

पृ. २२१ मानों दुराग्रहरूपी हिरण्याक्ष दैत्य ने मेरी बुद्धिरूपी पृथ्वी को बगलमें दबाकर मोहरूपी समुद्र के तल में ले गया था।:-

हिरण्याक्ष एक दैत्य राजा था, जो कश्यप और दिति का पुत्र और हिरण्यकशिपुका भाई था। यह देवों को काफ़ी त्रस्त करता था। देवों की रक्षाके लिये विष्णुने इसके साथ युद्ध शुरु किया। जब विष्णु की विजय होने लगी तब यह पृथ्वी को लेकर समुद्रमें भाग गया। विष्णु ने वराह का रूप धारण करके पृथ्वी को बाहर निकाला। इस समय वराह के पाँवके नीचे दबकर यह मर गया। (भागवत ३.२८)।

पृ. २२४ जब जीवन के अंतिम क्षण में अजामिल ने बेटे को नारायण कहकर पुकारा, तब आपने उसको मुक्त किया।:-

अजामिल एक कान्यकुब्ज देश का ब्राह्मण था। यह माँबाप और पत्नी को छोड़कर एक वेश्या के संग में कुमार्ग पर चलने लगा। इस वेश्या का सबसे छोटा पुत्र नारायण था, जिससे वह अत्यधिक प्यार करता था। मरणसमय आनेपर यह उसीको पुकारता रहा। यह पुकार सुनकर विष्णुदूत वहाँ आये और उन्होंने इसको यमदूतों से मुक्त किया। विष्णुदूतों द्वारा प्रतिपादित शुद्ध भागवत धर्म सुनकर इसको बड़ी उपरति हुई और यह भगवद्भक्त बन गया। अंतमें यह

गंगा में देहत्याग करके मुक्त हो गया। (भागवत ६, १, २)।

पृ. २२४ आपका दुश्मन जो शंखासुर था उसका मुख याने शंख अपने हाथ में धारण किया।:-

शंखासुर एक पराक्रमी असुर था जो समुद्र में रहता था। जब एक समय भगवान् विष्णु योगनिद्रां में सो रहे थे, इसने वेदों का हरण किया और समुद्रमें जाकर छिप गया। वेदों के लुप्त हो जानेपर पृथ्वी की जनता संत्रस्त हो गयी और ब्रह्मा ने विष्णु को जगाकर शंखासुरका वध करनेकी प्रार्थना की। पश्चात् भगवान् विष्णु ने मत्स्यरूप धारण कर समुद्र में प्रवेश किया और इसका वध किया और उसका शरीर, जो शंख था, उसको विष्णु ने हाथमें धारण किया। (पद्मपुराण सृष्टिखंड १, उत्तरखंड ९०-९६)

पृ. २२४ बलि दैत्यके पास आप दान माँगने गये और आप उसका रखवाला बने।:-

बलि एक असुर राजा था, जो प्रह्लाद का पोता और विरोचन का पुत्र था। यह बड़ा दानी था। भगवान् विष्णु एक ब्राह्मण बटु के रूपमें इसके यज्ञमंडप में गये। उन्होंने इससे तीन पग भूमि की याचना की। शुक्राचार्य ने उसको रोका और चेतावनी दी कि विष्णुही वामन का रूप धारण करके यहाँ आये हैं। बलि ने शुक्राचार्य की सलाह न मानकर 'तथास्तु' कहा। तब वामनने विराट रूप धारण करके दो पगों में पृथ्वी और स्वर्ग व्याप्त किया और तीसरा पग बलि के मस्तक पर रखकर उसको पाताल भेजा। फिर बलिने वामन की स्तुति की और भगवान् इसके द्वारपाल बने। (महाभारत सभापर्व, परिशिष्ट १, भागवत ८-१८,२१)

पृ. २२८ श्रीकृष्णने जब बचपनमें मिट्टी खाई थी।:-

एक समय बालकृष्ण बलराम और बालगोपालोंके साथ खेल रहा था। उन्होंने मा यशोदा के पास आकर कहा कि 'माँ, कन्हैय्याने मिट्टी खाई है। यशोदा ने कृष्ण को डाँटा और उसको मुँह खोलने को कहा। तब उसको कृष्णके मुँह में विश्वदर्शन हुआ। (भागवत १०.८)

पृ. २२८ किंवा मधुवनमें धुव्रके गाल को जब उन्होंने शंखसे स्पर्श किया,: -

जब धुव्र मधुवनमें कड़ी तपश्चर्या कर रहा था, तब श्रीविष्णु उसके पास

आये और उसे सगुण रूपमें दर्शन दिया। जिनका वह छः महिनोंतक ध्यान कर रहा था, उनको साक्षात् देखकर वह अवाक् हो गया। श्रीविष्णु की स्तुति करने की ध्रुवने बहुत कोशिश की, लेकिन मुँह नहीं खोल सका। तब भगवानने ध्रुव के कपोल को शंख से स्पर्श किया। शंख का स्पर्श होतेही उसकी वाणी खुल गयी और उसने विष्णुका ऐसा स्तवन किया कि वेद भी लज्जित हो गये। (भागवत ४.९) देखिये पृ. ५८९

पृ. २२९ जिस तरह ब्रह्मलोक तक लबालब भरे हुए जलमें मार्कंडेय ऋषि अकला तैर रहा था, :-

मार्कंडेय, मृकंड मुनिके पुत्र, बड़े तपस्वी, ज्ञानी और भक्त थे। उन्होंने हिमालय में पुष्पभंद्रा नदी के किनारे तपस्या की। भगवान् विष्णु प्रसन्न हो गये और वर माँगने को कहा। मुनीने भगवान् की माया देखनेकी इच्छा प्रकट की। भगवान ने 'तथास्तु' कहा और चल दिये। एक दिन मुनि संध्या के समय नदीके तट पर बैठे थे। तब उन्होंने देखा कि सब लोक जल-प्रलय में डूब गये हैं। मार्कंडेय बहुत सालतक उस प्रलय-जल में बड़े कष्टसे तैर रहे। तब उन्होंने प्रलय-जल के बीच एव वटपत्र पर एक कोमल बालक को लेटे हुए देखा। बालक के पास जानेपर उसके श्वास के साथ मुनि ने उसके उदर में प्रवेश किया। उस शिशु के पेटमें उन्होंने वही सृष्टि देखी जो प्रलय के पहले थी। कुछ सालों के बाद श्वास की गति से वे बाहर आये और अपनेको पूर्ववत् पुष्पभद्रा तटपर देखा। इस तरह उनको भगवान् की माया का अनुभव हुआ और उन्होंने भगवान् की स्तुति की। (भागवत १२.८,१०)

पृ. २४८ गोग्रहण के समय दुष्मन की सेनापर मोहनास्त्र छोडकर, :-

जब विराट राजा अन्य स्थान पर युद्ध करने गये थे, तब त्रिगर्त और कौरव उसके गायों का झुंड़ हरण कर ले गये। तब गोपोंने यह बात विराटपुत्र उत्तर को बताई और उसको उन गायों को छुड़वाने को कहा। उत्तर उस समय उत्तरा के महल में था। उसने अपने पराक्रम की स्वयं प्रशंसा की और खेद प्रकट किया कि सारथि के न होने के कारण वह युद्ध करने नहीं जा सकता। तब सैरंध्री (द्रौपदी)ने उसको कहा कि बृहन्नडा (अर्जुन) उसका सारथ्य करेगा। उसपर विवश होकर उत्तर को युद्ध में जाना पड़ा। लेकिन वहाँ कौरवों की

अफाट सेना देखकर वह भयभीत हुआ और भागने लगा। तब अर्जुनने उसको अपना परिचय देकर उसका धीरज बंधाया। तथा उसको सारथी होनेके लिये कहकर स्वयं युद्ध किया। उसने कौरवसेना पर मोहनास्त्र डाला और उसके योद्धाओंको विवस्त्र करके गायों को मुक्त किया। (महाभारत, विराट पर्व, अ. ६२)

पृ. २७९ उन्होंने रतिसुख की घूस देनेवाले कामको जला दिया ।:-

दक्षकी कन्या सती शिवजी की पत्नी थी ।दक्षने एक यज्ञ किया था, किन्तु शिवजी को नेवता नहीं भेजा था। अपने पति का अपमान किये जाने के कारण उसने दक्षयज्ञ के यज्ञकुंड में आत्माहुति दी थी। इसके पश्चात् शिवजी उग्र तपश्चर्या में मग्न होकर बैठे। उनको हिमालय कन्या पार्वतीने वर चुनकर उनको मोहित करने गयी थी, लेकिन असफल रही। तब इंद्रने कामदेव को उसकी सहायता के लिये भेज दिया। जब कामदेवने शिवजी पर अपने पुष्पबाण छोड़े तब शिवजी यह जानकर क्रुद्ध हुए कि यह रतिसुख की घूस देकर अपनी तपश्चर्याको भंग करने आया है। उन्होंने अपना तृतीय नेत्र खोलकर कामदेव को दग्ध किया। इसका वर्णन कालिदास ने कुमारसंभव में किया है।

पृ. ३९७ जो मैं चैतन्यरूपी श्रीशंकर हूँ, उस मेरे मस्तक से गीतारूप गंगा निकालनेवाला तुम दूसरा गौतम हो गये हो ।:-

नाशिक जिल्ले में ब्रह्मगिरि पर गौतम ऋषि का आश्रम था। एक बार पार्वतीके मनमें गंगा के प्रति मत्सरभाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपने पुत्र गणेश को कहा कि वह किसी तरह गंगा को शिवजी की जटासे हटाये। गणेश एक बटु का रूप धारण करके गौतम के आश्रम गये और उसके शिष्य बने। उन्होंने अपनी सामर्थ्यसे एक गाय निर्माण करके आश्रम में छोड़ दी। उस गाय को देखकर गौतम ऋषिने उसपर एक दर्भ फेंका, जिससे वह गाय तत्काल मृत हो, गयी और उसको गोहत्या का पाप लगा। गणेशकी सलाहसे गौतम ऋषिने गंगा के प्रवाह की माँग करने के लिये तपस्या आरंभ की। शिवजी प्रसन्न होकर उन्होंने अपनी जटा से गंगा को छोड़ दिया। उसमें स्नान करके गौतम ऋषि पापमुक्त हो गया। यही गंगा अब गोदावरी नामसे प्रख्यात हुई ।(ब्रह्मपुराण २.५)

पृ. ४०६ अथवा रंभा अप्सरा का रूप देखकर शुक मुनि के मन में कामवासना पैदा नहीं हुई, :-

शुक व्यास महर्षिके सुप्रसिद्ध पुत्र थे। एक बार घृताची अप्सरा शुकी का रूप लेकर आश्रम आई थी। उसका सौंदर्य देखकर महर्षि मोहित हुए और उसके वीर्य का स्खलन हुआ। इससे जिस बालक का जन्म हुआ उसका नाम शुक रखा। शुकने सर्वसंग त्यागकर कड़ी तपस्या की। उनकी तपश्चर्या का भंग करने के लिये इंद्रने रूपवती अप्सरा रंभा को उनके पास भेजा, लेकिन उसे देखकर उनका मन तनिक भी विचलित नहीं हुआ। अपने पिता से इन्होंने महाभारत तथा भागवत का अध्ययन किया था। इन्होंने परिक्षित राजा को सात दिन में भागवत की कथा सुनाई।

पृ. ४२६ जैसे त्रिपुरोंमें फँसे हुए श्रीशंकर आपके (गणेश) नामस्मरणसे मुक्त हुए, :-

मयासुरने ब्रह्माकी कृपासे तीन पुरोंकी रचना की। ये तीन नगर लोहेके, रौप्यके और सुवर्ण के बनाये गये थे। इन तीन नगरों का आधिपत्य तारकासुर के पुत्र ताराक्ष, कमलाक्ष एवं विद्युन्मालि को सौंपा दिया था। किंतु ये त्रिपुर असुर अधर्माचरण करके देवताओं और ऋषियों को तंग करने लगे। तब सब देवता महादेव के पास गये और इन असुरों का नाश करनेके लिये उनकी प्रार्थना की। किंतु श्रीगणेश की आरंभ में आराधना नहीं करनेसे वे कामयाब नहीं हुए। उन्होंने गणेश की पूजा करके त्रिपुर असुरों का वध किया (भागवत, ७.१०).

पृ. ४९३ जब उसमें से निकला हुआ हलाहल धैर्यरूपी शंकर प्राशन करेगा, :-

समुद्रमंथनमें से जब हलाहल विष निकला तब देवताओंको चिंता पड़ी यह कौन पी जायेगा। उससे डरकर समस्त प्रजा और प्रजापति श्रीसदाशिवकी शरणमें गये। उन्होंने जगत् के कल्याण के लिये उस विषका प्राशन किया। इससे आगे समुद्रमंथनसे अमृत की प्राप्ति हुई। (भागवत ८.७).

पृ. ५३० अमर होने के लिये जो अमृत पाया गया, वही दैत्यों की मृत्यु का कारण हुआ।:-

समुद्र मंथन में जब अमृत निकला तब उसपर देवता और दानव इन

दोनों का हक था। लेकिन अमृतपान करके दानवों का अमर होना देवताओं को पसंद नहीं था। इसलिये विष्णुने मोहिनी का रूप धारण किया और देवों को अमृत परोसने लगे। राहु प्रच्छन्न रूप धारण करके देवों की पंक्ति में जाकर बैठा। जब अमृत इसके गले तक नहीं पहुँचा था, कि चंद्रसूर्यने यह दैत्य होने की सूचना विष्णु को दे दी। विष्णुने इसका तत्काल शिरच्छेद किया और उसका सिर धरती पर गिर पड़ा (महाभारत, आदिपर्व १७) । पश्चात् इसके सिरसे केतु पैदा हुआ। इसी कारण ये दोनों क्रमशः सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण के समयपर सूर्य और चंद्रको ग्रासते हैं।

पृ. ५३० नहुष राजा यज्ञ करके स्वर्गाधिपति बना।:-

नहुष पुरूरवा का पौत्र, आयुका पुत्र और ययाति का पिता था। यह बड़ा पराक्रमी और धार्मिक था।इंद्रने त्रिशिर नामक ब्राह्मण का वध किया, इस ब्रह्महत्या के कारण उसको इंद्रपद छोड़ना पड़ा। इस अवसर पर सारे देव और ऋषियोंने नहुष को यह इंद्रपद प्रदान किया। लेकिन थोड़ेही देरमें वह विषयासक्त होकर भोगविलास में मग्न हुआ। वह इंद्राणी का मोहक रूपयौवन देखकर कामोत्सुक हुआ और उसको अपने पास आने के लिये बुलावा भेजा। यह संकट टालने के लिये इंद्राणीने एक शर्त बताई कि अगर आप सात ऋषियों से जोती हुई पालकी में मुझे लेने आयेंगे तो मैं आपके साथ आऊंगी। यह शर्त नहुष ने सहर्ष मान्य की। जाते समय वह इतना उतावला हुआ था कि उसने अगस्त्य को लत्ताप्रहार किया और बोला, 'सर्प सर्प' (तेजी से चलो, तेजी से चलो) । कुपित होकर अगस्त्य मुनि ने उसको शाप दिया कि तुम् सर्प बन जाओगे। नहुष शीघ्र ही सर्प बनकर धरतीपर गिर पड़ा। बहुत सालों के बाद युधिष्ठिरने उसका उद्धार किया।(महाभारत वनपर्व १७५-७८) ।

पृ. ५४१ अथवा यह गीता सात सौ श्लोकरूपी मंत्रों से प्रतिपादित साक्षात् भगवती देवी है, जो मोहरूप महिषासुर का वध करके हर्षनिर्भर हुई है।:-

महिषासुर एक असुर था। वह मयासुर और रंभा का पुत्र था। इसने तपसे ब्रह्मा को प्रसन्न करके वर प्राप्त किया कि मैं मनुष्य के हाथों से न मारा जाऊं। इसके बाद उसने तीनों लोगों को तंग करना शुरू किया। तब दुर्गा

देवी ने अष्टादशभुजरूप धारण करके उसका वध किया । (दे. भा. ५.१६).

पृ. ५४४ श्रीगुरु द्रोणाचार्य की मिट्टीकी मूर्ति पहाड़पर स्थापित करके एकलव्य धनुर्धर बनकर त्रैलोक्य में प्रसिद्ध हुआ ।:-

एकलव्य एक व्याधों का राजपुत्र था । वह द्रोणाचार्यसे शस्त्रविद्या सीखने गया, लेकिन व्याध होने के कारण द्रोण ने इन्कार किया । तब उसने द्रोणाचार्य की एक मिट्टी की मूर्ति बनाकर श्रद्धा से धनुर्विद्या प्राप्त की और अर्जुन से भी बढकर धनुर्धर बना । जब वह द्रोणाचार्य से गुरुदक्षिणा पूछने गया, तो द्रोणाचार्य ने उससे दाहिने हाथ का अंगूठा माँगा ताकि वह अर्जुनसे बढ़िया धनुर्धर न हो सके । एकलव्य ने बड़ी प्रसन्नता से गुरुदक्षिणा दी और उसने अमर कीर्ति प्राप्त की । (महाभारत, आदिपर्व १२३) .

परिशिष्ट ४

विषयसूचिपत्र

(विषय के आगे पृष्ठ संख्या लिखी है)

- ॐ १, २, ४४९
  - ब्रम्ह का नाम ४४९
  - विनियोग ४४९-५३
- अक्रोधत्व ४०९
- अक्षर १४५, १५१, १५६
  - प्रणव १५१, १५२
- अचापल्य ४११, ४१२
- अज्ञान ७२, ३४७, ३५०
  - कार्य ३७४, ३७५, ३८६, ४७३, ४८०, ४८५
  - नाश ९०, ५३२
  - परमात्मा के बारे में ९०, १७१-७३
  - लक्षण ३१३ - ३२४
- अंतकाल १४२
  - भक्त की अवस्था १४८
  - श्रीकृष्णस्मरण १५०
- अद्रोह ४१३
- अधिदैवत १४६, १४७
- अधिभूत १४६,१४७
- अधियज्ञ १४६, १४७
- अध्यात्म १४५, २२२
- अध्यात्मविद्या २१४
- अध्यायसंगति १९७, १९८, ३४५, ४०४, ४०५, ५३४, ५३५
- अनासक्ति ३०७
- अपैशून्य ४१०
- अभ्यासयोग
  - स्वरूप १२३, २७१
  - सामर्थ्य १४९, २७१
- अमानित्व २८८, २८९, ४१३
- अर्चिरामार्ग १५८-६०
- अर्जुन
  - भगवान् से प्यार २५, ४९, ५०, १७८, १७९, २०७, २०८
  - भगवान को प्यार १०, ९६, १०४-०६, २००, २२१, २२२, ४७१, ४७२, ५३३
  - भगवान् से मैत्रि २५४, २५५
  - सवाल पुछनेका ढंग १४३
- अर्जुन की प्रशस्ति
  - भगवान् की ६९, १६४, १६५ ३९२, ३९३, ४००.४१६
  - संजय की ६८, २३०, २६१, ४५४, ५३६
  - ज्ञानदेव की १०४, १०५, १४५, ५४८, ५४९
- अलोभ, अलोलुपत्व ४११
- अवतार ७०, ७१

- अवस्था
  - जाग्रति ३९६, ४७७, ५१६
  - निद्रा, स्वप्न १७८, ३९६,४७७, ४८४,५१६
  - सुषुप्ति ३९६
- अश्वत्थ ३७३
  - अधः :शाखा ३७३, ३७६
  - ऊर्ध्वशाखा ३७७, ३७८
  - छेदने का उपाय ३८०, ३८१
  - मध्यशाखा ३७७ ३७१, ३७२
  - मूल ३७१, ३७२
- अहंकार २८३, ३१६, ३१७
  - उत्पत्ति ३४८
  - कार्य ६०, १४१, ५१३, ५२५
- अहिंसा २९०-९६, ४०८
- आत्मा २९-३३, ३३६-३९
  - अनुभव ११९, ५२४
  - प्राप्ति का उपाय ४७७
- आत्मानात्मविचार २९, ३३३, ३३४, ३४०, ३८२, ३८३
- आर्जव २९७, २९८, ५०२
- आहार
  - महत्त्व ४३६, ४३७
  - साधक का ११७, ५१२
  - देखिये सात्त्विक आहार
- इच्छा १४१, २८५
- इंद्रियाँ
  - और विषय २८५
  - बल ४३, ४५
  - संयम ४३, ४५, ६६, ४९८, ५०१, ५११
- ईश्वर (सगुण ब्रह्म, कृष्ण) ८९, १४०, १४१, १७०, १७८- ८०, २०१, २०२, २१४, २३५, ३६५, ३८९-९२, ५२७, ५२८
  - औदार्य ९९, २२५, २२६, २७७
  - प्राप्ति के उपाय १९१-९५, २००, २०१, २६३, ५०६
  - सगुणरूपवर्णन २५८
  - स्तुति अर्जुन की २०५ - ०७, २२५, २२६
  - स्नेह (भक्तों के प्रति) १०, १०५, २७४, २७७, २७८
- उन्मनी अवस्था ११५, ११६
- ऐश्वर्ययोग १६६, १६७
- कर्ता ५९, ६०, ४७३, ४८१
  - ज्ञाता ४८१
- कर्म
  - अपरिहार्य ५१, ५२
  - काम्य ४६०, ४६१, ४६२
  - नित्य, नैमित्तिक ४१६, ४६५, ४८७
  - निषिद्ध ७४, ४६२
  - प्रवृत्ति ४८०
  - विकर्म ७३.
- कर्मफल ४६०-६२, ४६८-७०
  - त्याग ४६२, ४६८-४७०
  - ईश्वरार्पण ४६८
- कर्मबंध ६०, ४६७

कर्मयोग ५१, ५२, ८६
  कौशल ४०, १००, ४६४, ४६५
कर्माकर्मविवंचना ७३, ७४
कर्मेंद्रिय २८४
कामक्रोध ६३, ६४, ४२१, ४२४
  त्याग के उपाय ६५, ६६
  त्याग का कारण ४२६, ४२७
  त्याग का फल ४२६, ४२७
  परिणाम ६५, ४२२, ४२५, ४२६
  प्राबल्य ६३-६५
कीर्तन १७६, १७७, २०४
  फल १७६
कुंडलिनी ११०-११४
  योग १७७, १७८, २६८, ५१२, ५१३
कृष्ण २०८, ४३३.
  माता- पिता १८१
  तथा भक्तप्रिय १८८, १८९
  तथा ब्रह्म ३६५, ४३२
  तथा विश्व ३४९
क्रमयोग ५११ - १६
क्षमा २९६, ४१२
क्षेत्र २७९, २८०
  मत कर्मवादीका २८१
  कालवादी का २८२, २८३
  संकल्पवादी का २८१, २८२
  सांख्यवादी का २८१
  भगवान् का २८३-८७
क्षेत्रज्ञ २७९
गणेश १, २, २८०
गीता
  अधिकारी ९८, ९९, १६६, २७८, ५५२
  अनधिकारी ६१
  तथा वेद ५३५, ५३६
  फल ४५८, ५४९
  महात्म्य ५, ४५०, ४५८,
  विषय ५२३
  वेद का बीज ५३४, ५३८
  संप्रदाय ५३६ - ३८

गुण ३५५, ४३३, ५००
गुणबंधन ३५०-५३
  मुक्ति का मार्ग ३६०, ३६४, ३६५.
गुरु २९८ - ३०२
  कृपा २०७
  प्रेम (ज्ञानेश्वर का) ३०१, ३०२
  सेवा ७९, २९८, ३०२
  सेवा का फल ३६७, ५४२
चित्त
  आत्मस्वरूप में ६०, ८७, ९४.
  ईश्वरस्वरूप में ५२४, ५२५
  विषय में ३८७, ३८८
  शुद्धि ४६४
चिंता, ४२०
जगत् ३४८, ४६९.

जन्ममृत्यु ३१, ३२, ३०७, ४६१, ५२५
जितेंद्रिय २९, ४३-४५, १०१-०३
जीव ३८५, ३८७, ४७३
  अविद्याग्रस्त १३२, १३३, ३८५, ५२७
  कर्ता ४८२, ४८३
  परमात्मैक्य १०१, १०२
ज्ञान १२८, १२९, ३४५
  का अधिकारी ३६९
  प्राप्ति के उपाय ७९-८१, १४७, ३६७, ३६८
  फल ८०, ८१, ९०, ९१, ३४०, ३४६
  महत्त्व ७९, ८०, १६५, ३४५
  विपरीत (ज्ञान) १७२
  सामर्थ्य ३८०, ३८१, ४०५
  देखिये सामान्य ज्ञान
ज्ञाननिष्ठा ५०, ५२३
ज्ञानयज्ञ १७६-७८
ज्ञानयोग ५०, ५१, ८६
ज्ञानी पुरुष
  लक्षण ३३५, ३३९, ३४०, ३४६
ज्ञानेंद्रिय २८४
ज्ञानोत्तर कर्म ४७८, ४७९
ज्ञानेश्वर
  गुरुभक्ति २, ३, २९८
  गुरुसेवा २९८ - ३०२
  तत्कालीन परिस्थिति ५५५
  तपश्चर्या ४०८
  विनय १६२-६४, ५५२ - ५४
ज्ञानेश्वरी
  काव्य, साहित्य ८२, ८३, ९८, १४२, १४३, २१९, २२०, २६६
  कृतकृत्यता ५५१ - ५५३
  ग्रंथ का फल ५४१
  तुलना (गीता से) १९९, ५५१, ५५३
  पसायदान ५५४, ५५५
  मराठी भाषा का अभिमान ९८, २६६
  लेखन का काल और स्थल ५५५
ज्ञानोत्तर कर्म ४७८, ४९९
ज्ञेय ३२४ - २८
तत्
  ब्रह्मवाचक नाम ४५१
  विनियोग ४५१
तत्त्वज्ञानार्थदर्शन ३११
तप ४०८, ५०१
  कायिक ४४१, ४४२
  मानसिक ४४३
  वाचिक ४४२, ४४३
तम, तमोगुण ३५२, ३५३
  वृद्धि ३५६, ३५७
  मरणोत्तर गति ३५७, ३५८

- तामस
  - आहार ४३९
  - कर्म ४८८, ४८९
  - कर्ता ४९१, ४९२
  - ज्ञान ४८५ - ८७
  - तप ४४५
  - त्याग ४६५
  - दान ४४७
  - धृति ४९६, ४९७
  - बुद्धि ४९५
  - यज्ञ ४४१,
  - श्रद्धा ४३४
  - सुख ५००
- तेज ४१२, ५०२, ५०३
- त्याग ४०९, ४६०
- दम ४०७, ५०१
- दंभ ६४, ३१३, ४१४, ४२०, ४२३, ४२४
- दया ४१०, ४११
- दर्प ४१४, ४२४, ५१३
- दान ४०७, ५०३
- दुःख २८६
  - कारण २५, ९३, ३९०, ५२५
  - नाश का उपाय ११९
- देह (शरीर) २९, ३०, १५३
- देही (आत्मा) २९-३१
- देहात्मवाद ५६, ४६६, ४७७
  - का परिणाम१४०, ५२५
- दैव
  - प्रतिकूल २४५, ४९५
  - प्रारब्ध ५२६
  - भाग्य ११७, ३६७, ३६८
- द्वन्द्वमोह १४०
- धर्म, स्वधर्म ३३, ३६, ५३-५६
  - श्रेष्ठता ३३, ३४, ६२, ६३, ५०६, ५०७
  - की रक्षा के लिए अवतार ७०, ७१
- धूम्रमार्ग १५८-६१
- धृतराष्ट्र ३६६, ४००, ४५४, ५४५
- धृति २८६, ४१२, ४१३, ४९७
- ध्यान २७३
- ध्यानयोग ५१२, ५१३
- नरक ४२३, ४२६
- नाथसंकेत ११४
- नाथपरंपरा ५५२
- नाम १७७
  - महिमा २११, २१८
  - विनियोग ४४९-५३
  - सात्विक कर्म के लिये सहायक ४४९
- निरहंकार ३०५, ३०६
- निष्ठुरता ४१५
- नैष्कर्म्य ७४, ४६४, ५०९
- पंचमहाभूत २८४
- पतिव्रता ४२८, ४४०, ५०५
- परिग्रह ५१४

पाप ५५, ५६, ६३
  नाश का उपाय ३६, ५५, ८०
पारुष्य देखिये निष्ठुरता
पुनर्जन्म १५४, १५५
  का अंत १४०, १४१, १४७, १५७, १६६, १८७, २७१, २७२, ३८५
पुरुष ३३१ - ३३३
  अक्षर ३९४ - ९६
  उत्तम ३९७, ३९८
  क्षर ३९४-९६
पुरुषार्थ
  चौथा २७७
  पंचम ५०३
प्रकृति ५९, ६१
  अपरा १२९ , ३३१
  परा (पुरुष) १२९, १३०, ३३०-३३
  माया ३३१, ३४७
  सामर्थ्य ३३१, ३३२, ५२५, ५२६
प्रसाद ५०६, ५२५
प्रायश्चित्त ५११
बंध (हठयोग में)
  ओडियाणा ११०
  जालंधर १०९
  मूलबंध १०९, ११०.
  देखिये कर्मबंध
बल ४२४, ५१३
बुद्धि ४२, ४५, २८४, ४९३
  दुर्बुद्धि ३७, ४५
  बुद्धिभेद ५९
  सद्बुद्धि ३७, ९०, ३५०, ४०६
बुद्धियोग ३७, ३९, ४०
बुढ़ापा ३१८, ३१९
बौद्धमत २
ब्रह्म १४५, १४६, १५०, १५५, १५६, ३४०, ५११
  पद १५१, ५२४, ५२८
  प्राप्ति का उपाय १५१
  विद्या ३३९, ३४०
ब्रह्मचर्य ४४२
बह्मा ५३, ४४९
  कालगणना १५४, १५५
  प्रजा को उपदेश ५३-५६
ब्रह्मानंद३३६
भक्त
  अनन्य १५२, १५३, १५६, १५७, १८५, २६३, २६४,२६७
  चार प्रकार २०३ - ०५
  ज्ञानी- भक्त २०३ - ०५,
  भगवत्कृपा का अधिकारी ७०, ७१, १५२, १५६, १८३, २७०
भक्ति
  साधारण १३८, १३९, ३२१, ३२२
  अद्वैत १७७, १७८, २०२, २०३, ५१८
  करने का तरीका १८६, १८७, २६६, २६७, ५३०
  क्रियाशील १८९, २६९, २७०, ५०५, ५०६, ५३४

  - ज्ञानप्रधान १७८ - ८१
  - परा ५१७ - २२
  - सभी को अधिकार १९० - ९४
- भक्तियोग ३७४, ३७५
- भारत
  - माहात्म्य ३, ४
- भ्रांति २७, १०१, १०२, १६७
  - निरसन १०१, १६६
  - परिणाम १०१, १६६
- मद ३१९, ४१४
- मन १२२, २८५
  - भगवान के प्रति लगाव २७० - ७२
  - विषयों के पीछे दौड़ ३८६, ३८७
  - संयम के उपाय १०९, ११९, १२०, १५२, १५३
- मन:प्रसाद ४४३
- मन:सयम ३०५
- माया १६, १३१, ३३१, ३४७, ३८२
  - मुक्ति के उपाय १३५
- मार्दव ४११
- मृत्युलोक १९५
- मोह, संमोह ४३, १४१, ४२३
- मोक्ष
  - का अधिकारी ११७, ५१०
  - के उपाय ५३, ३४७,३६८, ३६९ ५१३-१५
- मौन २१६
- यज्ञ
  - ज्ञानयज्ञ १७६ - ७८
  - द्वादश ७६ - ७८
  - नामजपयज्ञ २११
  - स्वधर्मरूप ५३ - ५६
- योग
  - अंग १०, १०१, १०७ - १०
  - अधिकारी ११७, ११८
  - अनधिकारी ११७
- योगभ्रष्ट १२३ - २६
- योगारूढ १०१
- रज, रजोगुण ३५१, ३५२, ३७५, ३७६
  - वृद्धि ३५५, ३५६
  - मरणोत्तर गति ३५६, ३५८
- राजस
  - आहार ४३८, ४३९
  - कर्ता ४९१, ४९२
  - कर्म ४८८
  - ज्ञान ४८४, ४८५
  - तप ४४४
  - त्याग ४६५, ४६६
  - दान ४४६, ४४७
  - धृति ४९६
  - बुद्धि ४९४, ४९५
  - यज्ञ ४४०, ४४१.
  - श्रद्धा ४३४
  - सुख ४९९
- लोकसंग्रह ५७, ५८
- वर्णधर्म

  - ब्राम्हण का ५०१, ५०२
  - क्षत्रिय का ५०२, ५०३
  - वैश्य का ५०४
  - शुद्र का ५०४
- विकार
  - क्षेत्र के २८३ - ८७
- विभूति २०९ - २१७
- विवेक २, १७६, ३५४
- विश्वरूप २२९ - ३४
  - महिमा २५८, २५९
  - सगुण से श्रेष्ठ २५९, २६०
- विषय
  - उत्पत्ति ३४८
  - उपभोग ९२, ९३
  - परिणाम तथा सुख ९२, ६१, ६२
- विषयत्याग
  - सच्चा ४४, ४५
  - झूठा ५२
  - त्याग का फल ५५, ५६
- विज्ञान
  - प्रपंचविषयक १२९
  - विशेष ज्ञान ५०२
- वेद ५, १७९, १८७, २००
  - गीता का मूल ५३४, ५३५
- वैराग्य ११९. ३०५, ३०६, ३०९, ३१०, ३८१, ४९८, ४९९, ५०६
  - आवश्यकता ३८९, ५१३
  - काठिण्य ४९८
  - फल ५०५
- व्यास १ - ४, ३९९, ४५७, ५४९, ५५०
- शंकर, शिव ५, ८५, १८५ २७७, २८०
- शम ५०१
- शरण १८२, ५२८, ५३२, ५३३
- शांति ४१०, ५१५
  - का उपाय ८१, १९१, ५२८
- शास्त्र ८१, ४२८, ५०४
- शुचित्व ३०३, ४१३, ५०१
- शौर्य ५०२
- श्रद्धा ८१, ४४४, ४४५
- संजय
  - अष्ट सात्विक भाव ५४४
  - भगवान् के भाषण से आंनद ३६६, ४५४, ५४४, ५४५
- सत्
  - ब्रम्ह का नाम ४४९
  - विनियोग ४५२, ४५३.
- संत (योगी, ज्ञानी इत्यादि) ५२, ५३, ७४, ८९, ९१, ९२, १७६, ३८३, ३८४, ३९१, ३९८, ३९९, ५३०
- सत्संग ३९१, ५४६
- सत्य ४०८, ४०९

सत्त्व, सत्त्व गुण ३५०, ३५१
  शुद्धि ३५३ - ५५
  मरणोत्तर गति ३५५, ३५८
सत्त्वशुद्धि ४०६, ४४३
संन्यास १००, ४५९, ४६०
  ज्ञानप्रधान ४७०, ५२४
संपत्ति
  आसुरी १७३, १७४, ४१४-१६
  दैवी १७६
समचित्तत्व ३९, २७४-७७, ३१०,
३६२, ३६३, ५११
समदर्शन ९०, ९१, १०३, १३७,
  ३३५
सरस्वती २, ५, ३४२
संशय ८१, ८२
संसार १५७, ४४२
  वृक्ष ३७८ - ८१
सात्विक
  आहार ४३७, ४३८
  कर्ता ४८९, ४९०,
  कर्म ४८७
  ज्ञान ४८४
  तप ४४४, ४४५
  त्याग ४६६, ४६७
  दान ४४६
  धृति ४९५, ४९६
  बुद्धि ४९३, ४९४
  यज्ञ ४३४
  श्रद्धा ४३४.
  सुख ४९८, ४९९
सांख्ययोग देखिये ज्ञान योग ।
सांख्यशास्त्र ४९६
सुख
  आत्मसुख ९३, ११८, ११९
  २८५, २८६, ४९८
  स्वर्गसुख ३८, १६१, १८१, ३०६
स्थितप्रज्ञ ४१ - ४७
स्थैर्य ३०४, ३०५

(आवरण-पत्र पृष्ठ २ से)

Genesis and Growth, तथा The Bhagavadgita as a Synthesis और भारतीय विद्याभवन के द्वारा प्रकाशित ज्ञानेश्वरी का अंग्रेजी में, मराठी में, तथा हिंदी में अनुवाद.

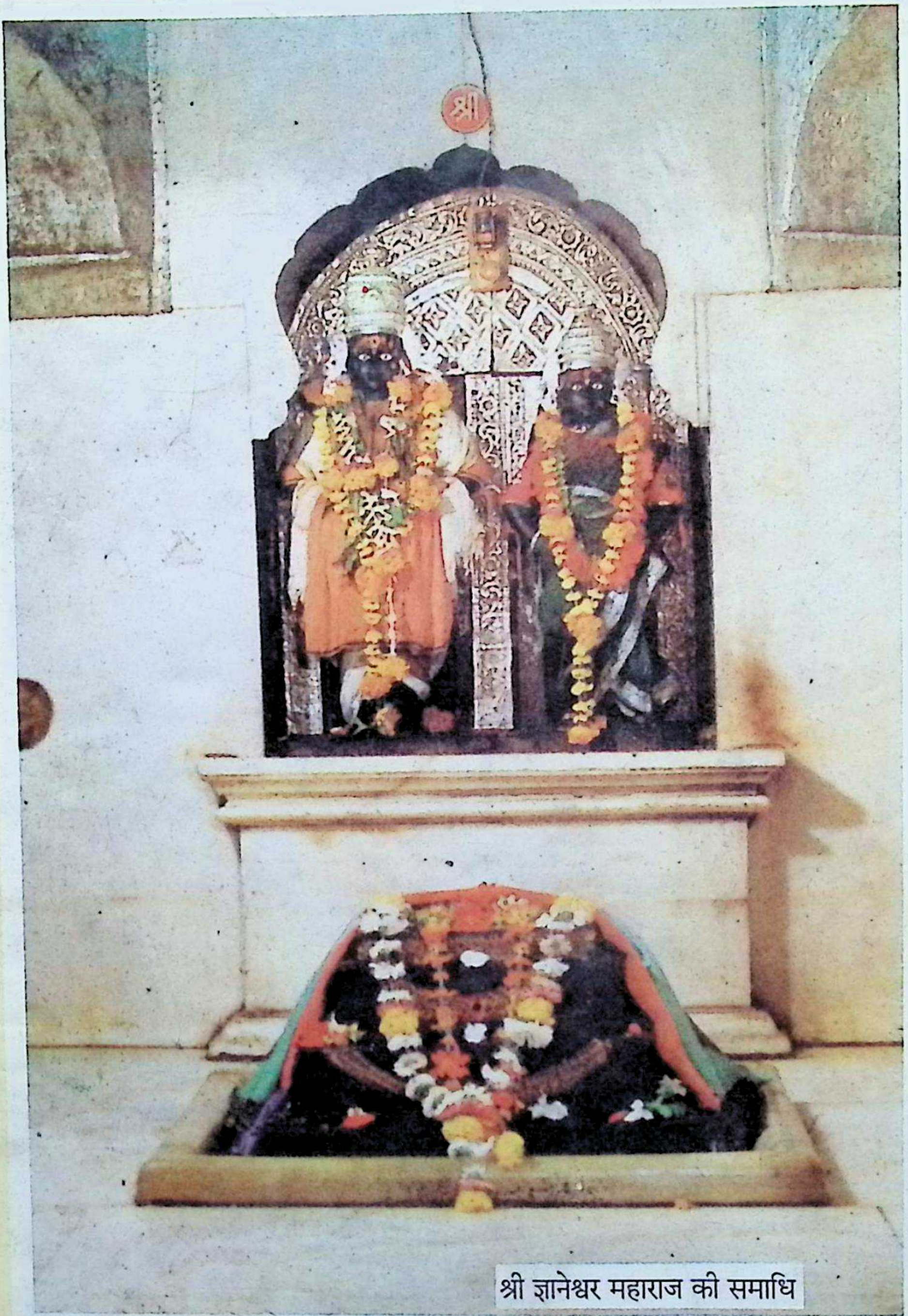

श्री ज्ञानेश्वर महाराज की समाधि